



द्वितीय प्रश्न-पत्र
भारतीय अर्थव्यवस्था
(INDIAN ECONOMY)

GradeSetter

बाजार अर्थव्यवस्था की ओर : भूमि व्यवस्था में परिवर्तन एवं कृषि का वाणिज्यीकरण

[TOWARDS A MARKET ECONOMY : CHANGES IN THE LAND SYSTEM & COMMERCIALIZATION OF AGRICULTURE]

अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत की अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भर थी। उत्पादन के केन्द्र-विन्दु गांव थे जो उपभोग के लिए उत्पादन करते थे, बिक्री के लिए नहीं तथा उत्पादन छोटे स्तर पर होता था।

परन्तु अंग्रेजों के आने से इस स्वरूप में परिवर्तन आया। हमारा पुराना आर्थिक ढांचा ढह गया। इसका स्थान नवीन ढांचे ने ले लिया। आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था के स्थान पर बाजार अर्थव्यवस्था के लक्षण उभरने और विकसित होने लगे। अतः इस अध्याय में बाजार अर्थव्यवस्था का अर्थ, विशेषताएं, कारण व पूँजीवादी उद्यम के विकास का विस्तार से विवेचन किया गया है।

बाजार अर्थव्यवस्था से अर्थ

“बाजार अर्थव्यवस्था से अर्थ उस अर्थव्यवस्था से है जिसमें उत्पादन के साधनों का प्रयोग बाजार में बेचने के लिए वस्तुओं के निर्माण से लगाया जाता है।” इसमें प्रत्येक आर्थिक गतिविधि वाणिज्यिक हो जाती है। साधारणतया बाजार अर्थव्यवस्था में निम्न विशेषताएं पाई जाती हैं :

(1) इसमें वस्तुओं का उत्पादन बाजार में बेचने के लिए किया जाता है न कि उत्पादक के निजी उपभोग के लिए।

(2) बाजार में वस्तु का मूल्य उसकी मांग एवं पूर्ति द्वारा निर्धारित किया जाता है तथा सभी क्रेताओं व विक्रेताओं में प्रतियोगिता पाई जाती है।

(3) बाजार में सभी वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य मुद्रा में व्यक्त किया जाता है और मुद्रा विनिमय के माध्यम के रूप में कार्य करती है। इसमें अदल-बदल (Barter) प्रणाली नहीं चलती है।

(4) सभी सेवाएं भी अन्य वस्तुओं की तरह खरीदी व बेची जाती हैं।

(5) बाजार अर्थव्यवस्था में उत्पादक का प्रमुख उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना होता है। उसे सामाजिक कल्याण से कोई मतलब नहीं होता है।

(6) बाजार अर्थव्यवस्था में उत्पादन बड़े पैमाने पर होता है जिसमें श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण होता है तथा वस्तुएं दूर-दूर तक बेचने के लिए भेजी जाती हैं।

भारत में बाजार अर्थव्यवस्था के विकास के कारण

भारत में बाजार अर्थव्यवस्था का विकास ब्रिटिश शासन की एक महत्वपूर्ण आर्थिक एवं सामाजिक घटना रही है। इस अर्थव्यवस्था को विकसित करने के अनेक कारण थे, जिन्हें बाजार अर्थव्यवस्था को विकसित करने वाले कारकों के रूप में भी बताया जा सकता है। यह कारण या कारक अग्र प्रकार थे :

(1) देश का राजनीतिक एकीकरण सन् 1858 में अंग्रेजों ने अपने अधीन पूरे देश को एक सूत्र में बांध दिया और उसका नियन्त्रण ईस्ट इण्डिया कम्पनी से अपने हाथ में ले लिया। उस समय देश का लगभग तीन-चौथाई

भाग अंग्रेजों के अधीन हो गया था तथा शेष एक-चौथाई भाग राजा-महाराजाओं के अधीन था। वे भी किसी न किसी रूप में ब्रिटिश शासन के अधीन ही थे। इस राजनैतिक एकीकरण के फलस्वरूप उन सभी बातों के विकास में भी योगदान मिला जो बाजार के विकास में सहायक होती हैं।

(2) **केन्द्रीकृत प्रशासन**—अंग्रेजों ने शासन करने के लिए केन्द्रीकृत प्रशासन की नीति अपनायी जिससे सारी शक्तियां केन्द्र में एकत्रित हो गई। इसके लिए विभिन्न वर्ग के अफसर व कर्मचारी नियुक्त किए गए। उनके अधिकार, कर्तव्य व उत्तरदायित्व परिभाषित किए गए। इस प्रणाली ने देश को एक सूत्र में बांध दिया और बाजार के विकास में अपना योगदान दिया।

(3) **भू-राजस्व**—पहले भू-राजस्व अनाज के रूप में लिया जाता था, परन्तु अंग्रेजों ने इसमें संशोधन कर दिया और किसानों से भू-राजस्व मुद्रा के रूप में लिया जाने लगा। इससे कृषकों को अपनी फसल बाजार में बेचने के लिए बाध्य होना पड़ा। इससे कृषि में वाणिज्यीकरण होने लगा और बाजार अर्थव्यवस्था का विकास तीव्र गति से किया जाने लगा।

(4) **किसानों की ऋणग्रस्तता**—ब्रिटिश-काल से किसानों की ऋणग्रस्तता बढ़ गई। किसान अपने लगान को देने के लिए या सामाजिक कार्य जैसे शादी-विवाह आदि के लिए या पशु व अन्य सम्पत्ति खरीदने के लिए या प्राकृतिक प्रकोप, जैसे बाढ़, अकाल आदि से अपने को जीवित रखने के लिए अपनी भूमि को गिरवी रखकर साहूकार, जमींदार व महाजन, आदि से ऋण लेते थे जो उन्हें काफी महंगे पड़ते थे। भारी ब्याज देनी पड़ती थी। ऋण व ब्याज नकदी में लौटाने के लिए उन्हें अपनी फसल बेचनी पड़ती थी। इस प्रकार कृषि का वाणिज्यीकरण हो गया। किसानों की ऋणग्रस्तता भारत में काफी थी। उनके बारे में कहा जाता था कि किसान ऋण में जन्म लेता था, ऋण में जीता था और ऋण में ही मर जाता था। इसका अर्थ यह था कि जन्म के समय किसान ऋणी था। जीवन भर कमाया फिर भी ऋण से मुक्ति नहीं मिली और अन्त में जब वह मरा तो वह ऋण छोड़कर मरा जिसको उसके बच्चे बाद में चुकाएंगे। इस प्रकार किसानों की ऋणग्रस्तता ने बाजारों को विकसित करने में अपना योगदान दिया, क्योंकि बाजारों में ही फसल को बेचकर ऋण चुकाया जा सकता था।

(5) **परिवहन व संचार साधनों का विकास**—अंग्रेजों के आने के समय देश में परिवहन व संचार परिवहन का अभाव था जिससे आन्तरिक व विदेशी व्यापार सीमित मात्रा में होता था। अंग्रेजों ने परिवहन व संचार साधनों का विकास किया जिससे आन्तरिक व विदेशी व्यापार बढ़ा। इससे उद्योगों का विकास किया जाने लगा। कच्चा माल एकत्रित होने लगा। निर्मित माल देश में बनने लगा। इन सबका प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रभाव यह पड़ा कि बाजार अर्थव्यवस्था का विकास होने लगा।

(6) **बैंकिंग प्रणाली का विकास**—ब्रिटिश शासन में बैंकिंग प्रणाली का विकास (अठारहवीं शताब्दी के अन्त में उनीसवीं शताब्दी के दौरान में) हुआ और अनेक बैंक स्थापित हुए। जैसे 1840 में तीन प्रेसीडेन्सी बैंकें—बम्बई, मद्रास व कलकत्ता में स्थापित की गई। 1858 के पश्चात् देश में भारी संख्या में विनियम बैंक स्थापित की गई। इससे विदेशी व्यापार प्रोत्साहित हुआ। 1881 में यहां भारतीयों ने भी अवध कॉमर्शियल बैंक स्थापित की, इस सबसे बाजार अर्थव्यवस्था के विकास में सहायता मिली।

(7) **एकीकृत मौद्रिक प्रणाली**—ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत में विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न राज्यों में एक समस्या के समाधान के लिए 1806 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने चांदी के रूपए को मानक सिक्के के रूप में मान्यता प्रदान की। 1835 में रुपए की परिभाषा दी गई और एक निश्चित वजन के चांदी के सिक्के को रुपए के रूप में अपनाया गया। इससे यहां एकीकृत मुद्रा प्रणाली का विकास हुआ जिसने बाजार अर्थव्यवस्था को विकसित करने में काफी महत्वपूर्ण योगदान दिया।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि अंग्रेजों के आने से बाजार अर्थव्यवस्था का विकास तीव्र गति से हुआ। विनियम प्रणाली का अन्त हुआ। विदेशी व्यापार में भी गति आ गई। आन्तरिक व्यापार भी बढ़ने लगा। उत्पादन की नई विधियां सामने आई। श्रमिक वर्ग का उदय व शोषण प्रारम्भ हुआ जिससे गरीबी के विस्तार का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ।

बाजार अर्थव्यवस्था की ओर (TOWARDS A MARKET ECONOMY)

भारतीय अर्थव्यवस्था से बाजार अर्थव्यवस्था (Market Economy) की ओर ले जाने के लिए ब्रिटिश शासन ने अनेकों उपाय किए जैसे—(1) भूमि व्यवस्था में परिवर्तन (Changes in Land System), (2) कृषि का वाणिज्यीकरण (Commercialization of Agriculture), (3) उद्योगों को विभेदात्मक संरक्षण (Discriminating Protection), (4) मौद्रिक व चलन मुद्रा का विकास (Monetary & Currency Development), (5) वाणिज्यिक व केन्द्रीय बैंकों का विकास (Development of Commercial & Central Banking), व (6) कर प्रणाली में परिवर्तन (Changes in Taxation System), आदि। अब हम इस अध्याय में भूमि व्यवस्था में परिवर्तन व कृषि का वाणिज्यीकरण के बारे में विस्तार से विवेचन करेंगे जबकि शेष का अगले अध्यायों में।

भूमि व्यवस्था में परिवर्तन (CHANGES IN LAND SYSTEM)

सन् 1757 की प्लासी की लड़ाई के बाद भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव रखी गई। इस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक व्यापारिक कम्पनी थी जिसे आयात-निर्यात से अधिक राजस्व प्राप्त करने की अनुमति नहीं थी। अतः राजस्व बढ़ाने के लिए भू-कर पर अधिक बल दिया गया। इसके लिए अंग्रेजों ने भारत में मुख्यतः तीन पद्धतियां अपनाई—(1) स्थायी भू-बन्दोबस्त (Permanent Settlement), (2) महलवारी व्यवस्था (Mahalwari Settlement), व (3) रैयतवारी व्यवस्था (Ryotwari System)।

(1) स्थायी भू-बन्दोबस्त व्यवस्था (Permanent Settlement System)—सन् 1786 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रतिनिधि के रूप में लॉर्ड कार्नवालिस को भारत का गवर्नर जनरल बनाकर भेजा गया। आते समय उनसे कहा गया था कि वे भारत में ऐसी भू-कर व्यवस्था स्थापित करें जिससे कम्पनी को लाभ हो। अतः लॉर्ड कार्नवालिस ने राजस्व बोर्ड के प्रधान सर जॉन शेर व अभिलेखपाल जेम्स ग्राण्ट के सहयोग से भू-कर का अध्ययन कर स्थायी बन्दोबस्त व्यवस्था 1790 में लागू की जो प्रारम्भ में 10 वर्ष के लिए थी, लेकिन तीन वर्ष बाद ही इसे 1793 में स्थायी घोषित कर दिया गया।¹

इस व्यवस्था में जमींदारों को भूमि का स्थायी रूप से मालिक मान लिया गया। इन जमींदारों को भूमि के लगान का 8/9 भाग कम्पनी को देना पड़ता था। 1/9 भाग जमींदार अपने पास रख लेते थे। इस व्यवस्था के अनुसार यदि जमींदार नियमित रूप से लगान अदा नहीं करेगा तो उससे भूमि छीन ली जाएगी। किसान अपना लगान जमींदारों को देते थे इसमें लगान का निर्धारण पट्टे के द्वारा निश्चित कर दिया गया। बिना न्यायालय की स्वीकृति के इस लगान में वृद्धि नहीं की जा सकती थी।

इस व्यवस्था के अपनाने में आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से सरकार को लाभ था :

- (i) इसमें सरकार की आय निश्चित हो गई व (ii) इसमें जमींदार व सरकार दोनों ही प्रति वर्ष भूमि-कर की रकम निश्चित करने के प्रयोग से बच गए। राजनीतिक दृष्टि से भी सरकार के लिए लाभ रहा।
- (iii) डॉ. ईश्वरी प्रसाद के अनुसार, “जमींदार लोग ब्रिटिश सरकार की सुरक्षा में रुचि लेने लगे। विद्रोह के समय भी उनकी बफादारी दृढ़ रही।” (iv) इस व्यवस्था में अल्पकालीन व्यवस्था के दोष नहीं थे। (v) इससे कृषि के अध्ययन को प्रोत्साहन मिला।

लेकिन इस व्यवस्था में कुछ दोष थे जैसे—(i) इस प्रणाली में भूमि कर की राशि का आधार 1790-91 की भू-कर दरों के आधार पर निर्धारित किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्पादन व भूमि के मूल्य बढ़ने पर भी सरकार को कोई अतिरिक्त राशि प्राप्त नहीं हुई।

(ii) जमींदार वर्ग अधिक से अधिक कर वसूल करने लगे जबकि सरकार को केवल निर्धारित राशि ही देते थे, क्योंकि वे किसान से लेने वाले कर की दरों में वृद्धि के लिए स्वतन्त्र थे।

(iii) इस प्रणाली में सरकार व किसान का सीधा सम्पर्क नहीं रहा।

(iv) जमींदारों ने भूमि सुधार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

(v) सरकार व किसान के मध्य जमींदार वर्ग एक बिचौलिए के रूप में उभर कर सामने आया। यह बिचौलिए सरकार व किसान के बीच 50-50 मध्यस्थ तक हो गए थे।

¹ R. Dutta, *The Economic History of India*, Vol. I, p. 64, Ed. 1963.

(vi) इस व्यवस्था में जमींदार भूमि के मालिक माने जाते थे।

(vii) यदि जमींदार निश्चित तिथि तक कर सरकारी खजाने में जमा नहीं करवाता था तो उसके अन्तर्गत जमीन को नीलाम कर दूसरे लोगों को दे दिया जाता था जिससे नए-नए जमींदार पैदा हो जाते थे। इससे किसानों को परेशानी होती थी।

(2) **महलवारी व्यवस्था** (Mahalwari Settlement)—यह व्यवस्था उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त तथा अवध में लागू की गई थी। इसमें पंजाब, मध्य प्रदेश व उत्तर प्रदेश आदि शामिल थे। इस व्यवस्था के जनक मार्टिन बर्ड थे। इसमें कुछ स्थानों के लिए 30 वर्ष के लिए व कुछ के लिए 20 वर्ष के लिए राजस्व निर्धारित किया गया। यहां राजस्व के लिए समझौता, महल अथवा गांव से किया जाता था। इसमें गांव सम्प्रिलित रूप से व गांव का प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग रूप से सारे गांव में लगान के लिए उत्तरदायी था। इसमें गांव की ओर से नम्बरदार गांव का निश्चित लगान देने के सम्बन्ध में हस्ताक्षर करता था। गांव के सम्प्रिलित लगान में गांव का प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी जोतों के अनुसार राशि देता था, लेकिन जब तक प्रत्येक व्यक्ति लगान देता रहता था तब तक वह जमीन का मालिक माना जाता था। यदि वह अपनी जमीन छोड़ता था तो ग्राम सभा इस भूमि की मालिक मानी जाती थी। इस प्रणाली में आय का 3/4 भाग सरकार का होता था।

इस प्रणाली में समय-समय पर (एक निर्धारित अवधि के बाद) लगान की राशि निश्चित करने की व्यवस्था थी। इसके लिए सरकार समय-समय पर जमीनों की उत्पादकता की जानकारी प्राप्त करती थी। लगान की राशि जमीन की उत्पादकता, उसमें उगाई जाने वाली फसलें व उनके मूल्यों के अनुसार निर्धारित की जाती थी।

इस प्रणाली में सबसे बड़ा दोष यह था कि नम्बरदार एवं अन्य बड़े लोग सरकार एवं ग्रामीणों के मध्य मध्यस्थ का कार्य करते थे, जो गांव की अधिकांश जमीन को अपने कब्जे में कर लेते थे, छोटे किसानों का दमन करते थे, उन्हें उपज का बहुत थोड़ा हिस्सा मिलता था जबकि अधिकांश भाग बड़े लोग व नम्बरदार ले जाते थे।

(3) **रैयतवारी** (Ryotwari System)—इस व्यवस्था के जनक थॉमस मुनरो थे। इसमें रैयत अर्थात् किसान ही भूमि का मालिक होता था अतः कर उससे ही सीधा वसूल किया जाता था। सबसे पहले यह व्यवस्था 1792 में मद्रास (वर्तमान में तमिलनाडु) में लागू की गई थी इसमें भूमि कर कुल उपज का 50 प्रतिशत था, लेकिन इससे किसानों की दशा खराब हो गई जिससे 1807 में इसे घटाकर 33 प्रतिशत कर दिया गया। 1820 में थॉमस मुनरो मद्रास के गवर्नर बने तथा उन्होंने इसे पूरे मद्रास प्रान्त में लागू कर दिया। बाद में इसे बम्बई (वर्तमान में मुम्बई) में लागू किया गया।

इस प्रणाली की विशेषता थी कि इसमें किसान व सरकार का सीधा सम्बन्ध था, लेकिन एक अवगुण था। भूमि कर नकद राशि में देना पड़ता था जिसका सम्बन्ध उपज व बाजार मूल्य से नहीं था। भू-कर कठोरता से वसूल किया जाता था। व्यवस्था के इन दोषों के कारण मद्रास व बम्बई में किसानों में असन्तोष बढ़ने लगा था। साहूकार व जमींदार पैदा हो गए थे जो किसानों का शोषण करते थे। इसीलिए डॉ. नीलमणि मुखर्जी ने लिखा है कि ‘रैयतवारी व्यवस्था उन उद्देश्यों को पूरा नहीं कर सकी जिनके लिए सोचा था। इस व्यवस्था में भू-राजस्व का अच्छा संग्रह और रैयत की स्थिति में सुधार करना था। इस व्यवस्था ने जहां तक पहले उद्देश्य का सम्बन्ध है पूरी तरह पूरा किया, लेकिन दूसरे उद्देश्य में पूरी तरह असफल रही।’

कृषि का वाणिज्यीकरण

(COMMERCIALIZATION OF AGRICULTURE)

“कृषि के वाणिज्यीकरण से अर्थ है कि कृषि उत्पादन को बेचने के लिए पैदा करना न कि परिवार के उपभोग के लिए” भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रारम्भ से ही यह विशेषता रही है कि कृषि उसका मूल तत्व है। इसमें भी कृषि इसलिए की जाती थी जिससे कि उससे उत्पादित वस्तुओं को प्राप्त कर वर्ष भर पेट भर सकें। इसके लिए कृषि उत्पादन को वर्ष भर के लिए सुरक्षित रखा जाता था।

लेकिन 1850 के बाद से इस दृष्टिकोण में परिवर्तन आया जो आज तक चालू है। इस परिवर्तन के लिए ब्रिटिश शासन की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। भारत में कृषि के वाणिज्यीकरण की नीति जानबूझकर ब्रिटिश शासन ने अपनाई। उनके द्वारा इसको अपनाने का एक कारण यह था—ब्रिटेन में औद्योगीकरण। ब्रिटेन में औद्योगीकरण अठारहवीं शताब्दी के मध्य में पूरा हो चुका था। ब्रिटेन में इन उद्योगों के लिए कच्चे

माल की आवश्यकता थी। इस कच्चे माल में विशेष रूप से रुई, कपास, जूट, गन्ना, व मूँगफली की उन्हें आवश्यकता थी। इसके लिए उन्होंने भारतीय किसानों को इन वस्तुओं को उगाने व उन्हें ब्रिटेन को बेचने के लिए कई प्रकार के प्रलोभन दिए। इसके लिए भारतीय किसानों को उनकी उपज का अच्छा मूल्य दिया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय किसान वाणिज्यिक फसलों को उगाने लगे व खाने के लिए अनाज मण्डियों से खरीदने लगे। बाद में इसके भयंकर परिणाम सामने आने लगे—अकाल के रूप में जो भारत के आर्थिक इतिहास में अमर हो गए।

भारत में कृषि के वाणिज्यीकरण के मुख्यतया तीन कारण थे। पहला कारण ब्रिटेन में औद्योगीकरण का होना व ब्रिटिश शासन द्वारा कच्चा माल निर्यात करने के लिए भारतीय किसानों को प्रेरित करना। दूसरा कारण राज्य सरकारों द्वारा समय-समय पर भू-कर बढ़ाना जिसके भुगतान के लिए किसानों द्वारा वाणिज्यिक फसलें पैदा करना व तीसरा जर्मनीदारों द्वारा लगान बढ़ा देना।

लेकिन भारत में कृषि के वाणिज्यीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा दो और कारणों से मिला—(i) भारत में रेल की शुरुआत 1853 में हो जाने से माल को बन्दरगाहों तक पहुंचाना आसान हो गया, तथा (ii) रेल के माध्यम से अनेक व्यापारिक केन्द्र एक-दूसरे से जुड़ गए। इस सबसे पंजाब से गेहूं, बंगाल से जूट व बम्बई से कपास बन्दरगाहों पर निर्यात के लिए पहुंचाना आसान हो गया। इसके विपरीत ब्रिटिश माल को देश के अन्दर पहुंचाना भी आसान हो गया।

संक्षेप में भारत में कृषि के वाणिज्यीकरण के प्रमुख कारण निम्न प्रकार थे :

(1) लगान का नकद भुगतान—ब्रिटिश सरकार ने स्थायी बन्दोबस्त बिल पारित कर नई मालगुजारी की नीति तय की जिसके अन्तर्गत किसान की मालगुजारी नकद में तय होती थी तथा उसका भुगतान भी सरकार को नकदी में ही करना पड़ता था। इससे किसान को अपनी उपज को बाजार में बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता था।

(2) नकदी फसलों का ऊंचा मूल्य—ब्रिटेन को भारत से कच्चा माल चाहिए था जिससे कि उसके उद्योग वहां चल सकें। अतः यहां ब्रिटेन को निर्यात करने के लिए नकदी फसलों की मांग अधिक थी जिससे उनके मूल्यों में वृद्धि हो गई। इस प्रकार किसान को नकदी फसलों का मूल्य खाद्यान्न फसलों की तुलना में अधिक मिलता था। इससे वे नकदी फसलों को उत्पादन अधिक करने लगे।

(3) ब्रिटिश सरकार की नीति—ब्रिटेन की यह रीति थी कि भारत को नकदी फसलों के उत्पादन के लिए प्रोत्साहित किया जाए जिससे कि उसे अपने उद्योगों के लिए कच्चा माल मिल सके। यह नीति पटसन, चाय, कपास, गन्ना, तिलहन आदि के सम्बन्ध में अपनाई गई थी।

(4) परिवहन व संचार साधनों का विकास—रेलें व परिवहन के अन्य साधनों तथा संचार के साधनों का विकास होने से यह सम्भव हो गया कि भारत के कोने-कोने से कृषि उत्पादनों को एकत्रित किया जा सके। इससे गांव व शहरों में सम्बन्ध स्थापित हो गए। इस प्रकार परिवहन व संचार के विकास ने कृषि के वाणिज्यीकरण को बढ़ावा दिया।

(5) मुद्रा का प्रयोग—किसान अपनी आवश्यकता के लिए साहूकार व महाजन आदि से उधार लेते थे जिसे उन्हें मुद्रा के चलन में आने के कारण मुद्रा में ही लौटाना पड़ता था। अतः मुद्रा में लौटाने के लिए फसल को नकद में बेचना पड़ता था। इससे भी कृषि का वाणिज्यीकरण हुआ।

(6) अमरीका का गृह युद्ध—अमरीका में 1861 में गृह युद्ध हुआ, अतः ब्रिटेन को अमरीका से कपास न मिल सकी। ब्रिटेन इस कपास से कपड़ा बनाता था। अतः ब्रिटिश सरकार ने भारत में कपास का अधिक उत्पादन करने का सुझाव दिया। इससे भी यहां कृषि का वाणिज्यीकरण हुआ।

कृषि के वाणिज्यीकरण ने देश के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में परिवर्तन ला दिया जिसका विवरण निम्न प्रकार है। इन्हीं बातों को कृषि के वाणिज्यीकरण के प्रभाव के रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है :

(1) आत्मनिर्भरता का हास—पहले किसान आत्म-निर्भर था। उसे किसी बाहरी सहारे की आवश्यकता नहीं थी, परन्तु कृषि के वाणिज्यीकरण के कारण किसान की आत्मनिर्भरता में कमी आ गई और वह बाहरी शक्तियों पर निर्भर रहने लगा। इस प्रकार किसान का अतीत से नाता टूट गया।

(2) विशिष्टीकरण और स्थानीयकरण का विकास—कृषि के वाणिज्यीकरण से किसानों में विशिष्टीकरण होने लगा अर्थात् वे कुछ विशिष्ट वस्तुओं के ही उत्पादन में अपना ध्यान केन्द्रित करने लगे, जैसे कपास,

जूट, गन्ना, तिलहन आदि के उत्पादन में। साथ ही देश के कुछ स्थानों पर केवल कुछ ही वस्तुएं की जाने लगीं जैसे पटसन बंगाल में। इससे स्थानीयकरण को बढ़ावा मिला।

(3) खाद्यान्न उत्पादन में गिरावट—वाणिज्यीकरण से परम्परागत खाद्यान्नों के उत्पादन के स्थान पर नकदी फसलें किए जाने का परिणाम यह हुआ कि खाद्यान्नों के उत्पादन में गिरावट आ गई जिससे उनकी कमी होने लगी और अकाल पड़ने लगे। पशु धन कम होने लगा।

(4) साहूकारी का महत्व—वाणिज्यीकरण ने साहूकारी के महत्व को बढ़ा दिया। किसानों को कृषि के कार्यों के लिए वित्तीय सहायतां की आंवश्यकता होती थी जिसे साहूकार पूरा करते थे। इससे साहूकारी धन्धे का विकास हुआ।

(5) भारतीय उद्योगों का पतन—कृषि के वाणिज्यीकरण के कारण इंग्लैण्ड को कच्चा माल मिलने लगा तथा वहां का पक्का माल भारत में आकर विकने लगा। इससे भारत के अनेक उद्योगों का पतन होने लगा।

(6) गांवों में विभिन्न वर्गों का ध्वनीकरण—वाणिज्यीकरण से ग्राम समुदाय जमींदारों, भूस्वामियों, महाजनों, किसानों, भूमिहीन कृषकों, आदि में बंट गया। पहले गांव मिल-जुलकर रहते थे, परन्तु अब वर्गों में खींचतान प्रारम्भ हो गई। लोगों में शोषण करने की प्रवृत्ति पैदा हो गई।

(7) उपविभाजन व अपखण्डन—वाणिज्यीकरण ने उपविभाजन व अपखण्डन की समस्या पैदा कर दी। इसके कारण थे—क्रष्ण चुकाने के लिए भूमि का बेचना या दस्तकारी समाप्त होने से पेट भरने के लिए अपना हिस्सा जमीन से मांगना। इन दोनों के फलस्वरूप भारत में खेत छोटे होते चले गए।

(8) भूमि का गैर-किसानों के हाथ आ जाना—जब किसान क्रष्णग्रस्त हो जाता था और उसके पास क्रष्ण चुकाने के लिए धन नहीं होता था तो वह अपनी भूमि साहूकार को क्रष्ण के बदले में बेच देता था। इससे भूमि किसान से गैर-किसानों पर पहुंच जाती थी। इसका दुष्परिणाम यह होता था कि कृषि उत्पादन में गिरावट आ जाती थी।

(9) राष्ट्रीय स्वरूप का उद्गम—पहले गांव देश के अन्य भागों से कटे रहते थे, परन्तु वाणिज्यीकरण के बाद गांवों का सम्बन्ध शहरों से हो गया। वे राष्ट्रीय जीवन धारा के अंग बन गए। इस प्रकार राष्ट्रीय स्वरूप की शुरुआत हुई।

संक्षेप में, वाणिज्यीकरण से कृषि की दशा बदल गई। किसान की हालत शोचनीय हो गई और वह साहूकारों के चंगुल में फंस गया। इधर दस्तकारी का विनाश भी प्रारम्भ हो गया। इस प्रकार कृषि का वाणिज्यीकरण हितकर नहीं रहा।

महत्वपूर्ण प्रश्न

- बाजार अर्थव्यवस्था से क्या अर्थ है? ब्रिटिश काल में भूमि व्यवस्था में हुए परिवर्तनों को बताइए।
- कृषि के वाणिज्यीकरण से आप क्या समझते हैं? भारत में कृषि के वाणिज्यीकरण के कारणों पर प्रकाश डालिए।
- भारत में कृषि के वाणिज्यीकरण का क्या प्रभाव हुआ है? विस्तार से समझाइए।

2

विभेदात्मक संरक्षण नीति एवं औद्योगिक विकास

[DISCRIMINATING PROTECTION POLICY AND INDUSTRIAL DEVELOPMENT]

ब्रिटिश शासन ने भारतीय अर्थव्यवस्था को बाजार अर्थव्यवस्था की ओर ले जाने के लिए भूमि व्यवस्था में परिवर्तन किए तथा कृषि का वाणिज्यीकरण किया। इसके साथ-साथ उन्होंने विभेदात्मक संरक्षण नीति अपनाकर औद्योगिक विकास की नींव रखी।

भारत की विभेदात्मक संरक्षण नीति की व्याख्या करने से पूर्व यह समझना आवश्यक है कि भारत में उस समय प्रशुल्क नीति क्या थी। अतः हम पहले प्रशुल्क नीति के बारे में बताएंगे, फिर विभेदात्मक नीति के बारे में।

प्रशुल्क नीति से अर्थ एवं भारत में प्रशुल्क नीति

(MEANING OF FISCAL POLICY & FISCAL POLICY IN INDIA)

प्रशुल्क नीति से अर्थ एक देश के द्वारा आयात एवं निर्यात के सम्बन्ध में अपनाई जाने वाली नीति से है जिसके अन्तर्गत देश के अन्दर आने वाली एवं देश से बाहर जाने वाली वस्तुओं पर आयात एवं निर्यात शुल्क लगाए जाते हैं, आयात एवं निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा निर्यात की जाती है तथा आयात तथा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं।

एक देश की प्रशुल्क नीति उस देश के औद्योगिक विकास को भारी मात्रा में प्रभावित करती है। इसीलिए इसका उपयोग प्रत्येक देश के द्वारा किया जाता है। यदि प्रशुल्क नीति का उचित रूप से उपयोग न किया गया तो सम्भव है कि एक देश में विदेशी वस्तुओं की भरमार हो जाए और उसके अपने उद्योगों की प्रगति ही नहीं रुक जाए बल्कि वे पूर्णतः समाप्त ही हो जाएं। अतः इसी नीति के अन्तर्गत ही उद्योगों को संरक्षण (Protection to Industries) देने की नीति अपनाई जाती है।

भारत की प्रशुल्क नीति के अध्ययन को दो भागों में बांटा जा सकता है—(i) स्वतन्त्रता से पूर्व, एवं (ii) स्वतन्त्रता के पश्चात्। हम यहां पर पहले स्वतन्त्रता से पूर्व का अध्ययन करेंगे।

प्रारम्भ से ही ब्रिटिश सरकार की प्रशुल्क नीति मुक्त व्यापार नीति (*Laissez Faire Policy*) रही है जिसके अन्तर्गत भारतीय उद्योगों को किसी प्रकार का संरक्षण नहीं दिया गया, लेकिन राजस्व की प्राप्ति के लिए आयात एवं निर्यात पर कर अवश्य लगाए गए। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् स्वदेशी आन्दोलन ने जोर पकड़ा तथा ब्रिटिश सरकार की मुक्त व्यापार नीति की कटु आलोचना की जाने लगी। 1917 में ब्रिटिश संसद ने यह बात स्वीकार कर ली कि भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ कर नीति की भी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। 1919 में प्राशुल्किक स्वातन्त्र्य सभा (Fiscal Autonomy Convention) में यह निर्णय किया गया कि भारत के आर्थिक मामलों में भारत सचिव किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेंगे। 1921 में भारतीय विधायिका सभा में एक प्रशुल्क आयोग (Fiscal Commission) के गठन करने का प्रस्ताव पास किया गया जिसके अनुसार सर इब्राहीम रहीमतुल्ला की अध्यक्षता में एक प्रशुल्क आयोग बनाया गया जिसने 1923 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। इस आयोग ने सिफारिश की कि आधारभूत उद्योगों को संरक्षण दिया जाए। अतः भारत में 1923 से संरक्षण नीति अपनाई जाने लगी जिसके फलस्वरूप 1923 से 1939 के बीच 13

उद्योगों (लोहा एवं इस्पात, कागज एवं गत्ता, सूती वस्त्र, दियासलाई, माचिस, नमक, भारी रसायन, मैग्नीशियम क्लोराइड, सोने का तार, गेहूं, चीनी, सेरीकल्चर, कृत्रिम रेशा एवं चावल) को संरक्षण प्रदान किया गया।

इस बीच द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया जिसके फलस्वरूप देश में वस्तुओं की कमी महसूस की जाने लगी। अतः देश में कई नवीन उद्योग स्थापित हो गए जिन्हें युद्ध के बाद संरक्षण देने का आश्वासन सरकार द्वारा प्रदान किया गया। 1945 में भारत सरकार ने अन्तर्रिम प्रशुल्क मण्डल (Interim Tariff Board) नियुक्त किया जिसने कुछ शर्तों के साथ संरक्षण देने के लिए नीतिगत सिद्धान्तों की सिफारिश की।

स्वतन्त्रता के पश्चात् 1947 में अन्तर्रिम प्रशुल्क मण्डल का पुनर्गठन किया गया और इसका कार्यकाल तीन वर्षों के लिए बढ़ा दिया गया। इस मण्डल ने अपने जीवन काल में 90 मामलों की जांच-पड़ताल की जिसके फलस्वरूप 38 उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने की सिफारिश की जिसमें से 34 उद्योग वे थे जो युद्ध काल में स्थापित किए गए थे। युद्ध के बाद अनेक उद्योगों को भारत सरकार द्वारा संरक्षण दिया गया जिसमें बाईसिकिल, सोडाएस, बिजली के मोटर, ऐलुमिनियम, ब्लीचिंग पाउडर, सूती वस्त्र, मशीनरी के उद्योग प्रमुख हैं। 1945 व 1951 के बीच जो संरक्षण दिए गए थे उनकी अवधि सामान्यतया दस या बारह वर्ष थी।

प्रशुल्क आयोग (Fiscal Commission)—औद्योगिक नीति, 1948 में यह घोषणा की गई कि अनुचित प्रतियोगिता को रोकने के लिए तथा राष्ट्रीय साधनों के उपयोग को बढ़ावा देने के लिए उपयुक्त प्रशुल्क नीति पर विचार किया जाएगा। अतः 1949 में प्रशुल्क आयोग की नियुक्ति की गई जिसने अपनी रिपोर्ट 1950 में सरकार को दे दी। इस आयोग ने उद्योगों को तीन भागों बांटा—(i) प्रतिरक्षा एवं सैनिक महत्व के उद्योग, (ii) आधारभूत उद्योग, व (iii) अन्य। आयोग का विचार था कि प्रतिरक्षा एवं सैनिक महत्व के उद्योगों को संरक्षण दिया ही जाना चाहिए। आधारभूत उद्योगों को संरक्षण देने का कार्य तटकर आयोग पर छोड़ दिया जाना चाहिए। अन्य उद्योगों को संरक्षण उपभोक्ता पर पड़ने वाले भार, योजनाओं में प्राथमिकता, आदि पर विचार करने के बाद लिया जाना चाहिए। इस आयोग की सिफारिश थी कि एक स्थायी तटकर आयोग (Tariff Commission) नियुक्त किया जाए।

तटकर आयोग (Tariff Commission)—21 जनवरी, 1952 को तटकर आयोग की नियुक्ति की गई। इस आयोग के कार्य (i) उद्योगों को संरक्षण देने की सिफारिश करना, (ii) आयात-निर्यात करों में परिवर्तन की सिफारिश करना, (iii) विदेशी राशिपातन (dumping) की स्थिति में सरकार को सुझाव देना, (iv) सामान्य मूल्य स्तर पर संरक्षण के प्रभावों की जांच करना, (v) संरक्षण से उत्पन्न कठिनाइयों एवं असुविधाओं के बारे में विचार करना। इस आयोग ने अपने जीवन के 26 वर्षों में (मई 1976 में तटकर आयोग को भंग कर दिया गया) अनेक उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने एवं कुछ उद्योगों के प्राप्त संरक्षण को वापस लेने के सुझाव दिए। इस आयोग ने अत्यन्त ही व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया। उन उद्योगों को संरक्षण नहीं दिया गया जिनके भावी विकास की सम्भावनाएं स्पष्ट नहीं थीं, जिन उद्योगों ने संरक्षण कार्य में अच्छा कार्य नहीं किया उनके संरक्षण समय से पहले ही ले लिए गए। इस आयोग की एक विशेषता यह रही है कि इसने 8 से 10 वर्षों से अधिक काल के लिए संरक्षण नहीं दिया तथा ऐसे संरक्षणों पर बराबर निगाह रखी गई।

तटकर आयोग की समाप्ति (Abolition of Tariff Commission)—द्वितीय योजना में भारी औद्योगीकरण एवं अनेक प्रकार की सहायता से उद्योगों में प्रतिस्पर्द्धात्मक क्षमता आ गई। तकनीकी सुधार हो गया। लागतों में भी कमी हो गई। इससे निर्यातों में वृद्धि होने लगी। 1956-57 के बाद किसी भी उद्योग ने संरक्षण का आवेदन-पत्र नहीं दिया तथा संरक्षण प्राप्त उद्योगों की संख्या बराबर कम होती चली गई। 1972 में केवल चार उद्योगों को संरक्षण प्राप्त था—ओटोमोबाइल, रंग (Dye stuff), ऐलुमिनियम व रेशम उद्योग। 1968 से ही इस आयोग पर कोई काम नहीं रह गया था। यह मूल्य निर्धारणों की जांच ही कर रहा था। प्रशासनिक सुधार आयोग ने 1968 में इसको समाप्त करने की सिफारिश की। 1973 में औद्योगिक लागतों के मूल्यों के ब्यूरो (Bureau of Industrial Costs & Prices) की स्थापना से तो इस आयोग का काम और भी कम हो गया अतः मई 1976 में इसको समाप्त कर दिया गया। वर्तमान में प्रशुल्क नीति स्वयं सरकार तैयार कर आयात-निर्यात नियन्त्रक (Export-Import Controller) के माध्यम से लागू करती है।

विभेदात्मक संरक्षण नीति (DISCRIMINATING PROTECTION POLICY)

प्रशुल्क आयोग (Fiscal Commission) ने सरकार से सिफारिश की कि भारतीय उद्योगों को संरक्षण दिया जाए, लेकिन आयोग के अधिकांश सदस्य इस मत के थे कि भारतीय उद्योगों को बिना सोचे-समझे संरक्षण देने की नीति अपनाई गई तो उससे राष्ट्रीय हितों की हानि होगी। अतः उन्होंने यह सुझाव दिया कि सरकार को प्रत्येक मामले का पूर्ण विचार करने पर ही संरक्षण दिया गया। इस प्रकार के संरक्षण को विभेदात्मक संरक्षण (Discriminating Protection) का नाम दिया गया। इस आयोग ने सुझाव दिया कि उद्योगों को संरक्षण उसी समय दिया जाए जबकि उद्योग निम्नलिखित तीन बातों को पूरा करता हो :

(i) संरक्षण उसी उद्योग को दिया जाए जिसकी स्थापना के लिए देश में सभी प्राकृतिक सुविधाएं जैसे कच्चा माल, शक्ति, सस्ता श्रम व विस्तृत आन्तरिक बाजार आदि उपलब्ध हों।

(ii) उद्योग ऐसा होना चाहिए जो बिना संरक्षण के बिल्कुल विकास न कर सकता हो या उसका विकास बिना संरक्षण से देश हित में उचित प्रकार से नहीं हो सकता हो।

(iii) उद्योग ऐसा होना चाहिए जो अन्त में संरक्षण के बिना अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता का सामना कर सके।

उपर्युक्त तीन बातें विभेदात्मक संरक्षण के तीन सूत्र (Triple Formula) थे जिनको त्रि-सूत्री सिद्धान्त का नाम दिया गया।

विभेदात्मक संरक्षण नीति और औद्योगिक विकास (DISCRIMINATING PROTECTION POLICY & INDUSTRIAL DEVELOPMENT)

सरकार ने प्रशुल्क आयोग की सिफारिशों को मान लिया और 1923 में एक प्रशुल्क मण्डल (Tariff Board) की नियुक्ति कर दी। 1923 से लेकर 1939 तक प्रशुल्क मण्डल ने 51 औद्योगिक मामलों पर विचार किया, लेकिन सिर्फ 13 उद्योगों को ही विभेदात्मक संरक्षण प्रदान किया गया जिनमें लोहा एवं इस्पात, सूती वस्त्र उद्योग, कागज एवं गत्ता उद्योग, चीनी उद्योग व भारी रसायन उद्योग प्रमुख हैं।

(1) **लोहा एवं इस्पात उद्योग**—सरकार ने प्रशुल्क आयोग की सिफारिश पर सबसे पहले लोहा एवं इस्पात उद्योग को 1924 में संरक्षण दिया जो आधारभूत उद्योग था एवं संरक्षण की सभी शर्तें पूरी करता था। इस उद्योग को संरक्षण तीन वर्षों के लिए दिया गया था, लेकिन समय-समय पर उसमें वृद्धि की जाती रही है। अन्त में यह संरक्षण 1947 में समाप्त किया गया। इस संरक्षण के मिलने से उद्योग ने काफी प्रगति की और इसका उत्पादन 1938 तक आठ गुना बढ़ गया।

(2) **सूती वस्त्र उद्योग**—सूती वस्त्र उद्योग की 1927 में संरक्षण दिया गया जिसके अन्तर्गत आयात पर संरक्षणात्मक शुल्क तीन वर्षों के लिए लगाया गया। इसके बाद ब्रिटिश कपड़ों के आयात, तदुपरान्त जापानी कपड़े के आयात पर कर लगाया गया। इस उद्योग का संरक्षण 1947 में हटाया गया। संरक्षण के प्रारम्भ से लेकर 1938 तक सूती वस्त्र उत्पादन में ढाई गुने की वृद्धि हुई।

(3) **भारी रसायन उद्योग**—भारी रसायन में हाइड्रोक्लोरिक एसिड, नाइट्रिक एसिड व सल्फ्यूरिक एसिड आते हैं। इस उद्योग को 1931 में संरक्षण दिया गया। संरक्षण के फलस्वरूप उद्योग ने काफी प्रगति की।

(4) **चीनी उद्योग**—इस उद्योग को संरक्षण 1931 में दिया गया जिसके अन्तर्गत चीनी के आयात पर साढ़े सात रुपए प्रति हण्डरवेट पर आयात शुल्क लगा दिया गया। इस संरक्षण में समय-समय पर वृद्धि होती रही जो अन्त में 1950 में समाप्त हुआ। इस संरक्षण के फलस्वरूप चीनी उत्पादन में काफी वृद्धि हुई और चीनी मिलों की संख्या भी काफी हो गई। देश में 1922 में चीनी का उत्पादन 24 हजार टन था जो 1939 में 9.25 लाख टन हो गया।

(5) **कागज उद्योग**—कागज उद्योग को संरक्षण 1925 में दिया गया जो 1947 में समाप्त किया गया। इससे कागज का उत्पादन जो 1922 में 24 हजार टन था वह 1939 में बढ़कर 67 हजार टन हो गया।

उपर्युक्त उद्योगों के अतिरिक्त दियासलाई माचिस उद्योग को 1928 में, मैग्नीशियम क्लोराइड को 1931 में, सोने के तारों को 1931 में, गेहूं को 1931 में, सेरीकल्चर उद्योग को 1934 में, कृत्रिम रेशम उद्योग को 1934 में, चावल को 1935 में संरक्षण दिया गया।

विभेदात्मक संरक्षण नीति की सफलताएं

विभेदात्मक संरक्षण नीति के फलस्वरूप देश को लाभ—(1) नए-नए उद्योग जैसे इंजीनियरिंग उद्योग, टिन प्लेट उद्योग, ऐल्कोहॉल उद्योग, आदि जैसे उद्योग स्थापित हुए जो संरक्षण प्राप्त उद्योगों के विकास के कारण ही अपनी स्थापना कर सके एवं अपने पैर जमा सके। (2) संरक्षण नीति के अपनाने के कारण कच्चे माल की मांग बढ़ी जिससे कृषि को प्रोत्साहन मिला। (3) संरक्षणों के फलस्वरूप उद्योगों का विस्तार हुआ जिससे रोजगार अवसरों की वृद्धि हुई। (4) औद्योगिक उत्पादन बढ़ा—1922 व 1939 के बीच संरक्षण प्राप्त उद्योगों का उत्पादन कई गुना बढ़ा जैसे इस्पात का 8 गुना, सूती वस्त्र का ढाई गुना, दियासलाई का 38 गुना, चीनी का 300 गुना व कागज का 18 गुना। (5) विश्वव्यापी मन्दी का प्रभाव देश पर कम पड़ा, क्योंकि अपने देश में निर्मित वस्तुओं की खपत बढ़ने लगी थी।

विभेदात्मक संरक्षण नीति की आलोचना

इस विभेदात्मक नीति की आलोचना की गई—(1) संरक्षण देने की शर्तें कठोर थीं जिसके फलस्वरूप कुछ उद्योगों को ही संरक्षण का लाभ मिल सका। (2) उपभोक्ता वस्तुओं को ही संरक्षण दिया गया जबकि पूँजीगत उद्योगों की अपेक्षा की गई। (3) विभेदात्मक नीति में केवल विदेशी प्रतिस्पर्द्धा को रोकने का ही प्रयत्न किया गया जबकि उद्योगों के विकास के लिए अन्य किसी प्रकार की सुविधा नहीं दी गई। (4) संरक्षण देने का जो फाँसूला था वह त्रुटिपूर्ण था और उसमें विरोधाभास था। (5) संरक्षण के बावजूद साम्राज्य पूर्वाधिकार (Imperial Preferences) के अन्तर्गत विदेशी निर्मित माल देश में आता रहा जिससे देश में निर्मित माल को कड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विभेदात्मक नीति से देश को लाभ अधिक व हानि कम हुई है। उद्योगों को अपने विकास का अवसर मिला है जिससे देशी माल का उत्पादन बढ़ा है। रोजगार सुविधाएं बढ़ी हैं। कुल उत्पादन बढ़ने से प्रति व्यक्ति आय बढ़ी है। खेती का विकास हुआ है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

- “क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि यद्यपि संरक्षण नीति में कुछ कमियां भले ही रही हों, लेकिन इसने देश में औद्योगिक विकास की नींव रखी है।”
- विभेदात्मक संरक्षण नीति एवं औद्योगिक विकास पर एक विस्तृत लेख लिखिए।

3

मौद्रिक एवं चलन मुद्रा विकास तथा वाणिज्यिक एवं केन्द्रीय बैंकिंग विकास

[MONETARY AND CURRENCY DEVELOPMENTS,
COMMERCIAL & CENTRAL BANKING DEVELOPMENTS]

मौद्रिक एवं चलन मुद्रा विकास

(MONETARY & CURRENCY DEVELOPMENTS)

जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में आकर व्यापार प्रारम्भ किया तो उसको व्यापारिक गतिविधियां चलाने में कठिनाई आई। इन कठिनाइयों में एक महत्वपूर्ण कठिनाई थी कि उस समय भारत में कोई प्रमाप मुद्रा (Standard Currency) नहीं थी। स्थान-स्थान पर राजा, महाराजा व नवाब राज्य कर रहे थे अतः उनके राज्यों में अलग-अलग मुद्राएं चल रही थीं। यही नहीं, इन मुद्राओं को दूसरे राज्य की मुद्राओं में बदलने का भी कोई प्रमाप नहीं था। अतः ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने व बाद में ब्रिटिश शासन ने इस सम्बन्ध में अनेक प्रयास किए। इन सभी प्रयासों को मौद्रिक व चलन मुद्रा के विकास (Monetary & Currency Development) का नाम दिया गया है। इन प्रयासों का संक्षेप में विवरण निम्न प्रकार है :

(1) चांदी प्रमाप (Silver Standard)—जिस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में अपना विस्तार किया उस समय भारत में लगभग 1,000 प्रकार के सोने व चांदी के सिक्के चलन में थे।¹ इन सिक्कों का वजन व शुद्धता भी एक समान न होकर विभिन्न प्रकार के थे। अतः Currency Act, 1835 पास किया गया। इस अधिनियम की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार थीं :

(i) चांदी के सिक्के ढालने के लिए टकसाले स्थापित की गई, (ii) भारत के उन सभी हिस्सों के लिए जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पास थे चांदी के रूपए को प्रमाप सिक्का (Standard Coin) माना गया जिसकी चांदी में शुद्धता 11/12 निर्धारित की गई। इस सिक्के का वजन 180 ग्रेन रखा गया जिसमें 165 ग्रेन शुद्ध चांदी थी। (iii) इस चांदी के रूपए का भीतरी व बाहरी मूल्य बराबर था। (iv) सोने का सिक्का अब कानूनी ग्राह्य (Legal Tender) नहीं रहा। (v) सोने के सिक्के ढालने की अनुमति दी गई। यह मुहरों के रूप में थी जिनका मूल्य 5, 10, 15 व 30 ₹ में था।

1841 में इम्पीरियल सरकार ने एक सरकारी आदेश जारी किया जिसमें कहा गया कि जनता सरकारी खजाने से एक सोने के सिक्के के बदले में 15 चांदी के सिक्के ले सकती है। इस प्रकार सोने व चांदी के सिक्कों का अनुपात 1 : 15 रखा गया। इस बीच आस्ट्रेलिया व कैलीफोर्निया में सोने के सम्बन्ध में स्थिति बदलने से सोने का मूल्य बढ़ गया अतः 1858 में इस आदेश को वापस ले लिया गया।

इस बीच 1850-1914 के मध्य भारत में कई परिवर्तन हुए जिन्हें Improved Currency System कहा जाता है। 1861 में Paper Currency Act पारित किया गया जिसके अनुसार प्रेसीडेन्सी बैंकों को जो नोट छापकर जारी करने का अधिकार था उसे समाप्त कर दिया गया और अब नोट छापने का काम सरकार पर आ गया। यह नोट 10, 20, 50, 100, 500, 1,000 व 10,000 ₹ के होते थे। बाद में 1891 में 5 ₹ का

¹ "When the East India Company extended its dominion over India it was confronted with nearly 1,000 kinds of gold and silver coins of different weights and finesses."

—V. B. Singh : *Economic History of India 1857-1956*, Ed. 1965, p. 375.

नोट भी जारी किया गया। यह सभी असीमित ग्राह्य (Unlimited Legal Tender) थे। यह नोट रुपयों में परिवर्तनशील थे। यह नोट सोना-चांदी व सिक्कों के बदले में जारी किए जाते थे अर्थात् इनके लिए सोना-चांदी व सिक्के तथा प्रतिभूतियों का कोष रखना पड़ता था। उसमें भी यह कोष निश्चित थे इसलिए इस प्रणाली को स्थिर न्यासधारी प्रणाली (Fixed Fiduciary System) कहा गया। लेकिन भारत में कागजी मुद्रा का चलन बहुत कम था। 1864 में इसका चलन धातु मुद्रा का केवल 6 प्रतिशत ही था¹।

1874 में धातु में भारी परिवर्तन हुए। चांदी-धातु का मूल्य गिरने लगा। इससे सोने में चांदी का मूल्य गिर गया। इससे भारत सरकार के बजट पर प्रभाव पड़ा। उस समय भारत को ब्रिटेन को कुछ व्यय देने पड़ते थे जिन्हें Home Charges के नाम से जाना जाता था। इस मूल्य के गिरने से गृह शुल्क (Home Charges) की मात्रा चांदी के रुपयों में बढ़ गई अर्थात् स्टर्लिंग भुगतान (Sterling Obligation) बढ़ गए।

(2) स्वर्ण विनियम प्रमाप (Gold Exchange Standard) (1893-1917)—भारतीय चलन मुद्रा में परिवर्तन के लिए चांदी की ढलाई जो कि Free थी उसे बन्द कर दिया और भारत को स्वर्ण प्रमाप पर लाया। इसके लिए भारतीय टंकण अधिनियम (Indian Coinage Act), 1879 को बदलकर 1893 का Act लागू किया। इसके अनुसार अब सरकार को ही चांदी के सिक्के स्वयं ढालकर जारी करने का अधिकार मिल गया। अब जनता को चांदी या सोना ले जाकर सिक्के ढालने वाला अधिकार समाप्त हो गया²। साथ ही 15 चांदी के रुपयों के बदले एक सोने का सिक्का सरकार द्वारा भुगतान में लिया जाना तय हुआ।

(3) हिल्टन यंग कमीशन (Hilton Young Commission), 1925—25 अप्रैल 1995 को Royal Commission on Indian Currency & Exchange बनाया गया जिसके अध्यक्ष थे हिल्टन यंग। इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट 1926 में दो दी जिसके आधार पर टंकण अधिनियम (Currency Act), 1927 पारित किया गया। इस अधिनियम के अनुसार भारतीय रुपये के धारक (नोट या रुपया) सोना या सरकार के विकल्प (option) पर स्टर्लिंग ले सकते हैं। इस प्रकार भारत स्टर्लिंग विनियम प्रमाप (Sterling Exchange Standard) पर आ गया। लेकिन सितम्बर 1931 में ब्रिटेन ने स्वर्ण प्रमाप (Gold Standard) स्थगित (Suspend) कर दिया जिससे भारत सरकार ने सोना या स्टर्लिंग देने का दायित्व (Obligation) समाप्त कर दिया। वाद में रुपये को स्टर्लिंग से जोड़ दिया गया। इस प्रकार भारत में चल मुद्रा प्रमाप स्टर्लिंग प्रमाप (Sterling Exchange Standard) बन गया।

(4) स्टर्लिंग विनियम प्रमाप (Sterling Exchange Standard)—इस प्रकार भारत 21 सितम्बर, 1931 से 1 मार्च, 1947 तक स्टर्लिंग विनियम प्रमाप पर रहा।

भारत 1 मार्च, 1947 को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I.M.F.) का सदस्य बन गया जिससे यह Gold Parity Standard पर आ गया क्योंकि रुपए का मूल्य सोने व अमरीकी डालर में निर्धारित किया गया था।

भारत की वर्तमान करैन्सी व्यवस्था

(PRESENT CURRENCY SYSTEM IN INDIA)

भारतीय करैन्सी और व्यवस्था की इकाई रुपया है जिसमें कागजी करैन्सी और सिक्के दोनों प्रचलित हैं। सिक्के एवं एक रुपये का नोट (जिसका मुद्रण अब बन्द कर दिया गया है) भारत सरकार निर्गत करती है जबकि 5, 10, 20, 50, 100, 500 तथा 1000 ₹ के करैन्सी नोट भारतीय रिजर्व बैंक निर्गत करता है।

RBI ने नोटों की छपाई की आनुपातिक आरक्षित प्रणाली समाप्त कर दी और रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (संशोधन) अधिनियम, 1956 लागू करके 515 करोड़ ₹ का एक न्यूनतम आरक्षित कोष बनाया गया जिसमें 400 करोड़ ₹ विदेशी प्रतिभूतियों तथा 115 करोड़ ₹ स्वर्ण के रूप में रखने का प्रावधान किया। इस प्रणाली को न्यूनतम आरक्षित प्रणाली कहा गया। वर्ष 1957 में RBI Act में पुनः संशोधन करके पत्र मुद्रा के बदले में रखे जाने वाले स्वर्ण, स्वर्ण-सिक्के तथा विदेशी प्रतिभूतियों की न्यूनतम मात्रा 200 करोड़ ₹ (115 करोड़ ₹ स्वर्ण तथा 85 करोड़ ₹ की विदेशी प्रतिभूतियां) कर दी गई। साथ ही संशोधित अधिनियम में यह भी प्रावधान किया गया कि RBI आवश्यकता पड़ने पर भारत सरकार की पूर्व अनुमति से विदेशी प्रतिभूतियों के आरक्षण को समाप्त कर सकता है। वर्तमान में 1957 का संशोधन लागू है।

¹ "In 1864, it was 6 per cent of this metallic currency in circulation."

—V. B. Singh : Economic History of India. 1857-1956, p. 378.

² Ibid., p. 383

वाणिज्यिक बैंकों का विकास (COMMERCIAL BANKING DEVELOPMENTS)

प्रारम्भ में भारत में वाणिज्य बैंकों नहीं थीं। यहां बैंकों का कार्य सेठ किया करते थे जैसे वीरजी वोरा एक गुजराती व्यापारी थे और वे उस समय (1619-1670) दुनिया के सबसे धनवान व्यक्ति थे। इसी प्रकार जगत सेठ का परिवार (1718-1760) भी उस समय ऐसा था जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भी समय-समय पर उधार दिया करता था।¹

आधुनिक प्रकार की पहली बैंक Bank of Bengal, 1806 में कलकत्ता (वर्तमान में कोलकाता) में बनी जिसके संचालकों में महाराज सुकोमोय राय (Sukomoy Roy) थे। फिर 1829 में Union Bank स्थापित हुई। यह भी कलकत्ता में ही स्थापित हुई। 1846 में ढाका बैंक व 1845 में बनारस बैंक स्थापित किए गए लेकिन बाद में बनारस बैंक फेल हो गई। 1840 में Bank of Bombay व 1843 में Bank of Madras स्थापित हुई। 1845 में Commercial Bank of India खोली गई लेकिन बाद में रुई के सट्टे के कारण फेल हो गई।²

भारत में 1860 से यहले कोई ऐसा विधान नहीं था जिसके अन्तर्गत सीमित दायित्व वाली बैंकों बन सकें। इससे पूर्व के अधिनियम 1813 में असीमित दायित्व के आधार पर कुछ बैंकों अवश्य स्थापित हुई, लेकिन वे अधिकांश ऐजेंसी हाउस थे। वे बैंकिंग के साथ-साथ व्यापार भी करते थे अतः अधिकांश बैंकों 1860 तक फेल हो गई।

इस प्रकार 1865 से और शताब्दी के अन्त तक संयुक्त स्टॉक कम्पनियों के आधार पर बैंकों की स्थापना हुई, परन्तु बैंकों की प्रगति धीमी रही और शताब्दी के अन्त में केवल 9 बैंकों ही देश में थीं।³

इलाहाबाद बैंक व एलाइंस बैंक ऑफ शिमला 1865 व 1875 में स्थापित की गई लेकिन इनका प्रबन्ध विदेशी था। 1881 में अवध कॉमर्शियल बैंक स्थापित की गई। यह भारतीयों द्वारा स्थापित की गई थी। इसके बाद 1894 में पंजाब नेशनल बैंक व 1901 में पीपुल्स बैंक ऑफ इण्डिया स्थापित हुई, लेकिन बाद में 1913 में पीपुल्स बैंक ऑफ इण्डिया फेल हो गई। अवध कॉमर्शियल बैंक जो 1881 में स्थापित हुई थी वह 1958 में फेल हो गई।

1906 व 1913 के मध्य बैंकों का अच्छा विकास हुआ और अनेकों बैंकों स्थापित हुई। इनमें बैंक ऑफ इण्डिया, इण्डियन बैंक, सेण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया और बड़ौदा बैंक व मैसूर बैंक प्रमुख हैं। यह बैंक आज भी चालू हैं। इन बैंकों के बढ़ने का एक कारण स्वदेशी आन्दोलन (Swadeshi Movement) था।

1913-17 के बीच 87 बैंकों फेल हुई लेकिन अधिकांश बैंकों छोटी व कमजोर बैंकों थीं। इनमें लगभग आधा दर्जन बैंक बड़ी बैंकों थीं। इससे आम जनता के बैंकों के विश्वास पर आघात हुआ। इन बैंकों के फेल होने के कारण अनेक थे लेकिन प्रमुख थे—(1) बैंकिंग सिद्धान्त के विरुद्ध व्यापार करना विशेष रूप से पूर्णदत्त पूंजी कम होना यद्यपि अधिकृत पूंजी तो काफी थी। (2) जमा पर अधिक निर्भर रहना और जमा पर अधिक ब्याज देना। (3) बैंकों के कोषों को खतरनाक उद्यमों में लगाना। (4) चांदी व अन्य धातुओं में सट्टेबाजी करना (5) दीर्घकालीन ऋण या वित्त सुविधा विना उद्योग की उचित जांच-पड़ताल के देना। (6) छोटे व्यवसायों में अधिक धन विनियोजित करना। (7) बैंकों के संचालकों व प्रबन्धकों को बैंकिंग सिद्धान्तों का पूर्ण ज्ञान न होना। (8) बैंकों के कुछ प्रबन्धकों द्वारा बेईमानी व धोखाधड़ी करना। (9) अंकेक्षकों द्वारा उचित रूप से अंकेक्षण न करना। (10) नकद कोष (Cash Reserve) व तरल सम्पत्ति कम रखना आदि। इन बैंकों के फेल होने का एक और महत्वपूर्ण कारण था इन संयुक्त स्कंध बैंकों में आपस में तथा प्रेसीडेन्सी बैंकों व विनिमय बैंकों से तालमेल का अभाव था।⁴

1 "Virji Vora (1619-1670) the then leading Gujarati trader has been described to be the richest man of his period in the world. The Banking House operated by the Jagat Seth family (1718-1760) had become proverbial, even the European East India Company had to depend very much on the Seth's for the timely supply of credit."

2 V. B. Singh, *Indian Economy Yesterday-Today*, p. 19. Nirmal Chand Sinha, *Studies in British Economy Hundred Years Ago*.

3 V. B. Singh, *Economic History of India 1857-1956* : p. 417.

4 "The crisis was aggravated by the complete absence of co-operation between the Indian joint-stock banks themselves and between them and the Presidency and Exchange banks."

1918 व 1921 के मध्य भी 21 बैंकों के फेल हुईं, लेकिन 1922 से फिर बैंकों के फेल होने का सिलसिला चला जो 1936 तक चला। इसमें 373 बैंकों के फेल हुईं इन बैंकों के फेल होने का मुख्य कारण आर्थिक मन्दी था।

इस बीच 1921 में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों—बंगाल, बम्बई व मद्रास को मिलाकर इम्पीरियल बैंक की स्थापना की गई जो 30 जून 1955 तक कार्य करती रही 1 जुलाई 1955 को इसे स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। 1921 में इसकी 70 शाखाएं थीं जो बढ़कर 1945 में 433 हो गईं। इम्पीरियल बैंक की स्थापना के समय इस बैंक से कहा गया था कि वह अपनी शाखाओं का विस्तार करेगी।

1935 में रिजर्व बैंक को स्थापित किया गया जिसको भारत की केन्द्रीय बैंक का रूप दिया गया। अतः इम्पीरियल बैंक से वे कार्य वापस ले लिए गए जो वह देश की केन्द्रीय बैंक के रूप में करता था। लेकिन सरकारी कर वसूल करने का अधिकार उसी पर बना रहा।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम (Banking Companies Act), 1949 बनाया गया जिसमें रिजर्व बैंक को बैंकों पर नियन्त्रण रखने व उनके निरीक्षण के उद्देश्य से अनेक अधिकार दिए गए। 1 जनवरी, 1949 से ही रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और उसकी सारी पूँजी भारत सरकार की हो गई।

1949 से अब तक व्यापारिक बैंकों का काफी विस्तार हुआ है। इसका कारण 1955 में इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण कर उसे स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के रूप में बदलना, 8 राज्य बैंकों को 1960 में स्टेट बैंक की सहायक बैंकों बनाना, 19 जुलाई 1969 को 14 व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण करना, 1975 में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की स्थापना, 1980 में 6 व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण, निजी क्षेत्र में नवीन बैंकों की स्थापना, आदि हैं। 30 जून, 1969 को जहां 8,262 शाखाएं कार्य कर रही थीं वहां उनकी संख्या 30 जून, 2014 को 1,18,450 हो गई है।¹

बैंक समूहों के अनुसार विवरण निम्न प्रकार है :

बैंक समूह	30 जून, 1969	30 जून, 2014
1. भारतीय स्टेट बैंक एवं सहायक बैंक	2,462	21,684
2. राष्ट्रीयकृत बैंक	4,553	59,270
3. क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक	—	18,823
4. सरकारी क्षेत्र के बैंकों का जोड़ (1 + 2 + 3)	7,015	99,777
5. अन्य भारतीय अनुसूचित वाणिज्यिक बैंक	900	18,291
6. विदेशी बैंक	130	317
7. सभी अनुसूचित बैंक (4 + 5 + 6)	8,045	1,18,385
8. गैर-अनुसूचित वाणिज्यिक बैंक	217	65
9. स्थानीय क्षेत्र के बैंक	—	65
10. सभी वाणिज्यिक बैंक (7 + 8 + 9)	8,262	1,18,450

केन्द्रीय बैंकिंग का विकास (CENTRAL BANKING DEVELOPMENT)

भारत में केन्द्रीय बैंक की स्थापना के लिए कई बार प्रयास किए गए लेकिन वे किसी-न-किसी कारण से असफल रहे। अन्त में 1934 में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम बनाया गया जिसके फलस्वरूप 1 अग्रैल, 1935 को भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने अपना कार्य भारत की केन्द्रीय बैंक के रूप में प्रारम्भ किया। इस प्रकार भारत की केन्द्रीय बैंक की स्थापना अंग्रेजी शासन काल में हुई है। यह बैंक आज भी चालू है और यह भारत की केन्द्रीय बैंक के रूप में कार्य कर रही है।

इससे पूर्व भारत में केन्द्रीय बैंक के विकास के लिए अनेकों प्रयास किए गए जिनमें से प्रमुख निम्न प्रकार हैं :

(1) वारेन हेस्टिंग का प्रस्ताव—सर्वप्रथम जनवरी 1773 में बंगाल के गवर्नर वारेन हेस्टिंग ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के रेवेन्यू बोर्ड (Revenue Board) के समक्ष प्रस्ताव किया कि भारत में एक केन्द्रीय बैंक General

¹ Economic Survey, 2014-15

Bank in Bengal and Bihar के नाम से बनाई जाए, लेकिन यह प्रस्ताव कोई रूप न ले सका। इतना अवश्य हुआ कि अप्रैल 1773 में एक प्राईवेट बैंक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अन्तर्गत अवश्य बन गई, लेकिन यह भी 15 जनवरी, 1775 को बन्द कर दी गई।

(2) इंग्लैण्ड के व्यापारियों का प्रयास—1836 में इंग्लैण्ड के व्यापारियों के एक संघ ने प्रस्ताव किया कि भारत में एक केन्द्रीय बैंक Great Banking Establishment for British India के नाम से स्थापित की जाए जो सार्वजनिक ऋण (Public Debt), सरकारी प्राप्ति एवं भुगतान (Government Receipts and Expenditure) व जन व्यापार (Public Finance) का प्रबन्ध करे। इस बीच 1806 में कलकत्ता (अब कोलकाता) में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चार्टर पर Bank of Bengal के नाम से स्थापित हो चुकी थी। इसके बाद 1840 में Bank of Bombay, व 1834 में Bank of Madras स्थापित हो चुकी थीं। इन तीनों को भारत में प्रेसीडेन्सी बैंकें कहा गया क्योंकि यह ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चार्टर के आधार पर बनी थीं। इन बैंकों को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे जैसे सरकारी बैंकिंग पर एकाधिकार।

(3) 1860 के बाद सरकारी विचार—सन् 1860 के बाद सरकारी विचार था कि तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों (बंगाल बैंक, बम्बई बैंक व मद्रास बैंक) को मिलाकर एक बैंक स्थापित कर दी जाए जो केन्द्रीय बैंक के रूप में कार्य करे क्योंकि यह बैंक पहले से ही अर्द्ध-सरकारी बैंकों के रूप में कार्य कर रही थी,¹ इस सम्बन्ध में 1866 में वायसराय काउन्सिल के सदस्य Sir Frere ने व 1867 में Mr. G. Dickson ने प्रस्ताव किया। Mr. G. Dickson के प्रस्ताव के अनुसार तीनों बैंकों को मिलाकर Central Bank for All India बनाया जाए जिसकी अधिकृत पूँजी 10 करोड़ ₹ हो तथा जिसके नियन्त्रण के लिए एक केन्द्रीय बोर्ड कलकत्ता में तथा बम्बई व मद्रास में स्थानीय बोर्ड हों। बाद में इसकी Keynes ने भी सराहना की। 1898 में Sir Everard Hambro ने केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जोरदार ढंग से वकालात की। Sir Everard Hambro भारतीय चलन समिति (Fowler Committee) के सदस्य व बैंक ऑफ इंग्लैण्ड के संचालक थे। बैंक ऑफ इंग्लैण्ड के एक और संचालक Charles de Rothschild ने भी इस प्रकार की केन्द्रीय बैंक की स्थापना को सही बताया। लेकिन सरकार ने इस पर भी कोई निर्णय नहीं लिया।

(4) भारत का गजट—12 अक्टूबर, 1901 को प्रकाशित भारत के गजट में भी केन्द्रीय बैंक की स्थापना का प्रस्ताव किया गया। इसका कारण यह था कि उस समय चलन माप (Currency Standard), विनिमय दर (Exchange Rate) व कोष (Reserves) की स्थापना व उनका प्रबन्ध अधिक उचित आधार पर करना आवश्यक था, लेकिन इस पर भी आगे चलकर कोई कार्यवाही न हो सकी।

(5) भारतीय वित्त व चलन पर शाही आयोग (Royal Commission on Indian Finance & Currency, 1910)—सन् 1910 में भारतीय वित्त एवं चलन पर शाही आयोग चेम्बरलेन (Chamberlain) बिठाया गया। इस आयोग के सदस्य Sir Ernest Caber व J. M. Keynes ने तंथा Lionel Abrahams ने भी केन्द्रीय बैंक की स्थापना पर जोर दिया।

(6) इम्पीरियल बैंक की स्थापना—इस बीच 1921 में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों (बंगाल, मद्रास व मुम्बई) को मिलाकर इम्पीरियल बैंक की गई। लेकिन यह बैंक पूर्ण रूप से राजकीय बैंक (State Bank) नहीं थी। इसने अपना कारोबार प्राईवेट बैंक के रूप में जारी रखा लेकिन इसको कुछ अधिकार केन्द्रीय बैंक के अवश्य दे दिए गए—(i) सरकार की एकमात्र बैंक के रूप में, तथा (ii) इसको सरकार के लिए सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध करने के अधिकार दिए गए। इस बैंक के पास अन्य बैंकों के कोष रहते थे अतः यह बैंक समाशोधन गृह (Clearing House) के रूप में कार्य करने लगी।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त सम्मेलन—जो सम्मेलन बुसल्स व जेनेवा में 1920 में व 1922 में हुए थे उसने प्रस्ताव पास कर उन देशों से आग्रह किया, जहां पर केन्द्रीय बैंक नहीं है, कि वे अपने यहां केन्द्रीय बैंकों की स्थापना करें।

¹ “Official thinking after 1860 was more concerned with the possible amalgamation of the three quasi-Government Presidency Banks of Bengal, Bombay and Madras with a view to assumption of at least some Central Banking functions.” Dharma Kumar, *The Cambridge Economic History of India*, Vol. II C. 1757-C-1970, p. 787.

(8) चलन एवं वित्त पर शाही आयोग (Royal Commission (Hilton Young) on Indian Currency & Finance 1926)—इस आयोग ने जुलाई 1936 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें उसने इस बात पर जोर दिया कि भारत में केन्द्रीय बैंक स्थापित होनी चाहिए जिसका नाम Reserve Bank of India हो, लेकिन इन्होंने इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक में बदलने की बात पर असहमति दी।

(9) रिजर्व बैंक की स्थापना—इस प्रकार रिजर्व बैंक की स्थापना के लिए प्रथम प्रयास एक बिल के रूप में 25 जनवरी, 1927 को, दूसरा 10 फरवरी, 1928 को, तीसरा 8 सितम्बर, 1933 को किया गया। इन बिलों में मतभेद की बात यह थी कि इसमें एक वाक्य (Sentence) ऐसा था जिसमें कहा गया था कि इस बैंक का गवर्नर व डिप्टी गवर्नर भारतीय होगा।

22 दिसम्बर, 1933 को इस बिल को पारित कर दिया गया व 16 जनवरी, 1934 को Council of State द्वारा भी इसे पारित कर दिया गया जिस पर 6 मार्च, 1934 को गवर्नर जनरल ने मुहर लगा दी और इस प्रकार भारत में केन्द्रीय बैंक Reserve Bank of India के रूप में 1 अप्रैल 1935 को स्थापित हो गई। Reserve Bank of India Act पूरे ब्रिटिश भारत पर लागू किया गया जिसमें वर्मा (म्यांमार) भी शामिल था। उस समय भारत में राजा-महाराजों का भी राज्य था। इस सम्बन्ध में इसमें कुछ नहीं कहा गया। लेकिन यह उन राज्यों में भी प्रभावी हो गया।¹

रिजर्व बैंक की स्थापना के उद्देश्य

(i) रुपए के बाह्य और आन्तरिक मूल्यों में स्थिरता लाना, (ii) साख एवं मुद्रा नीतियों का समन्वय, (iii) व्यापारिक अधिकोषों के नकद कोषों का केन्द्रीकरण, (iv) व्यापारिक बैंकों का उचित विकास, (v) कृषि साख व्यवस्था, (vi) मुद्रा बाजार का संगठन एवं विकास, (vii) विदेशों से मौद्रिक सम्पर्क, (viii) समंकों का प्रकाशन, (ix) सहकारी बैंकों की स्थापना एवं विकास।

भारतीय रिजर्व बैंक के कार्य

(I) नोट निर्गमन का एकाधिकार; (II) साख नियंत्रण—1. बैंक दर, 2. खुले बाजार की क्रियाएं, 3. परिवर्तनशील कोषानुपात, 4. तरलता कोषानुपात, 5. चयनित साख नियंत्रण—(क) ऋणों पर मार्जिन घटाना-बढ़ाना, (ख) ऋणों पर रोक, (ग) ऋण देने से पहले अनुमति, 6. साख नियंत्रण व्यवस्था (CMA); 7. नैतिक दबाव, 8. प्रचार। (III) सरकार का बैंकर, (IV) बैंक व्यवस्था का नियमन एवं नियंत्रण—1. लाइसेंस, 2. प्रबन्ध, 3. पूँजी, 4. तरल कोष, 5. शाखा विस्तार, 6. समामेलन, 7. निरीक्षण, 8. अवसायन, 9. अन्तिम लेखा रिपोर्ट; (V) समाशोधन व्यवस्था; (VI) बैंकों का बैंक; (VII) विदेशी विनिमय व्यवस्था।

महत्वपूर्ण प्रश्न

- व्यापारिक बैंक एवं सेन्ट्रल बैंक के विकास पर एक निवन्ध लिखिए। (रायपुर, बी. ए. प्रथम वर्ष, 2009)
- भारत में मौद्रिक एवं चलन मुद्रा का विकास किस प्रकार हुआ है? विस्तार से समझाइए।
- भारत में वाणिज्यिक बैंकों के विकास पर प्रकाश डालिए।

¹ “The Reserve Bank of India Act extended to the whole of British India, including Burma and although it did not specifically apply to the Indian princely States, its provisions were effective in their territories too.”

—Dharma Kumar, *The Cambridge Economic History of India* Vol. II, p. 792.

स्वतन्त्रता के समय भारतीय अर्थव्यवस्था : पिछड़ी अर्थव्यवस्था, गतिहीन अर्थव्यवस्था एवं अन्य प्रमुख विशेषताएं

**[INDIAN ECONOMY AT THE TIME OF INDEPENDENCE :
BACKWARD ECONOMY, STAGNANT ECONOMY AND
OTHER SALIENT FEATURES]**

स्वतन्त्रता के समय भारतीय अर्थव्यवस्था

(INDIAN ECONOMY AT THE TIME OF INDEPENDENCE)

भारतीय अर्थव्यवस्था से अर्थ उन सभी खेतों, कारखानों, दुकानों व खानों, बैंकों, स्कूल, कॉलेज विश्वविद्यालय, अस्पताल आदि से है जो लोगों को रोजगार देते हैं तथा वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन करते हैं और उन वस्तुओं व सेवाओं का उपयोग इस देश के लोग करते हैं। भारत को स्वतन्त्रता 15 अगस्त, 1947 को मिली उस समय भारतीय अर्थव्यवस्था कैसी थी। इसकी व्याख्या निम्न मर्दों में रख कर कर सकते हैं :

(1) **कृषि (Agriculture)**—भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्वपूर्ण स्थान था लेकिन ब्रिटिश शासन में इस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया, बल्कि खाद्यान्नों के स्थान पर वाणिज्यिक फसलों के उत्पादन पर ब्रिटिश शासन ने जोर दिया जिससे भारत में खाद्यान्नों की कमी हो गयी। स्वतन्त्रता के समय भारत में खाद्यान्नों की भारी कमी थी जिन्हें विदेशों से आयात किया जाता था।¹ उस समय भारत में जर्मांदारी प्रथा लागू थी जिससे यहां किसानों को भारी रकम, भूमि पर खेती करने के लिए, जर्मांदारों को देनी पड़ती थी। इससे किसानों के पास खाने के लिए बहुत कम ही बच पाता था। साथ ही किसानों को कृषि का कार्य करने के लिए साहूकारों व महाजनों पर निर्भर रहना पड़ता था जो उन्हें अत्यधिक ब्याज दर पर उधार देते थे। इससे उन किसानों की दशा स्वतन्त्रता के समय बहुत ही दयनीय थी। उन पर भारी ऋण थे और वे भारतीय उद्योगों के लिए पूरा कच्चा माल भी पैदा नहीं कर पाते थे।

(2) **उद्योग (Industries)**—ब्रिटिश शासन की शुरुआत से पूर्व भारतीय उद्योगों का बाजार विदेशों में बहुत ही अच्छा था। उस समय भारत मुख्य रूप से सूती व रेशमी वस्त्र व कलात्मक वस्तुओं का निर्यात करता था। लेकिन अंग्रेजों की नीति के कारण विदेशी बनी हुई वस्तुएं भारत में आने लगीं। इस प्रकार भारत बनी वस्तुओं का आयात करने लगा और कच्चे माल को निर्यात करने लगा। यद्यपि संरक्षण मिलने के कारण भारत में कुछ उद्योग तेजी से पनपने लगे थे। लेकिन पूंजी की कमी, श्रमिकों की कुशलता में कमी, व तकनीकी कर्मचारियों की कमी आदि से भारतीय उद्योग तेजी से अपना विकास नहीं कर सके। स्वतन्त्रता के समय भारत की राष्ट्रीय आय में उद्योगों का हिस्सा केवल 16-17 प्रतिशत ही था। उस समय यहां सूतीवस्त्र की अनेक मिलें थीं साथ ही यहां हैण्डलूम उद्योग भी था जिसमें जुलाहें हाथ से ही कपड़ा तैयार करते थे। कुछ मिल

¹ “At the time of Independence India was experiencing acute food shortage and had to import both rice and wheat” —K.P.M Sundram, *Introduction to Indian Economy*, p. 6.

चीनी, लोहा, सीमेन्ट आदि के भी थे। यहां उस समय कुटीर उद्योग व लघु उद्योग भी थे जो सूती व रेशमी वस्त्र बनाते थे। खिलौने व कलात्मक वस्तुएं बनाते थे, बीड़ी व माचिस भी भारत में बन रही थीं। उस समय 140 लाख व्यक्ति श्रमिक के रूप में कार्य कर रहे थे जिनमें से करीब 30 लाख ही फैक्ट्रियों में कार्यरत थे जबकि शेष छोटे-छोटे गृह उद्योगों में जिन पर फैक्ट्री अधिनियम लागू नहीं होता था। (i) उस समय के उद्योगों की एक विशेषता और थी कि यहां कम पूँजी वाले उद्योग ही अधिक थे। साथ ही (ii) बहुतायत उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों की थी। उस समय एक विशेषता और थी कि (iii) अधिकांश उद्योग कुछ विशेष क्षेत्रों तक ही सीमित थे। जैसे बम्बई (मुम्बई) में सूतीवस्त्र, कलकत्ता (कोलकाता) में जूट मिल। कुछ उद्योग अहमदाबाद, शोलापुर, मद्रास (चेन्नई), मदुरा, कोयम्बटूर, जमशेदपुर, कानपुर, दिल्ली आदि में भी थे। इस प्रकार उद्योग पूरे भारत में सभी स्थानों पर न होकर कुछ विशेष स्थानों पर ही केन्द्रित थे। तथा (iv) इन उद्योगों का स्वामित्व निजी था।

(3) **आधारित ढांचा (Infrastructure)**—किसी भी देश का विकास उस देश की कृषि एवं उद्योगों पर आधारित होता है। कृषि के लिए शक्ति (Power), साख (Credit), परिवहन (Transport) आदि चाहिए तो उद्योगों के लिए मशीनरी, विपणन सुविधा, परिवहन, सन्देशवाहन, आदि। यह सभी आधारित ढांचा (Infrastructure) में आते हैं। यदि कोई देश तेजी से विकास करना चाहता है तो उसे इस आधारभूत ढांचे का विकास अपने देश में तेजी से करना होगा। **सामान्यतया आधारभूत ढांचे में** (i) शक्ति (Power/Energy)—कोयला, तेल, सूर्य शक्ति, वायु शक्ति (Wind energy) आदि; (ii) परिवहन—इसमें रेल, सड़कें, पोत व वायु परिवहन, आदि; (iii) सन्देशवाहन—डाक, तार, टेलीफोन, रेडियो, बेतार का तार आदि; (iv) बैंकें, वित्त व वीमा; (v) विज्ञान व तकनीक (Science & Technology) व (vi) कुछ सामाजिक मद जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य आदि आते हैं।

स्वतन्त्रता के समय उपर्युक्त सभी आधारभूत ढांचे की कमी थी। यहां शक्ति पर्याप्त मात्रा में नहीं थी। यद्यपि कोयले का उत्पादन हो रहा था लेकिन तेल, गैस, सूर्य शक्ति आदि तो कल्पना से परे थी। परिवहन माध्यम से माल व मनुष्य का आवागमन सुलभ हो जाता है। उस समय सड़कें बहुत कम थीं। जो भी सड़कें थीं उनमें अधिकांश वर्षा के काल में कोई आवागमन नहीं होता था, क्योंकि वे कच्ची थीं। यद्यपि रेलों की स्थापना हो चुकी थी लेकिन वे सीमित स्थानों तक ही कार्यशील थीं। सन्देशवाहन के लिए यद्यपि डाक-तार विभाग था लेकिन यह बड़े शहरों व नगरों को ही जोड़ पाता था। ग्रामीण क्षेत्र पूर्ण रूप से अलग-थलग थे। भारत में उस समय बैंकें तो थीं जो उद्योगों को वित्तीय सहायता दे रही थीं। इस प्रकार विनियम बैंकें भी थीं जो विदेशी व्यापार में सहयोग कर रही थीं लेकिन उस समय बैंकों का विकास पूर्ण रूप से नहीं हुआ था। दीर्घकालीन वित्त देने वाली कोई संस्था नहीं थी। उस समय विज्ञान व तकनीक का भी उपयोग भारतीय उद्योगों व कृषि में नहीं हो रहा था। जहां तक सामाजिक मद की बात है इसकी शुरुआत तो हो चुकी थी लेकिन यह उपेक्षित था।

संक्षेप में स्वतन्त्रता के समय भारतीय अर्थव्यवस्था ब्रिटेन की एक कॉलोनी का रूप ले चुकी थी। कृषि उदास (Depressed) थी। किसान गरीब थे। कृषि उत्पादकता संसार में सबसे कम थी। संगठित उद्योग थोड़े थे लेकिन बड़े शहरों में केन्द्रित थे। भारी एवं आधारित उद्योग नहीं थे।

संक्षेप में स्वतन्त्रता के समय भारतीय अर्थव्यवस्था में निम्न विशेषताएं थीं :

- (1) **औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था (Colonial Economy)**
- (2) **अर्द्ध-समान्तवादी अर्थव्यवस्था (Semi-Feudal Economy)**
- (3) **पिछड़ी अर्थव्यवस्था (Backward Economy)**
- (4) **गतिहीन या सुस्त अर्थव्यवस्था (Stagnant Economy)**

अब हम इन विशेषताओं का विस्तार से विवेचन करेंगे।

(1) **औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था** (COLONIAL ECONOMY)

औपनिवेशिक को उपनिवेशी भी कहा जाता है। औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था से अर्थ ऐसी अर्थव्यवस्था से है जो दूसरे देश के जुड़ी है तथा जिसे शासक देश के आदेशों का पालन करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, जब एक देश की अर्थव्यवस्था दूसरे देश के द्वारा शासित होती है तो इसे औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था कहते हैं।

ऐसा उस समय होता है जबकि शासक देश का अपने अधीन देश पर राजनीतिक प्रभुत्व होता है। ऐसी स्थिति में अधीन देश की जनता अपने संसाधनों (जैसे कृषि, उद्योग, व्यापार, आदि) के उपयोग के लिए स्वयं निर्णय नहीं ले सकती है। उसे अपने शासक देश का आदेश या आज्ञा माननी पड़ती है। सामान्यतया शासक देश पक्का माल बनाते हैं और उस माल की खपत के लिए शासित देशों को अपना बाजार बनाते हैं तथा उन्हें कच्चा माल पैदा करने व उस कच्चे माल को उस देश को भेजने के लिए ऐसी नीतियां बनाते हैं कि उन्हें मजबूर होकर उनकी इच्छा के अनुरूप कार्य करना पड़ता है। ऐसा होने से अधीन देश की अर्थव्यवस्था पिछड़ जाती है। इस प्रकार दोनों देशों की अर्थव्यवस्था एक-दूसरे की पूरक हो जाती है। शासक देश इस प्रकार शासित देशों का शोषण करते हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था थी क्योंकि इसकी अर्थव्यवस्था पर ब्रिटेन का अधिकार था। एक औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में निम्न विशेषताएं पाई जाती हैं :

(1) **कच्चे माल के स्रोत** (Source of Raw Materials)—शासित देश शासक देश के लिए कच्चे माल के स्रोत माने जाते हैं जिससे कि वे अपने देश में उद्योगों को चला सकें। जिन शासित देशों में खनिज सम्पत्ति होती है वहां भी उद्योग स्थापित नहीं हो पाते। शासक देश खनिजों को कच्चे माल के लिए अपने देश में ले जाते हैं और वहां बड़े-बड़े उद्योग खनिजों के लिए स्थापित कर लेते हैं। इस कार्य के लिए शासक देश इन देशों में रेलों व सड़कों का जाल बिछाते हैं जिससे उन्हें कच्चा माल बन्दरगाहों तक पहुंचाने में आसानी रहे।

(2) **औद्योगिक वस्तुओं के लिए बाजार** (Market for Industrial Goods)—शासक देश अपने उपनिवेशों को औद्योगिक वस्तुओं के लिए बाजार बना लेते हैं और उन देशों के परम्परागत उद्योगों को जानबूझ कर नष्ट करने की नीति अपनाते हैं। इसके लिए वे परम्परागत वस्तुओं को अपने यहां न आने देने के लिए भारी आयत कर (Import duty) लगाते हैं और अपने पक्के माल को शासित देशों में जाने पर कोई कर नहीं लगाते हैं। इससे शासक देशों में तो औद्योगिक विकास होता है जबकि शासित देशों यानी उपनिवेशों में उनका माल बिकने लगता है जबकि उनके अपने उद्योग नष्ट हो जाते हैं।

(3) **विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन** (Incentive to Foreign Capital)—औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की एक विशेषता यह है कि इनमें विदेशी पूँजी को खूब प्रोत्साहन दिया जाता है। इसके लिए विदेशियों को अनेकों सुविधाएं प्रदान की जाती हैं। भारत में इस प्रकार की विदेशी पूँजी बागान उद्योग जैसे चाय, कॉफी, रबर आदि में लगाई गई। इसके अतिरिक्त रेल परिवहन, बैंकिंग व बीमा व्यवसाय, नौ परिवहन व खनन उद्योग में भी उन्होंने निवेश किया। हां, कुछ विनियोग जूट उद्योग में भी किया गया।

(4) **शोषण** (Exploitation)—औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में शासक देश के प्रतिनिधि खूब लूट-खसोट करते हैं। उनका यह तरीका अत्यधिक मुनाफाखोरी का होता है। इसके लिए वे अपनी वस्तुओं को अधिक-से-अधिक मूल्य पर अपनी कॉलोनियों में बेचते हैं।

(5) **सम्पत्ति का निकास** (Drain of Wealth)—इस प्रकार जो धन वे अपने उपनिवेशों से प्राप्त करते हैं उसे वे अपने देश ले जाते हैं और वहां उसका विनियोग किया जाता है। इस प्रकार उपनिवेशों की पूँजी या सम्पत्ति उनके देश से निकल कर शासक देशों में चली जाती है। इसी की सम्पत्ति का निकास कहते हैं।

(2) अर्द्ध-सामन्तवादी अर्थव्यवस्था (SEMI-FEUDAL ECONOMY)

अंग्रेजी ने भारत में आकर अर्द्ध-सामन्तवादी अर्थव्यवस्था को जन्म दिया। इस अर्थव्यवस्था में एक ओर सरकार व दूसरी ओर सामन्त थे। इस प्रकार इसमें सरकार व सामन्त दोनों को ही अधिकार थे। इसीलिए इस को अर्द्ध-सामन्त (Semi-Feudal) कहा गया और इन दोनों ने मिलकर जो अर्थव्यवस्था बनाई उसे अर्द्ध-सामन्तवादी अर्थव्यवस्था कहा गया। यहां सामन्त से अर्थ उन लोगों से था जो अंग्रेज सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते थे और जो अंग्रेज सरकार के लिए उत्तरदायी थे। भारत में इनका नाम जर्मांदार (Zamindar) था। भारत में इस सामन्तवाद की शुरुआत उस समय हुई जबकि सामन्तवाद (Feudalism) संसार से विदा किया जा रहा था।

अंग्रेजों ने जिस अर्द्ध-सामन्तवादी अर्थव्यवस्था की शुरुआत की थी उसकी विशेषताएं निम्न प्रकार थीं :

(1) इस अर्थव्यवस्था में भूमि के मालिकों को किराएदारों (Tenants) में बदल दिया। इसके लिए भूमि मालिकों को न ही कोई हर्जाना दिया गया और न कोई भावी सुरक्षा।

(2) इस अर्थव्यवस्था की एक विशेषता यह थी कि जर्मीदार भूमि का किराया बेतहाशा बढ़ा देते थे। उन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था न कोई पैमाना जिसके अनुसार किराया बढ़ाया जाता था।

(3) यदि कोई किसान ज़ंगलों से कमाता या मछलियों से कमाता या कृत्रिम साधनों से खेत को पानी देकर खेती करता तो उस पर सरकारी लगान बढ़ा दिया जाता था।

(4) इस प्रणाली ने देश में आध बटाई (Share Cropping) प्रणाली की शुरुआत की। जो किसान आर्थिक रूप से सम्पन्न नहीं थे या जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी वे अपने खेत को आध बटाई पर उन लोगों को देते थे जो उस पर खेती करते थे और उत्पादन का आधा हिस्सा स्वयं ले जाते थे।

(5) जर्मीदार किसानों से बेगार लेते थे और समय-समय पर उनसे भेट लेते थे, जैसे जन्म के समय भेट, शादी के समय भेट, हाथी या घोड़ा या जानवर खरीदने के समय भेट या परिवार में किसी सदस्य के मरने के समय प्रतिभोज के लिए भेट आदि।

(6) जर्मीदारों को अर्द्ध-न्यायिक-राजनीतिक अधिकार (Quasi-Judicial Political Power) प्राप्त थे। इसका अर्थ यह था कि वे न्याय भी करते थे इससे उनका राजनीतिक दबदबा भी बना रहता था क्योंकि वे अंग्रेजी सरकार के प्रतिनिधि लगान वसूल करने व सरकारी खजाने में जमा कराने के लिए थे।

(7) उस समय कृषि उत्पादन की तकनीक पुरानी थी कृषि उत्पादन परिवार के पेट भरने के लिए किया जाता था न कि वाणिज्यीकरण के लिए।

अंग्रेजों ने भारत में इस अर्थव्यवस्था को अपनाकर देश का शोषण किया व किसानों को पनपने नहीं दिया और वे जीवित रहने के स्तर पर ही बने रहे। इसके आन्तरिक बाजार सीमित हो गया और आर्थिक आधिक्य (Economic Surplus) को कोई स्थान नहीं मिला। यदि कृषि में कोई आधिक्य होता भी था तो उसे जर्मीदार ही खा जाते थे। इस प्रकार कृषि जो भारत के लिए पूँजी एकत्रित करने वाला व्यवसाय था वह अविकसित ही रह गया।

(3) पिछड़ी अर्थव्यवस्था

(BACKWARD ECONOMY)

“जिस देश में गरीबी होती है, पूँजी निर्माण की दर कम होती है, लोगों का जीवन-स्तर निम्न होता है और विकास की दर लगभग शून्य होती है तो ऐसे देश की अर्थव्यवस्था को पिछड़ी अर्थव्यवस्था कहते हैं।”

अंग्रेजों ने जब भारत को छोड़ा तो उस समय भारतीय अर्थव्यवस्था पिछड़ी हुई थी। इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम निम्न बिन्दुओं की व्याख्या करेंगे :

(1) प्रति व्यक्ति आय (Per Capita Income)—श्री के. मुखर्जी के अनुसार वर्ष 1947 में जो प्रति व्यक्ति आय थी वह सन् 1901 में प्रति व्यक्ति आय के बराबर थी लेकिन सुरेन्द्र जे. पटेल के अनुसार इस काल में कुछ वृद्धि हुई थी। कुछ अन्य विद्वानों ने भी इस सम्बन्ध में अपने अनुमान लगाए थे। लेकिन यह सभी तुलनात्मक नहीं थे क्योंकि इनके आधार अलग-अलग थे। अतः संक्षेप में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्वतन्त्रता के समय भारतीय अर्थव्यवस्था इसलिए पिछड़ी हुई थी क्योंकि यहां की प्रति व्यक्ति आय या तो स्थिर थी या फिर उसमें मामूली सी वृद्धि हो सकी थी। के.पी.एम. सुन्दरम् के अनुसार, “स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारतीयों की प्रति व्यक्ति आय विश्व में सबसे कम थी।”¹

(2) गरीबी (Poverty)—एक देश में व्यापक गरीबी इस बात का सबूत होती है कि वहां की अर्थव्यवस्था पिछड़ी हुई है। लेकिन इस बात के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं जिनसे सिद्ध किया जा सके कि भारत में उस समय गरीबी थी, परन्तु विद्वानों ने जो लिखा है उससे सिद्ध होता है कि भारत में गरीबी थी। विलियम विल्सन हण्टर (William Wilson Hunter) ने अपनी प्रस्तक *England Works in India* में लिखा है कि “भारत की 40 करोड़ आबादी अपर्याप्त भोजन पर अपना जीवन निर्वाह करती है।” अधिकांश लोगों की आय कम थी अतः पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार व उड़ीसा में केवल एक समय ही भोजन ग्रामीण जनता को मिल पाता था। भारत की अधिकांश जनता के भोजन में चीनी, मांस, चिकनाई व तेल आदि की मात्रा बहुत ही कम होती थी।

(3) मजदूरी (Wages)—भारतीय अर्थव्यवस्था इसलिए भी पिछड़ी हुई थी कि यहां मजदूरी की दरें बहुत ही नीची थीं। डॉ. राधाकमल मुखर्जी के अनुसार यहां के मजदूरों की वास्तविक मजदूरी दरें अंग्रेजों की नीतियों

¹ “At the time of Independence, the per capita income of Indians was one of the lowest in the whole world.” —K.P.M. Sundaram : *Introduction to Indian Economy*, p. 6.

के फलस्वरूप घट गई थीं लेकिन स्वतन्त्रता मिलने के समय इनमें कुछ सुधार अवश्य हुआ था। लेकिन फिर भी वे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के बहुत नीचे थीं।

(4) **परम्परागत कृषि** (Traditional Agriculture)—भारतीय अर्थव्यवस्था इसलिए भी पिछड़ी मानी गई कि यहां परम्परागत ढंग से ही खेती होती थी। वे ही लकड़ी के हल व बैल खेती के उपयोग में लाए जा रहे थे। सिंचाई के लिए भी वर्षा पर ही निर्भर रहना पड़ता था। यद्यपि अंग्रेजों ने कुछ नहरों का निर्माण अवश्य कराया था।

(5) **कमज़ोर औद्योगिक ढांचा** (Weak Industrial Structure)—भारतीय अर्थव्यवस्था इसलिए भी पिछड़ी थी क्योंकि यहां का औद्योगिक ढांचा कमज़ोर था। ब्रिटेन की नीतियों के फलस्वरूप यहां के परम्परागत उद्योग नष्ट हो चुके थे यद्यपि कुछ नवीन उद्योगों की स्थापना की शुरुआत अवश्य हो गई थी; जैसे लोहा, कपड़ा व जूट के मिलों की स्थापना, आदि। लेकिन इसको व्यापक स्तर पर औद्योगिकरण नहीं कहा जा सकता था।

(6) **जनसंख्या का व्यावसायिक आधार पर वितरण** (Occupational Distribution of Population)—भारत में जनसंख्या का व्यावसायिक आधार पर वितरण भी इस प्रकार का था जिसमें अधिकांश जनसंख्या कृषि व उससे सम्बन्धित कार्यों में लगी थी। इसलिए भी इसे पिछड़ी अर्थव्यवस्था माना गया।

(4) गतिहीन या सुस्त अर्थव्यवस्था

(STAGNANT ECONOMY)

गतिहीन अर्थव्यवस्था को ही सुस्त अर्थव्यवस्था भी कहते हैं। गतिहीन या सुस्त अर्थव्यवस्था से अर्थ उस अर्थव्यवस्था से है जिसकी वास्तविक राष्ट्रीय व प्रति व्यक्ति आय प्रायः स्थिर रहती है। इसका अर्थ यह है कि ऐसी अर्थव्यवस्था में उत्पादन स्थिर रहता है, औद्योगिक विकास नहीं होता है तथा कृषि का उत्पादन भी स्थिर रहता है। इनका परिणाम यह होता है कि प्रति व्यक्ति आय स्थिर रहती है, कृषि व औद्योगिक उत्पादन में कोई परिवर्तन नहीं होता है तथा उत्पादन की पुरानी तकनीकें ही काम में लाई जाती हैं। इससे औद्योगिक ढांचा कमज़ोर रहता है और आधारभूत उद्योगों का विकास नहीं हो पाता।

अब प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों होता है? इस गतिहीनता के लिए अनेक कारण होते हैं। भारत में स्वतन्त्रता के समय गतिहीन अर्थव्यवस्था थी। इस अर्थव्यवस्था के होने के कारण निम्न प्रकार थे :

(1) **ब्रिटिश सरकार की सामान्य नीतियां** (General Policies of the British Government)—भारत ब्रिटिश सरकार की एक कॉलोनी था। इसका प्रशासन ब्रिटेन पर था। अतः उसके द्वारा ही भारत के सम्बन्ध में नीतियां बनाई व क्रियान्वित की जाती थीं। ब्रिटेन की कुछ नीतियों के कारण भारत को लाभ हुआ। शान्ति एवं व्यवस्था में सुधार हुआ। परिवहन व संचार सुविधाओं में वृद्धि हुई तथा शहरों का कुछ विकास हुआ जिससे रुद्धिवादिता में कमी आई।

लेकिन यदि किसी राज्य की नीतियां उस देश के लिए भौतिक आधार (Material Foundation) नहीं बना पाती हैं तो उस देश का विकास नहीं हो सकता है। भारत के सम्बन्ध में भी यही हुआ। ब्रिटिश सरकार की नीतियों के कारण भारत का पुराना भौतिक आधार समाप्त हो गया और वह कोई नया भौतिक आधार न बना सका।

(2) **भूमिकर व भूस्वामित्व सम्बन्धी नीति** (Policy Relating to Land Revenue & Land Ownership)—ब्रिटेन की नीति किसानों का स्वामित्व समाप्त कर उन्हें जमींदारों की कृपा पर छोड़ने की रही। प्रारम्भ में यह नीति केवल किसानों से मालगुजारी वसूल करने की रही लेकिन बाद में 1793 में कार्नवालिस ने स्थाई बन्दोबस्त व्यवस्था लागू कर जमींदारों को भूमि का स्वामित्व प्रदान कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जो किसान जमींदार को जितना अधिक लगान देता था वही भूमि को जोत कर पैदावार कर सकता था। इससे काश्तकारों का शोषण जमींदारों ने करना प्रारम्भ कर दिया। अतः पैदावार काश्तकार बदलने से कम होती चली गई। उधर सरकार की मालगुजारी बढ़ती चली गई। उस समय सरकार की आय का यही मुख्य साधन था।

यदि इस बढ़ी हुई मालगुजारी को सिंचाई के लिए व्यय किया गया होता तो आज कृषि बहुत ही उन्नत स्थिति में होती।

(3) औद्योगिक एवं वाणिज्यिक नीतियां (Industrial and Commercial Policies)—ब्रिटेन की औद्योगिक एवं वाणिज्यिक नीतियां इस प्रकार की थीं जिससे कि भारत इंग्लैण्ड की पूरक अर्थव्यवस्था (Complementary Economy) का स्थान ले ले। वे यह चाहते थे कि उनका पक्का या तैयार माल भारत में बिके और भारत उनके लिए कच्चे माल की पूर्ति करे। इसके लिए उन्होंने भारतीय दस्तकारी उद्योग को नष्ट कर दिया लेकिन भारतीय औद्योगिक विकास के लिए कोई प्रयास नहीं किया। उन्होंने भारतीय करीगरों पर अनेकों अत्याचार किए।

इंग्लैण्ड के औद्योगिक विकास के लिए ब्रिटेन में भारतीय माल पर आयात शुल्क लगाकर भारतीय वस्तुओं का प्रवेश वहां नामुमकिन कर दिया।

ब्रिटिश शासकों ने भारतीय उद्योगों के विकास के लिए भेदभावपूर्ण नीति अपनाई और माल खरीदने के लिए इंग्लैण्ड के कारखानों में बने माल को प्राथमिकता दी गई।

(4) सम्पत्ति का निकास (Drain of Wealth)—अंग्रेज भारत से काफी सम्पत्ति ब्याज के रूप में या गृह खर्चों के रूप में ले गए। यदि इसको वे न ले गए होते और उसे भारत के औद्योगिक विकास में लगाया गया होता तो भारत का स्थान औद्योगिक देशों में ऊंचे स्थान पर होता।

महत्वपूर्ण प्रश्न

- स्वतन्त्रता के समय भारतीय अर्थव्यवस्था कैसी थी? विवेचना कीजिए।
- अर्द्ध-सामन्तवादी अर्थव्यवस्था की विशेषताएं बताइए।
- पिछड़ी अर्थव्यवस्था किसे कहते हैं? अंग्रेजों ने जब भारत छोड़ा तो भारतीय अर्थव्यवस्था पिछड़ी थी। कैसे? व्याख्या कीजिए।
- गतिहीन अर्थव्यवस्था से क्या तात्पर्य है? भारत में इस अर्थव्यवस्था के होने के क्या कारण थे? बताइए।

5

भारत में नियोजन अभ्यास : राष्ट्रीय नियोजन समिति, बम्बई योजना, जन योजना, गांधीवादी योजना एवं योजना आयोग

[PLANNING EXERCISES IN INDIA : NATIONAL PLANNING COMMITTEE, BOMBAY PLAN, PEOPLE'S PLAN, GANDHIAN PLAN AND THE PLANNING COMMISSION]

भारत में नियोजन अभ्यास (PLANNING EXERCISE IN INDIA)

भारत में आर्थिक नियोजन की आवश्यकता 1934 में ही बतायी गयी थी, जबकि सर एम. विश्वेश्वरैया ने अपनी पुस्तक 'Planned Economy for India' प्रकाशित कर भारतीय जनता का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। सर विश्वेश्वरैया एक प्रसिद्ध इन्जीनियर थे। इन्होंने 1934 में एक पुस्तक लिखी थी जिसका नाम था 'Planned Economy for India'। इस पुस्तक में भारत के नियोजित आर्थिक विकास की ओर ध्यान आकर्षित किया गया था। यह योजना 10-वर्षीय थी जिसका मूल उद्देश्य 10 वर्षों में राष्ट्रीय आय को दुगना करना, औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि करना, लघु एवं बड़े उद्योगों का समन्वित विकास करना व व्यवसाय में सन्तुलनों की स्थापना करना था। यह योजना नियोजित आर्थिक विकास की दृष्टि से प्रथम योजना थी जिसके सुझाव महत्वपूर्ण थे, लेकिन आर्थिक कठिनाइयों व सरकार की उपेक्षा के कारण यह योजना साकार रूप न ले सकी।

इसके बाद कांग्रेस ने 1935 में राष्ट्रीय नियोजन समिति (National Planning Committee) का गठन किया।

जनवरी 1944 में बम्बई के आठ प्रमुख उद्योगपतियों ने मिलकर एक योजना बनायी जिसको बम्बई योजना का नाम दिया गया। अप्रैल 1944 में साम्यवादी दल के नेता एम. एन. राय द्वारा एक जन योजना (Peoples Plan) प्रकाशित की गयी। इसके बाद 1944 में ही एक योजना गांधीजी के विचारों से सहमत होकर श्रीमत्रारायण अग्रवाल द्वारा तैयार की गयी, लेकिन यह सभी योजनाएँ कागजी थीं और उन्हें कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सका।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में योजना आयोग की स्थापना 1950 में की गई। इस अध्याय में इन सभी प्रयासों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

राष्ट्रीय नियोजन समिति

सन् 1935 में ब्रिटिश सरकार ने राज्यों को कुछ स्वतन्त्रता दे दी। अतः 1938 में पं. जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय नियोजन समिति का गठन किया गया जिसने देश की आर्थिक समस्याओं के अध्ययन के पश्चात् कुछ सुझाव सरकार के सम्मुख प्रस्तुत किये थे; जैसे सहकारी कृषि का विकास, लघु एवं बृहत् उद्योगों का समन्वित विकास, कृषि ऋणों की उपलब्धता व मिश्रित अर्थव्यवस्था, आदि। लेकिन 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ जाने व कांग्रेस मन्त्रिमण्डल द्वारा इस्तीफा दिये जाने के कारण इस नियोजन समिति के सुझावों पर भी कोई कार्यवाही न हो सकी।

बम्बई योजना

1944 के जनवरी माह में बम्बई के 8 उद्योगपतियों ने एक योजना प्रकाशित की जिसे बम्बई योजना के नाम से जाना जाता है। इस योजना के उद्योगपति थे—सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, जे. आर. डी. टाटा, घनश्यामदास बिड़ला, सर आर्देशिर दलाल, सर श्रीराम, सेठ कस्तूरभाई लाल भाई, डी. एफ. श्राफ एवं डॉ. जॉन मथर्डा। यह योजना 15-वर्षीय थी।

इस योजना में कुल 10,000 करोड़ ₹ व्यय करने का प्रस्ताव था जिसका बौरा इस प्रकार था—उद्योग 4,480 करोड़ ₹, गृहव्यवस्था 2,200 करोड़ ₹, कृषि 1,240 करोड़ ₹, परिवहन 940 करोड़ ₹, शिक्षा 490 करोड़ ₹, स्वास्थ्य 450 करोड़ ₹ व विविध 200 करोड़ ₹।

इस योजना के लिए वित्तीय साधनों की प्राप्ति इस प्रकार रखी गयी—पौण्ड पावना 1,000 करोड़ ₹, विदेशी ऋण 700 करोड़ ₹, व्यापार शेष 600 करोड़ ₹ व भूमिगत धन 300 करोड़ ₹, बचत 4,000 करोड़ ₹, मुद्रा-प्रसार 3,400 करोड़ ₹।

इस योजना के मुख्य उद्देश्य थे—राष्ट्रीय आय को तिगुना करना, प्रत्येक व्यक्ति की आय को दुगना करना, शिक्षा व उद्योगों को प्राथमिकता देना, परिवहन के साधनों का विकास, कृषि क्षेत्र में 130 प्रतिशत की वृद्धि व निजी उपकरणों को प्रोत्साहन। इन उद्देश्यों के अतिरिक्त नागरिकों को 2,600 कैलोरीज भोजन, 30 गज कपड़ा तथा 100 वर्ग फीट भूमि की न्यूनतम पूर्ति को सुनिश्चित करना भी इस योजना का लक्ष्य था।

परन्तु यह योजना पूँजीवादी बतायी गयी। इसमें निजी क्षेत्र को अधिक बल दिया गया था। योजना लागू न हो सकी।

जन योजना

भारतीय श्रम संघ के प्रमुख श्री एम. एन. राय ने अप्रैल 1944 में एक जन योजना बनायी। राय साम्यवादी नेता थे। अतः यह योजना साम्यवादी सिद्धान्तों के आधार पर बनायी गयी। इस योजना में मूल रूप से आर्थिक जगत में राजकीय हस्तक्षेप की आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया।

यह योजना 15,000 करोड़ ₹ की थी जिसमें व्यय इस प्रकार प्रस्तावित थे—उद्योग 5,600 करोड़ ₹, गृह निर्माण 3,150 करोड़ ₹, कृषि 2,950 करोड़ ₹, परिवहन 1,500 करोड़ ₹, शिक्षा 1,040 करोड़ ₹ व स्वास्थ्य 760 करोड़ ₹।

इस योजना के लिए वित्तीय साधन इस प्रकार बताये गये—कृषि आय 10,816 करोड़ ₹, औद्योगिक आय 2,834 करोड़ ₹, प्रारम्भिक अर्थव्यवस्था 810 करोड़ ₹, पौण्ड पावना 450 करोड़ ₹, भूमि का राष्ट्रीयकरण 90 करोड़ ₹।

इस योजना का मुख्य उद्देश्य 10 वर्ष में जनता की आधारभूत आवश्यकताओं को पूरा करना था। अन्य उद्देश्य थे—सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों का विकास, आय की असमानता को दूर करना, रोजगार सुविधाओं में वृद्धि करना व कृषि उत्पादन बढ़ाना।

यह योजना साम्यवादी विचारधारा पर आधारित थी। अतः इसे उपयुक्त नहीं समझा गया।

गांधीवादी योजना

यह योजना गांधीजी की विचारधारा से प्रेरित होकर श्रीमन्नारायणजी ने 1944 में प्रस्तुत की। इस योजना में 3,500 करोड़ ₹ व्यय करने का प्रस्ताव था। यह व्यय इस प्रकार होना था—कृषि 1,175 करोड़ ₹, वृहत् उद्योग 1,000 करोड़ ₹, परिवहन 400 करोड़ ₹, ग्रामीण उद्योग 350 करोड़ ₹, शिक्षा 295 करोड़ ₹, जन स्वास्थ्य 260 करोड़ ₹ व अन्येषण 20 करोड़ ₹।

इस योजना के लिए वित्त प्रबन्ध व्यवस्था इस प्रकार प्रस्तावित थी—आन्तरिक ऋण 2,000 करोड़ ₹, हीनार्थ प्रबन्धन 1,000 करोड़ ₹ व करारोपण 500 करोड़ ₹। यह योजना 10 वर्षीय योजना थी।

इस योजना का प्रमुख उद्देश्य जन समुदाय के जीवन-स्तर को निर्धारित न्यूनतम सीमा तक लाना था। इसमें प्रत्येक नागरिक को 2,600 कैलोरीज वाला सन्तुलित भोजन, 120 गज कपड़ा व 100 वर्ग फुट आवासीय भूखण्ड प्रदान करने का लक्ष्य था। इस योजना के कुछ और अन्य उद्देश्य इस प्रकार थे—ग्राम विकास, सामूहिक कृषि का विकास, भारी उद्योगों व जनउपयोगी सेवाओं वाले उद्योगों को राज्य के अधीन संचालित करना तथा अधिक-से-अधिक रोजगार देना व प्रति व्यक्ति आय में चार गुनी वृद्धि करना।

यह योजना अच्छी थी, परन्तु इसके लिए पर्याप्त वित्तीय साधन उपलब्ध नहीं थे। हीनार्थ-प्रबन्धन 1,000 करोड़ ₹ का होने से मुद्रा-प्रसार का भय था। यह योजना आत्म अनुशासन पर आधारित थी जो व्यावहारिक नहीं थी। अतः यह योजना क्रियान्वित न हो सकी।

भारत को स्वतन्त्रता 15 अगस्त, 1947 को मिली। तभी से भारत में नियोजित विकास की बात सामने आयी। अतः 1948 में औद्योगिक नीति घोषित की गयी तथा 1951 में औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम बनाया गया। इस अधिनियम का उद्देश्य उद्योगों का नियोजित विकास व नियमन करना था। 15 मार्च, 1950 को योजना आयोग बनाया गया जिसके अध्यक्ष तत्कालीन प्रधानमन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरू थे। इस बीच दो योजनाएँ और सामने आयीं। एक तो सर्वोदय योजना व दूसरी कोलम्बो योजना।

सर्वोदय योजना

जयप्रकाश नारायण द्वारा 30 जनवरी, 1950 को प्रकाशित की गयी इस योजना का प्रमुख उद्देश्य अहिंसात्मक ढंग से शोषणविहीन समाज की स्थापना करना था। इस योजना की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार थीं—आय व सम्पत्ति की असमानता को समाप्त करना, उद्योगों का संचालन समाज द्वारा किया जाना, भूमि का पुनः वितरण करना, सहकारी खेती का विकास करना, विदेशी लाभ अर्जित करने वाले प्रतिष्ठानों पर कठोर नियन्त्रण लगाना तथा सम्पूर्ण राज्य की आय का 50 प्रतिशत भाग ग्राम-पंचायतों द्वारा तथा शेष 50 प्रतिशत भाग शासकीय सत्ता द्वारा व्यय किया जाना। यह योजना पूर्ण रूप से सरकार ने नहीं मानी, लेकिन उसमें निहित कुछ सिद्धान्तों को अवश्य मान लिया।

कोलम्बो योजना

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् राष्ट्रों ने अनुभव किया कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक नियोजन अपनाया जाय। अतः जनवरी 1950 में संयुक्त राष्ट्र मण्डल (Commonwealth Nations) की राष्ट्रीय सरकारों का एक सम्मेलन कोलम्बो में बुलाया गया जिसमें एक सलाहकार समिति की स्थापना की गयी। इस समिति ने 1951 से 1957 की 6 वर्षों में 1,868 मिलियन पौण्ड व्यय करने की सिफारिश की। भारत के लिए 23,337 मिलियन ₹ की व्यवस्था की गयी।

योजना आयोग

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय से ही विभिन्न कारणों जैसे, द्वितीय विश्वयुद्ध के फलस्वरूप देश की बिगड़ी हुई आर्थिक स्थिति, खाद्यान्न का अभाव एवं अन्य समस्याओं व कठिनाइयों को हल करने के लिए यह अनुभव किया जाने लगा कि नियोजित ढंग से देश का विकास किया जाना चाहिए तथा जिसके लिए एक स्वतन्त्र स्वायत्त संस्था स्थापित की जानी चाहिए। स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् कंग्रेस दल ने एक आर्थिक कार्यक्रम समिति बनायी जिसने 1948 में एक स्थायी योजना आयोग स्थापित करने की सिफारिश की, जिसके फलस्वरूप 15 मार्च, 1950 को योजना आयोग की विधिवत् स्थापना कर दी गयी।

योजना आयोग पूर्णतया एक सलाहकारी संस्था है जिसका कार्य योजनाओं का निर्माण करना एवं योजनाओं की प्रगति का मूल्यांकन करना है।

वर्तमान में योजना आयोग का मुख्यालय 'योजना भवन', पार्लियामेण्ट स्ट्रीट, नई दिल्ली में है।

योजना आयोग का संगठन

भारत के प्रधानमन्त्री इसके पदेन अध्यक्ष हैं। अध्यक्ष के अतिरिक्त एक उपाध्यक्ष होता है तथा कुछ सदस्य। सदस्यों की संख्या समय-समय पर घटती-बढ़ती रहती है जिसका निर्धारण केन्द्र सरकार करती है।

वर्तमान में योजना आयोग, विशेष विभागों, विषय विभागों, अन्य संस्थाओं, संगठन एवं प्रशासन विभागों में विभक्त है। ये विभाग इस प्रकार हैं :

(I) **विशेष**—यह विभाग 12 हैं—● सांख्यिकीय एवं सर्वेक्षणीय विभाग, ● आर्थिक विभाग, ● श्रम, रोजगार एवं जनशक्ति विभाग, ● भावी योजना विभाग, ● परियोजना मूल्यांकन एवं प्रबन्ध विभाग, ● राज्य योजना विभाग, तथा ● योजना समन्वय विभाग, ● केन्द्रीय वित्त विभाग, ● अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक विभाग, ● सामाजिक आर्थिक अनुसन्धान विभाग, ● बहुस्तरीय नियोजन विभाग, ● विकास नीति विभाग।

(II) **विषय विभाग**—यह विभाग सोलह हैं—● कृषि विभाग, ● ग्राम एवं लघु उद्योग विभाग ● जल संसाधन विभाग, ● उद्योग एवं खनिज विभाग, ● परिवहन विभाग ● स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण विभाग ● समाज कल्याण और महिला कार्यक्रम विभाग, ● शिक्षा विभाग, ● शक्ति एवं ऊर्जा विभाग (ग्रामीण ऊर्जा सहित), ● आवासीय एवं शहरी विकास विभाग ● विज्ञान और शिल्प विज्ञान

विभाग, ● पिछड़ी जाति एवं जनजाति विकास विभाग, ● संचार एवं सूचना विभाग, ● ग्रामीण विकास विभाग, ● वातावरण एवं वन विभाग, एवं ● पश्चिमी घाट सचिवालय।

(III) अन्य समितियाँ—योजना आयोग के उपर्युक्त विभागों के अतिरिक्त कुछ अन्य समितियाँ भी हैं, जो इस प्रकार हैं—● कार्यकारी दल, ● सलाहकारी समितियाँ व पैनल, ● मूल्यांकन समितियाँ व ● अनुसन्धान समितियाँ।

(IV) कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन—इसका कार्य कुछ निश्चित योजनाओं का मूल्यांकन करना है जिससे कि आयोजकों को महत्वपूर्ण सूचनाएँ दी जा सकें।

(V) प्रशासन—इस विभाग का कार्य योजना आयोग के कर्मचारियों का लेखा-जोखा रखना है।
योजना आयोग के कार्य

योजना आयोग के कार्य निम्नलिखित हैं :

(1) संसाधनों का अनुमान लगाना—योजना आयोग का सबसे प्रथम कार्य देश में उपलब्ध भौतिकी एवं मानवीय संसाधनों का अनुमान लगाना तथा उन संसाधनों के अत्यन्त प्रभावकरी एवं सतुलित उपयोग के लिए योजनाएँ बनाना है। (2) प्राथमिकताओं का निर्धारण—देश में विकास तो सभी ओर करना है, लेकिन यह तय करना कि पहले विकास किस ओर किया जाए, प्राथमिकता निर्धारण करना कहलाता है। यह आयोग इन प्राथमिकताओं का निर्धारण करता है और सुझाव देता है कि किस कार्य को पहले और किस कार्य को बाद में किया जाए। (3) उपलब्ध साधनों का बैंटवारा—देश में जो साधन उपलब्ध हैं उनका बैंटवारा योजनाओं में किस प्रकार किया जाए, यह कार्य इसी आयोग के द्वारा किया जाता है। (4) बाधक तत्वों की ओर ध्यान दिलाना—यदि देश के आर्थिक विकास में कोई तत्व बाधक है या बाधाएँ उपस्थित होने की सम्भावनाएँ हैं तो आयोग ऐसी बाधाओं की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करता है। (5) सुझाव देना—आयोग समय-समय पर सरकार की नीतियों, साधनों, आवश्यकताओं व वर्तमान परिस्थितियों पर सरकार को व अन्य विभागों को सुझाव देता रहता है जिससे कि सरकार अपना कार्य उचित ढंग से चला सके व जन-साधारण की सेवा कर सके। (6) योजना का निर्माण—योजना आयोग का प्रमुख कार्य योजना का निर्माण कर सरकार को सौंप देना है। (7) प्रगति का मूल्यांकन—योजनाओं के लागू हो जाने पर उनसे क्या लक्षित परिणाम प्राप्त हुए अथवा नहीं उसका मूल्यांकन करना भी योजना आयोग का कार्य है। यदि योजनाओं के लागू करने में कहीं कोई भूल हुई हो या कोई अप्रत्याशित कठिनाई उपस्थित हो गयी हो तो उसके बारे में सुझाव देने का कार्य इसी आयोग का है।

राष्ट्रीय विकास परिषद्

योजना कार्यों में समन्वय करने एवं राज्य सरकारों की सहमति एवं स्वीकृति प्राप्त करने के उद्देश्य से एक राष्ट्रीय विकास परिषद् बनायी गयी है। इस परिषद् के सदस्य हैं—सभी राज्यों के मुख्यमन्त्री, योजना आयोग के सदस्य व प्रधानमन्त्री। प्रधानमन्त्री इसके पदेन सभापति हैं। इस परिषद् के निम्नलिखित कार्य हैं :

(1) नवीन योजना पर विचार एवं उसकी स्वीकृति—योजना आयोग द्वारा तैयार की गयी योजना पर विचार-विमर्श करना एवं उसकी स्वीकृति देना। (2) दिशा निर्देश देना—यदि योजना के लिए यदि कोई दिशा निर्देश देने हैं तो वे भी इसी परिषद् के द्वारा दिये जा सकते हैं। (3) महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करना—राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाली उन महत्वपूर्ण बातों पर विचार करना ही इसका कार्य है जो सामाजिक एवं आर्थिक नीतियों से सम्बन्धित हैं। (4) कम विकसित क्षेत्रों का विकास करना—कम विकसित क्षेत्रों के विकास के लिए योजनाएँ बनाने का निर्देश देना जिससे कि योजनाओं का लाभ सभी को मिल सके। (5) योजना की समीक्षा—समय-समय पर योजना की समीक्षा करते रहने का कार्य भी इसी परिषद् का है। योजना के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सिफारिशें भी इसी परिषद् के द्वारा की जाती हैं।

राष्ट्रीय विकास परिषद् की सिफारिश पर ही योजना को संसद के समक्ष उसकी स्वीकृति हेतु रखा जाता है जहाँ पर इस योजना पर विचार-विमर्श किया जाता है और संसद की स्वीकृति मिलने पर प्रकाशित कर दिया जाता है।

योजना आयोग की आलोचनाएँ

योजना आयोग की आलोचना निम्न प्रकार की जाती है :

(1) स्वतन्त्रता का अभाव—यह आयोग अपना कार्य करने में स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि विभिन्न मन्त्रालयों के सुझावों पर इस योजनाएँ बनाता है और इसे विभिन्न मन्त्रालयों के अधिकारियों से अनिवार्य रूप से विचार-विमर्श करना पड़ता है। (2) सहयोग एवं समन्वय का अभाव—योजना आयोग के कई विभाग एवं

उप-विभाग हैं जिनके कार्यों में समन्वय बिठलाने के लिए भी विभाग हैं, लेकिन फिर भी इन विभागों में सहयोग एवं समन्वय का अभाव पाया जाता है। (3) सदस्यों की नियुक्ति—आयोग के सदस्यों की नियुक्ति राजनीतिक आधार पर की जाती रही है। कभी-कभी नियुक्ति करने में कई महीने व वर्ष निकल जाते हैं। ऐसी स्थिति में आयोग अपना कार्य स्वतन्त्र रूप से नहीं कर पाता है तथा उसको राजनीतिक दबाव के आगे झुकना पड़ता है। इससे कार्यों को करने में देरी होती है। (4) तकनीकी ज्ञान का अभाव—योजना आयोग के सदस्यों में तकनीकी ज्ञान का अभाव पाया जाता है, क्योंकि वे या तो अवकाश प्राप्त सरकारी अफसर या जनता द्वारा हराये हुए राजनीतिज्ञ होते हैं। सदस्यों में तकनीकी ज्ञान के अभाव में आयोग के कार्य में बाधा उपस्थित हो जाती है। (5) भारी व्यय—योजना आयोग के व्ययों में बराबर वृद्धि हो रही है जिसके प्रभाव के कारण देश के आर्थिक एवं वित्तीय साधनों पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है। (6) लालफीताशाही—योजना आयोग की कार्यपद्धति लालफीताशाही को जन्म देती है जिसके अनुसार कार्य करने में देरी होती है तथा देश के विकास में बाधाएँ उपस्थित करती है। (7) राज्य स्तरों पर योजना आयोगों का अभाव—राज्यों द्वारा अपने-अपने योजना आयोग नहीं बनाये गये हैं जिससे आयोग द्वारा राज्य की योजनाओं को भी बनाया जाता है। इससे इस पर कार्य का दबाव अधिक रहता है। (8) अवैज्ञानिक वित्तीय अनुमान—योजनाओं के लिए जो वित्तीय अनुमान आयोग द्वारा लगाये जाते हैं, वे प्रायः सही नहीं बैठते हैं। इसका कारण यह बताया जाता है कि उसके अनुमान वैज्ञानिक आधार पर नहीं लगाये जाते हैं। (9) योजना क्रियान्वयन—योजना आयोग का कार्य योजनाएँ बनाना एवं उनके क्रियान्वयन का मूल्यांकन करना है न कि योजना का क्रियान्वयन। ऐसा होने से योजना के लक्ष्य प्राप्त नहीं हो पाते हैं, क्योंकि क्रियान्वयन का कार्य सरकारों पर होता है। (10) वित्तीय साधनों के आवंटन में दुहरापन—केन्द्र व राज्यों में वित्तीय साधनों का बैंटवारा वित्तीय आयोग की सिफारिशों के आधार पर किया जाता है, लेकिन कुछ मामलों में बैंटवारा योजना आयोग भी कर देता है। इस प्रकार वित्तीय साधनों के आवंटन में दुहरापन पाया जाता है।

राष्ट्रीय भारत परिवर्तन संस्थान (नीति आयोग)

(NATIONAL INSTITUTION FOR TRANSFORMING INDIA—NITI)

सरकार ने योजना आयोग के स्थान पर एक नया संस्थान ‘नीति आयोग’ (राष्ट्रीय भारत परिवर्तन संस्थान) बनाया है। नए संस्थान के सम्बन्ध में जानकारी देने वाला मन्त्रिमण्डल का प्रस्ताव जनवरी 1, 2014 को जारी किया गया। बीतते वर्षों के साथ सरकार का संस्थागत ढांचा विकसित और परिपक्व हुआ है। इससे कार्यक्षेत्र में विशेषज्ञता विकसित हुई है जिसने संस्थाओं को सौंपे गए कार्यों की विशिष्टता बढ़ाई है। नियोजन की प्रक्रिया के सन्दर्भ में शासन की ‘प्रक्रिया’ को शासन की ‘कार्यनीति’ से अलग करने के साथ ही उसे ऊर्जावान बनाने की जरूरत है।

शासन संरचना के सन्दर्भ में हमारे देश की जरूरतें बदली हैं। ऐसे में एक ऐसे संस्थान की स्थापना की आवश्यकता थी जो सरकार के दिशात्मक और नीति निर्धारक थिंक-टैक के रूप में कार्य करे। प्रस्तावित संस्थान प्रत्येक स्तर पर नीति निर्धारण के प्रमुख तत्वों के बारे में महत्वपूर्ण और तकनीकी सलाह देगा। इसमें आर्थिक मोर्चे पर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय आयात के मामले, देश के भीतर और अन्य देशों में उपलब्ध सर्वोत्तम प्रक्रियाओं के प्रसार, नए नीतिगत विचारों को अपनाने और विषय आधारित विशिष्ट सहायता शामिल है। यह संस्थान लगातार बदल रहे एकीकृत विश्व के अनुरूप कार्य करने में सक्षम होगा, भारत जिसका एक भाग है।

संस्थान के तहत व्यवस्था में केन्द्र से राज्यों की तरफ चलने वाले एक पक्षीय नीतिगत क्रम को एक महत्वपूर्ण विकासवादी परिवर्तन के रूप में राज्यों की वास्तविक और सतत भागीदारी से बदल दिया जाएगा। त्वरित गति से कार्य करने के लिए और सरकार को नीति दृष्टिकोण उपलब्ध कराने के साथ-साथ प्रासंगिक विषयों के सन्दर्भ में संस्थान के पास आवश्यक संसाधन, ज्ञान, कौशल और क्षमता होगी।

सबसे महत्वपूर्ण यह है कि विश्व के सकारात्मक प्रभावों को अपनाते हुए संस्थान को इस नीति का पालन करना होगा कि भारत के परिप्रेक्ष्य में एक ही मॉडल प्रत्यारोपित नहीं किया जा सकता है। विकास के लिए हमें अपनी नीति स्वयं निर्धारित करनी होगी। देश में और देश के लिए क्या हितकारी है, संस्थान को इस पर ध्यान केन्द्रित करना होगा जो विकास के लिए भारतीय दृष्टिकोण पर आधारित होगा।

इन आशाओं को जीवंत बनाने के लिए संस्थान है—नीति आयोग (राष्ट्रीय भारत परिवर्तन संस्थान)। इसे राज्य सरकारों, संसद सदस्यों, विषय विशेषज्ञ और सम्बन्धित संस्थानों सहित तमाम हितधारकों के बीच गहन विचार-विमर्श के बाद प्रस्तावित किया गया।

नीति आयोग के उद्देश्य (OBJECTIVES OF NITI)

नीति आयोग निम्नांकित उद्देश्यों के लिए कार्य करेगा :

- राष्ट्रीय उद्देश्यों को दृष्टिगत रखते हुए राज्यों की सक्रिय भागीदारी के साथ राष्ट्रीय विकास प्राथमिकताओं, क्षेत्रों और रणनीतियों का एक साझा दृष्टिकोण विकसित करेगा। नीति आयोग को विजन बल प्रदान करने के लिए प्रधानमन्त्री और मुख्यमन्त्रियों को 'राष्ट्रीय एजेंडा' का प्रारूप उपलब्ध कराना है।
- सशक्त राज्य ही सशक्त राष्ट्र का निर्माण कर सकता है; इस तथ्य की महत्ता को स्वीकार करते हुए राज्यों के साथ सतत आधार पर संरचनात्मक सहयोग की पहल और तन्त्र के माध्यम से सहयोगपूर्ण संघवाद को बढ़ावा देगा।
- ग्राम स्तर पर विश्वसनीय योजना तैयार करने के लिए तन्त्र विकसित करेगा और इसे उत्तरोत्तर उच्च स्तर तक पहुंचाएगा।
- आयोग यह सुनिश्चित करेगा कि जो क्षेत्र विशेष रूप से उसे सौंपे गए हैं उनकी आर्थिक कार्य नीति और नीति में राष्ट्रीय सुरक्षा के हितों को शामिल किया गया है।
- हमारे समाज के उन वर्गों पर विशेष रूप से ध्यान देगा जिन तक आर्थिक प्रगति से उचित प्रकार से लाभान्वित न हो पाने का जोखिम होगा।
- रणनीतिक और दीर्घावधि के लिए नीति तथा कार्यक्रम का ढांचा तैयार करेगा और पहल करेगा। साथ ही उनकी प्रगति और क्षमता की निगरानी करेगा। निगरानी और प्रतिक्रिया के आधार पर मध्यावधि संशोधन सहित नवीन सुधार किए जाएंगे।
- महत्वपूर्ण हितधारकों तथा समान विचारधारा वाले राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय थिंक टैंक और साथ ही साथ शैक्षिक और नीति अनुसंधान संस्थानों के बीच भागीदारी को परामर्श और प्रोत्साहन देगा।
- राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों, प्रैक्टिशनरों तथा अन्य हितधारकों के सहयोगात्मक समुदाय के जरिए ज्ञान, नवाचार, उद्यमशीलता सहायक प्रणाली बनाएगा।
- विकास के एजेंडे के कार्यान्वयन में तेजी लाने के क्रम में अन्तर-क्षेत्रीय और अन्तर-विभागीय मुद्दों के समाधान के लिए एक मंच प्रदान करेगा।
- अत्याधुनिक कला संस्थान केन्द्र बनाना जो सुशासन तथा सतत और न्यायसंगत विकास की सर्वश्रेष्ठ कार्यप्रणाली पर अनुसंधान करने के साथ-साथ हितधारकों तक जानकारी पहुंचाने में भी मदद करेगा।
- आवश्यक संसाधनों की पहचान करने सहित कार्यक्रमों और उपायों के कार्यान्वयन के सक्रिय मूल्यांकन और सक्रिय निगरानी की जाएंगी, ताकि संवाएं प्रदान करने में सफलता की संभावनाओं को प्रबल बनाया जा सके।
- कार्यक्रमों और नीतियों के क्रियान्वयन के लिए प्रौद्योगिकी उन्नयन और क्षमता निर्माण पर जोर।
- राष्ट्रीय विकास के एजेंडा और उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अन्य आवश्यक गतिविधियां सम्पादित करना।

नीति आयोग का गठन (COMPOSITION OF NITI)

नीति आयोग का गठन इस प्रकार किया गया है :

1. भारत के प्रधानमन्त्री—अध्यक्ष।

2. गवर्निंग काउंसिल में राज्यों के मुख्यमन्त्री और केन्द्रशासित प्रदेशों के उपराज्यपाल शामिल होंगे।

3. विशिष्ट मुद्दों और ऐसे आकस्मिक मामले, जिनका सम्बन्ध एक से अधिक राज्य या क्षेत्र से हो, को देखने के लिए क्षेत्रीय परिषदें गठित की जाएंगी। ये परिषदें विशिष्ट कार्यकाल के लिए बनाई जाएंगी। भारत के

प्रधानमन्त्री के निर्देश पर क्षेत्रीय परिषदों की बैठक होगी और इनमें सम्बन्धित क्षेत्र के राज्यों के मुख्यमन्त्री और केन्द्र शासित प्रदेशों के उपराज्यपाल शामिल होंगे (इनकी अध्यक्षता नीति आयोग के उपाध्यक्ष करेंगे)।

4. सम्बन्धित कार्य क्षेत्र की जानकारी रखने वाले विशेषज्ञ और कार्यरत लोग, विशेष आमन्त्रित के रूप में प्रधानमन्त्री द्वारा नामित किए जाएंगे।

पूर्णकालिक संगठनात्मक ढांचे में (प्रधानमन्त्री अध्यक्ष होने के अलावा) निम्न होंगे—

(i) उपाध्यक्ष : प्रधानमन्त्री द्वारा नियुक्त।

(ii) सदस्य : पूर्णकालिक।

(iii) अंशकालिक सदस्य : अग्रणी विश्वविद्यालय शोध संस्थानों और सम्बन्धित संस्थानों से अधिकतम दो पदेन सदस्य, अंशकालिक सदस्य बारी के आधार पर होंगे।

(iv) पदेन सदस्य : केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद् से अधिकतम चार सदस्य प्रधानमन्त्री द्वारा नामित होंगे। यदि बारी के आधार को प्राथमिकता दी जाती है तो वह नियुक्ति विशिष्ट कार्यकाल के लिए होगी।

(v) मुख्य कार्यकारी अधिकारी : भारत सरकार के सचिव स्तर के अधिकारी को निश्चित कार्यकाल के लिए प्रधानमन्त्री द्वारा नियुक्त किया जाएगा।

(vi) सचिवालय आवश्यकता के अनुसार।

निष्कर्ष—संक्षेप में नीति आयोग विकास प्रक्रिया में निर्देश और रणनीतिक परामर्श देगा। केन्द्र से राज्यों की तरफ चलने वाले एकपक्षीय नीतिगत क्रम को एक महत्वपूर्ण विकासवादी परिवर्तन के रूप में राज्यों की वास्तविक और सतत भागीदारी से बदल दिया जाएगा। नीति आयोग राज्यों के साथ सतत आधार पर संरचनात्मक सहयोग की पहल और तन्त्र के माध्यम से सहयोगपूर्ण संघवाद को बढ़ावा देगा। नीति आयोग ग्राम स्तर पर विश्वसनीय योजना तैयार करने के लिए तन्त्र विकसित करेगा और इसे उत्तरोत्तर उच्च स्तर तक पहुंचाएगा। आयोग राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों, प्रैक्टिशनरों तथा अन्य हितधारकों के सहयोगात्मक समुदाय के जरिए ज्ञान, नवाचार, उद्यमशीलता सहायक प्रणाली बनाएगा। इसके अतिरिक्त आयोग कार्यक्रमों और नीतियों के क्रियान्वयन के लिए प्रौद्योगिकी उन्नयन और क्षमता निर्माण पर जोर देगा।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. योजना आयोग क्या है? इसके कार्यों का आलोचनात्मक विवरण दीजिए।
2. निम्न पर टिप्पणी लिखिए :

 - राष्ट्रीय नियोजन, गांधीवादी योजना।

3. नीति आयोग क्या है? इसके उद्देश्य एवं गठन की विवेचना कीजिए।

भारतीय अर्थव्यवस्था की संरचना : मूल विशेषताएं

**[STRUCTURE OF THE INDIAN ECONOMY :
BASIC FEATURES]**

क्षेत्रफल की दृष्टि से भारत का विश्व में सातवाँ स्थान है, लेकिन जनसंख्या की दृष्टि से दूसरा स्थान है। यहाँ का कुल क्षेत्रफल 32.87 लाख वर्ग किलोमीटर है जो विश्व के क्षेत्रफल का 2.4 प्रतिशत है। इसकी भू-सीमा 15,200 किलोमीटर व तट सीमा 7,516.6 किलोमीटर है। यहाँ की जनसंख्या 2011 की जनगणना के अनुसार 121.08 करोड़ है। भारत इस समय खाद्यान्न उत्पादन के क्षेत्र में आत्मनिर्भर है; तथा विश्व के औद्योगिक क्षेत्र में दसवां स्थान है। इस देश में अनेक प्रकार की भूमि, खनिज पदार्थ, वनस्पति, कृषि उत्पादन व जलवायु हैं जिनके कारण इसको महाद्वीप का नाम दिया जाता है।

भारतीय अर्थव्यवस्था की संरचना (STRUCTURE OF INDIAN ECONOMY)

भारतीय अर्थव्यवस्था की संरचना को तीन क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है :

- (1) प्राथमिक क्षेत्र (या कृषि सम्बद्ध क्षेत्र),
- (2) द्वितीयक क्षेत्र (या उद्योग क्षेत्र),
- (3) तृतीयक क्षेत्र (या सेवा क्षेत्र)।

(1) **प्राथमिक क्षेत्र (Primary Sector)**—इसे 'कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र' भी कहा जाता है। इस क्षेत्र में कृषि, पशुपालन, वानिकी, मछलीपालन एवं खनन को शामिल किया जाता है। इन्हें प्राथमिक क्षेत्र इसलिए कहा जाता है, क्योंकि ये सभी उत्पाद मानव अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं और प्रकृति के प्रत्येक सहयोग से संचालित किये जाते हैं।

कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ तथा विकास की कुंजी है। यह देश की राष्ट्रीय आय का एक बड़ा स्रोत, रोजगार एवं जीवनयापन का प्रमुख साधन, औद्योगिक विकास, वाणिज्य एवं विदेशी व्यापार का आधार है। देश की विभिन्न योजनाओं की सफलता यहाँ तक कि राजनीतिक स्थायित्व भी कृषि क्षेत्र की प्रगति पर निर्भर करता है।

विकास के सहवर्ती के रूप में, सकल घरेलू उत्पाद में कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र का हिस्सा (2011-12 की कीमतों पर) वर्ष 2014-15 में 17.5 प्रतिशत है। देश के कुल रोजगार का 48.9% भाग कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र में नियोजित है।

पशुधन एवं मत्स्य-पालन कृषि क्षेत्र के महत्वपूर्ण संघटक हैं। बागवानी क्षेत्र का सकल घरेलू उत्पाद को कृषि क्षेत्र के हिस्से में योगदान 30.4%, पशुधन क्षेत्र का योगदान 4.1% तथा मत्स्य-पालन का योगदान 4.6% है। देश के कुल निर्यात व्यापार में कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र का हिस्सा (2014-15) लगभग 12.1% है जबकि देश के आयात व्यापार में इसका हिस्सा 3.2% है।

योजना काल में प्राथमिक क्षेत्र (कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र) की वृद्धि दर को निम्नवत् प्रदर्शित किया जा सकता है :

योजना काल में कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र की वृद्धि दर

योजना	प्राथमिक क्षेत्र की वृद्धि दर (प्रतिशत)	योजना	प्राथमिक क्षेत्र की वृद्धि दर (प्रतिशत)
प्रथम योजना	4.1	छठवीं योजना	4.3
द्वितीय योजना	4.0	सातवीं योजना	4.1
तृतीय योजना	(-) 1.4	आठवीं योजना	3.6
वार्षिक योजनाएं	6.2	नौवीं योजना	2.06
चतुर्थ योजना	2.9	दसवीं योजना	2.13
पंचम योजना	4.2	ग्यारहवीं योजना	4.1

बारहवीं योजना अवधि के प्रथम तीन वर्षों 2012-13, 2013-14, 2014-15 तथा 2015-16 के दौरान कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र की विकास दर क्रमशः 1.2%, 3.7%, 1.3% तथा 1.1% रही।

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र की वृद्धि दर में पर्याप्त उच्चावचन रहा है। कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र की प्रगति के प्रमुख संकेतक निम्नवत् हैं :

कृषि क्षेत्र—मुख्य संकेतक (2011-12 कीमतों पर प्रतिशत)

क्रम सं.	मद	2012-13	2013-14	2014-15
1.	स. घ. उ. के रूप में कृषि क्षेत्र में वृद्धि दर कुल स. घ. उ. में कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्र का हिस्सा	1.5 18.2	4.2 18.3	-0.2 17.4
2.	सकल घरेलू पूँजी निर्माण में कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र का हिस्सा	7.8	8.6	7.7
3.	फसलों का हिस्सा	6.6	7.3	6.4
4.	क्षेत्र के स. घ. उ. के प्रतिशत के अनुसार कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्र में जी. सी. एफ.	16.3	17.0	15.8

स्रोत : आर्थिक समीक्षा, 2015-16.

(2) द्वितीयक क्षेत्र (Secondary Sector)—इसमें विनिर्माणी उद्योग, निर्माण कार्य, विद्युत, गैस और जल-आपूर्ति को शामिल किया जाता है। इस क्षेत्र में एक प्रकार के इनपुट को दूसरे प्रकार के इनपुट में अथवा कच्चे माल को तैयार माल के रूप में परिवर्तित किया जाता है। अतः इसे द्वितीयक क्षेत्र कहा जाता है।

द्वितीयक क्षेत्र को औद्योगिक क्षेत्र भी कहा जाता है। किसी देश के तीव्र आर्थिक विकास के लिए उस देश में औद्योगिकरण की प्रगति को तीव्र करना आवश्यक होता है। स्वतंत्रता के पश्चात् नियोजित आर्थिक विकास के फलस्वरूप देश ने औद्योगिक विकास में काफी प्रगति की है। आज भारत विश्व के प्रमुख औद्योगिक देशों में से एक है। वर्ष 1950-51 में देश के सकल घरेलू उत्पाद में उद्योग क्षेत्र का हिस्सा 16.6% था जो क्रमशः बढ़ते हुए वर्तमान (2014-15) में 31.8% हो गया है। देश के कुल रोजगार में उद्योग क्षेत्र का हिस्सा 24.4% है।

योजनाकाल में देश के औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि दर को निम्न तालिका द्वारा दर्शाया जा सकता है :

योजना	औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि दर(%)	योजना	औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि दर(%)
प्रथम योजना	7.3	छठवीं योजना	5.5
द्वितीय योजना	6.6	सातवीं योजना	8.5
तृतीय योजना	9.0	आठवीं योजना	8.1
वार्षिक योजनाएं	2.0	नौवीं योजना	5.06
चतुर्थ योजना	4.7	दसवीं योजना	8.74
पांचवीं योजना	5.9	ग्यारहवीं योजना	6.6

वर्ष 2011-12 को आधार वर्ष मानते हुए वर्ष 2012-13, 2013-14 तथा 2014-15 में औद्योगिक विकास की दर क्रमशः 2.4%, 4.5% तथा 5.9% रही।

देश में आधारभूत एवं पूँजीगत उद्योगों की स्थापना एवं प्रगति में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है तथा देश के सभी उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि हुई है।

देश का औद्योगिक उत्पादन सूचकांक (आधार वर्ष 2004-05) वर्ष 2005-06 में 108 था वह बढ़कर 2015-16 में 186.3 हो गया।

(3) **तृतीयक क्षेत्र (Tertiary Sector)**—इस क्षेत्र में व्यापार, होटल, परिवहन, संचार, वित्तीय संस्थाएं, बीमा, लोक प्रशासन, रक्षा एवं अन्य सेवाओं को शामिल किया जाता है। इस क्षेत्र को 'सेवा क्षेत्र' भी कहा जाता है। इस क्षेत्र की सेवाएं प्राथमिक और द्वितीयक क्षेत्र को सहयोग प्रदान करती हैं। अतः इन्हें तृतीयक क्षेत्र कहा जाता है।

तृतीयक क्षेत्र को सेवा क्षेत्र के रूप में जाना जाता है। सेवा क्षेत्र का सकल घरेलू उत्पाद में योगदान वर्तमान (वर्ष 2014-15) में 50.7% है तथा देश के कुल रोजगार में इस क्षेत्र का हिस्सा 26.9% है। सेवा क्षेत्र ने विगत कुछ वर्षों में तीव्र प्रगति की है और अर्थव्यवस्था के सबसे बड़े और उभरते क्षेत्र के रूप में सामने आया है। इसके अतिरिक्त सकल घरेलू उत्पाद में प्रमुख क्षेत्र होने के नाते, सेवा क्षेत्र ने विदेश निवेश प्रवाहों, निर्यातों और रोजगार में काफी योगदान दिया है।

देश के सकल घरेलू उत्पाद में सेवा क्षेत्र का हिस्सा वर्ष 1999-2000 में 50.0% था जो बढ़कर 2007-08 में 54.4%, 2012-13 में 58.8%, 2013-14 में 59.9% तथा 2014-15 में 50.7% हो गया। यह देश के सेवा क्षेत्र में हो रहे तीव्र विकास को प्रकट करता है।

क्षेत्रीय विकास का अंतर्सम्बन्ध

आर्थिक विकास के इन तीनों क्षेत्रों की स्थिति तथा आर्थिक विकास की अवस्थाओं के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध हैं, जैसा कि निम्न विवरण से स्पष्ट है :

आर्थिक विकास की प्राथमिक अवस्था में प्राथमिक क्षेत्र की विशिष्ट भूमिका होती है। इस अवस्था में प्रति व्यक्ति भोज्य उत्पादों का स्तर काफी नीचा होता है। अतः न्यूनतम भोज्य पदार्थों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिकांश जनसंख्या प्राथमिक क्षेत्र में संलग्न होती है। इस अवस्था में आयातों का अधिकांश भुगतान प्राथमिक उत्पादों के निर्यातों से होता है और इस कारण प्राथमिक उत्पादों पर विशेष जोर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त गैर-प्राथमिक क्षेत्र में विकास का स्तर नीचा होने के कारण सकल राष्ट्रीय उत्पाद में प्राथमिक क्षेत्र की प्रभुत्वपूर्ण स्थिति होती है।

जैसे-जैसे आर्थिक विकास होता है, कृषि क्षेत्र में उत्पादन एवं उत्पादकता बढ़ने लगती है, जिसके फलस्वरूप कार्यकारी जनसंख्या कृषि क्षेत्र से निर्माणी क्षेत्र की ओर जाने लगती है और निर्माणी क्रियाएं बढ़ने लगती हैं। इसके साथ ही लोगों की आय बढ़ने से निर्माणी क्षेत्र के उत्पादों की मांग में महत्त्वपूर्ण वृद्धि होती है। निर्माणी क्षेत्र की क्रियाओं के बढ़ने से तृतीयक क्षेत्र की क्रियाओं जैसे बैंकिंग, बीमा, परिवहन तथा अन्य सेवाओं की मांग भी क्रमशः बढ़ती जाती है। इस सभी के फलस्वरूप आर्थिक विकास के साथ प्राथमिक क्षेत्र की भूमिका कम होती जाती है तथा द्वितीयक एवं तृतीयक क्षेत्र की भूमिका धीरे-धीरे बढ़ती चली जाती है।

भारत में सकल घरेलू उत्पाद के सन्दर्भ में उपर्युक्त क्षेत्रों की स्थिति को निम्न तालिका से दर्शाया जा सकता है :

सकल घरेलू उत्पाद में क्षेत्रीय योगदान

(सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत में)

वर्ष	कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र	उद्योग	सेवाएं
1950-51	53.1	16.6	30.3
1960-61	48.7	20.5	30.8
1970-71	42.3	24.0	33.8
1980-81	35.1	25.9	38.0
1990-91	29.6	27.7	42.7

2000-01	22.3	27.3	50.4
2012-13	13.9	27.3	58.8
2013-14	13.9	26.1	59.9
2014-15*	17.5	31.8	50.7

स्रोत : आर्थिक समीक्षा, 2015-16

उपर्युक्त तालिका के आधार पर देश में क्षेत्रीय विकास एवं उनके सम्बन्धों को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :

(1) प्राथमिक क्षेत्र की भूमिका में सतत गिरावट—सन् 1950-51 में सकल घरेलू उत्पाद में प्राथमिक क्षेत्र का भाग 53.1% था जो लगातार घटते हुए 2014-15 में 17.5% पर आ गया। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जहां 1950-51 में सकल घरेलू उत्पाद का आधे से अधिक प्राथमिक क्षेत्र से आता था, वह 2014-15 में मात्र 1/6 रह गया।

प्राथमिक क्षेत्र के चार मुख्य भाग हैं : कृषि, पशुधन, वानिकी तथा मत्स्यपालन। विगत वर्षों में फिशिंग के भाग में वृद्धि हुई है जबकि कृषि, पशुधन तथा वानिकी के भाग में गिराकर आई है। आर्थिक विकास के साथ इस क्षेत्र के तुलनात्मक भाग में कमी आना स्वाभाविक था, लेकिन जितनी तेजी से कमी आयी है, वह विचारणीय है और कृषि क्षेत्र के तीव्र विकास पर भी ध्यान देना होगा।

(2) द्वितीयक क्षेत्र में सतत वृद्धि—द्वितीयक क्षेत्र का भाग 1950-51 में मात्र 16.6% था, जो 2014-15 में 31.8% हो गया। सकल राष्ट्रीय उत्पाद में 1950-51 में इसका भाग 1/6 था, जो 2014-15 में 1/5 से अधिक हो गया। यहां यह उल्लेखनीय है कि इसके सभी संघटकों अर्थात् विनिर्माणी उद्योग, निर्माण कार्य, विद्युत, गैस तथा जल-आपूर्ति क्षेत्र के योगदान में वृद्धि हुई है।

(3) तृतीयक क्षेत्र प्रभुत्वपूर्ण स्थिति में—समंकों से स्पष्ट है कि स्थिर मूल्यों के आधार पर 1950-51 में देश के सकल राष्ट्रीय उत्पाद में तृतीयक क्षेत्र का भाग 30.3% था, जो लगातार तेजी से बढ़ते हुए 2014-15 में 50.7% हो गया और इस प्रकार प्रभुत्वपूर्ण स्थिति में आ गया है। इसके मुख्य कारण निम्न प्रकार हैं :

- (अ) देश में बैंकिंग और बीमा क्षेत्र का तेजी से विकास हुआ है।
- (ब) वाणिज्यिक भवनों एवं आवास भवनों में विनियोग तेजी से बढ़ा है।
- (स) सरकारी क्षेत्र में सतत वृद्धि हुई है।
- (द) खुदरा व्यापार, होटल एवं रेस्टोरेन्ट व्यवसाय में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।
- (य) परिवहन एवं संचार के क्षेत्र में क्रान्तिकारी विस्तार हुआ है।

तृतीयक क्षेत्र की प्रभुत्वपूर्ण स्थिति के कारण देश के आर्थिक विकास को 'Service-led growth' का नाम दिया गया है।

भारतीय अर्थव्यवस्था के लक्षण या विशेषताएँ

(SALIENT FEATURES OR CHARACTERISTICS OF INDIAN ECONOMY)

भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रकृति एवं इसकी प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :

- I. भारतीय अर्थव्यवस्था की परम्परागत विशेषताएँ (अल्प-विकसित अर्थव्यवस्था के रूप में भारतीय अर्थव्यवस्था)।
- II. भारतीय अर्थव्यवस्था की नवीन विशेषताएँ (विकासमान अर्थव्यवस्था के रूप में भारतीय अर्थव्यवस्था)।

I. भारतीय अर्थव्यवस्था की परम्परागत विशेषताएँ (Traditional Features of Indian Economy)

(1) कृषि की प्रधानता—भारत की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि यहाँ पर कृषि व्यवसाय की प्रधानता है। यहाँ कुल कार्यशील जनसंख्या का 54.6 प्रतिशत कृषि व्यवसाय में तथा शेष 45.4 प्रतिशत उद्योग व सेवाओं में लगा हुआ है। कृषि व्यवसाय 17.5 प्रतिशत ही राष्ट्रीय आय में अपना योगदान दे पाता है। यहाँ

* वर्ष 2014-15 के आंकड़े आधार वर्ष 2011-12 तथा सकल मूल्य संवर्धन (GVA) से सम्बन्धित हैं।

के निर्यात व्यापार में भी कृषि का महत्वपूर्ण स्थान है। लगभग 12.1 प्रतिशत निर्यात प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पदार्थों का ही होता है। कृषि व्यवसाय की प्रधानता इस तथ्य से भी प्रतिबिम्बित होती है कि भारत की अधिकतर जनसंख्या का निवास गाँवों में ही है।

(2) **ग्रामीण अर्थव्यवस्था**—भारतीय अर्थव्यवस्था ग्रामीण है। यहाँ 6.40 लाख गाँव व लगभग 7,933 नगर व शहर हैं। यहाँ की 68.84 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में निवास करती है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक 10 व्यक्तियों में से 7 गाँवों में रहते हैं। यह प्रतिशत अन्य देशों की तुलना में बहुत ज्यादा है। उदाहरण के लिए, अमेरिका की 20, जापान की 34 व ऑस्ट्रेलिया की 8 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में रहती है।

(3) **प्रति व्यक्ति निम्न आय**—भारतीय अर्थव्यवस्था की तीसरी विशेषता यह है कि यहाँ प्रति व्यक्ति आय (विश्व के कुछ देशों को छोड़कर) बहुत ही निम्न है। विश्व विकास रिपोर्ट, 2015 के अनुसार वर्ष 2014 में भारत में प्रति व्यक्ति आय 1,530 डॉलर थी, जबकि अमेरिका में यह आय 54,630 डॉलर थी।

भारत में प्रति व्यक्ति आय कम होने से गरीबी व्याप्त है, लेकिन यह गरीबी इससे और भी अधिक है, क्योंकि यहाँ की 40 प्रतिशत जनसंख्या को राष्ट्रीय आय का केवल 19.7 प्रतिशत ही मिल पाता है। यहाँ की 29.5 प्रतिशत (रंगराजन विशेषज्ञ ग्रुप प्रणाली के अनुसार) जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे है, क्योंकि उनको आवश्यक मात्रा में कैलोरीज भी नहीं मिल पाती है।

(4) **पूँजी की कमी**—भारतीय अर्थव्यवस्था की चौथी विशेषता यह है कि यहाँ पूँजी की कमी है। इसका मुख्य कारण बचत व विनियोग की निम्न दरों होना है। यहाँ राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण बचत का स्तर निम्न है। पिछले कुछ वर्षों में नियोजन होने के कारण बचत व विनियोग दरों में कुछ वृद्धि हुई है।

(5) **जनसंख्या का अधिक दबाव**—भारतीय अर्थव्यवस्था की पाँचवीं विशेषता यह है कि यहाँ जनसंख्या का भारी दबाव है। इसका अर्थ यह है कि यहाँ की जनसंख्या अन्य विकसित देशों की तुलना में तेजी से बढ़ रही है। 2011 की जनगणना के अनुसार सम्पूर्ण विश्व की 17.5 प्रतिशत जनसंख्या भारत में निवास करती है, जबकि उसके पास विश्व के कुल स्थल क्षेत्र का 2.4 प्रतिशत भाग ही है।

(6) **व्यापक बेरोजगारी**—भारतीय अर्थव्यवस्था की छठवीं विशेषता यह है कि यहाँ व्यापक बेरोजगारी व्याप्त है जिसमें बराबर वृद्धि होती जाती है। वर्तमान में लगभग 4 करोड़ व्यक्ति बेरोजगार हैं। इस संख्या में प्रति वर्ष 60 लाख व्यक्तियों की ओर वृद्धि हो जाती है। व्यापक बेरोजगारी के साथ-साथ यहाँ पर अर्द्ध-रोजगार (Under-employment) भी पाया जाता है। इसका अर्थ यह है कि जो लोग यहाँ पर कार्य कर रहे हैं उनके लिए भी पूरे समय कार्य करने के लिए काम की कमी है।

(7) **सम्पन्नता में दरिद्रता**—भारत में खनिज, वन सम्पदा, जनशक्ति व अन्य साधन पर्याप्त हैं। यहाँ पर कोयला, लोहा, मैंगनीज, बॉक्साइट, आदि पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। अणु शक्ति के लिए आवश्यक सामग्री भी भारत में उपलब्ध है। तेल व गैस के बड़े-बड़े भण्डार हैं एवं अच्छे जंगल हैं जहाँ विभिन्न प्रकार की लकड़ियाँ पायी जाती हैं। भारत में विशाल जनशक्ति के होते हुए भी साधनों व अन्य आवश्यक तत्वों के अभाव में उनका उचित विदेहन नहीं हो पाया है। इसलिए सम्पन्नता में दरिद्रता है।

(8) **तकनीकी ज्ञान का निम्न स्तर**—यहाँ पर शिक्षा, तकनीकी शिक्षा, अनुसन्धान एवं विकास, आदि की सुविधाओं का बड़ा अभाव है। इन सबका परिणाम यह है कि यहाँ का तकनीकी ज्ञान निम्न स्तर का है तथा इसी कारण कृषि और उद्योग दोनों ही क्षेत्रों में उत्पादकता का स्तर भी निम्न है।

(9) **आर्थिक विषमता**—भारतीय अर्थव्यवस्था में सम्पत्ति एवं आय के वितरण में काफी असमानता या विषमता है। राष्ट्रीय आय के आंकड़ों के अनुसार वर्तमान मूल्यों पर प्रति व्यक्ति आय में सभी प्रदेशों में समानता नहीं है।

(10) **परम्परावादी समाज**—भारतीय अर्थव्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यहाँ का समाज रुद्धिवादी, भाग्यवादी व परम्परावादी है। यही कारण है कि यहाँ बहुत-सी कुरीतियाँ; जैसे बाल-विवाह, मृत्यु-भोज व अनेक सामाजिक परम्पराएँ पायी जाती हैं जिनमें काफी धन व्यय कर दिया जाता है। यहाँ तक पाया जाता है कि यदि उत्सव करने वाले के पास धन नहीं है तो वह ऋण लेकर उस उत्सव को कराता है। ऐसी परम्पराओं व रीति-रिवाजों के कारण यहाँ का समाज सुखी जीवन व्यतीत नहीं कर पाता है और अपने

परिवार का जीवन-स्तर नहीं उठा पाता है। औद्योगिक क्षेत्रों में भी परम्परावादी बातें अपनायी जाती हैं; जैसे भारत में सूती वस्त्र उद्योग के क्षेत्र में लगभग 25 प्रतिशत कारखाने ही स्वचालित (automatic) हैं, जबकि अमरीका व हांगकांग में 100 प्रतिशत कारखाने स्वचालित हैं।

(11) **परिवहन व संचार साधनों का अभाव**—भारत में परिवहन व संचार साधनों का भी अभाव है। यहाँ पर सड़कें कम हैं तथा अधिकांश सड़कें कच्ची हैं। यहाँ पर 1 वर्ग किमी में 0.7 किलोमीटर सड़कें हैं, जबकि जापान में 4 किलोमीटर व अमरीका में 1.3 किलोमीटर। संचार साधनों का भी यहाँ पर उतना विकास नहीं हो पाया है जितना अन्य देशों में।

(12) **आधारभूत संरचना का अभाव**—किसी देश की प्रगति वहाँ विकसित आधारभूत संरचना पर निर्भर करती है। आधारभूत संरचना के विकास से तात्पर्य है, ऊर्जा एवं शक्ति, सड़क, रेल, जल एवं वायु परिवहन बैंक, बीमा व वित्तीय संस्थाएं तथा संचार की सुविधाएं आदि का विकास। पर्याप्त आधारभूत संरचना का विकास न होना भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रगति में बाधक है। भारत में अब तक आधारभूत संरचना का जो भी विकास हुआ है उसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता है।

(II) भारतीय अर्थव्यवस्था की नवीन विशेषताएँ (New Features of Indian Economy)

उपर्युक्त परम्परावादी विशेषताओं से ऐसा आभास होता है कि भारत एक पिछड़ा हुआ राष्ट्र है, लेकिन ऐसी बात नहीं है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत में नियोजन की पद्धति अपनाने से यहाँ काफी प्रगति हुई है। कृषि के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं, नये-नये उद्योग स्थापित हुए हैं तथा पुराने उद्योगों की कार्य-पद्धति एवं उत्पादन में भी परिवर्तन हुआ है। सामाजिक चिन्तन की राह में परिवर्तन दिखायी देता है। यहाँ की नियोजित अर्थव्यवस्था की सार्वजनिक क्षेत्र में वृद्धि, औद्योगिक विकास, बैंकिंग सुविधाओं का विकास, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि, बचत एवं पूँजी-निर्माण में वृद्धि व नवीन उद्योगों की स्थापना, आदि नवीन विशेषताएँ हैं, जो निम्न प्रकार हैं :

(1) **नियोजित अर्थव्यवस्था**—भारत में विकास के लिए नियोजन की नीति अपनायी गयी है। यह नियोजन 1 अप्रैल, 1951 से चालू किया गया है। अब तक ग्यारह पंचवर्षीय योजनाएँ, तीन वार्षिक योजनाएं और तीन वर्ष का अन्तरकाल पूरे हो चुके हैं। इस प्रकार यहाँ नियोजन के 65 वर्ष पूरे हो चुके हैं जिससे देश का विकास हुआ है। 1 अप्रैल, 2012 से बारहवीं योजना प्रारम्भ हो चुकी है।

(2) **सार्वजनिक क्षेत्र का विकास**—यहाँ सार्वजनिक उद्योगों की संख्या में बराबर वृद्धि हो रही है। 1950-51 में भारत में 5 सार्वजनिक उद्योग थे जिनमें 29 करोड़ ₹ की पूँजी लगी थी, लेकिन वर्तमान (31 मार्च, 2015) में इनकी संख्या 298 व पूँजी निवेश बढ़कर 10,96,057 करोड़ ₹ हो गया है। इन उद्योगों में लोहा एवं इस्पात उद्योग, सीमेण्ट उद्योग, रसायन उद्योग, इंजीनियरिंग उद्योग, कोयला उद्योग व अनेक उपभोक्ता उद्योग शामिल हैं।

(3) **औद्योगिक विकास**—यहाँ पर औद्योगिक उत्पादन बढ़ रहा है। प्रथम योजना में 7.3 प्रतिशत, द्वितीय योजना में 6.6 प्रतिशत, तृतीय योजना में 9.0 प्रतिशत, चतुर्थ योजना में 4.7 प्रतिशत, पांचवीं योजना में 5.9 प्रतिशत, छठवीं योजना में 5.8 प्रतिशत, सातवीं योजना में 8.2 प्रतिशत व आठवीं योजना में 7.3 प्रतिशत व नौवीं योजना में 5 प्रतिशत उत्पादन बढ़ा है। दसवीं योजना के दौरान (2002-07) देश में उद्योगों की औसत वृद्धि दर 8.2 प्रतिशत तथा ग्यारहवीं योजना (2007-12) में 6.6 प्रतिशत रही। स्थिर मूल्यों पर (आधार वर्ष 2011-12) उद्योगों में वृद्धि दर वर्ष 2012-13 में 2.4%, 2013-14 में 4.5% तथा 2014-15 में 5.9% रही।

(4) **बैंकिंग सुविधाओं का विकास**—यहाँ पर बैंकिंग सुविधाओं का बराबर विकास हो रहा है। जून 1969 में भारत में व्यापारिक बैंकों की 8,262 शाखाएँ थीं, लेकिन जून, 2015 के अन्त में इन शाखाओं की संख्या 1,31,645 हो गई है।

(5) **प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि**—यहाँ पर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद प्रति व्यक्ति आय बराबर बढ़ रही है। वर्तमान की कीमतों के आधार पर यह 2011-12 में 64,316 ₹ से बढ़कर 2015-16 में 93,231 ₹ हो गयी है।

(6) बचत एवं पूँजी-निर्माण दरों में वृद्धि—यहाँ बचतों व पूँजी-निर्माण की दरों में भी वरावर वृद्धि हो रही है। 1950-51 में बचतें सकल घरेलू आय का 9.5 प्रतिशत थीं, जबकि 2014-15 में 33.0 प्रतिशत हो गयीं। इसी प्रकार यहाँ सकल घरेलू पूँजी-निर्माण की दर 1950-51 में 9.3 प्रतिशत थी जो 2014-15 में बढ़कर 34.2 प्रतिशत हो गयी है।

(7) नवीन उद्योगों की स्थापना—नियोजन प्रारम्भ होने से भारत में अनेक नवीन उद्योग स्थापित हो गये हैं जो इस बात का प्रमाण है कि भारत एक विकासशील देश है। उदाहरण के लिए, यहाँ मोटर-गाड़ियाँ, हवाई जहाज, पनडुब्बियाँ व अनेक रसायन बनने लगे हैं जिनका पहले आयात किया जाता था।

(8) विकास के अन्तर्गत संरचनात्मक परिवर्तन—योजनाकाल के दौरान हुए सतत प्रयास के फलस्वरूप भारत में कृषि, उद्योग एवं सेवा क्षेत्र में संरचनात्मक परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। यद्यपि भारत अभी भी एक कृषि प्रधान देश बना हुआ है, फिर भी यहाँ उद्योग एवं सेवा क्षेत्र में भी पर्याप्त विकास हुआ है। देश के सकल व घरेलू उत्पाद में कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र के भाग में कमी हुई, जबकि विनिर्माण एवं सेवा क्षेत्र के भाग में वृद्धि हुई है।

उल्लेखनीय है कि उत्पादन लागत पर देश के सकल घरेलू उत्पाद में (स्थिर कीमतों) कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र अर्थात् प्राथमिक क्षेत्र का हिस्सा घटता जा रहा है, जबकि उद्योग एवं सेवा क्षेत्र का हिस्सा क्रमशः बढ़ता जा रहा है। यह देश में होने वाले विकास का प्रतीक है। देश में विकास के अन्तर्गत होने वाला यह संरचनात्मक परिवर्तन नियोजन काल में हुए विकास को प्रतिबिम्बित करता है।

(9) यातायात एवं संचार सुविधाओं का विस्तार—देश में यातायात एवं संचार सुविधाओं का पर्याप्त विकास हुआ है। देश में रेलों एवं सड़कों का विशाल नेटवर्क है। रेलगाड़ियों की संख्या एवं गति में सुधार हुआ है। मोटर वाहनों की गुणवत्ता बढ़ी है। हवाई यातायात का विस्तार हुआ है एवं जहाजंरानी की क्षमता बढ़ी है। संचार व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। उपग्रह के माध्यम से संचार व्यवस्था अधिक मजबूत और विस्तृत हुई है।

(10) सामाजिक सेवाओं का विस्तार—भारत में शिक्षा, स्वास्थ्य जैसी सामाजिक सेवाओं का पर्याप्त विकास हुआ है। शोध एवं तकनीकी शिक्षा में प्रगति हुई है। साक्षरता का स्तर बढ़ा है। व्यावसायिक शिक्षा एवं प्रौद्योगिकीय शिक्षा के विद्यालयों एवं महाविद्यालयों की संख्या बढ़ी है। अब देश में प्रशिक्षित श्रमिकों, वैज्ञानिकों, तकनीकी विशेषज्ञों, अनुसन्धानकर्ताओं एवं प्रबन्धकों की कमी नहीं है। यहाँ के विशेषज्ञता प्राप्त लोग विदेशों में भी अपनी सेवाएं उपलब्ध करा रहे हैं।

(11) सामाजिक परिवर्तन—देश में हो रहे विकास के फलस्वरूप यहाँ सामाजिक परिवर्तन की गति तेज हुई है। रुद्धिवादिता, जाति-प्रथा, बाल-विवाह तथा छुआछूत जैसी बुराइयाँ कम हुई हैं। सामाजिक राजनैतिकता तथा आर्थिक क्रियाकलापों में महिलाओं की सहभागिता बढ़ी है। महिलाओं में शिक्षा एवं ज्ञान का स्तर बढ़ा है।

(12) बाजार-तन्त्र—भारतीय अर्थव्यवस्था में एक मजबूत व्यापार तन्त्र का विकास हुआ है। यहाँ वस्तुओं के साथ-ही-साथ श्रम एवं पूँजी के संगठित बाजार हैं। वस्तु बाजार में अधिकांश वस्तुओं की कीमतें मांग एवं पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होती हैं साथ ही अनिवार्य वस्तुओं के अभाव में उनका वितरण उचित मूल्य की दुकानों के माध्यम से किया जाता है। कृषकों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए सरकार द्वारा उनके उत्पादों का न्यूनतम समर्थन मूल्य निर्धारित किया जाता है।

(13) गरीबी एवं बेरोजगारी दूर करने के उपाय—देश में गरीबी एवं बेरोजगारी दूर करने के लिए विशिष्ट कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं; जैसे महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना, स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना, स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना, अन्पूर्णा योजना, अन्त्योदय अन्न योजना, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार सूजन कार्यक्रम आदि। इससे देश में गरीबी अनुपात घटा है।

(14) भारतीय अर्थव्यवस्था की विश्वव्यापीकरण प्रकृति एवं विशेषताएं—भारत की नई आर्थिक नीति में उदारीकरण एवं वैश्वीकरण को प्राथमिकता प्रदान की गई है जिसके फलस्वरूप देश की अर्थव्यवस्था का विश्व की अर्थव्यवस्था से जुड़ाव हुआ है। इसके अन्तर्गत आयात पर से मात्रात्मक प्रतिबन्ध हटाए गए हैं। निर्यात में वृद्धि के प्रयास किए गए हैं। विदेशी पूँजी का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हुआ है। सेवा क्षेत्र, बीमा, बैंकिंग एवं जहाजरानी

क्षेत्रों में विदेशी निवेश की छूट प्रदान की गई है तथा रुपए को पूर्ण परिवर्तनीय बनाया गया है। भारतीय अर्थव्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएं उसके वैश्वीकरण के स्वरूप को स्पष्ट करती हैं।

(अ) इलेक्ट्रॉनिक्स एवं कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी का तीव्र विकास—विगत वर्षों में भारत में इलेक्ट्रॉनिक्स और कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी का तेजी से विकास हुआ है। देश में कम्प्यूटर के उपकरणों के उत्पादन, उपयोग एवं निर्यात में वृद्धि हुई। इससे देश में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। देश में करोड़ों लोग इंटरनेट से जुड़ गए हैं। सूचना प्रौद्योगिकी के विकास से आज आउटसोर्सिंग के लिए भारत अन्य देशों की तुलना में बेहतर सिद्ध हो रहा है।

(ब) ज्ञान अर्थव्यवस्था—विगत कुछ वर्षों से देश में ज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति हुई है। अब देश वस्तु अर्थव्यवस्था के क्षेत्र के निकलकर ज्ञान अर्थव्यवस्था की ओर तेजी से अग्रसर है। अब डेटा बैंक, कम्प्यूटर व इंटरनेट सेवाएं आदि ज्ञान-क्षेत्र (Knowledge Sector) का प्रमुख अंग बन गई हैं। उद्योगों में ज्ञान (Knowledge) केन्द्रीय पूँजी, लागत केन्द्र तथा उत्पादन का केन्द्रीय संसाधन बन चुका है। अब ज्ञान की भूमिका कार्यात्मक तथा उत्पादक दोनों हो गई है। आज 'ज्ञान समाज' ने व्यवसाय के लिए नए दायित्व, नए कार्य, नई चुनौतियों के साथ-साथ नए अवसरों को भी जन्म दिया है।

देश में सेवा उद्योगों के विकास में पर्याप्त प्रगति हुई है। यहां अब आणविक ऊर्जा, कम्प्यूटर प्रणाली, सम्प्रेषण, डेटा प्रोसेसिंग तथा नवीन प्रौद्योगिकी का विकास हो रहा है। इन सबका मुख्य आधार नई विकसित कम्प्यूटर प्रणाली है।

(स) नवीन प्रौद्योगिकी—भारत में नित हो रहे नवीन खोजों से नवीन प्रौद्योगिकी का विकास हो रहा है। इसमें उत्पादन तकनीक में सुधार और नए उद्योगों की स्थापना हो रही है। 'विकास उद्योगों' की स्थापना से व्यावसायिक जीवन में गतिशीलता बढ़ गई है तथा प्रबंधकों के समक्ष प्रबन्धन के नए-नए आयाम विकसित हो रहे हैं।

(द) विदेशी पूँजी का अन्तर्प्रवाह—आर्थिक उदारीकरण नीति को अंगीकार करने से देश में विदेशी पूँजी का अन्तर्प्रवाह बढ़ा है। वर्ष 2016 के अन्त में भारत का विदेशी विनियमय कोष 337.6 बिलियन अमरीकी डॉलर था।

विगत वर्षों में भारत के विदेशी ऋण सूचकों में सुधार हो रहा है। भारत का विदेशी ऋण वर्ष 1994-95 में स. घ. उ. का 30.8 प्रतिशत था जो घटकर 2015 के अन्त में 23.8 प्रतिशत हो गया। विगत वर्षों में भारत के विदेशी व्यापार में पर्याप्त वृद्धि हुई है। विश्वव्यापी निर्यात में भारत का हिस्सा 1.7 प्रतिशत पर पहुंच गया है।

इस तरह, भारतीय अर्थव्यवस्था का आधार मजबूत है। आज विकसित देश मंदी के दौर से गुजर रहे हैं, परन्तु भारतीय अर्थव्यवस्था की विकास दर यथावत बनी हुई है।

भारतीय अर्थव्यवस्था अभी भी यद्यपि पिछड़ी है, परन्तु तीव्र गति से विकासमान और निर्धनता के दुश्चक्र से बाहर है। देश में हुए विकास के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में संस्थागत एवं संरचनात्मक परिवर्तन स्पष्ट दृष्टि गोचर हो रहे हैं। देश में संरचनात्मक सुधार हुए हैं तथा वित्तीय ढांचा मजबूत हुआ है। देश की अर्थव्यवस्था में विकसित बाजार तत्व से विश्व की अर्थव्यवस्था से जुड़ाव बढ़ा है। आज भारतीय अर्थव्यवस्था की गणना विश्व की प्रमुख अर्थव्यवस्था में होने लगी है।

भारत एक धनी देश है, परन्तु यहाँ के निवासी निर्धन हैं

(INDIA IS A RICH COUNTRY INHABITANTS BY POOR)

विदेशी विद्वानों ने भारतीय अर्थव्यवस्था के बारे में अपना मत व्यक्त किया है कि "भारत एक धनी देश है, परन्तु यहाँ के निवासी निर्धन हैं।" वास्तव में, यह विरोधाभास की स्थिति को व्यक्त करता है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि भारत एक धनी देश है। यहाँ प्राकृतिक व अन्य संसाधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। इसलिए इसको सोने की चिड़िया का नाम दिया जाता है, लेकिन निम्न जीवन-स्तर व निर्धनता यह बताते हैं, कि यहाँ के निवासी निर्धन हैं। अतः इस कथन की व्याख्या करने के लिए इसके दो पहलुओं का अध्ययन करना होगा : (I) भारत एक धनी देश है। (II) यहाँ के निवासी निर्धन हैं।

(I) भारत एक धनी देश है(India is a Rich Country)

विश्व के देशों ने भारत को अतीत से ही एक धनी देश माना है। यहाँ संसाधन प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। इसका क्षेत्रफल व्यापक है। प्राकृतिक स्थिति अच्छी है। यहाँ विभिन्न प्रकार की जलवायु पायी जाती है। वन सम्पदा पर्याप्त मात्रा में है। शक्ति के लिए प्राकृतिक व अन्य संसाधन भी काफी हैं। इसको 'उप-महाद्वीप' के नाम से भी पुकारा जाता है। संक्षेप में, भारत एक धनी देश है इस सन्दर्भ में अग्र तथ्य प्रस्तुत कर यह सिद्ध किया जा सकता है कि वास्तव में भारत एक धनी देश है :

(1) **भौगोलिक स्थिति**—भारत की भौगोलिक स्थिति अच्छी है। उत्तर में हिमालय इसका प्रहरी है। पूरब में बांग्लादेश व म्यांमार हैं। पश्चिम में अरब सागर व दक्षिण में हिन्द महासागर है। यह विश्व का सातवाँ बड़ा देश है जिसका क्षेत्रफल 32.87 लाख वर्ग किलोमीटर है जो विश्व के क्षेत्रफल का 2.4 प्रतिशत है। इसकी उत्तर-दक्षिण तक की लम्बाई 3,214 किलोमीटर व पूर्व से पश्चिम तक की लम्बाई 2,933 किलोमीटर है। भारत हिन्द महासागर पर स्थित होने के कारण सभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक मार्गों से जुड़ा हुआ है। वायुमार्गों के सम्बन्ध में भी भारत की स्थिति अच्छी है। इस प्रकार की यह स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा आर्थिक विकास के लिए सहायक है।

(2) **विभिन्न जलवायु**—भारत में भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की जलवायु पायी जाती है। इसलिए मासडिन ने लिखा है कि "विश्व की समस्त जलवायु भारत में मिल जाती है।" इसी बात को एक अन्य विद्वान ब्लैण्ड फोर्ड (Bland Ford) ने इस प्रकार कहा है कि "विश्व के किसी भी देश की जलवायु में इतनी विभिन्नता नहीं पायी जाती है जितनी कि भारत की जलवायु में।" ऐसे यहाँ की जलवायु अर्द्ध-उष्णप्रदेशीय मानी जाती है। दक्षिण भारत में तापमान प्रायः ऊँचा रहता है, अतः वहाँ सर्दी कम पड़ती है। उत्तरी भारत में तापमान गर्मियों में गर्म व सर्दियों में ठण्डी रहती है। समुद्री किनारे पर बसे क्षेत्रों में जलवायु समशीतोष्ण रहती है। जलवायु की विभिन्नता के कारण यहाँ अनेक प्रकार की वनस्पति, खनिज सम्पदा, कृषि पदार्थ, पशु व जंगल पाये जाते हैं।

(3) **वन सम्पदा**—भारत वन रिपोर्ट 2015 के अनुसार, भारत के कुल क्षेत्रफल के 24.16 प्रतिशत क्षेत्र में वन सम्पदा है। इस वन सम्पदा से अनेक उद्योगों को कच्चा माल मिलता है; जैसे कागज, दियासलाई, फर्नीचर, प्लाईवुड, पेण्ट्स व वार्निश, औषधि, शहद, आदि।

(4) **खनिज भण्डार**—खनिज पदार्थों में भारत बहुत ही धनी है। इस दृष्टि से भारत का अध्रक में प्रथम व मैग्नीज में तृतीय स्थान है। यहाँ पर लोहे व कोयले के भारी भण्डार हैं। अणु शक्ति बनाने के लिए यूरेनियम व थोरियम यहाँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। यहाँ सोने व चाँदी की खानें हैं। इनके अतिरिक्त, ताँबा, चूना पत्थर, जिसम व बॉक्साइट के भी भण्डार यहाँ पर पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। इस प्रकार यहाँ खनिज भण्डार पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं।

(5) **उपजाऊ मैदान**—भारत में कृषि की दृष्टि से विशाल उपजाऊ मैदान हैं, जो नदियों द्वारा बनाये गये हैं। यहाँ अनेक प्रकार की मिट्टियाँ पायी जाती हैं जो भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं को उगाने के लिए सर्वोत्तम हैं; जैसे—पंजाब, हरियाणा, बिहार, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल व असम में दोमट मिट्टी पायी जाती है जो चावल, गेहूँ, गन्ना, तिलहन, कपास, पटसन व तम्बाकू उगाने के लिए अच्छी है। इसी प्रकार भारत में काली मिट्टी पायी जाती है जो चाय और कॉफी उत्पादन के लिए उत्तम है।

(6) **जल भण्डार**—भारत में बारहमासी बहने वाली नदियाँ हैं जिनमें अपार जल है। इस जल को रोककर सिंचाई के काम में लाया जा सकता है तथा विद्युत उत्पादन किया जा सकता है जिससे उद्योगों को अधिक विद्युत देकर औद्योगिकरण को बढ़ावा दिया जा सकता है। भारत में इस सम्बन्ध में कुछ प्रयत्न किये गये हैं जो सराहनीय हैं। इससे कृषि उत्पादन बढ़ा है, विद्युत उत्पादन बढ़ा है व औद्योगिकरण में सहायता मिली है।

(7) **विशाल शक्ति साधन**—भारत में शक्ति संसाधन; जैसे कोयला, पेट्रोलियम पदार्थ, गैस, अणु शक्ति, लकड़ी, आदि भी काफी मात्रा में पाये जाते हैं। पेट्रोलियम पदार्थ के लिए यहाँ पुराने स्थानों के अतिरिक्त नये-नये स्थानों की खोज जारी है। कुछ वर्ष पूर्व समुद्र तल के नीचे इसके भण्डार पाये गये हैं जहाँ से अब वाणिज्यिक उत्पादन हो रहा है। अणु शक्ति के लिए भी आवश्यक पदार्थ भारत में उपलब्ध हैं।

(8) प्रचुर पशु धन—भारत में पशु धन भी प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। शायद वह विश्व में सबसे अधिक है।

(9) अपार जन-शक्ति—जन-शक्ति की दृष्टि से भारत का विश्व में चीन के बाद दूसरा स्थान है। वर्तमान में यहाँ की जनसंख्या 125 करोड़ से अधिक है। यदि इस अपार जन-शक्ति को काम में लाया जाय तो देश उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकता है और सारे राष्ट्र का भाग्य ही बदल सकता है।

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत एक धनी देश है।

(II) यहाँ के निवासी निर्धन हैं (Inhabitants are Poor)

भारत एक धनी देश है, लेकिन यहाँ के निवासी निर्धन हैं। ऐसा क्यों? इसका एक ही उत्तर है कि हम प्राकृतिक व अन्य प्रकृति प्रदत्त संसाधनों का विदोहन उचित प्रकार से नहीं कर पाये हैं। यही कारण है कि यहाँ के निवासी निर्धन हैं। इस सम्बन्ध में निम्न तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं :

(1) कृषि की प्रधानता, (2) ग्रामीण अर्थव्यवस्था, (3) जनसंख्या का दबाव अधिक, (4) पूँजी की कमी, (5) प्रति व्यक्ति निम्न आय, (6) व्यापक वेरोजगारी, (7) सम्पन्नता में दरिद्रता, (8) तकनीकी ज्ञान का निम्न स्तर, (9) आर्थिक विषमता, (10) परम्परावादी समाज, (11) परिवहन व संचार साधनों का अभाव। इन सभी का विस्तृत विवरण इसी अध्याय में ‘भारतीय अर्थव्यवस्था की मूल विशेषताएं’ शीर्षक के अन्तर्गत दिया जा चुका है। अतः इनको यहाँ पर पुनः नहीं दोहराया गया है।

उपर्युक्त के साथ-साथ यह भी स्मरण रहे कि भारत में सामान्यतः 2,000 कैलोरीज का भोजन मिलता है जो अपौष्टिक व अपर्याप्त है। उचित स्वास्थ्य के लिए एक व्यक्ति को 3,000 कैलोरीज तो मिलनी ही चाहिए। यहाँ पर एक व्यक्ति को प्रतिदिन 16 औंस अनाज, 5 औंस दूध तथा 3 औंस सब्जी मिलती है, जबकि उचित स्वास्थ्य के लिए 25 औंस अनाज, 20 औंस दूध व 10 औंस सब्जी मिलनी चाहिए।

अन्य आवश्यक वस्तुएँ भी भारतवासियों को कम मात्रा में मिलती हैं। भारत सरकार के आर्थिक समीक्षा, 2015-16 के अनुसार, “यहाँ एक व्यक्ति को एक वर्ष में 18.3 किलोग्राम खाद्य तेल, 0.8 किलोग्राम वनस्पति धी, 20.3 किलोग्राम चीनी, 40.6 मीटर कपड़ा व घरेलू उपयोग के लिए 162 किलोवाट विजली मिलती है जो उन्नत देशों की तुलना में बहुत ही कम है। भारत पर विदेशी संस्थाओं या सरकारों का अरबों रुपया ऋण के रूप में है। देश में उद्योगों का पर्याप्त विकास नहीं हो पाया है। यहाँ पर शिक्षा का स्तर निम्न है तथा यहाँ की 27 प्रतिशत जनसंख्या अशिक्षित है। इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत एक निर्धन देश है, लेकिन यहाँ पर आर्थिक नियोजन नियमित रूप से चल रहा है जिससे संसाधनों का विदोहन किया जा रहा है। नये-नये उद्योग स्थापित हो रहे हैं। शिक्षा का प्रसार हो रहा है। गाँवों का शहरीकरण किया जा रहा है। प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हो रही है। जीवन-स्तर बढ़ रहा है। यह सभी बातें इस ओर इंगित करती हैं कि कुछ दशकों के बाद भारत की गिनती एक धनी देश के रूप में होने लगेगी और यहाँ के निवासी गरीब नहीं माने जायेंगे।

महत्वपूर्ण प्रश्न

- भारतीय अर्थव्यवस्था की विशेषताएं लिखिए।
- भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षणों की व्याख्या कीजिए। क्या भारत विकासोन्मुख देश है?
- क्या आप भारत को एक विकासशील देश समझते हैं? कारण सहित स्पष्ट कीजिए।
- भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं की व्याख्या कीजिए और इसके पिछेपन के कारण बताइए।
- क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि भारत अभी भी अल्प-विकसित देश है? तर्क दीजिए।
- “भारत एक धनी देश है, लेकिन यहाँ के निवासी निर्धन हैं।” इस कथन को समझाइए।

प्राकृतिक संसाधन : भूमि, जल एवं वन

[NATURAL RESOURCES : LAND, WATER AND FOREST]

आर्थिक विकास में प्राकृतिक संसाधनों की भूमिका (ROLE OF NATURAL RESOURCES IN ECONOMIC DEVELOPMENT)

किसी देश की आर्थिक प्रगति को प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण तत्व प्राकृतिक साधन हैं जिनमें भूमि की उपजाऊ शक्ति, स्थिति, क्षेत्र, बनावट, वन-सम्पदा, खनिज-पदार्थ, जलवायु, समुद्री साधन, जल-साधन, आदि को सम्मिलित किया जाता है। आर्थिक विकास के लिए प्राकृतिक साधनों का पाया जाना आवश्यक समझा जाता है। लुइस के अनुसार, “अन्य बातें समान रहने पर, लोग अल्प साधनों की अपेक्षा समृद्ध साधनों का श्रेष्ठतर उपभोग कर सकते हैं।” प्राकृतिक साधनों को निम्न वर्गों में रखा जा सकता है :

- (i) समाप्त होने वाले साधन; जैसे—खनिज पदार्थ, तेल भण्डार, कोयला आदि।
- (ii) समाप्त न होने वाले पदार्थ; जैसे—जल, वन सम्पदा, वर्षा, समुद्री साधन, आदि।

प्रत्येक देश का आर्थिक विकास उपलब्ध प्राकृतिक साधनों पर निर्भर करता है। अल्पविकसित देशों में या तो प्राकृतिक साधनों का उपयोग हुआ नहीं होता या अल्प-उपयोग होता है, इसलिए ये देश उन्नत नहीं होते। यदि प्राकृतिक साधन उपलब्ध होने पर भी उनका उपयोग न किया जाए तो देश आर्थिक प्रगति नहीं कर सकेगा, परन्तु इसका अर्थ यह कहापि नहीं है कि यदि किसी देश में प्राकृतिक साधनों का अभाव है तो वह आर्थिक विकास नहीं कर सकेगा।

प्रायः वे राष्ट्र जहां तकनीकी एवं वैज्ञानिक अनुसन्धानों पर अधिक ध्यान दिया जाता है, प्राकृतिक साधनों का अभाव होने पर भी आर्थिक विकास में आगे बढ़ जाते हैं, क्योंकि उनके पास साधनों के विदोहन करने की कला उपलब्ध है और प्राकृतिक साधनों की कमी तो दूसरे राष्ट्र से आयात करके पूरी की जा सकती है।

प्राकृतिक साधनों में भूमि को आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण साधन माना गया है। प्राकृतिक साधनों में भूमि का स्वभाव, वन, साधन, खनिज सम्पदा, जल शक्ति, वर्षा एवं तापक्रम, आदि सम्मिलित किए जाते हैं। देश की भौगोलिक स्थिति लाभकारी व्यापार के अवसरों को प्रभावित करती है। जो देश विदेशी व्यापारों के निकट होते हैं उन्हें विदेशी व्यापार में अधिक अवसर प्राप्त होते हैं।

प्रायः यह कहा जाता है कि जिस देश में अच्छे प्राकृतिक साधन होंगे वहां उनका अच्छा उपयोग करके आर्थिक विकास किया जा सकता है। लुइस के अनुसार, “अन्य बातें समान रहने पर मानव गरीब साधनों की अपेक्षा धनी साधनों का अच्छा उपयोग कर सकता है, अतः जिन राष्ट्रों में अच्छे अवसर प्राप्त हैं वहां तीव्र गति से विकास हो सकता है।” परन्तु वर्तमान समय में प्राकृतिक साधनों में ज्ञान एवं तकनीकी भी सम्मिलित की जाती है। “एक देश, जो आज साधनों में गरीब माना जाता है, कुछ समय उपरान्त उसे धनी माना जा सकता है, जिसका कारण यह नहीं है कि अज्ञात साधनों को खोजा गया है, बल्कि ज्ञात साधनों में खोज द्वारा नवीन उपयोग किए गए हैं।” तकनीकी, वैज्ञानिक एवं मानव साधनों का उचित उपयोग करके ही प्राकृतिक साधनों को आर्थिक विकास में लगाया जा सकता है। आधुनिक आर्थिक वृद्धि में यातायात एवं संचार के साधनों का महत्वपूर्ण योगदान पाया जाता है। यातायात व संचार के साधनों के विकास से यातायात लागतें कम हो जाती हैं और देश का आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार बढ़ता है।

प्राकृतिक साधनों का उपयोग करते समय निम्न बातों को ध्यान में रखना चाहिए :

(1) अधिक समय तक उपयोगी—देश के समस्त प्राकृतिक साधनों का उपयोग इस प्रकार किया जाए कि वे अधिक समय तक उपयोगी बने रह सकें।

(2) समस्त क्षेत्रों का आर्थिक विकास—देश के प्राकृतिक साधनों का उपयोग इस प्रकार करना चाहिए कि समस्त क्षेत्रों के आर्थिक विकास में योगदान मिले।

(3) आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति—प्राकृतिक साधनों का उपयोग एक से अधिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किया जाना चाहिए।

(4) न्यूनतम अपव्यय—प्राकृतिक साधनों का उपयोग इस प्रकार करना चाहिए कि उसका न्यूनतम अपव्यय हो।

(5) देश को लाभ—प्राकृतिक साधनों के उपयोग की ऐसी योजनाएं बनाई जानी चाहिए कि उससे देश को अत्यधिक लाभ प्राप्त हो सके और आर्थिक विकास में स्थिरता प्राप्त की जा सके।

आर्थिक वृद्धि के लिए किसी भी देश में केवल प्राकृतिक साधनों का प्रचुर मात्रा में पाया जाना ही पर्याप्त नहीं, बल्कि उनका तकनीकों द्वारा उपयोग किया जाना भी आवश्यक है, जिससे साधनों की उत्पादकता बढ़े तथा देश समृद्ध हो। इस सम्बन्ध में फिशर का मत है कि “आर्थिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों के कुल उत्पाद में सेवाओं के महत्व में वृद्धि होने के बावजूद भी वस्तुओं की एक बड़ी मात्रा एक आवश्यक पूर्व-शर्त प्रतीत होती है।”

भूमि संसाधन (LAND RESOURCES)

प्राकृतिक संसाधनों में भूमि सबसे महत्वपूर्ण है। यहां मानव व अनेक जीवजन्तु निवास करते हैं। कृषि भूमि पर ही होती है। कारखाने भूमि पर ही स्थापित होते हैं। सड़कें, रेल, जलाशय व नदी आदि भी भूमि पर ही बनाई जाती हैं। वन सम्पदा भी भूमि पर ही पाई जाती है।

भारत में भूमि का क्षेत्रफल 32 लाख 87 लाख 263 वर्ग किलोमीटर है जिस पर 2011 की जनगणनानुसार भारत की 121.08 करोड़ जनसंख्या निवास करती है। भारत के पास विश्व क्षेत्रफल का केवल 2.4 प्रतिशत क्षेत्र है। जिस पर विश्व जनसंख्या की 17.5 प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है। वैसे भारत का स्थान, भूमि के क्षेत्रफल की दृष्टि से विश्व में सातवां है जबकि जनसंख्या की दृष्टि से दूसरा है। 6 देश इससे बड़े हैं, जो क्रमशः रूस, कनाडा, अमेरिका, चीन, ब्राजील व आस्ट्रेलिया हैं।

भारत में कुल भौगोलिक क्षेत्र 328.73 मिलियन हेक्टेअर है, जिसमें से 305.61 मि. हेक्टेअर के सम्बन्ध में आंकड़े उपलब्ध हैं, जो निम्न प्रकार हैं :

विवरण	क्षेत्र (मि. हेक्टेअर)	कुल का प्रतिशत
1. वन	70.04	22.92
2. ऊसर व कृषि के लिए अप्राप्त भूमि	42.95	14.06
3. परती भूमि को छोड़कर अन्य गैर कृषिगत भूमि (चरागाहों सहित)	26.36	8.62
4. परती भूमि	26.24	8.58
5. निवल बोया गया क्षेत्र	140.02	45.82
	305.61	100.00
6. एक बार से अधिक बोया गया क्षेत्र	52.18	
7. कुल फसलगत क्षेत्र	192.20	
8. शुद्ध सिंचित क्षेत्र	63.26	
9. सकल सिंचित क्षेत्र	86.42	

स्रोत : भारतीय कृषि की स्थिति 2012-13, पृ. 175

स्पष्ट है कि देश में कुल ज्ञात भूमि के 46% भाग में खेती की जा रही है। सन् 1950-51 में निवल बोया क्षेत्र 118.8 मि. हेक्टेअर था, जो 2012-13 में बढ़कर 159.6 मि. हेक्टेअर हो गया है जिसमें भूमि के प्रति आकर्षण में वृद्धि हुई है। लेकिन चूंकि भूमि की मात्रा सीमित ही है, अतः भूमि पर एक से अधिक फसलें लेने का प्रयास किया जा रहा है।

भारत में जनसंख्या वृद्धि जारी है जिसके लिए खाद्यान्न की अधिक मात्रा की आवश्यकता होती। चूंकि भूमि की मात्रा सीमित है अतः उपलब्ध कृषि भूमि का ही अधिक उपयोग किया जाएगा। इस सम्बन्ध में कृषि विशेषज्ञों का मानना है कि भारत अपने लिए खाद्यान्न उत्पन्न करने में सक्षम है, क्योंकि अभी भी भूमि का उपयोग यहां कम (Under-utilized) है। इसमें सुधार के लिए सिंचाई सुविधाएं बढ़ाई जा सकती हैं व एक से अधिक फसलें उगाई जा सकती हैं।

जल संसाधन (WATER RESOURCES)

जल संसाधन से अर्थ भूमिगत जल (Ground Water) व भूतल जल (Surface Water) से है। यह दोनों ही प्रकृति की देन हैं। भूमिगत जल से अर्थ भूमि के नीचे पाए जाने वाले जल से हैं जो कुओं व ट्यूबवैलों के माध्यम से निकाला जाता है और काम में लिया जाता है। भूतल जल से अर्थ भूमि की सतह पर पाए जाने वाले जल से हैं जो नदियों, नहरों व तालाबों, आदि में पाया जाता है।

जल संसाधनों का मुख्य स्रोत वर्षा है जिससे प्रति वर्ष 4,000 बिलियन क्यूबिक मीटर जल प्राप्त होता है, लेकिन इसमें से 1,869 बी. सी. एम. जल ही नदियों को मिल पाता है और शेष जल या तो भूमि सोख लेती है या फिर उड़ जाता है। इसमें से केवल 600 बी. सी. एम. जल का ही उपयोग हो पाता है।

देश में औसत वार्षिक जल उपलब्धता 1,869 बिलियन क्यूबिक मीटर (BCM) अनुमानित की गयी है, इनमें से प्रयोग करने योग्य जल संसाधनों का अनुमान 1123 BCM है, जिसमें से 690 BCM भूतल जल (Surface Water), 433 BCM प्रतिस्थापित करने योग्य भूमिगत जल (Ground Water) है।

भारत में जल संसाधन के साधन

भारत में जल संसाधन के निम्न चार साधन माने जाते हैं :

(I) कुएँ एवं नलकूप, (II) तालाब, (III) नहरें, (IV) बहु-उद्देश्यीय नदी घाटी परियोजनाएँ। अब हम एक-एक करके इनकी विस्तार से व्याख्या करेंगे।

(I) कुएँ एवं नलकूप (Wells and Tube-wells)

भारत में पानी के लिए कुओं का उपयोग अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है और यह साधन आज भी महत्वपूर्ण है। यह कुएँ दो प्रकार के होते हैं—कच्चे कुएँ एवं पक्के कुएँ। भारत में कच्चे कुओं की संख्या पक्के कुओं से अधिक है। इसका कारण यह है कि इनको बनवाने की लागत कम होती है तथा इनको बनवाने में किसी तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है। पक्के कुएँ दो प्रकार के होते हैं—(i) साधारण पक्के कुएँ जिनमें चरखी या रहट लगाकर पानी निकाला जाता है एवं (ii) नलकूप जिनमें बिजली या डीजल पम्पों की सहायता से पानी निकाला जाता है। इन नलकूपों को ट्यूबवैल भी कहते हैं।

भारत में किसानों के पास छोटे-छोटे खेत हैं इसलिए कुओं द्वारा सिंचाई इनके लिए बहुत ही लाभप्रद एवं उपयुक्त है। वे कुएँ अपने ही खेत में बनवा लेते हैं और उनसे आवश्यकतानुसार पानी निकालकर खेतों को देते रहते हैं। कुओं वास्तव में किसान का अच्छा मित्र है। इससे कृषक पानी के मामले में आत्मनिर्भर हो जाता है और उसको मानूसन पर निर्भर नहीं रहना पड़ता है।

किसानों के लिए कुओं द्वारा सिंचाई उपयोगी रहती है, क्योंकि कुएँ के पानी में बहुत-से रसायन पदार्थ होते हैं जो भूमि की उर्वरा शक्ति में वृद्धि करते हैं। इन पदार्थों में क्लोराइड, सोडा, नाइट्रेट व सल्फेट प्रमुख हैं।

इस समय देश में लगभग 87 लाख कुएँ हैं जो कुल सिंचित क्षेत्र के 16 प्रतिशत क्षेत्र की सिंचाई करते हैं। कुओं से गुजरात के कुल सिंचित क्षेत्र का 73 प्रतिशत, महाराष्ट्र का 60 प्रतिशत, राजस्थान का 49 प्रतिशत व मध्य प्रदेश का 37 प्रतिशत सींचा जाता है। देश में कुओं द्वारा सिंचित क्षेत्र का लगभग आधा भाग इन चार राज्यों में स्थित है। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश में भी कुओं से 23.2 प्रतिशत क्षेत्र की सिंचाई होती है। दक्षिणी चार राज्य—आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक व केरल का कुओं द्वारा सिंचित क्षेत्र का प्रतिशत क्रमशः 6, 11, 3 व 4 है। उत्तर प्रदेश, बिहार व पश्चिम बंगाल में कुल सिंचित क्षेत्र का 26.2 प्रतिशत भाग स्थित है। पंजाब, ओडिशा (उड़ीसा) व हरियाणा में भी कुओं से सिंचाई होती है, लेकिन उनका प्रतिशत कम है।

नलकूप या ट्यूबवैल—यह नवीन साधन है। इसमें भूमि के तल से विजली की मोटर की सहायता से पानी निकाल जाता है। यह नलकूप 30 फीट से लेकर 400 फीट तक गहरे होते हैं तथा इनसे अधिक समय तक और अधिक मात्रा में जल मिलता है। विगत वर्षों में नलकूपों या ट्यूबवैलों की संख्या में तीव्र गति से वृद्धि हुई है। 1950-51 में 2,500 सरकारी नलकूप थे, लेकिन आज 1 करोड़ 27 लाख 67 हजार से अधिक विद्युत से चलने वाले व 52 लाख से अधिक डीजल व मिट्टी के तेल, आदि से चलने वाले पम्प सेट हैं।

पंजाब में नलकूपों का विशेष स्थान है। यहाँ पर कुल सिंचित क्षेत्र का 44 प्रतिशत नलकूपों द्वारा सिंचित किया जाता है। देश में नलकूपों से जितना भाग सिंचित किया जाता है उसका 88.3% उत्तर प्रदेश, पंजाब व हरियाणा में है। इन राज्यों का नलकूपों से सिंचित क्षेत्र क्रमशः 51.7, 26.0 व 10.6% है। इस प्रकार नलकूपों से सिंचित क्षेत्र सबसे अधिक उत्तर प्रदेश में है।

नलकूपों या ट्यूबवैलों का महत्व—(1) जिन स्थानों पर नहरों में पानी कम रह जाता है वहाँ पर नलकूप नहरों के पूरक के रूप में कार्य करते हैं। (2) नहरों की तुलना में कुओं का पानी अधिक लाभदायक होता है, क्योंकि उसमें कई तत्व व रसायन होते हैं जो भूमि की उर्वरा शक्ति को बनाये रखने में सहायक होते हैं। (3) नलकूपों से खेती को पानी नापकर दिया जा सकता है जिससे खेती अच्छी होती है और अधिक पानी से होने वाली क्षति से बचा जा सकता है। (4) नलकूपों के संचालन एवं व्यवस्था में व्यय बहुत कम होता है। एक ऑपरेटर कई कुओं की देखभाल कर सकता है। (5) नलकूपों से पानी जब कभी भी आवश्यकता हो तभी मिल जाता है। इसमें प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। यदि नहरों से लिया जाता है तो उसके लिए कई सप्ताह तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

(II) तालाब (Tanks)

तालाबों से आशय उन गड्ढों से है जो या तो मानव द्वारा कृत्रिम तरीके से बनाये गये हैं या प्रकृति के द्वारा ही उनको गड्ढों के रूप में प्रदान किया गया है, जिसमें वर्षा के मौसम में वर्षा का पानी भर जाता है। तालाबों का आकार छोटे नालों या पोखरों से लेकर बड़ी-बड़ी झीलों तक विभिन्न प्रकार का होता है। इस प्रकार तालाब दो प्रकार के होते हैं—एक तो कृत्रिम जो मानव द्वारा बनाये जाते हैं और दूसरे प्राकृतिक जो प्रकृति की देन होते हैं। कृत्रिम तालाब कच्चे व पक्के दोनों प्रकार के बनाये जा सकते हैं। सामान्यतया यह तालाब सतह के नीचे होते हैं, लेकिन उनको सतह के ऊपर भी बनाया जा सकता है।

दक्षिणी भारत में तालाब सिंचाई का एक महत्वपूर्ण साधन है। तालाबों द्वारा सिंचाई करने वाले राज्यों में तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र, ओडिशा (उड़ीसा), पश्चिम बंगाल प्रमुख हैं। भारत में कुल सिंचित क्षेत्र का 3.0 प्रतिशत तालाबों से ही सींचा जाता है।

तालाबों से सिंचाई करने से लाभ यह है कि (1) इसमें वर्षा के पानी का उचित उपयोग हो जाता है और वह बेकार नहीं जाने पाता। (2) पठारी भागों में तालाब बहुत ही उपयुक्त हैं, क्योंकि वहाँ पर कुएँ खोदना सम्भव नहीं होता है। (3) तालाबों में मछलियाँ होती हैं। इन्हें पकड़ने का कार्य भी किया जा सकता है और खाने के लिए खाद्य पदार्थ के रूप में लाया जा सकता है। इस प्रकार इनसे कुछ सीमा तक खाद्य समस्या के हल करने में सहायता मिलती है।

तालाबों द्वारा सिंचाई तो वर्षा पर निर्भर है। जब कभी वर्षा नहीं होती या कम होती है तो तालाब सूख जाते हैं और इस प्रकार सिंचाई का कार्य नहीं हो सकता है।

(III) नहरें (Canals)

भारत में नहरों का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। इनके द्वारा देश में लगभग 16.0 मिलियन हेक्टेएर भूमि की सिंचाई की जाती है। इस समय देश में 1.5 लाख किलोमीटर लम्बी नहरें हैं जिनमें लगभग 250 करोड़ ₹ पूँजी लगी हुई है। विश्व के किसी भी देश में इतनी लम्बी नहर प्रणाली नहीं है।

नहरों द्वारा सिंचाई में मुख्य रूप से जम्मू एवं कश्मीर, पश्चिम बंगाल, असम, केरल, मध्य प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, कर्नाटक, हरियाणा, बिहार, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, गुजरात व उत्तर प्रदेश मुख्य हैं, लेकिन इसमें उत्तर प्रदेश का स्थान प्रथम है जहाँ 25 लाख हेक्टेएर क्षेत्र में नहरों द्वारा सिंचाई की जाती है।

भारत में नहरें तीन प्रकार की पायी जाती हैं—(1) बारहमासी नहरें (Perennial Canals)—यह वे नहरें हैं जो पूरे वर्ष बहती रहती हैं और इनको नदियों पर बाँध बनाकर निकाला गया है। इन नहरों की लम्बाई में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् काफी वृद्धि हुई है। (2) बरसाती नहरें (Inundated Canals)—ये वे नहरें हैं जो केवल वर्षा ऋतु में ही बहती हैं। इनको मुख्य रूप से इस उद्देश्य से बनाया गया है कि नदियों की बाढ़ का पानी इनके द्वारा बह सके और नदियों में बाढ़ का वेग कम हो सके। (3) स्टोरेज वर्क्स नहरें (Storage Works Canals)—यह नहरें पहाड़ी घाटियों में बाँध बनाकर वर्षा का पानी एकत्रित करके निकाली जाती हैं। इन नहरों का उपयोग तालाबों की तरह ही किया जाता है।

नहरों द्वारा सिंचाई से लाभ—(1) नहरों के किनारे वृक्षारोपण करके भूमिक्षरण को रोक सकते हैं। (2) नहरों को आन्तरिक परिवहन के साधन के रूप में भी काम में लाया जा सकता है। (3) बाढ़ों के समय

भारत में विभिन्न स्रोतों से सिंचित क्षेत्रफल (2013-14)

स्रोत	क्षेत्रफल	हजार हेक्टेएर
1. नहरों द्वारा	16017	
2. तालाबों द्वारा	1937	
3. नलकूपों द्वारा	29408	
4. अन्य कूपों द्वारा	10779	
5. अन्य स्रोतों द्वारा	7123	
6. शुद्ध सिंचित क्षेत्र ($1 + 2 + 3 + 4 + 5$)	65263	
7. सकल सिंचित क्षेत्र	91530	
8. सकल फसली क्षेत्रफल से सकल सिंचित क्षेत्रफल का प्रतिशत	46.9%	

नदियों के पानी को नहरों में काटा जा सकता है और इस प्रकार से उत्पन्न संकट को टाला जा सकता है। (4) नहरों के पानी में अनेक रासायनिक पदार्थ होते हैं जिससे भूमि की उर्वरा शक्ति में वृद्धि होती है। (5) नहरों द्वारा खेतों को पानी देना सरल व सस्ता है। (6) भारत की अधिकांश नहरें बारहमासी हैं जिनमें हर समय पानी रहता है इससे कृषक को लाभ होता है और वह अपने खेत की आवश्यकता के समय पानी की व्यवस्था कर सकता है।

नहरों द्वारा सिंचाई होने से लाभ के साथ-साथ इससे कुछ हानियाँ भी हैं। इसमें सबसे प्रमुख हानि यह है कि नहरों में अत्यधिक पानी

आने से सिंचित क्षेत्र जलमग्न (Water logging) हो सकता है और इस प्रकार कृषि को हानि हो सकती है। दूसरे, नहरी पानी में नमक फूटने का अन्देशा भी बना रहता है। तीसरे, नहरों के अन्तिम सिरे पर पानी पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुँच पाता है। चौथे, किसानों में नहरी पानी लेने के सम्बन्ध में आमतौर पर झगड़े होते रहते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सिंचाई के विभिन्न साधनों का प्रतिशत कुल सिंचित क्षेत्र का संलग्न तालिकानुसार है।

(IV) बहु-उद्देश्यीय नदी-घाटी योजनाएँ (Multipurpose River-Valley Projects)

बहु-उद्देश्यीय नदी-घाटी योजना से अर्थ नदी की घाटी में उपलब्ध सभी योग्य सुविधाओं का पूर्ण रूप से उपयोग करने से है। चूँकि यह उपयोग किसी एक उद्देश्य को लेकर नहीं किया जाता, बल्कि बहुत-से उद्देश्यों को लेकर किया जाता है। अतः इनको बहु-उद्देश्यीय (Multi-purpose) कहते हैं। एक बहु-उद्देश्यीय नदी-घाटी योजना के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार होते हैं—(1) नदियों पर बाँध बनाकर नहरें बनाना जिससे कि सिंचाई सुविधाओं में वृद्धि हो सके; (2) बाढ़ नियन्त्रण किया जा सके; (3) भूमि का कटाव नियन्त्रित किया जा सके; (4) नहरों को परिवहन साधन के रूप में विकसित किया जा सके; (5) शहरों व ग्रामों को पीने का पानी उपलब्ध किया जा सके; (6) बड़े-बड़े जलाशयों व झीलों में मछली पालन कार्यक्रम का विकास किया जा सके; (7) नहरों व जलाशयों के आस-पास पर्यटन स्थल बनाये जा सकें व (8) नदियों व जलाशयों का पानी गिराकर बिजली बनायी जा सके जिससे शहरों व गाँवों में विद्युतीकरण हो सके तथा उद्योगों को पर्याप्त मात्रा में विद्युत् उपलब्ध हो सके।

बहु-उद्देश्यीय नदी-घाटी योजनाओं का महत्व निम्न प्रकार है; इसी को नदी-घाटी योजनाओं के लाभ के रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है :

(1) **सिंचाई सुविधाओं में सुधार—**बहु-उद्देश्यीय नदी-घाटी योजनाओं में सबसे महत्वपूर्ण बात सिंचाई सुविधाओं में वृद्धि है। इससे सिंचित क्षेत्र में वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप मानसून पर निर्भरता में कमी होती है, कृषि उत्पादन में वृद्धि होती है तथा खाद्य समस्या हल होती है। भारत में कुल मिलाकर लगभग 110 नदियाँ हैं जिनमें कुछ बड़ी बारहमासी हैं। अतः इनका विकास बहु-उद्देश्यीय योजनाओं के अन्तर्गत किया

जाना चाहिए। वर्तमान में जो योजनाएँ चल रही हैं उनके पूरे होने पर देश की 10 करोड़ एकड़ भूमि सिंचित क्षेत्र के अन्तर्गत आ जायेगी।

(2) **भूमि क्षरण एवं बाढ़ नियन्त्रण**—देश में कुछ नदियाँ ऐसी हैं जिनमें प्रतिवर्ष बाढ़ आती है। इनमें कोसी, गंगा, ब्रह्मपुत्र व महानदी प्रमुख हैं। इसके परिणामस्वरूप जन-धन की हानि के साथ फसलों की भी हानि होती है। इन नदी-घाटी योजनाओं से इस पर नियन्त्रण रखा जा सकता है और भूमि क्षरण को रोका जा सकता है।

(3) **आन्तरिक जल परिवहन का विकास**—इन योजनाओं से देश के अन्दर नहरों का जाल बिछाकर जल परिवहन का विकास किया जा सकता है जो अन्य साधनों से अच्छा पड़ता है।

(4) **जल-विद्युत शक्ति का विकास**—नदी-घाटी योजनाओं को लागू कर जल-विद्युत का विकास किया जा सकता है जिसकी प्रति यूनिट लागत बहुत ही सस्ती पड़ती है। जल-विद्युत के पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होने से उद्योगों का विकास किया जा सकता है।

(5) **रोजगार वृद्धि**—बहु-उद्देश्यीय योजनाओं के अन्तर्गत सिंचाई, नहरों के निर्माण, बाढ़ नियन्त्रण, बाँध व जलाशय निर्माण, मत्स्य पालन, विद्युत निर्माण, औद्योगीकरण, आदि होने से लाखों व्यक्तियों को इसमें रोजगार मिल जाता है। इस प्रकार रोजगार सुविधाओं में वृद्धि होती है।

(6) **पर्यटकों को बढ़ावा**—बहु-उद्देश्यीय नदी-घाटी योजनाओं के अन्तर्गत नदियों, नहरों व जलाशयों के आस-पास सुन्दर व मनोरंजक स्थान बनाये जाते हैं जिससे पर्यटकों को आकर्षण होता है और इनकी संख्या में वृद्धि होती है। इससे विदेशी विनिमय की आय में वृद्धि होती है।

(7) **पेय जल की पूर्ति**—इन योजनाओं के अन्तर्गत बड़े-बड़े जलाशय व बाँध बनाये जाते हैं जिनमें काफी मात्रा में पानी रहता है। इस पानी को शहरी क्षेत्रों व ग्रामीण क्षेत्रों की जनता को पीने के लिए उपलब्ध किया जा सकता है।

(8) **मत्स्य-पालन उद्योग**—इसके अन्तर्गत बने जलाशयों में मत्स्य-पालन के उद्योग का विकास किया जा सकता है और इस प्रकार यह योजनाएँ इस उद्देश्य से भी लाभकारी हो सकती हैं।

(9) **उद्योग एवं व्यापार का विकास**—बहु-उद्देश्यीय योजनाओं से उद्योगों का विकास होता है। नये-नये उद्योग स्थापित होते हैं, क्योंकि कृषि उत्पादन बढ़ने से उन्हें कच्चा माल मिल जाता है। साथ ही विद्युत का भी विकास होने से उन्हें विद्युत मिल जाती है। इन सबसे व्यापार की गतिविधियाँ बढ़ जाती हैं जिससे व्यापार का भी विकास होता है।

(10) **रहन-सहन के स्तर में सुधार**—इन योजनाओं के फलस्वरूप उद्योग, व्यापार, कृषि, आदि सभी का विकास होता है जिससे प्रति व्यक्ति आय भी बढ़ती है जो रहन-सहन के स्तर को ऊपर उठाने में सहायक होती है।

बहु-उद्देश्यीय नदी-घाटी योजनाओं से सम्बन्धित समस्याएँ

बहु-उद्देश्यीय नदी-घाटी योजनाओं से अधिकतम लाभ नहीं उठाया जा सका है और न ही सिंचाई एवं विद्युत क्षमता का पूरा उपयोग हो सका है। किसानों द्वारा भी उपलब्ध सिंचाई सुविधाओं से उचित लाभ नहीं उठाया गया है। इसका कारण वित्तीय सुविधाओं का अभाव है।

अभी तक इन योजनाओं से सिंचाई व विद्युत पर ही अधिक ध्यान दिया गया है, लेकिन आवश्यकता इस बात की है कि एकीकृत कार्यक्रम बनाया जाए जिससे कि एक ही कार्यक्रम से बाढ़ नियन्त्रण हो सके, जल निकासी की जा सके, मिट्टी को संरक्षण मिल सके व सिंचाई आदि की सुविधाएँ मिल सकें।

इन योजनाओं की वास्तविक लागत अनुमानों से काफी ज्यादा बैठती है जिससे सरकार को उन योजनाओं के पूरा करने में कठिनाई होती है। अतः योजनाओं को बनाते समय लागत का उचित अनुमान लगाया जाना चाहिए।

कुछ विद्वानों का मत है कि इन योजनाओं पर अरबों ₹ व्यय किये गये हैं, लेकिन लाभ बहुत कम हुआ है। यदि इतना ही रुपया छोटी-छोटी योजनाओं पर व्यय किया जाता तो लाभ कहीं अधिक होता। खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ता व देश आत्मनिर्भर हो जाता। वर्तमान केन्द्रीय सरकार का भी यही मत प्रकट होता है। अतः उसके द्वारा छोटी-छोटी योजनाओं पर अधिक बल दिया जा रहा है।

कृषि में जल संसाधनों का महत्व

कृषि के लिए जल साधन बीज व खाद से भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। बिना जल के उचित साधन के कृषि उत्पादन नहीं किया जा सकता है। साथ ही यदि जल साधन पर्याप्त मात्रा में होते हैं तो दुहरी व तिहरी फसलें की जा सकती हैं तथा नवीन भूमि को भी कृषि के काम में लाया जा सकता है और इस प्रकार कृषि उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। सर चार्ल्स ट्रिवेलियन (Sir Charles Triveliyan) के अनुसार, “भारत में सिंचाई ही सब कुछ है” और “पानी भूमि से भी अधिक महत्वपूर्ण है।”

इसके महत्व को बताते हुए एक बार राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने एक लेख में लिखा था कि “सभी गाँवों में सिंचाई सुविधाएँ प्रदान करने से अधिक आवश्यक कोई कार्य नहीं हो सकता है, क्योंकि सिंचाई ही वह आधार है जिस पर खेती की प्रगति निर्भर करती है।” भारत में जल संसाधनों का महत्व निम्न बातों से स्पष्ट किया जा सकता है :

(1) वर्षा की अनिश्चितता—देश का लगभग 54 प्रतिशत फसली क्षेत्र पूर्णतया वर्षा पर निर्भर है। यह वर्षा भी अनिश्चित है। इसका अर्थ यह है कि वर्षा कब होगी इसके बारे में कोई नहीं कह सकता है। साथ ही वर्षा अनियमित या असामयिक है। कभी तो वर्षा अत्यधिक हो जाती है तो कभी अति न्यून। कभी पर्याप्त वर्षा होती है तो कभी वर्षा होती ही नहीं और इस प्रकार सूखा पड़ जाता है। इसी लिए भारतीय कृषि के बारे में कहा जाता है कि यह ‘मानसून का जुआ’ (A gamble of Monsoon) है। अतः भारतीय कृषि को इस जुए से मुक्ति दिलाने के लिए यह आवश्यक है कि जल साधनों का विकास किया जाए।

(2) वर्षा की मौसमी प्रकृति—भारत में अधिकांश वर्षा जुलाई से सितम्बर तक के बीच ही होती है जिससे खरीफ की फसलों को तो मानसून के सहारे छोड़ा जा सकता है, लेकिन शेष महीनों के लिए तो जल की व्यवस्था होनी ही चाहिए। यद्यपि रबी की फसल के लिए कुछ वर्षा होती है, लेकिन वह अपर्याप्त सी ही है। अतः जब हम विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत बहु-फसली कार्यक्रम न अपनाकर सघन कृषि कार्यक्रम अपनाना चाहते हैं तो उसको सफल बनाने के लिए सुविधाओं का विस्तार किया ही जाना चाहिए।

(3) विशेष फसलें—कुछ फसलें ऐसी हैं जिनमें अधिक एवं नियमित पानी की आवश्यकता होती है; जैसे पटसन, गन्ना, धान, आदि। अतः इन फसलों से अधिकाधिक उत्पादन लेने के लिए आवश्यक है कि जल के साधनों का विस्तार किया जाए।

(4) विस्तृत खेती—देश में बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए अधिक कृषि उत्पादन होना चाहिए जिसके लिए बेकार भूमि को खेती के काम में लाना होगा और इस प्रकार की भूमि के लिए जल व्यवस्था भी करनी होगी। इससे बेकार भूमि कृषि के काम में लायी जा सकेगी और इस प्रकार खेती का विस्तार हो सकेगा।

(5) वर्षा का असमान वितरण—भारत के सभी भागों में वर्षा एकसमान नहीं होती है। कुछ भाग ऐसे होते हैं जहाँ वर्षा अत्यधिक होती है जिसके फलस्वरूप बाढ़े आती हैं और कृषि करना असम्भव हो जाता है; जैसे मेघालय में चेरापैंगी के पास मॉसिनराम स्थान। इस प्रकार कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ वर्षा बहुत थोड़ी मात्रा में ही होती है; जैसे, राजस्थान। इस प्रकार यहाँ भी कृषि करना उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उत्पत्ति बहुत ही थोड़ी होती है। अतः इस बात की आवश्यकता है कि अत्यधिक वर्षा वाले स्थानों पर नहरें बनाकर पानी को कम वर्षा वाले स्थानों की ओर प्रवाहित कर जल सुविधाएँ प्रदान की जाएं। इस प्रकार यहाँ भी जल का महत्व है।

(6) अकालों या खाद्य पदार्थों की कमी से छुटकारा—जल सुविधाओं का महत्व इसलिए भी है कि यह देश को अकालों या खाद्य पदार्थों की कमी से बचाती है। अकाल सामान्यतया सूखा या अत्यधिक वर्षा के कारण ही पड़ते हैं। जल सुविधाएँ ऐसा नहीं होने देती हैं और कुछ-न-कुछ उत्पादन अवश्य हो जाता है और इस प्रकार अकालों या खाद्य पदार्थों की कमी के भय से छुटकारा मिल जाता है।

(7) बाढ़ों पर नियन्त्रण—सिंचाई सुविधाओं में वृद्धि होने से बाढ़ों पर भी नियन्त्रण किया जा सकता है। जिन स्थानों पर बाढ़े आती हैं वहाँ नहरों के द्वारा पानी को अन्य स्थानों पर प्रवाहित किया जा सकता है। इस प्रकार बाढ़े भी नियन्त्रित हो सकती हैं और सिंचाई सुविधाएँ भी बढ़ायी जा सकती हैं जिससे कृषि उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है।

(8) हरित क्रान्ति की सफलता—ऐसा कहा जाता है कि भारत हरित क्रान्ति के दौर से गुजर रहा है जिसमें गहन खेती, बहु-फसली खेती, उत्पादकता वृद्धि, आदि के कार्यक्रम अपनाये गये हैं। इन सभी कार्यक्रमों की सफलता के लिए जल साधनों का समुचित विकास एवं सदुपयोग आवश्यक है।

(9) कृषकों की आय में वृद्धि—यदि कृषकों को जल सुविधाएँ उपलब्ध हो जाती हैं तो उनका प्रति हेक्टेएर उत्पादन बढ़ता है जिससे इनकी आय में वृद्धि होती है और वे पूँजीगत कृषि साधनों में धन लगाने में समर्थ हो जाते हैं तथा इनका रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा उठता है।

(10) आन्तरिक जल परिवहन का विकास—सिंचाई सुविधाओं का विस्तार करने से बड़ी व लम्बी नहरें बनायी जाती हैं जिससे आन्तरिक जल परिवहन का विकास होता है।

(11) रोजगार—सिंचाई सुविधाओं की उपलब्धि रोजगार अवसरों में वृद्धि करती है। एक ओर तो कृषि उद्योग में रोजगार अवसर बढ़ते हैं व दूसरी ओर व्यापारिक कृषि होने से उद्योगों को कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में मिलता है जिससे उद्योगों में भी रोजगार अवसरों में वृद्धि होती है।

(12) सरकारी आय—सिंचाई साधनों का महत्व इसलिए भी अधिक है कि इनसे सरकार की आय बढ़ती है। कृषि करों की मात्रा बढ़ती है। माल की दुलाई व उत्पादन भी परोक्ष रूप से करों में वृद्धि करता है।

(13) आर्थिक विकास—देश के आर्थिक विकास में जल का बहुत ही महत्व है। इससे कृषि उत्पादन बढ़ता है, विद्युत पैदा होती है, उद्योग का विकास होता है, रोजगार के अवसर बढ़ते हैं व कृषकों का उत्पादन बढ़ने से उनकी आय बढ़ती है। अतः यह सभी देश के आर्थिक विकास में योग देते हैं।

जल संसाधनों के विकास हेतु प्रयत्न

(EFFORTS FOR THE DEVELOPMENT OF WATER RESOURCES)

जल संसाधनों के विकास हेतु केन्द्रीय सरकार ने निम्न तीन संस्थाओं का गठन किया है :

(1) केन्द्रीय जल आयोग—जल संसाधनों के विकास के लिए केन्द्रीय जल आयोग एक सर्वोच्च तकनीकी संगठन है जिसकी स्थापना 1945 में सरकार के एक प्रस्ताव से हुई थी। इस आयोग के मुख्य कार्य हैं जल संसाधन परियोजनाओं के बारे में अन्वेषण करना, इन योजनाओं का तकनीकी दृष्टि से मूल्यांकन करना, विस्तृत प्रोजेक्ट रिपोर्ट की डिजाइन बनाने तथा बाढ़ नियन्त्रण व पूर्वानुमान में सलाह देना तथा नदी प्रबन्धन व अनुसन्धान तथा विकास में सहायता करना जिससे कि राष्ट्रीय जल नीति बनाने में सहायता मिल सके।

(2) केन्द्रीय भू-जल बोर्ड—यह बोर्ड एक राष्ट्रीय शीर्ष संगठन है, जो 1952 में बनाया गया था, लेकिन 1972 में भारत के भू-गर्भ सर्वेक्षण की भूमिगत जल इकाई (Ground Water Wing) को इसके साथ मिलाकर इसका पुनर्गठन कर दिया गया। इस बोर्ड का कार्य भूमिगत जल के सम्बन्ध में सर्वेक्षण करना, सम्भावनाओं का पता लगाना, मूल्यांकन करना व भूमिगत जल की गुणवत्ता व पद्धति का मॉनीटरिंग करना आदि है।

इस बोर्ड का एक अध्यक्ष है तथा दो सदस्य। इस बोर्ड के देश भर में 18 क्षेत्रीय निदेशालय और 17 डिवीजन कार्यालय हैं।

(3) राष्ट्रीय जल विकास एजेन्सी—राष्ट्रीय जल विकास एजेन्सी की स्थापना जुलाई 1982 में हुई थी। इसका कार्य नदियों को मिलाकर पानी का सदुपयोग करने की सम्भावनाओं का पता लगाना है जिससे कि पानी के आधिक्य को कमी वाले क्षेत्रों में पहुंचाया जा सके।

जल संसाधनों में कमी के संकेत

(INDICATION OF SCARCITY OF WATER RESOURCES)

भारत में पिछले कुछ दशकों में जल का उपयोग बराबर बढ़ा है जिसका प्रभाव यह हुआ है कि भूमि के नीचे जो जल है उसका स्तर बराबर नीचे होता जा रहा है तथा प्रति व्यक्ति जल की उपलब्धता भी कम होती जा रही है। प्रति व्यक्ति जल उपलब्धता जो 1951 में 5,177 क्यूबिक मीटर थी वह 2001 में घटकर 1,869 क्यूबिक मीटर रह गई है। जो एक आकलन के अनुसार वर्ष 2025 में कम होकर 1,250 क्यूबिक मीटर रह जायेगी। यह इस बात को सिद्ध करता है कि भविष्य में भारत में जल की उपलब्धता कम हो जायेगी। अतः

इस बात ही परम आवश्यकता है कि जल का उपयोग कुशलता से किया जाना चाहिए जिससे कि वह व्यर्थ न जाए अन्यथा जल के अभाव की पीड़ा को झेलना होगा।

यही बात प्रोफेसर अलधा ने नेहरू स्मारक व्याख्यानमाला के अन्तर्गत जल की स्थिति पर बोलते हुए कही है। उनका कहना है कि विश्व के जल स्तर को देखते हुए भारत के पास काफी कम जल है। उनके अनुसार विकसित देशों में प्रति व्यक्ति 3,000 से 5,000 क्यूबिक लीटर जल उपलब्ध है जबकि भारत के पास मात्र 200 से 700 क्यूबिक लीटर जल ही उपलब्ध है।

अतः इस बात की परम आवश्यकता है कि जल का उपयोग कुशलता से किया जाना चाहिए जिससे कि वह व्यर्थ न जाए अन्यथा जल के अभाव की पीड़ा को झेलना होगा।

अभी हाल ही में सरकार ने इसकी आवश्यकता को पहचानते हुए जल प्रबन्धन पर ध्यान दिया है। इसके लिए प्रमुख नदियों को जोड़ने का प्रयास किया जा रहा है।

राष्ट्रीय जल नीति

(NATIONAL WATER POLICY)

राष्ट्रीय जल नीति के निर्माण के लिए सर्वप्रथम एक राष्ट्रीय जल संसाधन परिषद् का गठन किया गया जिसकी प्रथम बैठक 30 अक्टूबर, 1985 को प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में हुई थी। इस परिषद् ने केन्द्रीय जल संसाधन मन्त्री की अध्यक्षता में एक समिति बनाई जिसने अपनी 5 बैठकों में राष्ट्रीय जल नीति का निर्माण किया। इस नीति की स्वीकृति राष्ट्रीय जल संसाधन परिषद् ने सितम्बर 1987 में दी थी। इस नीति की मुख्य बातें निम्न प्रकार थीं :

(1) जल राष्ट्रीय सम्पत्ति—जल को मूल्यवान राष्ट्रीय सम्पत्ति समझकर नियोजन किया जाना चाहिए तथा इसका उपयोग राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में होना चाहिए। (2) जल का हस्तान्तरण—इसका अर्थ यह है कि बहुतायत वाले राज्यों का जल कम जल वाले राज्यों को या सूखा वाले राज्यों को दिया जा सकता है। (3) जल संसाधनों का कुशलता से उपयोग—भूमिगत जल का उपयोग खेती के लिए हो रहा है जिससे पीने के पानी की समस्या गांवों में पैदा हो गई है। राष्ट्रीय जल नीति पानी के संसाधनों का कुशलता से उपयोग करने पर बल देती है। (4) राष्ट्रीय सम्पत्ति व्यर्थ नष्ट न होना—जल को व्यर्थ जाने से पूर्व बचाने के प्रयास किये जाने चाहिए जिससे कि राष्ट्रीय सम्पत्ति व्यर्थ नष्ट न हो जाए।

अप्रैल 2002 में नई राष्ट्रीय जल नीति घोषित की गई थी जिसकी मुख्य बातें निम्न प्रकार हैं :

(1) जल राष्ट्रीय परिसम्पत्ति—इस नीति में जल को राष्ट्रीय परिसम्पत्ति के रूप में चिह्नित किया गया है। (2) जल संसाधनों के विकास व प्रबन्धन पर बल—इस नीति की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें जल संसाधनों के विकास एवं प्रबन्धन पर विशेष बल दिया गया है।

(3) पैयजल को प्राथमिकता—इस नीति में नागरिकों को स्वच्छ पैयजल उपलब्ध कराने की सर्वोच्च प्राथमिकता है। सिंचाई जल व्यवस्था को दूसरा स्थान व जलविद्युत को तीसरा स्थान दिया गया है। चौथा स्थान पारिस्थितिकी को, पांचवां स्थान कृषि-उद्योग एवं गैर-उद्योग को व छठवां स्थान नौकायन एवं अन्य उपयोग को दिया गया है।

(4) प्रभावी कार्यान्वयन—इस नीति के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए आवश्यक घटकों की पहचान की गई है—पर्यावरणीय विकासात्मक घटक, भूमिगत जल, बाढ़ नियन्त्रण, समुद्री क्षरण, परियोजना आयोजना में अन्तर्राष्ट्रीय वितरण व निजी क्षेत्र की सहभागिता।

(5) प्रदूषित जल प्रबन्धन—इसमें जल प्रदूषित करने वालों से प्रदूषण लागत वसूल करने की बात कही गई है।

(6) कानून बनाना—विद्यमान जल निकायों को अतिक्रमण से संरक्षित करने एवं जल की गुणवत्ता में आ रहे हास को रोकने के लिए कानून बनाने की बात भी कही गई है।

18 सितम्बर, 2009 को राष्ट्रीय जल नीति, 2002 की समीक्षा की अनुशंसा की गई और तदनुसार जल संसाधन मन्त्रालय द्वारा जलवायु परिवर्तन के कारण होने वाले प्रभावों पर विचार कर जल विकास हेतु उपयुक्त कार्यवाही करने की संस्तुति की गई।

वन संसाधन (FOREST RESOURCES)

वन संसाधन प्राकृतिक संसाधनों का एक भाग है। यहां प्राकृतिक संसाधनों से अर्थ प्रकृति के उन उपहारों से है जो मानव को प्रकृति द्वारा प्रदान किये जाते हैं। इन उपहारों में भूमि, जल, वन, खनिज वस्तुएँ, सामुद्रिक वस्तुएँ; जैसे मछली, जलवायु, आदि विभिन्न प्रकार के तत्व शामिल हैं। यह सभी तत्व प्राकृतिक संसाधन की परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं।

प्राकृतिक संसाधनों के बारे में निम्न तीन बातें महत्वपूर्ण हैं जिन्हें इसकी विशेषताओं या स्वभाव के अन्तर्गत रख सकते हैं :

(1) **निष्क्रियता**—प्राकृतिक संसाधनों का स्वभाव है कि वे स्वयं निष्क्रिय हैं। यही कारण है कि उनका उपयोग तकनीकी ज्ञान एवं मानवीय श्रम के सहयोग से ही हो पाता है। यदि तकनीकी ज्ञान एवं मानवीय श्रम इन प्राकृतिक साधनों का विदोहन नहीं कर पाते हैं तो ये निष्क्रिय पड़े रहते हैं और देश के आर्थिक विकास में कोई सहयोग नहीं करते हैं। इसको इस प्रकार भी कह सकते हैं कि वे अकेले निष्क्रिय हैं।

(2) **समाप्त होने वाले एवं नवीकरण होने वाले**—प्राकृतिक संसाधन दो प्रकार के हैं। एक तो वे जिनको यदि काम में ले लिया जाय तो उनके भण्डार समाप्त हो जाते हैं और उनकी पूर्ति फिर प्रकृति द्वारा नहीं की जाती है। इनमें खनिज पदार्थ जैसे कोयला, पेट्रोलियम, आदि आते हैं जो पृथ्वी तल के नीचे पाये जाते हैं। दूसरे वे जो काम में लेने पर यद्यपि समाप्त हो जाने चाहिए, लेकिन प्रकृति उनका नवीकरण करती रहती है और इस प्रकार वे समाप्त नहीं होते हैं। इनमें वन, भूमि व जल जैसे संसाधन आते हैं।

(3) **ज्ञात एवं अज्ञात**—वे प्राकृतिक संसाधन जिनका ज्ञान मनुष्य को होता है ज्ञात संसाधन कहलाते हैं। यह वे संसाधन हैं जो पृथ्वी की सतह पर पाये जाते हैं तथा जिनकी जानकारी मनुष्य को होती है। कुछ संसाधन ऐसे होते हैं जो भूतल में पाये जाते हैं। अतः उनके बारे में जानकारी मनुष्य को नहीं होती है। इन्हीं को अज्ञात संसाधन कहते हैं। इन अज्ञात संसाधनों का पता लगाने के लिए मनुष्य को तकनीके विकसित करनी पड़ती है।

विद्वानों का मत है कि किसी देश का आर्थिक विकास एक बहुत बड़ी सीमा तक उस देश के प्राकृतिक साधनों व भौगोलिक स्थिति पर निर्भर करता है, लेकिन कुछ विद्वान इस मत से सहमत नहीं हैं और उनका कहना है कि ये इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं। आर्थिक विकास के लिए तो मानव शक्ति एवं अन्य तत्वों का होना आवश्यक है। अतः वे इस सम्बन्ध में जापान का उदाहरण देते हैं जहाँ कम प्राकृतिक साधनों के होते हुए भी आर्थिक विकास तेजी से हुआ है। इसीलिए प्रो. लुइस (W. A. Lewis) ने अपनी पुस्तक 'The Theory of Economic Growth' में लिखा है कि "एक देश के साधन स्पष्ट रूप से उस देश के द्वारा किये जाने वाले विकास के परिणाम व प्रकार की सीमा होते हैं, किन्तु वे एकमात्र सीमा नहीं हैं। उन्हें तो प्राथमिक सीमा भी नहीं समझा जा सकता है।"

लेकिन इस बात से सभी विद्वान सहमत हैं कि प्राकृतिक साधन एक देश के आर्थिक विकास में सहायक होते हैं। एक देश की जलवायु, उसकी वनस्पति, खेतों की पैदावार, वहाँ के निवासियों की आवश्यकताएँ, उनका व्यवसाय, रहन-सहन, कार्यक्षमता, आदि बहुत-सी बातें उस देश के आर्थिक विकास पर प्रभाव डालती हैं। एक देश के धरातल एवं जलमार्गों पर परिवहन के साधनों का विकास निर्भर होता है। भूमि और वनों का भी आर्थिक विकास में महत्व कम नहीं है। भूमि व मिट्ठी की विविधता विविध उत्पादन में सहायक होती है। वनों से बहुत से लाभ मिलते हैं। वनों से ईंधन, इमारती लकड़ी, गोंद, लाख, रबड़, जड़ी-बूटियाँ, आदि अनेक वस्तुएँ मिलती हैं। वनों से जलवायु समशीतोष्ण हो जाती है व भूमि का कटाव रुक जाता है। पशुओं को चारा मिल जाता है।

प्राकृतिक खनिज पदार्थ तो और भी अधिक महत्वपूर्ण हैं जो देश के औद्योगिक विकास में सहयोग देते हैं। इन खनिज पदार्थों में कोयला, लोहा व पेट्रोलियम प्रमुख हैं जो अर्थव्यवस्था का स्वरूप व स्तर निर्धारित करते हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि एक देश के आर्थिक विकास में प्राकृतिक संसाधन महत्वपूर्ण हैं। इससे उद्योग, कृषि, व्यापार; परिवहन, आदि के विकास में सहायता मिलती है; रोजगार सुविधाओं में वृद्धि होती है और राष्ट्रीय आय बढ़ती है।

भारत में वन क्षेत्र

(FOREST AREA IN INDIA)

भारत वन रिपोर्ट 2015 के अनुसार, देश में वन क्षेत्रफल 7,94,245 वर्ग किमी है, जो देश के कुल भौगोलिक क्षेत्रफल का 24.16 प्रतिशत तथा विश्व के वन क्षेत्र का लगभग 2% है।

भारतीय वन स्थिति रिपोर्ट, 2015 के प्रमुख तत्व इस प्रकार हैं—

देश का कुल वन आच्छादित क्षेत्र 7,01,673 वर्ग किमी है जो देश के कुल भौगोलिक क्षेत्र का 21.34% है जिसमें 2.61% अति सघन वन 85,904 वर्ग किमी, 9.59% मध्यम घने वन 3,15,374 वर्ग किमी तथा शेष 9.14% खुले वन 3,00,395 वर्ग किमी है। देश में कुल वृक्ष आच्छादित क्षेत्र 92,572 वर्ग किमी है, जो देश के कुल क्षेत्रफल का 2.82% है। इस तरह देश में कुल वन तथा वृक्ष आच्छादित क्षेत्र 7,94,245 वर्ग किमी है, जो देश के कुल भौगोलिक क्षेत्रफल का 24.16% है। उल्लेखनीय है कि राष्ट्रीय वन नीति के अनुसार देश के 33% क्षेत्र (पर्वतीय क्षेत्रों में 66%) में वन एवं वृक्षावरण होने आवश्यक हैं।

देश का सर्वाधिक वन आच्छादित क्षेत्र मध्य प्रदेश में है इसके बाद अरुणाचल प्रदेश, छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र तथा ओडिशा का स्थान है। कुल भौगोलिक क्षेत्र में वन के क्षेत्र के प्रतिशत की दृष्टि से मिजोरम प्रथम स्थान पर है जहां 88.93% क्षेत्र वन आच्छादित है। इसके पश्चात् लक्ष्मीप का स्थान (84.56%) है।

रिपोर्ट के अनुसार देश में कुल 15 राज्यों/केन्द्र शासित क्षेत्रों में वन क्षेत्र उनके भू-भाग के 33% से अधिक है।

भारतीय परिपेक्ष्य में वन संसाधन अपर्याप्त हैं। भारत जैसे कृषि प्रधान एवं गर्म जलवायु वाले देश में जहां वर्षा अनिश्चित रहती है कुल भूमि के लगभग एक-तिहाई क्षेत्रफल में वन होने चाहिए जबकि यहां यह केवल 21.34% है। जापान में 64.4%, स्वीडन में 55%, रूस में 45.2% तथा अमेरिका में 23% भू भाग पर वन पाए जाते हैं। इन देशों की तुलना में भारत का वन क्षेत्रफल बहुत कम है।

भारत में वनों का वर्गीकरण

भारत में वनों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जाता है : (I) सरकारी आधार पर, व (II) प्रकृति के आधार पर।

(I) **सरकारी आधार पर**—सरकारी आधार पर वन तीन प्रकार के होते हैं : (1) **आरक्षित वन** (Reserved Forests)—यह वन सरकारी सम्पत्ति होते हैं तथा ऐसे वनों को बाढ़ों की रोकथाम, रेगिस्तान को रोकने, भूमि के कटाव को रोकने व देश की जलवायु को उचित बनाये रखने के लिए सुरक्षित रूप में बनाये रखा जाता है। ऐसे वनों का उपयोग बिना सरकारी अनुमति के कोई भी नहीं कर सकता है। (2) **संरक्षित वन** (Protected Forests)—यह वन भी सरकारी सम्पत्ति होते हैं, लेकिन इन वनों के उपयोग करने का अधिकार निश्चित शर्तों पर सरकार द्वारा कुछ व्यक्तियों को दे दिया जाता है। (3) **अवर्गीकृत वन** (Unclassified Forests)—ऐसे वनों को सरकार कुछ व्यक्तियों को दे देती है जो वनों से लकड़ी काटकर बेचते हैं व पशुओं को चराते हैं। ऐसे व्यक्तियों को ठेकेदार कहते हैं। इनको कुछ राशि शुल्क के रूप में सरकार को देनी पड़ती है।

भारत में इस समय 55 प्रतिशत वन आरक्षित (Reserved), 28 प्रतिशत संरक्षित (Protected) व शेष 17 प्रतिशत अवर्गीकृत (Unclassified) हैं।

(II) **प्रकृति के आधार पर**—प्रकृति के आधार पर वन 6 प्रकार के होते हैं जिनका विवरण इस प्रकार है : (1) **सदाबहार वन** (Evergreen Forests)—यह वन उन स्थानों पर पाये जाते हैं जहाँ 200 सेण्टीमीटर से ऊपर वर्षा होती है। अधिक वर्षा के कारण ही यह वन सदा हरे-भरे रहते हैं। इन वनों में मुख्य रूप से बाँस, ताड़, रबड़, आबनूस, चन्दन, बैंत, नारियल, आदि के वृक्ष पाये जाते हैं। यह वन घने होते हैं, लेकिन अधिक उपयोगी नहीं होते हैं। भारत में यह कुल वन क्षेत्र के 12 प्रतिशत क्षेत्र में पाये जाते हैं। यह वन मेघालय, त्रिपुरा, मिजोरम, असम, उत्तराखण्ड तथा हिमाचल प्रदेश में हैं। (2) **मानसूनी वन** (Monsoon Forests)—यह वन उन स्थानों पर पाये जाते हैं जहाँ एक वर्ष में 100 से 200 सेण्टीमीटर वर्षा होती है। इन्हीं वनों को मानसूनी वन व पतझड़ वन भी कहते हैं। यहीं वन भारत के बहुमूल्य वन हैं जो कुल वन के 80 प्रतिशत भाग में पाये जाते हैं। इन वनों में साल, सागौन, आम, शीशम, चन्दन, सेमल व एबौनी की लकड़ी पायी जाती हैं जो फर्नीचर व मकान बनाने के काम आती हैं। यह वन महाराष्ट्र, कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु, ओडिशा (उड़ीसा), आन्ध्र प्रदेश व हिमाचल प्रदेश के निचले भाग में पाये जाते हैं। (3) **मरुस्थलीय**

वन (Dry Forests)—यह वन उन स्थानों पर पाये जाते हैं जहाँ वर्षा कम होती है। इन वनों में कँटेदार वृक्ष, बबूल, खजूर, नीम, आम, बेर व ताड़ के वृक्ष पाये जाते हैं। ऐसे वन राजस्थान, उत्तर प्रदेश, दक्षिणी प्रायद्वीप के शुष्क भाग, आश्च प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, कर्नाटक, आदि में पाये जाते हैं। (4) **पर्वतीय वन (Mountain Forests)**—यह वन पहाड़ों पर पाये जाते हैं जिनमें औषधियों के वृक्ष अधिक पाये जाते हैं। भारत में यह वन मुख्यतः हिमालय पहाड़ पर ही पाये जाते हैं। अल्पाइन वन (Alpine Forests) भी हिमालय पहाड़ पर ही 9,000 फीट से अधिक ऊँचाई पर पाये जाते हैं। (5) **नदी तट के वन (Riverine Forests)**—यह वन नदियों के किनारों पर पाये जाते हैं जो नदियों में बाढ़ आ जाने या पानी फैलने से बन गये हैं। इन वनों में इमली, जामुन, शीशम, खेर, आदि के वृक्ष पाये जाते हैं। (6) **डेल्टाई वन (Delta Forests)**—यह वन ब्रह्मपुत्र, गंगा व गोदावरी नदियों के डेल्टाओं में जहाँ समुद्र का पानी ज्वार के समय आ जाता है, पाये जाते हैं। अतः इनको ज्वार प्रदेश के वन भी कहा जाता है। इन वनों में लकड़ी पायी जाती है जो ईंधन के काम आती है।

भारत में वन उत्पादन

भारत में वनों से जो वस्तुएँ मिलती हैं उनको दो भागों में बाँटा जा सकता है : (1) मुख्य वन वस्तुएँ (Major Forest Products) व (2) सहायक वन वस्तुएँ (Minor Forest Products)। मुख्य वन वस्तुओं में चन्दन, सागौन, आम, सेमल, सनोवर, धूप, सुन्दरी, हल्दू, आदि हैं। सहायक वन वस्तुओं में बाँस, बैंत, लाख, गोंद, रबड़, चमड़ा रंगने के पदार्थ, कथा, राल, लुग्दी, हाथी दाँत, जड़ी-बूटी एवं दवाइयाँ व चन्दन, महुआ, आदि के तेल के लिए कच्चे पदार्थ, आदि हैं। इन वनों से प्रति वर्ष लगभग 100 लाख क्यूबिक मीटर औद्योगिक लकड़ी व 150 लाख क्यूबिक मीटर ईंधन लकड़ी मिलती है तथा सरकार को लगभग 670 करोड़ ₹ प्रति वर्ष रॉयल्टी मिलती है।

भारतीय वन सम्पत्ति की मुख्य विशेषताएँ

भारतीय वन एक सम्पत्ति हैं इसलिए इनको वन सम्पत्ति का नाम दिया गया है। इस वन सम्पत्ति की विशेषताएँ इस प्रकार से हैं : (1) भारत में वन सम्पत्ति का क्षेत्रफल कुल भौगोलिक क्षेत्रफल का 21.23 प्रतिशत है जो विश्व के वन क्षेत्र का 2 प्रतिशत है। (2) भारत में प्रति व्यक्ति वन क्षेत्र 0.11 हेक्टेअर है। (3) यहाँ पर विभिन्न प्रकार के वन पाये जाते हैं जिनका विस्तृत विवरण इसी अध्याय में ‘भारत में वनों का वर्गीकरण’ के अन्तर्गत दिया गया है। (4) इन वनों का वितरण एकसमान नहीं है। (5) इन वनों में कड़ी लकड़ी के वृक्ष अधिक पाये जाते हैं। (6) यह वन हिमालय पर्वत तथा पश्चिमी और पूर्वी घाट पर बहुत पाये जाते हैं जहाँ से लकड़ी काटकर शहरों में लाना सुविधाजनक नहीं है। यही कारण है जिसकी वजह से वनों का उचित विदोहन नहीं हो पाया है। (7) मानसूनी या पतझड़ वनों में एक बार पतझड़ अवश्य होता है।

भारत में वन सम्पदा की मुख्य समस्याएँ एवं उनका समाधान

भारतीय वन सम्पदा अन्य देशों की तुलना में पिछड़ी हुई है। अतः इसकी कुछ समस्याएँ हैं जो कि निम्नलिखित हैं :

(1) **वनों का क्षेत्रफल कम होना**—भारत में वनों का क्षेत्रफल 24.16 प्रतिशत है जो कि कम है। राष्ट्रीय वन नीति के अनुसार देश में वनों का क्षेत्रफल देश के क्षेत्र का एक-तिहाई होना चाहिए, लेकिन हम अभी तक इसको प्राप्त नहीं कर सके हैं यद्यपि इस दिशा में सरकार प्रयत्नशील है। साथ ही यहाँ प्रति व्यक्ति वन 0.11 हेक्टेअर है, जबकि विश्व का औसत 1.08 हेक्टेअर है।

(2) **वनों का ऊँचे पहाड़ों पर होना**—भारत के बहुत से वन ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों पर होने के कारण उनमें लकड़ी काटने व उनसे उपलब्ध सामग्री को जन-उपयोग में लाना सम्भव नहीं है। अतः यह भी एक समस्या है। इसके लिए सुझाव दिया जाता है कि ऐसी तकनीक का विकास किया जाना चाहिए जिससे कि भारतवासी वहाँ तक पहुंच सकें व उनसे लाभ उठा सकें।

(3) **वनों का असमान वितरण**—वन मिजोरम, नगालैण्ड, अरुणाचल प्रदेश, जम्मू व कश्मीर में अधिक हैं, जबकि अन्य राज्यों में कम। इस प्रकार वनों का वितरण समान नहीं है। इसलिए सुझाव दिया जाता है कि कमी वाले स्थानों पर वृक्षारोपण कर के वनों को बढ़ाया जाना चाहिए।

(4) परिवहन सम्बन्धी कठिनाइयाँ—इन क्षेत्रों तक पहुंचने के लिए सड़कों की उचित व्यवस्था नहीं है। अतः यह भी एक समस्या है जिसके कारण वनों का उचित विदोहन नहीं हो पा रहा है। इसके लिए सुझाव दिया जाता है कि भारत सरकार को इन वन क्षेत्रों में सड़कें बनानी चाहिए।

(5) परम्परागत तकनीक—भारत में वनों से लकड़ी काटने की परम्परागत तकनीक अपनायी जाती है जिससे लकड़ी काटने में समय व धन का अपव्यय होता है तथा काफी लकड़ी व्यर्थ चली जाती है। अतः यह भी एक समस्या है। इसके लिए सुझाव दिया जाता है कि नवीन तकनीक का विकास किया जाना चाहिए जिसके लिए अनुसन्धान एवं विकास कार्य को गति दी जानी चाहिए।

(6) शहरीकरण से वनों की समाप्ति—शहरों में जनसंख्या बराबर बढ़ रही है जिसके लिए जंगलों को काटकर साफ कर दिया जाता है जिससे वनों के क्षेत्रफल में बराबर कमी होती जा रही है। इसके लिए सरकार को सड़कों के दोनों ओर वृक्ष लगवाने की व्यवस्था तथा स्थान-स्थान पर पार्क बनवाने का कार्य करना चाहिए।

(7) वनों का काटना—वनों से लकड़ी प्राप्त करने के लिए वनों को बराबर काटा जा रहा है जिससे वनों के क्षेत्रफल में कमी होती जा रही है। यह मुख्य समस्याओं में से एक महत्वपूर्ण समस्या है। इसके लिए सुझाव दिया जाता है कि खनन कोयला का उत्पादन बढ़ाया जाना चाहिए तथा नये-नये क्षेत्रों में वनों को लगाने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

वन नीति

भारत में सबसे पहले ब्रिटिश सरकार ने 1894 में एक वन नीति अपनायी जिसके अनुसार वनों की देख-रेख के लिए विकास समिति तथा हर प्रान्त में वन विभागों की स्थापना की गई। इस नीति के मुख्य उद्देश्य दो थे—एक तो राजस्व प्राप्ति व दूसरा वनों का संरक्षण। यह नीति स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक चलती रही। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् एक नवीन नीति की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। अतः सरकार ने सर्वप्रथम 1950 में एक केन्द्रीय वन बोर्ड (Central Board of Forestry) की स्थापना की। इस बोर्ड की सिफारिशों के आधार पर 31 मई, 1954 को केन्द्रीय सरकार ने वनों के सम्बन्ध में एक नवीन नीति की घोषणा की जिसके प्रस्ताव में यह स्वीकार किया गया कि “वन अब कृषि के दास मात्र नहीं हैं, बल्कि वे कृषि के अपरिहार्य मित्र एवं उपमाता के समान हैं। कृषि भूमियों की उत्पादकता को बनाये रखने एवं उसे बढ़ाने के लिए वन नितान्त आवश्यक हैं।” इस वन नीति की चार मुख्य बातें थीं : (1) वनों के अन्तर्गत क्षेत्रफल को बढ़ाकर 33.3 प्रतिशत करना; (2) वनों को लगाना; (3) वनों को सुरक्षित करना व (4) वनों के सम्बन्ध में अनुसन्धान करना, लेकिन यह नीति अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रही।

अतः 7 दिसम्बर, 1988 को नवीन वन नीति घोषित की गयी है जिसके तीन लक्ष्य हैं : (1) पर्यावरण स्थिरता, (2) जीव-जन्तुओं व वनस्पति जैसी प्राकृतिक धरोहर की हिफाजत करना व (3) लोगों की बुनियादी जरूरतें पूरी करना। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस नवीन वन नीति में निम्न बातें कही गयी हैं :

- (i) पहाड़ी घाटियों व नदियों के जल ग्रहण क्षेत्रों में जंगलात बढ़ाये जायेंगे। (ii) जंगलों पर आदिवासियों और गरीबों के पारस्परिक हक बनाये रखे जायेंगे। (iii) वनों की उत्पादकता बढ़ाने पर ध्यान दिया जायेगा। (iv) वर्तमान वनों को कटाई से बचाया जायेगा जिससे कि पर्यावरण में सन्तुलन बनाये रखा जा सके। (v) उद्योगों को रियायती दर पर जंगलात के उत्पाद प्राप्त करने पर रोक लगायी जायेगी। (vi) ग्रामीण और कुटीर उद्योगों को छोड़कर वन पर आधारित उद्योगों को इजाजत नहीं दी जायेगी। उन्हें अपनी आवश्यकता के अनुसार निजी वन लगाने चाहिए। (vii) ग्रामीण व आदिवासी इलाकों के लोगों की बुनियादी आवश्यकताएँ, जैसे जलावन, चारा, छोटी इमारती लकड़ी, आदि की पूर्ति को ध्यान में रखा जायेगा।

पृथ्वी के पर्यावरण को बचाने के लिए संयुक्त राष्ट्र का एक सम्मेलन रियो-डी-जनेरो (ब्राजील) में 3 जून से 14 जून, 1992 तक हुआ था जिसमें 178 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में एक विश्वव्यापी योजना को स्वीकार किया गया तथा पर्यावरण संरक्षण के प्रति प्रतिबद्धता दोहराई गई। इसी सम्मेलन में वन संरक्षण के मुद्रे पर सीमित सहमति भी हुई। भारत के प्रधानमन्त्री ने भी इस सम्मेलन में भाग लिया तथा सहमति पर हस्ताक्षर किये। इस प्रकार भारत वन संरक्षण के सिद्धान्तों को पूरे तौर से मानता है।

1988 की घोषित राष्ट्रीय वन नीति को क्रियाशील बनाने के लिए अगस्त 1999 में एक 20 वर्षीय राष्ट्रीय वानिकी कार्य योजना (National Forestry Action Programme) लागू की गई है जिसका उद्देश्य वनों की कटाई को रोकना तथा देश के एक-तिहाई भाग को वृक्षों/वनों से ढकना है।

वनों के विकास के लिए सरकार द्वारा उठाये गये कदम

अथवा

योजनाओं में वनों की प्रगति

भारत में विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में वनों के विकास एवं विस्तार पर बल दिया गया है, परन्तु योजनाओं के अन्तर्गत वन विकास पर प्रस्तावित व्यय कुल व्यय का लगभग 1% ही रहा है। दूसरे शब्दों में, यद्यपि वनों के विकास पर प्रस्तावित व्ययों में वृद्धि की गयी है, लेकिन सापेक्ष रूप में व्यय स्थिर रहे हैं जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय उत्पादन में वनों का योगदान 2 प्रतिशत से अधिक नहीं रहा है।

नियोजन काल में वनों के सम्बन्ध में सरकार की नीति इस प्रकार रही है—(i) वनों की उत्पादकता बढ़ाना, (ii) वन विकास को वनों पर आधारित विभिन्न उद्योगों से सम्बद्ध करना व (iii) वनों का ग्रामीण अर्थव्यवस्था की सहायता के रूप में विकास करना।

वन विकास के लिए विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत विभिन्न कार्यक्रम चलाये गये हैं; जैसे वृक्षारोपण, शीघ्र बढ़ने वाले वृक्षों को लगाने के लिए शत-प्रतिशत केन्द्रीय सहायता, वन अधिकारियों को प्रशिक्षण, आधुनिक तकनीक का विकास, वन यातायात का विकास, आदि।

उपर्युक्त से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वनों का विकास किया जा रहा है, लेकिन यह देश की आवश्यकताओं को देखते हुए पर्याप्त नहीं है। वनों का विदोहन तो इससे कहीं तेज गति से हो रहा है और इस प्रकार वनों के क्षेत्रफल के घटने की सम्भावनाएँ अधिक प्रतीत होती हैं। भारत में प्रति व्यक्ति वनों का क्षेत्रफल 0.11 हेक्टेएर है, जबकि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 1.08 हेक्टेएर है। अतः वनों के क्षेत्रफल में वृद्धि करने की परम आवश्यकता है।

सरकार ने वन नीति के ही अन्तर्गत वन विकास के लिए निम्न कार्य किये हैं :

(1) भारतीय वन सर्वेक्षण संगठन—वनों में क्या-क्या वस्तुएँ उपलब्ध हैं उनका पता लगाने के लिए जून 1971 में इस संगठन को स्थापित किया गया है।

(2) वन अनुसन्धान संस्थान की स्थापना—देहरादून में 1906 में वन अनुसन्धान संस्थान स्थापित किया गया है जिसका मुख्य उद्देश्य वनों से प्राप्त वस्तुओं के सम्बन्ध में अनुसन्धान करना एवं वनों के सम्बन्ध में शिक्षा देना है। इस संस्थान के चार क्षेत्रीय केन्द्र बैंगलुरु, कोयम्बटूर, जबलपुर व बुर्नीहाट में हैं। यह संस्था वन-रक्षकों एवं राज्य सरकारों के वन विभाग के अधिकारियों को प्रशिक्षण देने का कार्य करती है।

(3) काष्ठ-कला प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना—राज्य सरकारों के अधिकारी एवं अन्य कर्मचारियों को लकड़ी काटने का प्रशिक्षण देने के लिए 1965 में देहरादून में एक काष्ठ-कला प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किया गया है। यह संस्था लकड़ी प्राप्त करने के आधुनिक तरीकों के विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में प्रशिक्षण देती है।

(4) राज्य वन विकास निगमों की स्थापना—राज्यों के द्वारा वनों को ठेके पर उठाया जाता है और फिर ठेकेदार वनों से लकड़ी, आदि काटते हैं। गत वर्षों में सरकार की नीति रही है कि प्रत्येक राज्य में वाणिज्यिक वन विकास निगम बनाये जायें जिससे कि ठेकेदारी प्रथा को समाप्त किया जा सके।

(5) वन महोत्सव—कृषि मन्त्री के एम. मुन्शी ने 1950 में 'अधिक वृक्ष लगाओ आन्दोलन' चालू किया था जिसका नाम 'वन महोत्सव' रखा गया। इस आन्दोलन का उद्देश्य मानव द्वारा निर्मित वनों का क्षेत्रफल बढ़ाना व जनता में वृक्षारोपण की प्रवृत्ति पैदा करना है। यह आन्दोलन अभी चालू है। प्रति वर्ष पूरे देश में 1 जुलाई से 7 जुलाई तक वन महोत्सव कार्यक्रम मनाया जाता है।

(6) भारतीय वन प्रबन्ध संस्थान की स्थापना—1978 में Swedish International Development Agency के सहयोग से 'भारतीय वन प्रबन्ध संस्थान' नामक एक संस्थान अहमदाबाद में स्थापित किया गया है जिसका कार्य कर्मचारियों को वन संसाधन प्रबन्ध की आधुनिक व्यवसाय सम्बन्धी बातों की जानकारी देना है।

(7) भारतीय वन प्रबन्ध संसाधन, भोपाल की स्थापना—केन्द्रीय सरकार ने भोपाल (मध्य प्रदेश) में एक वन प्रबन्ध संस्थान स्थापित किया है। यह संस्थान एशिया में व शायद संसार में प्रथम संस्थान है, जो अनुसन्धान

व केस स्टडी के आधार पर पढ़ाने का कार्य करता है। यह विभिन्न स्तरों पर प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाता है तथा 'वन प्रबन्ध' पर स्नातकोत्तर व डॉक्टरेट की उपाधि प्रदान करने की व्यवस्था कर रहा है।

(8) वन (संरक्षण) अधिनियम—केन्द्रीय सरकार ने 1980 में वन संरक्षण अधिनियम पारित कर लागू किया है जिसके अनुसार किसी भी वन भूमि को सरकार की अनुमति के बिना कृषि भूमि में परिवर्तित नहीं किया जा सकता है। 1988 में इस अधिनियम में संशोधन कर इसे और कारगर बना दिया गया है।

(9) वन सर्वेक्षण संगठन की स्थापना—केन्द्रीय सरकार ने वन सर्वेक्षण संगठन स्थापित किया है जिसका कार्य वनों का नियोजित उपयोग, वन संसाधनों का नवीनीकरण व वनों के क्षेत्रफल को बढ़ाना है।

(10) राष्ट्रीय वन आयोग—वन एवं पर्यावरण मन्त्रालय ने उच्चतम न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश बी. एन. कृपाल की अध्यक्षता में पहला 7 सदस्यीय राष्ट्रीय वन आयोग 7 फरवरी, 2003 को गठित किया। यह आयोग वनों के संरक्षण, इससे जुड़ी मौजूदा नीतियों एवं वैधानिक ढांचे का अध्ययन, पर्यावरण सन्तुलन और इसके वैज्ञानिक आर्थिक पक्ष को नई दिशा देने के लिए बनाया गया है। वन मन्त्रालय के अतिरिक्त महानिदेशक इसके सदस्य सचिव हैं।

आयोग के अध्यक्ष न्यायमूर्ति बी. एन. कृपाल ने 28 मार्च, 2006 को अपनी रिपोर्ट केन्द्र सरकार को सौंपी। रिपोर्ट में आयोग ने प्रत्येक राज्य की अलग वन नीति बनाए जाने की सिफारिश की है। पर्यावरण को साफ-सुधरा रखने व वन्य जीवों के पर्यावास के आधार पर वनों व आच्छादित वनों को बढ़ाने पर राष्ट्रीय वन आयोग ने विशेष बल दिया है। रिपोर्ट के अनुसार जल की उपलब्धता वनों पर ही निर्भर है, जबकि नदियों के प्रवाह क्षेत्र का भी सम्बन्ध वनों से है। इस आधार पर उद्योगों के कारण वनों व जल को होने वाली क्षति की भरपाई के लिए उन पर लगाने वाले उपकर को 2 के स्थान पर 4 प्रतिशत किए जाने की सिफारिश की गई है। साथ ही उसका आधा भाग सम्बन्धित राज्य के वन विभाग को मिलना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो भी उद्योगों से अभी 2 प्रतिशत वसूले जाने वाले उपकर में से ही राज्यों को उसका आधा भाग दिए जाने की सिफारिश की है।

आयोग की रिपोर्ट में कुल 360 सिफारिशें हैं। रिपोर्ट के अनुसार पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, 1986 व जैव विविधता अधिनियम, 2002 को बना तो दिया गया, लेकिन उसका अमल कराने वाली एजेंसी अब तक तय नहीं की जा सकी है।

(11) समन्वित वन सुरक्षा योजना—समन्वित वन सुरक्षा योजना के अन्तर्गत दो योजनाओं को शामिल किया गया है। पहला मूलभूत विकास—इसके अन्तर्गत (i) सर्वेक्षण की कार्ययोजना और सीमांकन, (ii) वन सुरक्षा के लिए मूलभूत सुविधाओं का विकास। दूसरा—जंगल की आग की रोकथाम और प्रबन्धन। यह दसवीं पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत पूरे देश में लागू की गई है।

(12) हरियाली परियोजना—27 जनवरी, 2003 से प्रारम्भ हरियाली परियोजना के अन्तर्गत ग्रामीणों को वृक्षारोपण के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। वृक्ष लगाने वाले व्यक्ति को वनरक्षक के रूप में नियुक्त कर पंचायत के माध्यम से 100 ₹ प्रति माह का पारितोषिक उसे प्रदान किया जाता है। एक माह के पश्चात् इनमें से 75 या अधिक वृक्ष जीवित रहने पर उस वनकर्मी का पारितोषिक तीन गुना कर दिया जाता है। 50 से 75 तक वृक्ष जीवित रहने पर इसे दोगुना किया जाता है। वनरक्षक यदि 50 या इससे कम पौधों को ही जीवित रख पाने में सफल रहता है, तो उसे इस पद से हटा दिया जाता है।

हरियाली परियोजना के उद्देश्य— • जल संग्रहण योजनाओं का क्रियान्वयन • वर्षा जल का संचयन • पेयजल समस्या का निवारण • सिंचाई हेतु जल की व्यवस्था • वृक्षारोपण तथा मत्स्यपालन को प्रोत्साहन।

वनों के विकास के लिए सुझाव

भारत में वनों के विकास के लिए तीन दिशाओं में कार्य करने होंगे : (I) वनों के क्षेत्रों का विस्तार करना होगा; (II) वनों की उत्पादकता बढ़ानी होगी; व (III) उनको संरक्षण देना होगा। इसके लिए केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारें व जनता तीनों को ही मिलकर कार्य करना होगा जिससे कि वनों का विकास हो सके। अब तक जो प्रयास इस ओर किये गये हैं वे अधिक उत्साहवर्धक नहीं हैं। इसके विकास के लिए अग्र सुझाव दिये जाते हैं :

(I) वनों के क्षेत्र का विस्तार—वनों के क्षेत्र का विस्तार करने के लिए यह कार्य किये जाने चाहिए :

(1) राज्यों के वनों एवं कृषि विभागों के लिए न्यूनतम क्षेत्र का निर्धारण—केन्द्रीय वन बोर्ड को एक विस्तृत योजना बनानी चाहिए जिसके अन्तर्गत प्रत्येक राज्य के लिए वृक्षारोपण लक्ष्य निर्धारित कर दिये जाने चाहिए और उसका क्रियान्वयन प्रभावी ढंग से किया जाना चाहिए। (2) वन महोत्सव का प्रचार—वनों के क्षेत्रफल में वृद्धि करने के लिए वन महोत्सव कार्यक्रम का खूब प्रचार किया जाना चाहिए। जनसाधारण को उचित तकनीकी सलाह दिये जाने की व्यवस्था होनी चाहिए तथा सर्वश्रेष्ठ कार्यकर्ता या जन-प्रतिनिधि को पुरस्कार दिया जाना चाहिए जिससे जनता व कार्यकर्ताओं में प्रतियोगी भावना जाग्रत हो सके। (3) फार्म वृक्षारोपण को प्रोत्साहन—गाँवों में फार्म वृक्षारोपण को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। फार्म वृक्षारोपण से अर्थ गाँवों के उन छोटे-छोटे फार्मों से है जिनमें लकड़ी देने वाले व शीघ्र उगने वाले वृक्षों को लगाया जाता है। इससे वनों के क्षेत्रफल में वृद्धि होगी तथा बिना सोचे-समझे वृक्ष काटने की प्रवृत्ति हटोत्साहित होगी। (4) सड़कों, नहरों व रेलवे लाइनों के दोनों ओर वृक्षारोपण—सरकार की सड़कों, नहरों व रेलवे लाइनों के दोनों ओर वृक्ष लगाने चाहिए। (5) 'हर बच्चे के लिए एक पेड़'—स्कूल व कॉलेजों में यह नारा लगाया जाना चाहिए जिससे कि वृक्षों की संख्या में वृद्धि हो सके।

(II) वनों की उत्पादकता बढ़ाना—वनों से जितनी वस्तुएँ मिलती हैं उनकी मात्रा बहुत कम है और अपनी आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रतिवर्ष 25 करोड़ ₹ के मूल्य की वन-उपजों का आयात करना पड़ता है। अतः इनकी उत्पादकता बढ़ायी जानी चाहिए जिसके लिए यह सुझाव दिये जा सकते हैं : (1) परिवहन सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करना—वनों की उत्पादकता बढ़ाने के लिए सड़कों की उचित व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे कि वनों तक पहुंचा जा सके। इसके लिए वन क्षेत्रों में सड़कों का विस्तार किया जाना चाहिए। (2) परम्परागत तकनीकी से छुटकारा—वनों की उत्पादकता बढ़ाने के लिए लकड़ी काटने की परम्परागत तकनीक के स्थान पर नवीनतम आधुनिक तकनीक का विकास किया जाना चाहिए। इसके लिए काष्ठ-कला केन्द्र संस्थान, वन अनुसन्धान संस्थान व केन्द्रीय वन आयोग के द्वारा सहयोग दिया जाना चाहिए।

(III) वनों को संरक्षण देना—वनों को नष्ट होने से बचाने के लिए भी प्रयत्न करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में यह सुझाव दिये जाते हैं : (1) कानूनों को प्रभावकारी ढंग से लागू करना—सभी राज्यों में हरे-भरे वृक्षों को काटने से रोकने के लिए कानून हैं, लेकिन उनका क्रियान्वयन नहीं हो रहा है। अतः सुझाव दिया जाता है कि उनको ठीक प्रकार से लागू किया जाए जिससे कि अपराधी व्यक्तियों को सजा दी जा सके। (2) हिमालय क्षेत्र में वृक्षों के कटाव को रोकना—विश्व वन-विशेषज्ञ डॉ. रिचर्ड सेण्ट वार्च सेण्ट बेकर का सुझाव है कि 4,000 फीट से ऊपर के वृक्षों का कटाव रोक दिया जाना चाहिए ताकि पिछले वर्षों में पर्वतीय वनों पर किये गये अत्याचार का असर समाप्त हो सके। (3) पशुओं की मुफ्त चराई पर रोक—सरकार को वनों में पशुओं की मुफ्त चराई पर रोक लगा देनी चाहिए और रोकथाम की उचित व्यवस्था भी करनी चाहिए।

भारतीय अर्थव्यवस्था में वनों का महत्व या लाभ

भारतीय अर्थव्यवस्था में वनों का बहुत ही महत्व है। वनों से जलाने के लिए केवल लकड़ी ही नहीं मिलती है, बल्कि उद्योगों के लिए बहुत से कच्चे पदार्थ भी मिलते हैं। रोगों के उपचार के लिए औषधियाँ मिलती हैं। जानवरों के लिए चारा व सरकार के लिए राजस्व मिलता है। वन देश की जलवायु को उचित बनाये रखते हैं; मिट्टी के कटाव को कम करते हैं; रेगिस्तान को रोकते हैं; प्राकृतिक सौन्दर्य को बढ़ाते हैं।

महान् दार्शनिक सुकरात ने भी ग्रीकवासियों को वनों और पहाड़ों की वनस्पति के विनाश के घातक परिणामों से आगाह किया था जो इस बात का प्रमाण है कि वन एक देश के लिए महत्वपूर्ण हैं। हमारे भूतपूर्व प्रधानमन्त्री स्वर्गीय पं. जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, "उगता हुआ पेड़ प्रगतिशील राष्ट्र का प्रतीक है।" डॉ. पी. एच. चटर्बक ने भी वनों का महत्व इस प्रकार बताया है, "वन राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं और सभ्यता के लिए इनकी नितान्त आवश्यकता है। वे केवल लकड़ी प्रदान नहीं करते हैं, बल्कि कई प्रकार के कच्चे माल, पशुओं के लिए चारा तथा राज्य के लिए आय भी पैदा करते हैं। इनके परोक्ष लाभ तो और भी अधिक महत्वपूर्ण हैं।"

एक प्रसिद्ध वन प्रेमी व्यक्ति बेकन ने कहा है कि "वनों से हम ऑक्सीजन, पानी, भोजन, जलवायु, भू-क्षरण को रोकने की क्षमता और लकड़ी प्राप्त करते हैं। वृक्ष लगाना न केवल आर्थिक दृष्टि से वरन् पर्यावरण की शुद्धि की दृष्टि से भी आवश्यक है।"

भारतीय अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में वनों के महत्व को दो भागों में बाँट सकते हैं : (I) प्रत्यक्ष महत्व या प्रत्यक्ष लाभ, (II) अप्रत्यक्ष महत्व या अप्रत्यक्ष लाभ।

(I) प्रत्यक्ष महत्व या प्रत्यक्ष लाभ

(1) **लकड़ी की प्राप्ति**—वनों में मुख्य रूप से लकड़ी मिलती है जो ईंधन का एक महत्वपूर्ण साधन है। भारत में लकड़ी एवं गोबर मिलकर देश की कुल शक्ति संसाधनों की 34.6 प्रतिशत शक्ति उत्पादित करते हैं। साथ ही वन लकड़ी से फर्नीचर बनाया जा सकता है तथा इमारतों के काम में लिया जा सकता है। इन वनों से सागौन, साल, चीड़, देवदार, शीशम, आबनूस, चन्दन, आदि की लकड़ी मिलती है। (2) **अन्य सहायक उपजों की प्राप्ति**—वनों का महत्व इसलिए भी अधिक है कि इनसे लकड़ी के साथ-साथ अन्य उपजें भी मिलती हैं जो देश के लिए लाभकारी एवं उद्योगों के लिए आधारभूत तत्व हैं। इन सहायक उपजों में लाख, चमड़ा, गोंद, शहद, कथा, मोम, छालें, बाँस व बैंत, जड़ी-बूटियाँ, जानवरों के सींग, आदि आते हैं। (3) **उद्योगों की स्थापना एवं विकास**—वनों से उपर्युक्त वर्णित बहुत से कच्चे पदार्थ मिलते हैं जिनकी सहायता से बहुत से उद्योग स्थापित कर दिये गये हैं और उनका विकास किया जा रहा है। इन उद्योगों में (i) कागज उद्योग (लकड़ी, घास, सनोवर, बाँस, आदि से), (ii) दियासलाई उद्योग (चीड़, सूस, सफेद सनोवर, आदि से), (iii) रबड़ उद्योग (वृक्षों के रस से), (iv) लाख उद्योग (लाख से), (v) मोम उद्योग (मोम से), (vi) वार्निश व रंग उद्योग (तारपीन व बेरोजा से), (vii) चमड़ा उद्योग (खालें या चमड़ा साफ करने के लिए महुआ की छालें व बबूल का गोंद), (viii) फर्नीचर उद्योग (लकड़ी व बाँस, आदि से), (ix) तेल उद्योग (चन्दन, तारपीन, केवड़ा, आदि से), (x) औषधि उद्योग (जड़ी-बूटियों से), आदि प्रमुख हैं। (4) **जानवरों के लिए चरागाह**—वनों में जानवरों के खाने के लिए घास व पत्ते मिलते हैं जिससे दूध सस्ता मिलता है तथा असहाय जानवरों को अपना जीवन व्यतीत करने में आसानी रहती है। इस प्रकार वनों का इस दृष्टि से भी महत्व है। (5) **व्यक्तियों के लिए रोजगार**—वनों से जो कच्चे पदार्थ मिलते हैं उनसे बहुत से उद्योग चल रहे हैं जिनमें रूपयों व्यक्तियों को रोजगार मिला हुआ है। ग्रामीण क्षेत्रों में अनेक कुटीर एवं लघु उद्योग वनों पर आधारित हैं। (6) **विदेशी मुद्रा की प्राप्ति**—वनों से जो पदार्थ मिलते हैं उन्हें निर्यात करके विदेशी मुद्रा अर्जित की जाती है। निर्यात किये जाने वाले पदार्थों में लाख, तारपीन कां तेल, चन्दन का तेल, लकड़ी से बनी कलात्मक वस्तुएँ, आदि प्रमुख हैं। (7) **लघु उद्योगों की स्थापना एवं विकास**—वनों से प्राप्त वस्तुओं से भारत में लघु उद्योगों की स्थापना की गयी है और उनका विकास किया जा रहा है। इनमें टोकरियाँ व बैंत, शहद, मोम, आदि प्रमुख हैं। (8) **सरकार को राजस्व**—सरकार को वनों का उपयोग करने से राजस्व व रॉयलटी के रूप में करोड़ों रूपयों की प्राप्ति होती है।

(II) अप्रत्यक्ष महत्व या अप्रत्यक्ष लाभ

अप्रत्यक्ष लाभों के सम्बन्ध में कैलाशचन्द्र पपनै का कहना है कि “वृक्षों की पत्तियाँ ऊपरी सतह की वर्षा व धूप की तीव्रता से रक्षा करती हैं। वृक्ष की जड़ें मिट्टी बाँधे रखती हैं। वृक्ष के कट जाने से तेज वर्षा व हवा से भू-क्षरण शुरू हो जाता है। भू-क्षरण से न केवल भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट होती है, वरन् नदियों व जलाशयों में पानी बढ़ जाता है और बाढ़ आ जाती है। जलाशयों का जीवन व बाँधों की उपयोगिता समाप्त हो जाती है।” इसी बात को दूसरे शब्दों में जे. एस. कालिन्स ने इस प्रकार कहा है, “वृक्ष पर्वतों को थामे रखते हैं। वे तूफानी वर्षा को दबाते हैं। वे नदियों को अनुशासन में रखते हैं। वे झरनों को बनाये रखते हैं। वे पक्षियों का पोषण करते हैं।” इस प्रकार वनों से परोक्ष लाभ निम्नलिखित हैं :

(1) **मिट्टी के कटाव में कमी**—वनों से मिट्टी का कटाव कम हो जाता है और मिट्टी की ऊपरी सतह की परत नहीं बहती है। इससे मिट्टी के तत्वों में कोई कमी नहीं हो पाती है और भूमि उपजाऊ बनी रहती है जिससे कम खाद से भी अच्छी उपज प्राप्त हो जाती है। (2) **जलवायु को सम करने वाला**—वनों से जलवायु सम हो जाती है इसलिए इसको जलवायु को सम करने वाला कहा जाता है। यह वन गरम व तेज हवाओं को रोकते हैं और उनको आगे नहीं बढ़ने देते हैं। इसी प्रकार ठण्डी वायु को भी यह रोक लेते हैं इससे देश की जलवायु समशीतोष्ण बनाये रखने में सहायता मिलती है। (3) **बाढ़ नियन्त्रण में सहायता**—वनों से बाढ़ नियन्त्रण में भी सहायता मिलती है। वन बाढ़ों के वेग को कम कर देते हैं और बाढ़ के पानी को स्वयं सोख लेते हैं। इसके साथ-साथ बाढ़ का पानी वन-क्षेत्र में फैल जाता है जो बाद में धीरे-धीरे नदियों में आता रहता

है। इससे नदियों को भी वर्षा भर पानी मिलता रहता है। (4) रेगिस्तान के प्रसार पर रोक—वन मरुक्षेत्र या रेगिस्तान के प्रसार को रोकने में बहुत ही सहायक होते हैं। इसलिए एक बार सरदार पटेल ने कहा था कि “यदि रेगिस्तान के बढ़ते हुए प्रसार को रोकना है और मानव सभ्यता की रक्षा करनी है तो वन सम्पदा के क्षय को अवश्य रोकना होगा।” (5) वर्षा में सहायक—वन व जल वर्षा में सहसम्बन्ध है। वन बादलों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं जिससे वर्षा होती है। अतः वनों को वर्षा का संचालक कहा जाता है। बाद में वर्षा के पानी से ही वनों में वृद्धि होती है। (6) पानी के स्तर में वृद्धि—वनों के कारण ही देश के कुओं, तालाबों, नदियों, झरनों, आदि में पानी का स्तर बढ़ जाता है जिससे कुओं, आदि में पानी का स्तर बना रहता है। (7) भूमि की उर्वरा शक्ति में वृद्धि—वनों में पेड़-पौधों से पत्तियाँ गिरती हैं जो भूमि पर पड़े-पड़े गल जाती हैं तथा जो बाद में वर्षा के पानी के साथ बहकर मैदानों में आ जाती हैं। इससे मैदानों की भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ जाती है, क्योंकि यह सड़ी-गली पत्तियाँ खाद का कार्य करती हैं। (8) देश की रक्षा—वन विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा करते हैं, क्योंकि दुश्मन के लिए उस ओर से आक्रमण करना कठिन हो जाता है। हवाई हमले की दशा में भी वन बचाव का कार्य करते हैं। (9) प्राकृतिक सौन्दर्य—वनों से देश के प्राकृतिक सौन्दर्य में वृद्धि होती है जो देशी व विदेशी सैलानियों को आकर्षित करते हैं। (10) मानव जीवन की रक्षा करने वाला—वनों से मानव जीवन की रक्षा होती है। विद्वानों का कहना है कि “यदि वृक्षों की कटान का वर्तमान सिलसिला बना रहा तो शीघ्र ही वातावरण में प्राणवायु (ऑक्सीजन) की कमी हो जायेगी।” यह बात सिद्ध करती है कि वन मानव जीवन की रक्षा के लिए एक अति महत्वपूर्ण तत्व है।

खनिज संसाधन (MINERAL RESOURCES)

प्रत्येक देश के आर्थिक विकास में खनिज संसाधनों का विशेष महत्व है। इसलिए विद्वानों का कहना है कि आधुनिक सभ्यता के विकास का आधार खनिज संसाधन हैं। मानव के पैरों के जूतों की पॉलिश से लेकर उसके बालों के तेल तक में किसी-न-किसी रूप में खनिज संसाधनों का उपयोग किया जाता है। विश्व के उन्नत देशों जैसे अमेरिका, जर्मनी, ब्रिटेन, रूस, आदि की प्रगति का रहस्य उन देशों में खनिज संसाधनों की प्रचुरता है। (1) खनिज संसाधन उद्योगों के लिए आधार प्रदान करते हैं; (2) परिवहन संसाधनों का विकास करते हैं; (3) शक्ति में वृद्धि करते हैं; (4) देश की सुरक्षा में सहयोग देते हैं; (5) जन-उपयोग के लिए अनेक वस्तुओं के निर्माण में सहयोग देते हैं जिससे जनता का जीवन-स्तर ऊँचा उठता है।

आज के युग में किसी भी देश के विकास के लिए लोहा, कोयला एवं पेट्रोलियम परम आवश्यक हैं जो खनिज संसाधन ही हैं। कुछ अन्य खनिज पदार्थों की भी आवश्यकता होती है; जैसे—मैंगनीज, ऐलुमिनियम, ताँबा, सीसा, जस्ता, अभ्रक, पोटाश, आदि। यह उतने महत्व के तो नहीं हैं, लेकिन फिर भी आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। यह भी खनिज से ही मिलते हैं। परमाणु शक्ति के लिए थोरियम व यूरेनियम नामक दो पदार्थों की आवश्यकता होती है जो खनिज संसाधनों के ही अन्तर्गत आते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि देश के आर्थिक विकास में खनिज संसाधनों का महत्वपूर्ण स्थान है।

भारत में खनिज संसाधनों का वितरण स्वरूप

भारत खनिज संसाधनों की दृष्टि से सम्पन्न है। योजना आयोग के मत में, “भारत की ज्ञात खनिज सम्पदा को किसी भी प्रकार से समाप्त न होने वाली (inexhaustible) तो नहीं कहा जा सकता है, लेकिन देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक खनिज पदार्थ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं।” यहाँ विभिन्न प्रकार के खनिज पदार्थ पाये जाते हैं जो देश के आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त हैं। “देश में कुल 3,600 खाने हैं जिनमें से 800 खाने यन्नीकृत हैं जो देश के 85 प्रतिशत मूल्य के खनिजों का उत्पादन करती हैं। शेष खानों से केवल 15 प्रतिशत ही उत्पादन मिलता है।”

भारत में उपलब्ध खनिज पदार्थों को तीन वर्गों में रख सकते हैं—प्रथम वर्ग में उन खनिज पदार्थों को रखते हैं जिनके निर्यात की गुंजाइश है; जैसे, मैंगनीज, कच्चा लोहा, अभ्रक, मैग्नेसाइट, आदि। द्वितीय वर्ग में उन खनिज पदार्थों को रखते हैं जिनमें देश आत्म-निर्भर है या आत्म-निर्भर के लगभग है। इसमें कोयला, जिस्म, लाइमस्टोन, बेरियम, बॉक्साइट, क्रोमाइट, आदि आते हैं। तृतीय वर्ग में उन खनिज पदार्थों को रखते हैं जिनकी

देश में कमी है, अतः उनको आयात करना पड़ता है। इसमें अलौह धातुएँ आती हैं; जैसे—सीसा, ताँबा, जस्ता, राँगा, गन्धक, खनिज तेल, निकल, पारा, आदि।

देश में आधारभूत उद्योगों के विकास के लिए आवश्यक खनिज पर्याप्ति मात्रा में उपलब्ध हैं। यहाँ लोहे के सबसे अधिक भण्डार हैं। मैंगनीज में भारत का तीसरा स्थान है। अभ्रक में भारत का एकाधिकार है। यहाँ ऐलुमिनियम बनाने के लिए बॉक्साइट मिलता है। अणु शक्ति बनाने के लिए मोनोजाइट व बेरिल यहाँ उपलब्ध हैं। यहाँ जिसम पर्याप्ति मात्रा में पाया जाता है जिससे रासायनिक उर्वरक व गन्धक का तेजाब बनाया जा सकता है।

भारत में खनिज पदार्थ सभी स्थानों पर समान रूप से नहीं पाये जाते हैं। खनिजों में झारखण्ड, ओडिशा, मध्य प्रदेश तथा छत्तीसगढ़ व पश्चिम बंगाल धनी प्रदेश हैं जहाँ महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ पाये जाते हैं। इन राज्यों के अतिरिक्त अन्य कम महत्वपूर्ण राज्य आन्ध्र प्रदेश एवं तेलंगाना, कर्नाटक, महाराष्ट्र, राजस्थान, तमिलनाडु व गुजरात हैं। झारखण्ड में कोयला, लोहा, अभ्रक व बॉक्साइट; ओडिशा में लोहा व मैंगनीज; मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ में कोयला, लोहा, चूना-पथर, मैंगनीज व बॉक्साइट; पश्चिम बंगाल में कोयला; आन्ध्र प्रदेश तथा तेलंगाना में अभ्रक व कोयला; कर्नाटक में सोना, लोहा, अभ्रक; महाराष्ट्र में बॉक्साइट व मैंगनीज; राजस्थान में अभ्रक; तमिलनाडु में इलमेनाइट व चूना-पथर; गुजरात में बॉक्साइट व पेट्रोलियम मिलता है। खनिजों की दृष्टि से मुख्य खनिज क्षेत्र निम्न हैं :

क्षेत्र	खनिज पदार्थ
1. राजस्थान-गुजरात	पेट्रोलियम, अभ्रक, मैंगनीज व पत्थर।
2. आन्ध्र प्रदेश-तमिलनाडु	अभ्रक, मैंगनीज, लिंगाइट।
3. कर्नाटक-आन्ध्र प्रदेश एवं तेलंगाना तथा तमिलनाडु	सोना, लोहा, मैंगनीज, क्रोमाइट व ताँबा।
4. मध्य प्रदेश-छत्तीसगढ़-आन्ध्र प्रदेश-तेलंगाना-महाराष्ट्र	कोयला, लोहा, चूना-पथर, मैंगनीज, बॉक्साइट, खनिज तेल।
5. झारखण्ड-ओडिशा-पश्चिम बंगाल	कोयला, लोहा, ताँबा, अभ्रक, बॉक्साइट, मैंगनीज, क्रोमाइट व चूना-पथर।

भारत में योजना काल में खनिजों का विकास

भारत में पिछले 66 वर्षों में खनिज पदार्थों के उत्पादन में काफी वृद्धि हुई है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के वर्ष 1947 में भारत केवल 22 खनिजों का उत्पादन करता था, जबकि आज इन खनिजों की संख्या बढ़कर 89 हो गयी है। योजनाओं के अन्तर्गत खनिजों का विदोहन खूब किया गया है जिसके फलस्वरूप खनिज पदार्थों के उत्पादन में काफी वृद्धि हुई है।

1951 में खनिजों का उत्पादन 82 करोड़ ₹ का हुआ था जो 1971 में 503 करोड़ ₹, 2011-12 में 2,34,899 करोड़ ₹ हो गया है जो अपने आप में एक रिकार्ड है। वर्ष 2012-13 में उत्पादन का अनुमान 2,34,613 करोड़ ₹ का लगाया गया है।

2012-13 में खनिज पदार्थों का जो उत्पादन हुआ है उसमें जलाने वाले खनिजों का हिस्सा 66.9%, धातु खनिजों का 18.5% व अधातु खनिजों का 14.7% है।

खनिज उत्पादन की दृष्टि से महाराष्ट्र सबसे धनी है, जो भारत के कुल खनिज उत्पादन में 21.6 प्रतिशत का हिस्सा रखता है। इसके बाद क्रमशः ओडिशा (11.56%), राजस्थान (9.58), झारखण्ड (8.88%), आन्ध्र प्रदेश तथा तेलंगाना (7.98%), छत्तीसगढ़ (6.91%), गुजरात (5.95%), मध्य प्रदेश (5.27%) तथा असम (4.45%) का स्थान है। यह राज्य मिलकर कुल खनिज उत्पादन का 88 प्रतिशत उत्पादन करते हैं, जबकि अन्य सभी राज्यों का हिस्सा 12 प्रतिशत है।

भारत के प्रमुख खनिज पदार्थ

भारत में विभिन्न प्रकार के व बहुत-से खनिज पदार्थों का उत्पादन होता है, लेकिन हम यहाँ पर कुछ प्रमुख खनिज पदार्थों को ही ले रहे हैं, जिनका विस्तृत अध्ययन करेंगे : (1) लोहा (Iron ore), (2) कोयल (Coal), (3) मैंगनीज (Manganese ore), (4) अभ्रक (Mica), (5) ताँबा (Copper), (6) सोना (Gold), (7) बॉक्साइट (Fayalite), (8) सेलखड़ी (Gypsum), (9) पेट्रोलियम (Petroleum), (10) अन्य (Others)।

(1) लोहा—लोहा एक देश के विकास के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण संसाधन है। इसलिए इसको आधुनिक जीवन का प्राण माना जाता है। लोहे का उपयोग भवन-निर्माण, मशीनरी-निर्माण, बाँध निर्माण, परिवहन साधनों, आदि सभी में किया जाता है।

भारत में हेमेटाइट और मैग्नेटाइट जैसे महत्वपूर्ण लौह अयस्क के भण्डार विद्यमान हैं। लगभग 60 प्रतिशत हेमेटाइट अयस्क के भण्डार पूर्वी क्षेत्र में तथा लगभग 87 प्रतिशत मैग्नेटाइट के भण्डार दक्षिणी क्षेत्र विशेषकर कर्नाटक में हैं। भारत में कुल लौह अयस्क का उत्खनन योग्य भण्डार 2800 करोड़ टन है जिसमें से 1788.2 करोड़ टन हेमेटाइट (Haematite) तथा शेष मैग्नेटाइट (Magnetite) खनिज है। हेमेटाइट खनिज मुख्य रूप से ओडिशा, झारखण्ड, छत्तीसगढ़, कर्नाटक तथा गोवा में पाया जाता है। भारत में उच्च कोटि का लौह अयस्क सीमित मात्रा में है और यह मुख्यतया छत्तीसगढ़ के बैलाडीला क्षेत्र, तथा यह अल्प मात्रा में कर्नाटक के बल्लारी क्षेत्र, झारखण्ड के वैराजैमडा क्षेत्र तथा ओडिशा में पाया जाता है। देश में मैग्नेटाइट भण्डार गोवा, राजस्थान तथा झारखण्ड में है। लौह अयस्क के अन्य भण्डार गोवा, राजस्थान, तमिलनाडु, केरल, असम, झारखण्ड, नागालैण्ड, मेघालय, विहार, महाराष्ट्र तथा ओडिशा में स्थित हैं।

भारत के शीर्ष खनिज उत्पादक राज्य

शीर्ष क्रम	राज्य
1.	ओडिशा
2.	राजस्थान
3.	आन्ध्र प्रदेश
4.	छत्तीसगढ़
5.	झारखण्ड
6.	गुजरात
7.	असम
8.	मध्य प्रदेश
9.	पश्चिम बंगाल
10.	उत्तर प्रदेश
11.	महाराष्ट्र
12.	तमिलनाडु

(2) कोयला—संसाधनों की दृष्टि से भारत में सभी खनिज संसाधनों में कोयले का उच्च स्थान है। कोयला उत्पादन में चीन और अमेरिका के बाद विश्व में भारत का तीसरा स्थान है। वर्तमान शक्ति साधनों में कोयला सबसे अधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय खनिज पदार्थ है जो औद्योगिक क्रान्ति के लिए महत्वपूर्ण शक्ति है और देश की व्यावसायिक ऊर्जा की खपत में इसका योगदान 67 प्रतिशत है। यह घरेलू ईंधन के लिए भी अच्छा है। इससे कई रासायनिक पदार्थ; जैसे तेल, बेंजाल, नेपथा, आदि मिलते हैं। इससे बिजली के बटनों का निर्माण होता है। इससे कोलतार भी बनाया जाता है। इससे डायल भी बनाया जा सकता है जिससे अमोनिया द्रव निकलता है जो खाद बनाने वाले कारखानों के काम आता है।

विश्व के कुल कोयला भण्डार की दृष्टि से भारत में कोयला भण्डार अधिक नहीं हैं। इस समय देश में 306.51 अरब टन कोयले के सुरक्षित भण्डार हैं जिसका 29 प्रतिशत झारखण्ड में, 25 प्रतिशत ओडिशा में, 24 प्रतिशत मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ में व 11 प्रतिशत पश्चिम बंगाल में हैं। इस प्रकार 89 प्रतिशत भण्डार इन पांच राज्यों में स्थित हैं। यह मात्रा 350 से 400 वर्षों तक के लिए पर्याप्त है। यहाँ पर 2 प्रतिशत कोयला अच्छा, 7 प्रतिशत मध्यम व 91 प्रतिशत घटिया किस्म का है।

भारत में कोयला उत्पादन के मुख्य क्षेत्र झारखण्ड, ओडिशा (उड़ीसा), छत्तीसगढ़ व पश्चिम बंगाल हैं। इन राज्यों के अतिरिक्त आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ व ओडिशा (उड़ीसा) व महाराष्ट्र में भी कोयले का उत्पादन होता है। भारत में कोयले का उत्पादन सर्वप्रथम 1774 में रानीगंज (पश्चिम बंगाल) में प्रारम्भ किया गया था। 1950-51 में कोयले का उत्पादन 323 लाख टन, 1970-71 में 763 लाख टन, 2000-01 में 3,096 लाख टन व 2013-14 में 5,658 लाख टन तथा 2014-15 में 6,303 लाख टन हो गया है।

वर्तमान में कोयले का उत्पादन उसकी माँग से कम है। अतः कोयला आयात किया जा रहा है। लेकिन बढ़ती हुई माँग कोयले का अधिक उत्पादन करने के लिए विवश कर रही है। अतः इस बात की आवश्यकता है कि कोयले का उत्पादन बढ़ाया जाए।

(3) मैंगनीज—मैंगनीज एक धातु है जो भूरे रंग की एवं कड़ी होती है तथा कठिनाई से पिघलती है। इसका अधिकतर उपयोग ढलवाँ लोहा एवं इस्पात बनाने में किया जाता है। लेकिन इसके अतिरिक्त, यह ड्राई बैटरी, वार्निश, फर्श के टाइल, मिट्टी के बर्तन व प्लास्टिक बनाने के काम भी आती है। इसकी आवश्यकता रेल के डिब्बे, हवाई जहाज व पानी के जहाज बनाने में भी पड़ती है।

भारत में मैंगनीज के भण्डार 430 मि. टन के हैं, जबकि सम्पूर्ण विश्व में 6,100 लाख टन के। यहाँ की मैंगनीज में शुद्ध धातु 50 प्रतिशत है, जबकि रूस की मैंगनीज में 45 प्रतिशत।

यहाँ मैंगनीज की अधिकांश खाने मध्य प्रदेश (जिसमें झाबुआ, बेलधार, छिंदवाड़ा क्षेत्र प्रमुख हैं), महाराष्ट्र (जिसमें नागपुर, भण्डारा, रत्नागिरि एवं पंचमहल क्षेत्र प्रमुख हैं), ओडिशा (जिसमें गंगपुर क्षेत्र प्रमुख है, लेकिन इसके अतिरिक्त जोदा, तिरंग, चिरदिया बुरु, कटसाई, बलिया साई, बायेबारी व कदरी में भी भण्डार

पाये जाते हैं), आन्ध्र प्रदेश (जिसमें विशाखापटनम व कुरूल प्रमुख हैं), कर्नाटक (जिसमें सन्दूर, बल्लारी, चित्रदुर्ग व शिवमोगा क्षेत्र प्रमुख हैं) में हैं, लेकिन कुछ मैंगनीज के भण्डार झारखण्ड में सिंहभूम में व राजस्थान में बाँसवाड़ा व कुशलगढ़ में भी पाये जाते हैं।

(4) अभ्रक—अभ्रक का उपयोग विजली उद्योग में व्यापक रूप से होता है। इसको रेडियो व वायरलैस का निर्माण करने में, लालटेन में चिमनियों में, चश्मों में, चूल्हों में, वार्निश, प्लास्टिक व रबड़ के उद्योगों में, मोटर व इंजीनियरिंग के कार्यों में काम में लाया जाता है। भारत में होली उत्सव के अवसर पर रंग में चमक लाने के लिए गुलाल में इसको मिलाते हैं।

भारत का अभ्रक के उत्पादन में विश्व में प्रथम स्थान है। विश्व में जितना अभ्रक उत्पादित होता है उसका 60 प्रतिशत उत्पादन भारत में ही होता है। भारत के बाद ब्राजील का दूसरा स्थान है। भारत में अभ्रक मुख्यतः झारखण्ड के हजारीबाग व बिहार के मुंगेर जिलों में, राजस्थान में अजमेर, मारवाड़, उदयपुर व जयपुर जिलों में व आन्ध्र प्रदेश के तेल्लोर व गोदावरी जिलों में पाया जाता है। अभ्रक की कुछ मात्रा केरल, कर्नाटक व ओडिशा (उडीसा) में भी मिलती है।

(5) ताँबा—यह चमकीली गुलाबी रंग की धातु होती है जो देखने में हल्के लाल रंग की तरह दिखायी देती है। इसका सर्वाधिक उपयोग विद्युत् उपकरणों में किया जाता है। विद्युत् के तार इसी धातु से या इसी धातु के मिश्रण से बने होते हैं। मोटर, जेनरेटर, विद्युत् रेल इंजन, तार एवं केबिल, बल्ब का साकेट, रेडियो प्रसारण, टेलीफोन व टेलीग्राम, रेफ्रिजरेटर, आदि सभी में इस धातु की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त, घरेलू बर्तन, घड़ियां, तेल के बर्नर, विस्कोटक गोलियाँ, पिन, आदि में भी इसका प्रयोग किया जाता है। इससे नीला थोथा (Copper sulphate) बनाया जाता है जो तालाबों की सफाई करने, छपाई करने, लकड़ी की सुरक्षा करने एवं वृक्षों में छिड़काव के काम आता है।

भारत में ताँबे के भण्डार 12,290 हजार टन होने का अनुमान है इनमें 1,558.46 हजार टन धातु उपलब्ध है जो मुख्य रूप से राजस्थान (खेतड़ी और सिंधाना के पास), झारखण्ड (सिंहभूम व हजारीबाग जिलों में), मध्य प्रदेश (बालाघाट जिले में) तथा आन्ध्र प्रदेश (अग्नि गुण्ठला जिले) में हैं। इनके अतिरिक्त, पंजाब में काँगड़ा, उत्तराखण्ड में गढ़वाल व अल्मोड़ा, कर्नाटक में चित्रदुर्ग व हसन, तमिलनाडु में नैल्लोर व पश्चिम बंगाल में दार्जिलिंग जिलों में भी ताँबे की खानें हैं।

(6) सोना—सोना एक बहुमूल्य धातु है जिसका उपयोग औषधियाँ बनाने, इलेक्ट्रोलेटिंग, फोटोग्राफी, काँच की चूड़ी को चमकीला करने व आभूषणों के बनाने में किया जाता है। इस समय स्वर्ण अयस्क के कुल भण्डार 493.69 मिलियन टन अनुमानित हैं जिनमें 469.51 टन सोना होगा।

इसकी खानें कर्नाटक राज्य में बेंगलुरु से 64 किलोमीटर पूरब में कोलार व तमिलनाडु में विश्वनाथ रेलवे स्टेशन से 3 किलोमीटर दूर नारायन नगर के पास हैं। इसके अतिरिक्त बिहार राज्य में भी कुन्दूकोचा नामक स्थान पर व आन्ध्र प्रदेश में रामगिरि नामक स्थान पर सोने की खानों का पता लगा है। कर्नाटक की कोलार खानों से कुल उत्पादन का 97 प्रतिशत सोना प्राप्त होता है।

अभी हाल ही में भारतीय वैज्ञानिक सर्वेक्षण संस्थान ने अपने सर्वेक्षण के मध्य आन्ध्र प्रदेश के छिगरगुन्ता-नन्दीमादुगू (Chigargunta-Nandimaudugu) नामक स्थान पर सोने की खान के होने का पता लगाया है जहाँ एक टन कच्चे पदार्थ (ore) से 8.8 ग्राम सोना निकलने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त, इस संस्थान द्वारा कोलार के पास तथा कर्नाटक के तीन जिलों तथा केरल के एक जिले में भी, जहाँ पर भी सोने के मिलने की सम्भावनाएँ हैं, सर्वेक्षण कार्य किया गया है।

भारत में सोने का उत्पादन सरकारी क्षेत्र में होता है। भारत में सोने की माँग उसके उत्पादन से कहीं अधिक है, अतः उसका आयात किया जाता है।

(7) बॉक्साइट—यह एक धातु है जो मिट्टी के रंग की होती है। इसमें धातु की मात्रा 50 से लेकर 55 प्रतिशत तक होती है। यह ऐलुमिनियम बनाने के लिए एक आवश्यक तत्व है। इसके अतिरिक्त, इसको सीमेण्ट बनाने, पथर को काटने व घिसने के काम में लाया जाता है। इसका प्रयोग विद्युतीकरण व आन्तरिक खोज में भी किया जाता है।

भारत में कुल बॉक्साइट भण्डार 348 करोड़ टन के अनुमानित किये गये हैं। बॉक्साइट के प्रतिबंधित भण्डार अनुमानित 59.3 करोड़ टन हैं। बॉक्साइट मुख्य रूप से ओडिशा, आन्ध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़, गुजरात, महाराष्ट्र और झारखण्ड में पाया जाता है। ओडिशा और आन्ध्र प्रदेश के पूर्वी तटों पर बॉक्साइट के विशाल

भण्डार मौजूद हैं। अभी हाल ही में पूर्वी-तट पर उच्च श्रेणी के विशाल बॉक्साइट भण्डार मिले हैं जिससे भारत बॉक्साइट भण्डार के मामले में विश्व में छठवें स्थान पर आ गया है।

(8) **सेलखड़ी**—यह भी एक खनिज पदार्थ है जो भूमि पर तहों के रूप में पाया जाता है। इसका प्रयोग विशेष रूप से सीमेण्ट बनाने में किया जाता है, लेकिन इसके अतिरिक्त यह खनिज कृषि-खाद, खड़िया मिट्टी, सल्फ्यूरिक अम्ल व अमोनियम सल्फेट, आदि के बनाने में भी काम में लिया जाता है।

भारत में इसके 23.8 करोड़ टन के भण्डार पाये जाते हैं जिसमें से सर्वाधिक भण्डार तो अकेले राजस्थान में ही हैं। शेष जम्मू-कश्मीर, तमिलनाडु, गुजरात, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक व उत्तर प्रदेश में हैं। 1951 में इसका उत्पादन 2 लाख टन था जो बढ़कर 1971 में 10.9 लाख टन हो गया जो वर्तमान में 32.5 लाख टन पहुंच गया है। इसके उत्पादन को बढ़ाने की आवश्यकता है जिससे कि सीमेण्ट उत्पादन बढ़ाया जा सके और सीमेण्ट की माँग को पूरा किया जा सके।

(9) **पेट्रोलियम**—आज के युग में पेट्रोलियम या खनिज तेल एक देश के लिए परम आवश्यक है। इससे औद्योगिक विकास में सहायता मिलती है। प्रतिरक्षा होती है। परिवहन साधनों का विकास होता है। बहुत-से उद्योग-धन्धे इसी पर आधारित हैं। यह मोटर, हवाई जहाज, मशीनें, आदि के चलाने के काम आता है।

भारत में पेट्रोलियम के भण्डार 10.36 लाख वर्ग किलोमीटर में बताये जाते हैं। एक दूसरे अनुमान के अनुसार भारत में कुल खनिज तेल भण्डार 13 करोड़ टन के हैं। यह भण्डार असम, गुजरात, नाहरकटिया, खम्भात, अंकलेश्वर, डिंगबोई, सुरमाघाटी, कच्छ की खाड़ी, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, ओडिशा, केरल, बंगाल की खाड़ी, बॉम्बे हाई, आदि में पाये जाते हैं।

भारत में तेल स्रोत सर्वप्रथम 1866 में देखे गये थे। 1950-51 में पेट्रोलियम का उत्पादन 3 लाख टन था जो 1970-71 में 68 लाख टन, 1990-91 में 322 लाख टन व 2014-15 में 375 लाख टन। वर्ष 2015-16 (दिसम्बर 2015 तक) देश में 279 लाख टन कच्चे तेल का उत्पादन हुआ।

पेट्रोलियम पदार्थों का भारत की ऊर्जा माँग से कम ही उत्पादन होता है, अतः इनको आयात करना पड़ता है।

(10) **अन्य**—अन्य खनिज पदार्थों में हम (i) चूने का पत्थर (Lime Stone), (ii) सीसा (Lead), (iii) अणु खनिज (Atomic Minerals) को ले रहे हैं।

(i) **चूने का पत्थर**—इसका प्रयोग मुख्य रूप से सीमेण्ट व लोहा एवं इस्पात उद्योग में होता है। इनके भण्डारों में प्रथम स्थान कर्नाटक का व दूसरा स्थान आन्ध्र प्रदेश का है। इसके अतिरिक्त तमिलनाडु, हिमाचल प्रदेश, उत्तराखण्ड, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ भी इसके मुख्य उत्पादक राज्य हैं। असम, हरियाणा, जम्मू-कश्मीर, केरल और मेघालय में भी चूना पत्थर के कुछ भण्डार हैं।

(ii) **सीसा**—यह चाँदी और जस्ते के साथ मिला हुआ पाया जाता है। इसका मुख्य उत्पादन क्षेत्र राजस्थान है जहाँ यह जयपुर व उदयपुर जिलों में पाया जाता है। मध्य प्रदेश में भी यह दतिया व ग्वालियर जिलों में तथा छत्तीसगढ़ में दुर्ग जिले में पाया जाता है।

(iii) **अणु खनिज**—अणु शक्ति के लिए यूरेनियम, मोनोजाइट, थोरियम व बैरोलियम खनिज पदार्थों की आवश्यकता होती है। भारत में यूरेनियम के भण्डार झारखण्ड राज्य में सिंहभूम जिले में व राजस्थान में बाँसवाड़ा तथा झूंगरपुर जिलों में पाये जाते हैं। मोनोजाइट झारखण्ड, केरल व तमिलनाडु में पाया जाता है। थोरियम केरल, राजस्थान, तमिलनाडु व पूर्वी समुद्रतट के रेत में पाया जाता है। बैरोलियम अभ्रक से निकाला जाता है।

उपर्युक्त वर्णित खनिजों के अतिरिक्त भारत में क्रोमाइट, लिम्नाइट, इल्मेनाइट, चाँदी, जस्ता, हीरा, गन्धक, केल्साइट, आदि भी पाये जाते हैं।

राष्ट्रीय खनिज नीति

आजादी के बाद 1948 में सर्वप्रथम खान एवं खनिज नियमन एवं विकास अधिनियम पारित किया गया और भारतीय भू-वैज्ञानिक सर्वेक्षण संगठन तथा उसके बाद भारतीय खनिज संस्थान की स्थापना की गयी। सबसे पहली खनिज नीति 1952 में प्रस्तुत की गयी। उसके बाद 1990, 1993 तथा 2008 में राष्ट्रीय खनिज नीतियों की घोषणा की गई।

राष्ट्रीय खनिज नीति (1993)

आर्थिक उदारीकरण के दौर में भारत सरकार ने 1990 की घोषित खनिज नीति में अनेक आधारभूत परिवर्तन करते हुए 5 मार्च, 1993 को राष्ट्रीय खनिज नीति की घोषणा की। इस नीति में केन्द्रीय सरकार ने खनिज क्षेत्रों में निजी क्षेत्र की भागीदारी को प्रोत्साहित करने का निश्चय किया। इस संशोधित खनिज नीति की मुख्य विशेषताएं थीं :

(1) **विदेशी कम्पनियों को भारत में काम करने की छूट—संशोधित नीति में खनन कार्यों में कार्य कर रही भारतीय कम्पनियों के लिए विदेशी ईक्विटी सीमा 50% कर दी गयी और दुर्लभ खनिजों की खोज एवं उत्खनन के क्षेत्र में इस विदेशी भागीदारी को अधिक करने का भी प्रावधान रखा गया। इस नीति के अन्तर्गत समुद्र की तलहटी से खनिज निकालने, खनिज उद्योगों के विकास आदि के क्षेत्रों में निजी और विदेशी कम्पनियों को भारत में काम करने की सुविधाएं उपलब्ध कराने का प्रावधान किया गया।**

(2) **निजी क्षेत्र का विस्तार—खनिज नीति में भी केन्द्रीय सरकार ने उदारवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए 13 खनिजों को निजी क्षेत्र के उद्यमियों के लिए पूर्ण प्रतिबन्ध मुक्त कर दिया। ये क्षेत्र हैं—लोहा, गन्धक, क्रोम, स्वर्ण, हीरा, तांबा, सीसा, मैंगनीज, टंगस्टन, निकिल, जस्ता, मोलिब्डेनम एवं स्लैटिनम समूह के खनिज।**

(3) **विदेशी विकसित उत्खनन तकनीक का प्रयोग—देश के छोटे किन्तु उपयोगी खनिज भण्डारों के व्यावसायिक विदोहन की दृष्टि से अब विदेशी उन्नत उत्खनन तकनीक का प्रयोग करते हुए इस क्षेत्र में अनुसंधान व उत्खनन के प्रयास किये जायेंगे। इस विदेशी तकनीक का प्रयोग कम लागत पर अधिक उत्खनन के उद्देश्य पर आधारित होगा।**

राष्ट्रीय खनिज नीति, 2008

योजना आयोग द्वारा गठित होवा समिति की सिफारिशों को स्वीकार करते हुये केन्द्रीय सरकार ने 2008 में एक नयी राष्ट्रीय खनिज नीति को स्वीकृति प्रदान की। इसकी मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :

- (1) खानों से खनिज निकालने के लिए अति आधुनिक तकनीकों का प्रयोग करना,
- (2) खनन क्षेत्र में निवेश के लिए पूँजी बाजार के ढांचे का विकास करना,
- (3) खनन में शून्य बर्बादी,
- (4) खनन क्षेत्र में रियायत देने में पारदर्शिता का पालन,
- (5) स्वतन्त्र खनन प्रशासन,
- (6) जैव-विविधता जैसे विषयों का ध्यान रखने के लिए टिकाऊ विकास की रूपरेखा तैयार करना।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. आर्थिक विकास में प्राकृतिक संसाधनों का महत्व बताइए।
2. भारत के भूमि संसाधन के बारे में बताइए।
3. वनों के महत्व पर प्रकाश डालिए तथा इनके सुधार हेतु सुझाव दीजिए।
4. भारत में वन संसाधन की प्रमुख विशेषताएं क्या हैं? वनों के विकास के लिए सरकार द्वारा क्या कदम उठाए गए हैं?
5. “भारत में विशाल प्राकृतिक संसाधन हैं। आवश्यकता है उनके उचित संरक्षण, विकास एवं उपयोग की।” भूमि, वनों एवं खनिज पदार्थों के सन्दर्भ में इस कथन की विवेचना कीजिए।
6. भारत के प्रमुख खनिज कौन-कौन से हैं उनका संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

विस्तृत जनांकिकी लक्षण

[BROAD DEMOGRAPHIC FEATURES]

(जनसंख्या आकार एवं वृद्धि दरें, लिंग रचना, ग्रामीण-शहरी स्थानान्तरण, जनसंख्या का व्यावसायिक वितरण, जनाधिक्य की समस्या एवं जनसंख्या नीति)

(POPULATION SIZE & GROWTH RATES, SEX COMPOSITION, RURAL-URBAN MIGRATION, OCCUPATIONAL DISTRIBUTION, PROBLEM OF OVER-POPULATION & POPULATION POLICY)

किसी देश के आर्थिक और सामाजिक विकास में वहां की जनसंख्या का बड़ा योगदान होता है, किन्तु यह दुर्भाग्य का विषय है कि भारत की जनसंख्या वरदान बनने की अपेक्षा अभिशाप बन गयी है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि जनसंख्या की समस्या आज देश की सबसे बड़ी आर्थिक और सामाजिक समस्या है।

सन् 1901 में देश की जनसंख्या 23.84 करोड़ थी, जो 2011 में 121.08 करोड़ हो गयी है। 1901 के पश्चात् देश में जनसंख्या वृद्धि को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :

भारत में जनसंख्या वृद्धि की प्रवृत्ति

वर्ष	जनसंख्या (करोड़)	दशक वृद्धि दर (प्रतिशत में)
1901	23.84	
1911	25.21	+ 5.75
1921	25.13	- 0.31
1931	27.90	+ 11.00
1941	31.87	+ 14.22
1951	36.11	+ 13.31
1961	43.92	+ 21.64
1971	54.82	+ 24.80
1981	68.33	+ 24.66
1991	84.64	+ 23.87
2001	102.87	+ 21.54
2011	121.08	+ 17.70

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि पिछले 11 दशकों में देश की जनसंख्या लगभग 5 गुनी से अधिक हो गयी है। यह उल्लेखनीय है कि भारत की जनसंख्या की वार्षिक वृद्धि का अर्थ प्रतिवर्ष ऑस्ट्रेलिया या श्रीलंका की जनसंख्या भारत में जुड़ जाना है।

भारत में जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के कारण

भारतीय जनसंख्या की तीव्र गति से वृद्धि के कारण निम्नलिखित हैं :

(1) ऊंची जन्म-दर—जन्म-दर से अर्थ एक वर्ष में प्रति हजार जनसंख्या के पीछे बच्चों के जन्म से है। वर्तमान में यह दर 21.4 है जो अन्य देशों की तुलना में काफी ऊंची है; जैसे ऑस्ट्रेलिया में यह 15, जर्मनी में 10, ब्रिटेन में 13 व अमरीका में 16 है।

भारत में ऊंची जन्म-दर के कारण हैं—(i) सामाजिक विश्वास, (ii) परिवारिक मान्यता, (iii) बाल विवाह, (iv) विवाह की अनिवार्यता, (v) ईश्वरीय देन, (vi) मनोरंजन के साधनों का अभाव, (vii) निम्न आय व निम्न जीवन-स्तर, (viii) जलवायु, व (ix) ग्रामीण क्षेत्रों में निरोधक सुविधाओं की कमी। इन सभी कारणों का विस्तृत विवरण इसी अध्याय में पिछले पृष्ठों में दिया गया है। इस प्रकार ऊंची जन्म-दर ने जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि की है।

(2) मृत्यु-दर में कमी—मृत्यु-दर से अर्थ एक वर्ष में प्रति हजार जनसंख्या के पीछे मृत्युओं की संख्या से है। पिछले 100 वर्षों में इस दर में महत्वपूर्ण कमी हुई है। 1950-51 में यह दर 27.4 थी जो 1990-91 में 9.8 और वर्तमान में 7.0 रह गयी है। इस कमी के कारण हैं—(i) अकालों व महामारियों में कमी, (ii) चिकित्सा एवं लोक स्वास्थ्य कार्यक्रमों का विस्तार, (iii) स्कूलों की शिक्षा में वृद्धि, (iv) विवाह आयु में वृद्धि, (v) मनोरंजन साधनों का विस्तार, (vi) अन्धविश्वास में कमी, (vii) शहरों की वृद्धि व (viii) जीवन-स्तर में सुधार। इस प्रकार मृत्यु-दर में कमी होने के कारण जनसंख्या में वृद्धि होना स्वाभाविक है।

(3) आयु संरचना—देश की आयु संरचना ने भी जनसंख्या की वृद्धि-दर को बढ़ाया है। हमारी 28.8 प्रतिशत जनसंख्या 0-14 वर्ष के आयु समूह में, 62.6 प्रतिशत जनसंख्या 15-59 वर्ष के आयु समूह में और 8.6 प्रतिशत जनसंख्या 60 और उससे अधिक वर्ष के आयु समूह में है। स्पष्ट है कि युवा जनसंख्या का बहुल्य है, जिससे सन्तानोत्पत्ति अधिक होती है।

(4) अशिक्षा एवं निम्न जीवन-स्तर—जनसंख्या वृद्धि का एक महत्वपूर्ण कारण अधिकांश जनसंख्या का शिक्षित न होना एवं उनका निम्न जीवन-स्तर होना है। अशिक्षित होने के कारण वे सूचिवादी हैं और परिवार कल्याण के महत्व को नहीं मानते हैं, साथ ही बच्चों की वृद्धि उनके निम्न जीवन-स्तर पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डालती है, क्योंकि उनका जीवन-स्तर पहले से ही निम्न है। इसके विपरीत, उनकी यह धारणा कि बच्चा 7-8 वर्ष का होने पर कमाने में सहायक होगा, जनसंख्या वृद्धि में अपना योगदान देती है।

(5) शरणार्थियों का आगमन एवं विदेशों से भारतीयों का निकाला जाना—1947 में भारत का विभाजन होने के कारण करोड़ों लोग शरणार्थी के रूप में भारत आये। 1964 में भी पूर्वी एवं पश्चिमी पाकिस्तान से काफी संख्या में शरणार्थी आये। 1971 में भी करीब एक करोड़ व्यक्ति बांग्लादेश बनने के समय भारत में आये थे और अब श्रीलंका से आ रहे हैं। इस प्रकार इन शरणार्थियों के आने से भी जनसंख्या में वृद्धि हुई है।

पिछले कुछ वर्षों से विदेशों में बसे भारतवासियों को वहां से निकाला जा रहा है और वे लोग भारत में ही आकर बस रहे हैं। इन देशों में श्रीलंका, मलाया, ब्रिटेन, म्यांमार व कीनिया हैं। इस कारण से भी जनसंख्या में मामूली-सी वृद्धि हो रही है।

(6) गरम जलवायु—देश की जनसंख्या में वृद्धि गरम जलवायु के कारण भी है जिस पर भारतीयों का कोई नियन्त्रण नहीं है। भारत की गरम जलवायु लड़के एवं लड़कियों को कम उम्र में भी बच्चे उत्पन्न करने के लिए परिपक्व बना देती है।

(7) अन्य कारण—जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के कारणों में अन्य कारण वे सभी हैं जो जन्म-दर को ऊंचा उठाते हैं जिनका उल्लेख ऊंची जन्म-दर के कारणों के अन्तर्गत किया गया है।

जनाधिक्य की समस्या

जनाधिक्य से अर्थ—क्या भारत में जनाधिक्य है? इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व इस बात की आवश्यकता है कि पहले यह समझ लिया जाय कि जनाधिक्य (Over-population) से अर्थ क्या है? जनाधिक्य के अर्थ को समझने वालों को दो भागों में बांट सकते हैं—माल्थसवादी एवं अनुकूलतम जनसंख्यावादी।

(अ) माल्थसवादी विद्वानों का कहना है कि “किसी देश में उत्पन्न खाद्य सामग्री से जितनी जनसंख्या का भरण-पौष्टि सम्भव है, यदि वास्तविक जनसंख्या उससे अधिक हो जाती है तो ऐसी स्थिति को जनाधिक्य कहते हैं।” इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि यदि किसी देश में खाद्य-सामग्री उस देश की आवश्यकता से कम होती है तो उस देश में जनाधिक्य कह सकते हैं।

(ब) अनुकूलतम जनसंख्यावादी विद्वानों के अनुसार जनाधिक्य को केवल खाद्य-सामग्री के उत्पादन से नहीं आंकना चाहिए, बल्कि देश के समस्त साधनों के विदेहन से आंकना चाहिए। अतः उन विद्वानों का कहना है कि “यदि किसी देश की जनसंख्या इतनी है कि देश के साधनों का अधिकतम विदेहन कर सकती है

जिससे कि राष्ट्रीय उत्पादन व प्रति व्यक्ति आय की मात्रा अधिकतम हो जाए, तो ऐसी जनसंख्या को अनुकूलतम जनसंख्या कहते हैं। यदि उस देश की जनसंख्या इससे अधिक है तो उस देश की जनसंख्या को जनाधिक्य कहा जा सकता है।” इस प्रकार यदि किसी देश की जनसंख्या बढ़ रही है, लेकिन साथ ही राष्ट्रीय उत्पादन एवं प्रति व्यक्ति आय बढ़ रही है तो इसको जनाधिक्य नहीं कहा जा सकता।

भारत में जनाधिक्य है अथवा नहीं, इस प्रश्न पर दो दृष्टिकोण हैं : (I) एक दृष्टिकोण के अनुसार भारत में जनाधिक्य है। ऐसे दृष्टिकोण के रखने वालों को माल्थसवादी विचारक कहा जा सकता है। इसी दृष्टिकोण को निराशावादी दृष्टिकोण भी कहते हैं। (II) दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार भारत में जनाधिक्य नहीं है। यह वे विचारक हैं जो अनुकूलतम सिद्धान्त को मानते हैं। इसी दृष्टिकोण को आशावादी दृष्टिकोण कहते हैं। अब हम इन दोनों दृष्टिकोणों का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

(I) भारत में जनाधिक्य है

इस सम्बन्ध में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं :

(1) खाद्य पदार्थों की तुलना में जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि—वे विद्वान जो यह मानते हैं कि भारत में जनाधिक्य है उनका कहना है कि भारत में खाद्य पदार्थों का उत्पादन उतनी तेजी से नहीं बढ़ रहा है जितनी तेजी से जनसंख्या बढ़ रही है और इसी का परिणाम है कि भारत में खाद्य पदार्थों की कमी बनी रहती है जिसको पूरा करने के लिए खाद्यान्नों का आयात करना पड़ता है। साथ ही यहां 1921 व 2001 के बीच कृषि क्षेत्र का प्रति व्यक्ति क्षेत्रफल 1.11 एकड़ से गिरकर 0.38 एकड़ रह गया है। यह कमी यह सिद्ध करती है कि खाद्य पदार्थों के उत्पादन को बढ़ाने के लिए प्रति व्यक्ति क्षेत्रफल बढ़ाया जाना चाहिए।

(2) प्राकृतिक अवरोध—प्रो. माल्थस व उसके समर्थकों का कहना है कि प्राकृतिक अवरोधों से जनसंख्या में कमी हो जाती है। भारत में इस प्रकार के प्राकृतिक अवरोध सामान्य हैं, जैसे सूखा, अनावृष्टि, बाढ़, महामारी, आदि।

(3) ऊंची जन्म एवं मृत्यु-दरें—भारत में जन्म-दर व मृत्यु-दर दोनों ही अन्य देशों की तुलना में ऊंची हैं जो इस बात का प्रमाण हैं कि यहां पर जनाधिक्य है।

(4) भूमि पर जनसंख्या का बढ़ता हुआ भार—जनाधिक्य की पुष्टि इस बात से भी हो जाती है कि भारत भूमि पर जनसंख्या बढ़ रही है। भारत का क्षेत्रफल विश्व के क्षेत्रफल का 2.4 प्रतिशत है जबकि यहां विश्व की जनसंख्या का लगभग 17 प्रतिशत निवास करता है। इसके परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति भूमि की उपलब्धता भी कम होती जा रही है।

(5) आवश्यक सुविधाओं का अभाव—भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए आवश्यक सुविधाओं का अभाव है। यहां पूर्ण रोजगार सुविधाएं नहीं हैं। बेरोजगारी बढ़ रही है। शिक्षण संस्थाओं का अभाव है। खाद्य-सामग्री पर्याप्ति मात्रा में उत्पन्न नहीं हो पाती है।

(6) निम्न जीवन-स्तर—भारत में अधिकांश जनसंख्या का जीवन-स्तर निम्न है। उनको भरपेट दो बार भोजन भी नहीं मिल पाता है। पहनने के लिए पर्याप्त कपड़े नहीं हैं। एक अनुमान के अनुसार 20 प्रतिशत जनसंख्या को केवल एक समय ही भोजन मिल पाता है व 36 प्रतिशत जनसंख्या को कम पौष्टिक भोजन मिलता है।

(II) भारत में जनाधिक्य नहीं है

इस विचारधारा के मानने वाले निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं :

(1) प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में वृद्धि होना—अनुकूलतम सिद्धान्त के अनुसार यदि किसी देश की प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हो रही है तो देश में जनाधिक्य नहीं कहा जा सकता है। भारत में प्रति व्यक्ति आय बढ़ रही है। चालू मूल्यों के आधार पर 1950-51 में प्रति व्यक्ति आय 255 ₹ थी जो वर्तमान (2014-15) में बढ़कर 88,533 ₹ हो गयी है।¹

(2) प्राकृतिक साधन प्रचुर मात्रा में होना—भारत के पास प्राकृतिक साधन प्रचुर मात्रा में हैं जिनका विदोहन अभी उचित प्रकार से नहीं हो रहा है। उदाहरण के लिए, यहां उपजाऊ भूमि का 30 प्रतिशत, जल साधनों का 10 प्रतिशत, वनों का 25 प्रतिशत भाग ही काम में लाया जा रहा है। अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि भारत में जनाधिक्य है।

¹ Economic Survey, 2014-15, A-4.

(3) जनसंख्या का घनत्व कम होना—भारत में जनसंख्या का घनत्व अन्य देशों की तुलना में काफी कम है। जैसे, भारत में 2011 की जनगणना के अनुसार एक वर्ग किलोमीटर में 382 व्यक्ति रहते हैं जबकि बांग्लादेश में 1,188, जापान में 350, ब्रिटेन में 261। इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता है कि भारत में जनाधिक्य है।

(4) जन्म-दर की वृद्धि अधिक न होना—वे विद्वान् जो जनाधिक्य नहीं मानते हैं उनका कहना है कि भारत की जन्म-दर अधिक नहीं है। गत 400 वर्षों में सम्पूर्ण विश्व की जनसंख्या 5 गुनी बढ़ी है जबकि भारत की केवल 4 गुनी। यदि भारत की जन्म-दर ऊंची है तो मृत्यु-दर भी यहां ऊंची है।

(5) अर्थव्यवस्था का पिछड़ा होना—भारत अभी भी एक अल्प-विकसित देश है। यहां कृषि व्यवसाय की ही प्रधानता है, उद्योगों का उत्पादन पिछड़ा हुआ है, कृषि उत्पादन ही अन्य विकसित देशों की तुलना में काफी पीछे है। यह बातें सिद्ध करती हैं कि यहां पर भविष्य में कृषि एवं उद्योग दोनों ही क्षेत्रों में और अधिक विकास किया जा सकता है। इस प्रकार यहां जनाधिक्य नहीं है।

(6) निराशावादी दृष्टिकोण निराधार होना—भारत में जनाधिक्य नहीं है और यदि अधिक व्यक्ति जन्म लेते हैं तो वे 'दो हाथ लेकर' आते हैं। अतः इनको प्राकृतिक साधनों के विदेहन में लगाया जा सकता है। उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। माल्थस के सिद्धान्त को झूठा सिद्ध किया जा सकता है। वैसे माल्थस के सिद्धान्त को कुछ देशों में झूठा किया भी जा चुका है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि भारत में सापेक्षिक जनाधिक्य है। खाद्यान्त्रों का आयात, भूमिहीन कृषकों की संख्या में वृद्धि, अधिकांश जनसंख्या का निर्धन होना, जनता को पर्याप्त पौष्टिक आहार न मिलना, बेरोजगारी की संख्या में वृद्धि, आदि बातें यह प्रमाणित करती हैं कि भारत में सापेक्षिक जनाधिक्य की स्थिति है।

जनसंख्या वितरण

(POPULATION DISTRIBUTION)

भारत की 2011 की जनगणना के अनुसार जनसंख्या के वितरण की दृष्टि से उत्तर प्रदेश सबसे बड़ा प्रदेश है जिसकी जनसंख्या 19.98 करोड़ है। सिविकम देश का सबसे छोटा राज्य है जिसकी जनसंख्या 6.10 लाख है। केन्द्र शासित प्रदेशों में दिल्ली सबसे बड़ा है जिसकी जनसंख्या 1.68 करोड़ है तथा लक्ष्मीप सबसे छोटा है जिसकी जनसंख्या 64.4 हजार है।

भारत में जनसंख्या नीति

(POPULATION POLICY IN INDIA)

"जनसंख्या नीति से अर्थ उस सरकारी मान्यता से है जिसके अनुसार जनसंख्या के आकार और संरचना को अपनाया जाता है।" प्रो. एम. चन्द्रशेखर के अनुसार, "जनसंख्या नीति सरकार के द्वारा देश की जनसंख्या के आकार तथा संगठन में किसी सरकारी नियम या निर्देश के द्वारा परिवर्तन लाने का जानबूझ कर किया गया प्रयत्न है।" इसी के अनुसार जनसंख्या वृद्धि को प्रोत्साहित या हतोत्साहित किया जाता है। यह नीति सभी देशों की एक-सी नहीं होती है। इसका कारण है प्रत्येक देश के प्राकृतिक साधन एवं औद्योगिक स्तर भिन्न-भिन्न होते हैं। एक देश की जनसंख्या सम्बन्धी नीति में भी सदा एकसापन नहीं रहता है। इसमें समय-समय पर आवश्यकतानुसार परिवर्तन होते रहते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि जनसंख्या नीति में निम्न बातें आती हैं :

(1) आवश्यकतानुसार जनसंख्या में कमी या वृद्धि लाना अपितु जनसंख्या के आकार में परिवर्तन लाना, (2) जनसंख्या नीति के अन्तर्गत नियम या कानून बनाना, (3) ऐसी नीति बनाना जिससे आर्थिक विकास प्रोत्साहित हो सके, अर्थात् जनसंख्या की संरचना में परिवर्तन आ सकें, (4) जन्म-दर व मृत्यु-दरों में कमी लाना या उन दरों में परिवर्तन लाना।

भारत में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त जनसंख्या सम्बन्धी नीति जन्म-दर पर नियन्त्रण रखने की रही है और इसी पर ही बार-बार जोर दिया गया है। 16 अप्रैल, 1976 को कांग्रेस सरकार के तत्कालीन स्वास्थ्य एवं परिवार नियोजन मन्त्री ने नयी जनसंख्या नीति की घोषणा की थी जिसमें अनिवार्य बन्ध्याकरण (यदि राज्य सरकार चाहे तो), विवाह की न्यूनतम आयु में वृद्धि, केन्द्र द्वारा राज्यों को विकास कार्यों के लिए दी जाने वाली राशि का 8 प्रतिशत परिवार नियोजन पर व्यय करने का प्रतिबन्ध लगाना, बन्ध्याकरण के लिए मौद्रिक

सहायता देना, लड़कियों की शिक्षा पर जोर देना, बाल आहार की व्यवस्था करना, परिवार नियोजन कार्यक्रम का व्यापक प्रचार करना, परिवार नियोजन पर व्यय करने वाली संस्थाओं को आयकर में छूट देना तथा संसद में प्रतिनिधित्व 1971 की जनगणना के आधार पर होना, आदि था।

लेकिन 15 फरवरी, 2000 को नवीन जनसंख्या नीति की घोषणा की गई है जिसका उद्देश्य (i) वर्ष 2045 तक जनसंख्या को स्थिर करना; (ii) दो बच्चों के सिद्धान्त को अपनाना; (iii) जनसंख्या नियन्त्रण को बढ़ावा देना और इसके लिए प्रेरित करना (Promotional and motivational measures)। इस नीति की प्रमुख बातें निम्न प्रकार हैं :

(1) लोकसभा में संसद सदस्यों की वर्तमान संख्या 543 को वर्ष 2026 तक न बढ़ाना।

(2) वर्ष 2045 तक देश की आबादी स्थिर करने का लक्ष्य रखा गया है।

(3) वर्ष 2010 तक प्रति दम्पति दो बच्चे के सिद्धान्त को प्रभावी ढंग से क्रियान्वित करना है।

(4) छोटे परिवार के सिद्धान्त का पालन करने के लिए 16 प्रोत्साहन तथा प्रेरक उपायों की घोषणा की गई है। इनमें से प्रमुख हैं—(i) उन पंचायतों व जिला परिषदों को पुरस्कार दिया जाएगा जो छोटे परिवार के सिद्धान्त को बढ़ावा देंगी। (ii) शारदा अधिनियम (Child Marriage Restraint Act) को प्रभावी ढंग से लागू किया जाएगा। (iii) गरीबी रेखा से नीचे रहने वाला दम्पति अगर कानून विवाह योग्य आयु सीमा के बाद शादी करता है तथा सम्बद्ध महिला 21 वर्ष की आयु के बाद पहली बार मां बनती है तो उसको पुरस्कृत किया जाएगा। (iv) वे दम्पति जो गरीबी रेखा के नीचे हैं तथा जिनके दो बच्चे हैं तथा जिन्होंने नसबन्दी करा ली है उनका बीमा (5000 ₹ का) किया जाएगा। (v) गर्भपात सुविधाओं का विस्तार किया जाएगा।

जनसंख्या नीति के क्रियान्वयन पर निगरानी रखने के लिए प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय आयोग बनाया जाएगा जिसमें सभी राज्यों के मुख्यमन्त्री तथा जन स्वास्थ्य विशेषज्ञ व केन्द्रीय स्वास्थ्य तथा परिवार कल्याण मन्त्री इसके सदस्य होंगे।

जनसंख्या नीति का मूल्यांकन

(EVALUATION OF POPULATION POLICY)

भारत में जनसंख्या नीति को अधिक सफलता नहीं मिली है। सरकारी आंकड़े यह बताते हैं कि यहां 44 प्रतिशत पुनरुत्पादन आयु के दम्पति ही इस परिवार कल्याण या नियोजन के कार्य को अपना रहे हैं।

अभी भी कम उम्र के लड़के-लड़कियों की शादियां हो रही हैं, विशेष रूप से गाँवों में। इस प्रकार जनसंख्या नीति का क्रियान्वयन ठीक प्रकार से नहीं हो रहा है। जनसंख्या नीति को प्रभावी बनाने व जनसंख्या समस्या के समाधान के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं :

(1) शिक्षा सुविधाओं का विस्तार—बढ़ती हुई जनसंख्या को रोकने के लिए आवश्यक है कि देश में शिक्षा सुविधाओं का विस्तार किया जाए। यह एक तथ्य है कि शिक्षित परिवार के सदस्यों की संख्या सीमित होती है। अतः जब भारत में शिक्षित व्यक्तियों की संख्या बढ़ेगी तो वे स्वतः ही अपने परिवार को सीमित रखेंगे और इस प्रकार जनसंख्या, समस्या के रूप में नहीं रहेगी।

(2) नियमों का कठोरता से पालन—लड़के एवं लड़कियों के लिए विवाह योग्य आयु आजकल क्रमशः 21 व 18 वर्ष है। इसका कठोरता से पालन किया जाना चाहिए और नियमों का उल्लंघन करने वाले माता-एवं पिता तथा अन्य सम्बन्धियों को उचित सजा दी जानी चाहिए तथा इसका प्रचार किया जाना चाहिए जिससे जनमत इसके पक्ष में बन सके। देर से शादी करने वालों को उचित पुरस्कार भी दिया जाना चाहिए।

(3) परिवार कल्याण कार्यक्रम प्रभावी बनाया जाए—इसके लिए (i) विभिन्न साधनों, जैसे रेडियो, टेलीविजन, फिल्में, मेले व नुमायशें, आदि से प्रचार किया जाना चाहिए कि परिवार कल्याण कार्यक्रम उनके व्यक्तिगत हित में है। (ii) बन्ध्याकरण के लिए चल चिकित्सालयों में वृद्धि की जानी चाहिए जिससे कि ग्रामीण क्षेत्र में गाँवों में घर पर ही यह व्यवस्था हो सके। (iii) बन्ध्याकरण के पश्चात् रोगी की प्रभावी उचित देखभाल (after care) की व्यवस्था भी होनी चाहिए। (iv) गर्भ निरोध में सस्ते साधनों का मुफ्त वितरण उचित मात्रा में किया जाना चाहिए। (v) बन्ध्याकरण के लिए स्थान-स्थान पर उचित डॉक्टरी सुविधा दी जानी चाहिए। (vi) बन्ध्याकरण वाले डॉक्टर व उनके कर्मचारी उचित रूप से प्रशिक्षित होने चाहिए जिससे कि वे मनोवैज्ञानिक ढंग से

बन्ध्याकरण करने वाले को सान्त्वना दे सकें। (vii) किसी भी परिवार कल्याण के लिए दबाव नहीं डाला जाना चाहिए। (viii) परिवार नियोजन अपनाने वालों को अधिक आर्थिक व अन्य सहायता दी जानी चाहिए।

(4) **अधिक गर्भपात सुविधा**—वैसे तो भारत में 1 अप्रैल, 1972 से Medical Termination of Pregnancy Act लागू कर दिया गया है जिसके अन्तर्गत कोई भी स्त्री पंजीकृत डॉक्टर से गर्भपात करा सकती है, लेकिन भारत में इस प्रकार के अस्पतालों व नर्सिंग होमों की कमी है जहाँ गर्भपात कराया जा सकता है। अतः इनमें वृद्धि की जानी चाहिए।

(5) **अधिक कर**—कुछ विद्वानों की राय है कि सरकार को ऐसे परिवारों पर अधिक कर लगाना चाहिए जिनका परिवार एक सीमा से बड़ा है। ऐसा होने से परिवार को सीमित रखने की भावना जाग्रत होगी, लेकिन यह विषय विवादग्रस्त है। कुछ विद्वान् इसको अच्छा नहीं मानते हैं।

(6) **सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों में वृद्धि**—सरकार को सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों में वृद्धि करनी चाहिए जिससे कि लोग वृद्धावस्था या रोगावस्था में सहारा पाने की दृष्टि से सन्तानोत्पत्ति की प्रवृत्ति से हतोत्साहित होकर परिवार कल्याण कार्यक्रम अपना सकें।

(7) **ग्रामीण समन्वय एवं परिवार कल्याण योजनाओं में समन्वय**—ग्रामीण क्षेत्रों में विकास योजनाएँ लागू हैं। इन योजनाओं के साथ परिवार कल्याण योजनाओं को भी जोड़ देना चाहिए और नियम बना देना चाहिए कि उस विकास खण्ड को अधिक आर्थिक सहायता मिलेगी जो परिवार कल्याण में सहयोग देगा।

(8) **कृषि एवं उद्योगों में उत्पादन वृद्धि**—वैसे तो सरकार कृषि एवं अन्य उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए बराबर योगदान दे रही है, लेकिन फिर भी इसकी गति और तेज कर दी जानी चाहिए जिससे कि उत्पादन में वृद्धि हो, जो बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं को पूरा कर सके।

राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग का गठन

(FORMATION OF NATIONAL POPULATION COMMISSION)

राष्ट्रीय जनसंख्या नीति के उद्देश्यों के अनुकरण में योजना एवं कार्यान्वयन में सिविल सोसायटी और प्राइवेट क्षेत्र को शामिल करने के लिए केन्द्र एवं राज्य सरकारों की एजेन्सियों के बीच अन्तर्रक्षेत्रीय समन्वय को बढ़ावा देने के लिए और राष्ट्रीय जनसंख्या नीति, 2000 में निर्धारित लक्ष्यों की सहायता में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की सम्भावना का पता लगाने के लिए प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग मई, 2000 में गठित किया गया। 11 अप्रैल, 2005 को राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग का पुनर्गठन किया गया, जिसके अध्यक्ष प्रधानमन्त्री हैं और इसके 40 सदस्य हैं। स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मन्त्री और योजना आयोग के उपाध्यक्ष इस आयोग के अध्यक्ष हैं। आयोग के विचारार्थ विषय इस प्रकार हैं :

- नीति में निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए राष्ट्रीय जनसंख्या नीति की पुनरीक्षा, मॉनीटरिंग और कार्यान्वयन हेतु निर्देश देना और जनांकिकीय, शैक्षिक, पर्यावरणिक और विकासात्मक कार्यों के बीच तालमेल को बढ़ावा देना ताकि जनसंख्या स्थिरीकरण शीघ्र हो सके।
- केन्द्र एवं राज्य सरकारों की सरकारी एजेन्सियों के बीच योजना और कार्यान्वयन में अन्तर्रक्षेत्रीय समन्वय को बढ़ावा देना।
- इस राष्ट्रीय प्रयास की सहायता हेतु लोगों के जोरदार अभियान का विकास करना।
- देश के जनांकिकीय रूप से कमजोर राज्यों में कार्यानिष्ठाद बेहतर करने के लिए पहल तेज करना।

जनसंख्या का आर्थिक विकास में महत्व

यद्यपि प्राकृतिक साधन आर्थिक विकास के महत्वपूर्ण आधार हैं, लेकिन ये निर्जीव पदार्थ हैं। वास्तव में किसी भी आर्थिक विकास की गति वहाँ के मानवीय संसाधनों की योग्यता और कुशलता पर निर्भर है। हार्बिसन तथा मायर्स ने लिखा है, “आधुनिक राष्ट्रों का निर्माण मनुष्यों के विकास एवं मानवीय क्रियाओं के संगठन पर निर्भर करता है। निःसन्देह पूँजी, प्राकृतिक साधन, विदेशी सहायता और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आर्थिक विकास में अपनी भूमिका निभाते हैं, लेकिन इनमें से कोई भी इतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि मानव शक्ति!” मानवीय संसाधनों के इतने महत्व के कारण बहुत से अर्थशास्त्री यहाँ तक मानते हैं कि आर्थिक विकास की विवेचना का तर्कपूर्ण प्रारम्भ मानवीय संसाधनों के अध्ययन से होना चाहिए।

जनसंख्या के महत्व की चर्चा करते हुए प्रो. ढिपल ने लिखा है, “एक राष्ट्र की वास्तविक सम्पत्ति उसकी भूमि, जल, वनों, खानों, पशु सम्पत्ति या डालरों में निहित न होकर उस राष्ट्र के धनी और प्रसन्न जन-समुदाय (नर, नारी और बच्चों) में निहित होती है।” आर्थर लुइस ने लिखा है, “देश के उपलब्ध साधनों के सन्दर्भ में विकास की गति वहां के लोगों के व्यवहार और मानव संसाधनों पर निर्भर है, प्राकृतिक साधन तो देश के विकास की दिशा निर्धारित करते हैं। उनकी चुनौती को स्वीकार करना या न करना मानव संस्तिष्ठक पर निर्भर है।” अतः स्पष्ट है कि यद्यपि प्राकृतिक साधन आर्थिक विकास के आधार हैं, लेकिन उनके आधार पर आर्थिक विकास के ढांचे का निर्माण उपलब्ध मानवीय साधनों पर निर्भर करना है। रिचार्ड टी. गिल के अनुसार, “आर्थिक विकास एक यन्त्रीकृत प्रक्रिया नहीं होता और न ही यह विभिन्न साधनों को जोड़ने का सामान्य तरीका है। अन्ततोगत्वा यह एक मानवीय उद्यम है और सभी मानवीय उद्यमों की भाँति इसके परिणाम अन्तिम रूप से उन लोगों की योग्यता, गुण तथा दृष्टिकोण पर निर्भर करते हैं, जो इस कार्य को अपने हाथों में लेते हैं।”

मानवीय संसाधन से आशय (CONCEPT OF HUMAN RESOURCES)

मानवीय संसाधन से आशय किसी देश की जनसंख्या और उसकी शिक्षा, कुशलता, दूरदर्शिता तथा उत्पादकता से होता है, अर्थात् किसी देश की मानवीय शक्ति का अनुमान हम केवल वहां की जनसंख्या के आधार पर ही नहीं लगा सकते, इसके लिए जनसंख्या के गुणों पर भी विचार करना होगा। हार्बिसन तथा मायर्स के अनुसार, “मानवीय संसाधन का विकास ज्ञान, कुशलता तथा समाज के व्यक्तियों की कार्यक्षमता में वृद्धि होने वाली एक प्रक्रिया है। आर्थिक अर्थों में यह कहा जा सकता है कि यह मानवीय पूंजी का ऐसा संचय है, जिसको अर्थव्यवस्था के विकास में प्रभावशाली विनियोग के रूप में लाया जा सकता है।”

“जनसंख्या राष्ट्र के लिए सम्पत्ति है और दायित्व भी” (POPULATION IS BOTH AN ASSET AND A LIABILITY FOR THE NATION)

जनसंख्या संसाधन के अध्ययन में इस महत्वपूर्ण तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि यह संसाधन जहां एक ओर किसी राष्ट्र की अत्यन्त बहुमूल्य सम्पत्ति होता है वहां दूसरी ओर कुछ दायित्व भी उत्पन्न करता है। वास्तव में, “किसी भी राष्ट्र की उन्नति मानवीय संसाधन संगठित करने की क्षमता पर निर्भर करती है। निःसन्देह किसी भी देश में जन-शक्ति संसाधन राष्ट्र की भारी पूंजी माने जाते हैं, लेकिन इन संसाधनों का यदि समुचित उपयोग न हो और नये रोजगार के अवसर उपलब्ध न किये जायें, तो ये साधन देश के लिए भारस्वरूप बन जाते हैं। (अतः) राष्ट्रीय विकास के लिए अपनायी गई नीति में जन-शक्ति आयोजन (Man-power Planning) मूल तत्व है।”

जनसंख्या सम्पत्ति के रूप में (Population as an Asset)

निम्नलिखित कारणों से जनसंख्या को राष्ट्र की सम्पत्ति समझा जाता है—

(1) **श्रम-पूर्ति का स्रोत**—किसी भी राष्ट्र में श्रमिकों की पूर्ति का स्रोत वहां की जनसंख्या होती है। यदि किसी देश में जनसंख्या पर्याप्त मात्रा में है, तो वहां की श्रम-पूर्ति भी उचित होगी, जिससे वहां के उपलब्ध साधनों का उचित प्रयोग हो सकेगा तथा कृषि और उद्योगों की प्रगति होगी।

(2) **श्रम-विभाजन के लाभ**—यदि किसी देश में श्रम-पूर्ति पर्याप्त होती है, तो उद्योगों और अन्य उत्पादन कार्यों में श्रम-विभाजन अपनाकर उनके लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं।

(3) **विस्तृत बाजारों की प्राप्ति**—जनसंख्या आर्थिक विकास का केवल साधन ही नहीं वरन् साध्य भी होती है अर्थात् जिस देश में जितनी ही अधिक जनसंख्या होगी वहां उत्पादन के लिए उतना ही विस्तृत बाजार उपलब्ध होगा।

(4) **सैन्य शक्ति का विकास**—प्रत्येक देश की सुरक्षा के लिए पर्याप्त सैन्य शक्ति की आवश्यकता होती है और इस दृष्टि से भी पर्याप्त जनसंख्या एक सम्पत्ति सिद्ध होती है।

जनसंख्या दायित्व के रूप में (Population as a Liability)

निम्नलिखित कारणों से जनसंख्या को दायित्व समझा जाता है—

(1) **खाद्यान् पूर्ति**—भोजन मनुष्य की आधारभूत आवश्यकता है और प्रत्येक नागरिक के लिए, चाहे वह कार्यशील हो अथवा नहीं, खाद्यान् की पूर्ति करनी होती है। यदि किसी देश में जनसंख्या काफी तीव्र गति से बढ़े, तो वहां खाद्यान् की पूर्ति का गम्भीर संकट उत्पन्न हो जाता है।

(2) **आवास व्यवस्था**—जनसंख्या के प्रति दूसरा दायित्व उसके लिए पर्याप्त आवास की व्यवस्था करना होता है। यदि किसी देश में आवास सम्बन्धी कठिनाइयां रहती हैं, तो वहां के निवासियों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना होता है।

(3) **रोजगार दायित्व**—प्रत्येक कार्य योग्य नागरिक को रोजगार प्रदान करना प्रत्येक राष्ट्र का एक महत्वपूर्ण दायित्व है और यदि कोई राष्ट्र इस दायित्व को पूरा नहीं कर पाता तो वहां अनेक सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं।

(4) **शिक्षा सुविधाएं**—जनसंख्या के प्रति एक दायित्व उसके लिए शिक्षा और प्रशिक्षण सम्बन्धी व्यवस्था करना भी होता है।

(5) **स्वास्थ्य सुविधाएं**—लोक कल्याणकारी राज्यों की प्रवृत्ति बढ़ने तथा सामाजिक सुरक्षा कार्यों पर अधिक जोर देने के कारण आज प्रत्येक सरकार का अपनी जनसंख्या के प्रति एक महत्वपूर्ण दायित्व स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाओं की व्यवस्था करना भी है।

(6) **यातायात का विकास**—जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ राज्य का यह उत्तरदायित्व भी बढ़ता जाता है कि देश में यातायात एवं संचार साधनों का पर्याप्त विकास किया जाए।

(7) **सुदृढ़ साधन**—उपर्युक्त सभी दायित्वों को पूरा करने की दृष्टि से जनसंख्या के प्रति एक अन्य दायित्व देश में सुदृढ़ प्रशासन की व्यवस्था करना होता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि प्रत्येक देश की जनसंख्या जहां एक ओर आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण साधन होती है वहां दूसरी ओर, वह राष्ट्र को कुछ उत्तरदायित्व भी सौंपती है। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि जहां तक उत्तरदायित्व का प्रश्न है, यदि ये सीमित मात्रा में हों तो कोई कठिनाई नहीं है, लेकिन जब ये उत्तरदायित्व भयंकर समस्या का रूप धारण कर लेते हैं तो आर्थिक विकास में अनेक कठिनाइयां उपस्थित हो जाती हैं।

जनसंख्या एवं आर्थिक विकास

(POPULATION AND ECONOMIC GROWTH)

जनसंख्या तथा आर्थिक विकास दोनों एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। इसके पारस्परिक विकास का अध्ययन दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है : (I) जनसंख्या का आर्थिक विकास पर प्रभाव, और (II) आर्थिक विकास का जनसंख्या पर प्रभाव।

(I) जनसंख्या का आर्थिक विकास पर प्रभाव (Effect of Population on Economic Growth)

सामान्यतः आर्थिक विकास का मापन प्रति व्यक्ति आय द्वारा किया जाता है। इस सन्दर्भ में आर्थिक विकास पर जनसंख्या के प्रभाव की अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भ में जनसंख्या वृद्धि का आर्थिक विकास पर अच्छा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि जनसंख्या बढ़ने से प्राकृतिक साधनों के उचित विदोहन में सहायता मिलती है। परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है। यह वृद्धि कुछ अवधि तक चलती है। फिर एक बिन्दु ऐसा आता है जहां प्रति व्यक्ति आय अपनी उच्चतम सीमा पर पहुंच जाती है। यदि सीमा के पश्चात् जनसंख्या में वृद्धि होती है, तो आर्थिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है और प्रति व्यक्ति आय गिरने लगती है।

उपर्युक्त सन्दर्भ में कुछ तथ्य महत्वपूर्ण है—**प्रथम**, सैखान्तिक रूप से उपर्युक्त विश्लेषण सही प्रतीत होता है, लेकिन व्यवहार में अर्द्ध-विकसित देशों में जहां पहले से ही जनसंख्या का आधिक्य होता है, यदि समुचित मानव-शक्ति नियोजन (Man-power Planning) क्रियान्वित न किया जाये, तो जनसंख्या की तीव्र दर से वृद्धि विकास में बाधक सिद्ध हो सकती है। **द्वितीय**, आर्थिक विकास पर सबसे अधिक प्रभाव जनसंख्या की इस विशेषता का पड़ता है कि आयु वितरण संरचना (Age Distribution Structure) किस

प्रकार की है अर्थात् किसी देश में कार्यकारी जनसंख्या (Working Population) का अनुपात जितना अधिक होगा, आर्थिक विकास पर उतना ही अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

(II) आर्थिक विकास का जनसंख्या पर प्रभाव (Effect of Economic Growth on Population)

जनसंख्या पर आर्थिक विकास के प्रभाव की 'जनांकिकी संक्रान्ति सिद्धान्त' (Theory of Demographic Transition) द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक देश को जनसंख्या वृद्धि की तीन अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है।

प्रथम अवस्था में देश अल्प-विकसित अथवा अविकसित होता है। इस अवस्था में जहां एक ओर अशिक्षा, छोटी आयु में विवाह इत्यादि के कारण जन्म दर अधिक होती है वहां दूसरी ओर स्वास्थ्य सुविधाओं के अभाव के कारण मृत्यु दर भी अधिक होती है। परिणामस्वरूप जनसंख्या-स्तर में कोई विशेष वृद्धि नहीं होती।

द्वितीय अवस्था में देश विकासशील अर्थव्यवस्था की स्थिति में होता है। इस अवस्था में लोगों का जीवन-स्तर ऊंचा होने तथा स्वास्थ्य सुविधाओं में वृद्धि होने के कारण मृत्यु दर कम होने लगती है, लेकिन धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजों के कारण जन्म-दर में विशेष कमी नहीं होती, अतः द्वितीय अवस्था में जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ती है। इस अवस्था को 'जनसंख्या विस्फोट' (Population Explosion) की अवस्था भी कहा जाता है।

तृतीय अवस्था में देश विकसित अर्थव्यवस्था की स्थिति में आ जाता है। इस अवस्था में शिक्षा का प्रसार होने, सीमित परिवार के महत्व को समझने तथा सामाजिक रीतियों में परिवर्तन आने के कारण जन्म-दर गिरने लगती है, और मृत्यु-दर कम होने की प्रवृत्ति पहले से ही विद्यमान होती है। परिणामस्वरूप इस अवस्था में जनसंख्या में वृद्धि धीमी गति से होती है।

भारत में मानवीय संसाधन (जनसंख्या) की संरचना एवं लक्षण

(COMPOSITION & FEATURES OF POPULATION IN INDIA)

भारत में मानवीय संसाधन अर्थात् जनसंख्या की संरचना एवं मुख्य लक्षणों का अध्ययन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :

जनसंख्या आकार एवं वृद्धि दरें

(POPULATION SIZE AND GROWTH RATES)

जनसंख्या सम्बन्धी आंकड़े इस बात की पुष्टि करते हैं कि भारतीय जनसंख्या का आकार बराबर बढ़ रहा है। भारत की पहली जनगणना 1872 में की गयी थी और उसके अनुसार उस समय भारत की जनसंख्या 25.4 करोड़ थी जो 140 वर्षों में बढ़कर 2011 की जनगणना के अनुसार 121.08 करोड़ हो गई है।

1901 के उपरान्त जनसंख्या की वृद्धि इस प्रकार हुई है : 1901 में 23.8 करोड़, वार्षिक वृद्धि दर शून्य; 1911 में 25.2 करोड़, वार्षिक वृद्धि दर 0.56 प्रतिशत; 1921 में 25.1 करोड़, वार्षिक वृद्धि दर 0.03 प्रतिशत 1931 में 27.9 करोड़, वार्षिक वृद्धि दर 1.04 प्रतिशत; 1941 में 31.9 करोड़, वार्षिक वृद्धि दर 1.33 प्रतिशत; 1951 में 36.1 करोड़, वार्षिक वृद्धि दर 1.25 प्रतिशत; 1961 में 43.9 करोड़, वार्षिक वृद्धि दर 1.96 प्रतिशत; 1971 में 54.8 करोड़, वार्षिक वृद्धि दर 2.2 प्रतिशत; 1981 में 68.3 करोड़, वार्षिक वृद्धि दर 2.2 प्रतिशत; 1991 में 84.64 करोड़, वार्षिक वृद्धि दर 2.14 प्रतिशत; 2001 में 102.87 करोड़, वार्षिक वृद्धि दर 1.95 प्रतिशत; 2011 में 121.08 करोड़, वार्षिक वृद्धि दर 1.64 प्रतिशत।

उपर्युक्त विवरण इस बात को स्पष्ट करता है कि प्रारम्भ में जनसंख्या वृद्धि की दर धीमी थी, लेकिन बाद में इसमें तीव्र गति से वृद्धि हुई है, परन्तु अब इसमें कमी होने लगी है।

1. जनसंख्या घनत्व

(POPULATION DENSITY)

जनसंख्या के घनत्व से अर्थ 'मानव-भूमि अनुपात' (Man-Land Ratio) से है। दूसरे शब्दों में, किसी क्षेत्र में प्रति वर्ग किलोमीटर में निवास करने वाले व्यक्तियों की औसत संख्या को ही जनसंख्या का घनत्व कहते हैं। इस जनसंख्या घनत्व को एक देश की कुल भूमि में कुल जनसंख्या का भाग देकर निकाला जाता है। 2011 की जनगणना के अनुसार भारत में जनसंख्या का घनत्व प्रति वर्ग किलोमीटर 382 व्यक्ति है, जो 1901 की गणना के समय 77 व्यक्ति था। जनसंख्या का घनत्व किसी स्थान या क्षेत्र में अधिक होता है,

तो किसी में कम। इसके कारण भूमि की उर्वरा शक्ति, जलवायु, सिंचाई साधन, व्यापार, राजधानी, परिवहन साधन, उद्योग, प्राकृतिक देन, माल व जीवन की सुरक्षा, आदि हैं।

भारतीय जनसंख्या के घनत्व के सम्बन्ध में मुख्य विशेषताएं निम्न प्रकार हैं :

(1) **जनसंख्या के घनत्व में लगातार वृद्धि**—पिछली जनगणनाओं के आंकड़ों से यह पता चलता है कि भारत में जनसंख्या के घनत्व में बराबर वृद्धि हो रही है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य-भूमि अनुपात बराबर बढ़ रहा है। विभिन्न वर्षों में प्रति वर्ग किलोमीटर में जनसंख्या का घनत्व इस प्रकार रहा है : 1901 में 77, 1911 में 82, 1921 में 81, 1931 में 90, 1941 में 103, 1951 में 117, 1961 में 142, 1971 में 177, 1981 में 216, 1991 में 267, 2001 में 325 तथा 2011 में 382।

(2) **भारत की मध्यम स्थिति**—विश्व के विभिन्न देशों में जनसंख्या घनत्व की दृष्टि से भारत की स्थिति मध्यम है, “जैसे जापान में 350, जर्मनी में 235, ब्रिटेन में 261, चीन में 145, अमरीका में 34, रूस में 9, कनाडा में 4 व ऑस्ट्रेलिया में 3, विश्व औसत 54।”

(3) **राज्यों में जनसंख्या घनत्व में भारी भिन्नता होना**—भारत में विभिन्न राज्यों में जनसंख्या घनत्व में भारी भिन्नता पायी जाती है। 2011 की जनगणना के अनुसार जहाँ अरुणाचल प्रदेश में प्रति वर्ग किलोमीटर 17 व्यक्ति रहते हैं वहाँ NCT दिल्ली में 11,320, चण्डीगढ़ में 9,258, पश्चिम बंगाल में 1,028 व केरल में 860 व्यक्ति रहते हैं। उत्तर प्रदेश में जनसंख्या का घनत्व 829 है।

2. लिंग रचना

(SEX COMPOSITION)

किसी भी देश की जनसंख्या में स्त्री-पुरुष अनुपात या लिंग अनुपात काफी महत्वपूर्ण होता है जो जन्म-दर व मृत्यु-दर को प्रभावित करता है। इससे विवाह दर व बच्चों की संख्या भी प्रभावित होती है तथा प्रतिकूल लिंग अनुपात की स्थिति में (अर्थात् जबकि स्त्रियों की संख्या कम होती है) भिन्न-भिन्न प्रकार की नैतिक एवं सामाजिक बुराइयां भी पैदा हो जाती हैं। साथ ही, चूंकि स्त्रियों की कार्य शक्ति सामान्यतः कम होती है, इसलिए स्त्रियों का अनुपात अधिक होना राष्ट्रीय आय पर कुप्रभाव डाल सकता है।

स्त्री-पुरुष अनुपात की गणना 1,000 के आधार पर की जाती है। इसका अर्थ यह है कि 1,000 पुरुषों के पीछे कितनी स्त्रियां हैं। 2011 की गणना के अनुसार भारत में प्रति 1,000 पुरुषों के पीछे 943 स्त्रियां रह गयी हैं। इस सम्बन्ध में अन्य विशेषताएं निम्न प्रकार हैं :

(1) **स्त्री-पुरुष अनुपात में कमी**—देश की पिछली जनगणनाओं के आंकड़ों से पता लगता है कि देश में स्त्रियों की संख्या में बराबर गिरावट हो रही है। 1901 में प्रति 1,000 व्यक्तियों पर 972 स्त्रियां थीं जिनकी संख्या 1971 में घटकर प्रति 1,000 पुरुषों पर 930, 1991 में 927, 2001 में कुछ बढ़कर 933 और 2011 की जनगणना के अनुसार 943 हो गयी है। इस प्रकार इसमें मामूली वृद्धि हुई है लेकिन पिछले 100 वर्षों से इसमें कमी होती आयी है। इस कमी के कारण (i) पुरुष शिशुओं का अधिक जन्म, बाल्यावस्था में लड़कियों की उचित देखभाल न होना और उनकी मृत्यु हो जाना, (ii) बाल-विवाह होने पर मातृत्व का भार वहन करने के अयोग्य होने के कारण लड़कियों की प्रसूति काल में मृत्यु, आदि हैं।

(2) **विभिन्न राज्यों में विभिन्न स्थिति**—देश में स्त्री-पुरुष अनुपात एकसमान नहीं हैं। दिल्ली में प्रति हजार पुरुषों पर 868 स्त्रियां हैं जबकि केरल में प्रति हजार पुरुषों पर 1,084 स्त्रियां हैं। उत्तर प्रदेश में स्त्री अनुपात प्रति हजार पुरुषों पर 912 है :

(3) **ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में स्त्री-पुरुष अनुपात में अन्तर**—प्रति हजार पुरुषों के पीछे शहरी क्षेत्रों में स्त्रियां कम हैं जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक हैं। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि पुरुष अपनी स्त्रियों को गांव में छोड़कर नौकरी के लिए शहरों में आ जाते हैं।

(4) **विपरीत स्थिति**—यदि हम इस सन्दर्भ में भारत की स्थिति का अन्य देशों की स्थिति से मुकाबला करें तो यह पायेंगे कि भारत की स्थिति ठीक विपरीत है। अमरीका में प्रति हजार पुरुषों पर 1,050 स्त्रियां, रूस में 1,140 स्त्रियां व ब्रिटेन में 1,104 स्त्रियां हैं।

3. आयु संरचना (AGE COMPOSITION)

किसी भी देश की जनसंख्या में आयु संरचना का विशेष महत्व है। इस आयु संरचना से बहुत-सी महत्वपूर्ण बातों की जानकारी मिलती है; जैसे स्कूल जाने वाली जनसंख्या, श्रम करने वाली जनसंख्या, विवाह योग्य जनसंख्या, मतदाताओं की जनसंख्या, आदि।

भारत में 14 वर्ष तक के बच्चों का प्रतिशत 28.8 है। 8.6 प्रतिशत जनसंख्या ऐसी है जिनकी आयु 60 वर्ष या इससे अधिक है। इस प्रकार 37.5 प्रतिशत जनसंख्या बड़े व बच्चों की है तथा शेष 62.6 प्रतिशत की आयु 15 वर्ष से लेकर 59 वर्ष तक की है।"

भारत में 14 वर्ष तक के बच्चों के प्रतिशत की तुलना में अन्य देशों में यह प्रतिशत कम है, जैसे फ्रांस में 18, अमेरिका में 20 व ब्रिटेन में 18 है। इस प्रतिशत को कम करने के लिए जन्म-दर कम करना आवश्यक है। इससे आश्रितों की संख्या में कमी होगी जिससे जीवन-स्तर पर व बचत पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

2011 की जनगणना के अनुसार भारत में 6 वर्ष तक के बच्चों का प्रतिशत 13.6 है जो 2001 में 15.9 था।

4. ग्रामीण-नगरीय जनसंख्या (RURAL-URBAN POPULATION)

ग्रामीण-नगरीय वर्गीकरण के लिए जनगणना 2011 में ग्रामीण क्षेत्र वे माने गए जो राजस्व ग्राम (Revenue Village) में रहते हैं जिसकी सर्वेक्षित सीमाएं हैं। नगरीय क्षेत्र वे माने गए जो निर्धारित मानदण्ड को पूरा करते हैं। इसके लिए निम्नलिखित क्षेत्रों को नगरीय माना गया :

(अ) वे सभी क्षेत्र जहां नगरपालिका, नगर परिषद, नगर निगम, छावनी बोर्ड और अधि सूचित नगरीय क्षेत्र हों।

(ब) ऐसे सभी क्षेत्र जिन पर निम्नलिखित मानदण्ड पूर्णतया लागू होते हों :

- (i) कम से कम 5,000 की जनसंख्या,
- (ii) कार्यशील पुरुष जनसंख्या का कम से कम 75 प्रतिशत गैर-कृषि कार्यों में संलग्न हो।
- (iii) जनसंख्या का घनत्व कम से कम 400 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर हो।

किसी भी देश के नगरीकरण में प्रगति उस देश के विकास की गति को बताती है। अतः नगरीकरण का आर्थिक विकास पर प्रभाव पड़ता है। यही कारण है जिसकी वजह से यह कहा जाता है कि नगरीकरण व आर्थिक विकास का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस देश में नगरीकरण का अनुपात जितना अधिक होगा वह देश उतना ही अधिक विकसित होगा। भारत की 2011 की जनगणना के अनुसार देश की 31.16 प्रतिशत जनसंख्या नगरों में रहती है तथा शेष 68.84 प्रतिशत गांवों में रहती है। गत 90 वर्षों में ग्रामीण व शहरी जनसंख्या का प्रतिशत इस प्रकार है : 1921 में 88.8 व 11.2 प्रतिशत, 1931 में 88.0 व 12 प्रतिशत, 1941 में 86.1 व 13.9 प्रतिशत, 1951 में 82.7 व 17.3 प्रतिशत, 1961 में 82 व 18 प्रतिशत, 1971 में 80.1 व 19.9 प्रतिशत, 1981 में 76.7 व 23.3 प्रतिशत, 1991 में 74.3 व 25.7 प्रतिशत, 2001 में 72.2 व 27.8 प्रतिशत तथा 2011 में 68.8 व 31.2 प्रतिशत।

उपर्युक्त विवरण से यह बात स्पष्ट होती है कि वर्तमान में देश में 10 व्यक्तियों में से तीन व्यक्ति शहर में रहते हैं जबकि 80 वर्ष पूर्व 9 व्यक्तियों में से एक व्यक्ति शहर में रहता था।

2011 की जनगणना के अनुसार, भारत में 6 लाख 40 हजार, 930 गांव व 7,933 शहर हैं।

• नगरों में जनसंख्या के स्थानान्तरण के कारण निम्नलिखित हैं इन्हीं को नगरीकरण को प्रभावित करने वाले तत्व भी कहते हैं :

(1) उद्योगों का विकास—उद्योग ऐसे स्थानों पर स्थापित होते हैं जहां पहले से विद्युत, पानी, सड़कें, रेल व संचार जैसी सुविधाएं उपलब्ध होती हैं। यह सभी सुविधाएं शहरों में या उनके आसपास होती हैं। अतः ग्रामीण उन उद्योगों में रोजगार पाने के लिए शहरों में आने लगते हैं। इससे शहरों में जनसंख्या वृद्धि होने लगती है। (2) गांवों में सुरक्षा की कमी—गांवों में आपसी मनमुटाव या सुरक्षा की कमी होने से डाके की आशंका के फलस्वरूप ग्रामीण गांव से भागकर शहरों में आ जाते हैं और स्थायी रूप से बस जाते हैं। इससे शहरी जनसंख्या में वृद्धि होने लगती है। (3) गांवों में स्वास्थ्य व शिक्षा सुविधाओं का अभाव गांवों में वृद्धि

व शिक्षा जैसी मूलभूत सुविधाओं का अभाव पाया जाता है। अतः सम्पन्न ग्रामीण परिवार अपने बच्चों को उच्च शिक्षा देने व स्वास्थ्य सुविधाओं का लाभ प्राप्त करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों से पलायन कर जाते हैं और शहरों में आकर बस जाते हैं। इससे भी शहरी जनसंख्या बढ़ जाती है। (4) गांवों में रोजगार सुविधाओं का अभाव—ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार सुविधाएं सीमित मात्रा में ही होती हैं अतः ग्रामीण व्यक्ति रोजगार प्राप्त करने के लिए शहरी क्षेत्रों में आ जाते हैं। इससे भी शहरों में जनसंख्या बढ़ जाती है। (5) जर्मांदारी प्रथा की समाप्ति—स्वतंत्रता के पश्चात् देश में जर्मांदारी समाप्त करने की प्रथा चलने के कारण जर्मांदारों ने गांवों को छोड़कर शहरों में बसना प्रारम्भ कर दिया। इससे भी शहरी जनसंख्या की वृद्धि हुई है। (6) शहरों का आकर्षण—शहरों में मनोरंजन सुविधाएं होने तथा ग्रामीण युवकों का शहरों की ओर आकर्षण भी शहरों में जनसंख्या वृद्धि का कारण है। कोई भी ग्रामीण युवक जो थोड़ा सा भी पढ़ा-लिखा है गांव में नहीं रहना चाहता है। (7) देश विभाजन व भारतीय मूल के विदेशी नागरिकों का आगमन—1947 में देश का विभाजन हुआ जिससे लाखों हिन्दू पाकिस्तान से आये और वे रोजगार की तलाश में शहरों में ही बस गये। इससे भी शहरी जनसंख्या की वृद्धि हुई। कई बार भारतीय मूल के निवासियों को विदेशी सरकारों ने अपने देश से निकाला। वे भी भारत में आकर शहरों में ही बस गये। इससे भी जनसंख्या का शहरों में विकास हुआ।

भारत में नगरों में रहने वाली जनसंख्या का प्रतिशत बढ़ा है जो वर्तमान में 31.2 है जबकि रूस में 77 प्रतिशत, अमरीका में 77 प्रतिशत, जापान में 79 प्रतिशत, कनाडा में 77 प्रतिशत, ऑस्ट्रेलिया में 86 प्रतिशत व ब्रिटेन में 89 प्रतिशत व्यक्ति शहरों में रहते हैं।

भारत की 2011 की जनगणना के अनुसार देश की 121.08 करोड़ की जनसंख्या में 83.37 करोड़ ग्रामीण क्षेत्रों में और 37.71 करोड़ शहरी क्षेत्रों में निवास करती है।

भारत में कुल 6,40,930 गांव हैं। सर्वाधिक गांव 1,06,704 उत्तर प्रदेश में हैं। मध्य प्रदेश में 54,903 और बिहार में 44,874 गांव हैं। सबसे कम गांव 112 दिल्ली में हैं। इसके अतिरिक्त हरियाणा में 6,841, महाराष्ट्र में 43,663, राजस्थान में 44,672, आन्ध्र प्रदेश में 27,800, कर्नाटक में 29,340 व गुजरात में 18,539 गांव हैं।

सन् 2001 की जनगणना की तुलना में 2011 में देश में शहरों एवं गांवों की तुलनात्मक स्थिति निम्न प्रकार थी :

विवरण	2001	2011
1. जिलों की संख्या	593	640
2. उप-जिलों की संख्या	5,463	5,924
3. कस्बों की संख्या	5,161	7,933
4. वैधानिक कस्बों की संख्या	3,799	4,041
5. जनगणना कस्बों की संख्या	1,362	3,892
6. गांवों की संख्या	6,38,588	6,40,930

नगरीकरण की समस्याएं

अथवा

नगरीकरण का प्रभाव

नगरीकरण की गति बढ़ने के कारण देश में अनेक समस्याएं पैदा हो गयी हैं जिसमें निम्न प्रमुख हैं। इन्हीं को नगरीकरण का प्रभाव भी कहते हैं।

(1) मकानों की समस्या—नगरीकरण तेज गति से होने के कारण शहरों में मकानों की समस्या पैदा हो गयी है जिसके कारण लाखों व्यक्ति सड़कों के किनारे रह रहे हैं। इसका कारण मकानों का उस गति से न बनना है जिस गति से नगरों में जनसंख्या बढ़ रही है। इससे नगरों में मकानों का किराया कई गुना बढ़ गया है।

(2) स्वास्थ्य सेवाएं—नगरों में जनसंख्या के तेजी से बढ़ने के कारण दूसरी समस्या स्वास्थ्य सेवाओं की पैदा हो गयी है। यद्यपि शहरों में अस्पताल हैं लेकिन जनसंख्या को देखते हुए वहां पर डॉक्टरों की संख्या व अन्य सुविधाएं रुम ही हैं।

(3) **शिक्षा**—तीसरी समस्या शिक्षा की है। शहरों में शिक्षा सुविधा मांगने वालों की संख्या बराबर बढ़ रही है, लेकिन स्कूल व कॉलेजों की संख्या सीमित है तथा वहां प्रवेश के स्थान भी सीमित हैं। इससे यहां अनेक युवक प्रवेश पाने से वंचित रह जाते हैं।

(4) **बेरोजगारी**—शहरों की चौथी समस्या बेरोजगारी की है। यहां बेरोजगारी भी तेज गति से बढ़ रही है। वर्ष 2010 के अन्त में शहरों के रोजगार कार्यालयों में 3 करोड़ 88 लाख से अधिक व्यक्तियों के नाम रोजगार चाहने वालों के रूप में पंजीकृत थे।

(5) **गन्दी बस्तियां**—जनसंख्या के बढ़ने से शहरों में स्थान-स्थान पर गन्दी बस्तियां बन गयी हैं जहां न तो पीने के पानी की सुविधा है और न सड़क व सफाई, आदि की। साथ ही गन्दी बस्तियां विभिन्न प्रकार के अपराध करने के स्थान बन गये हैं जिससे पुलिस प्रशासन का कार्य कठिन हो गया है।

(6) **शान्ति व्यवस्था**—नगरों में शान्ति बनाये रखना एक समस्या बन गयी है। कभी कारखानों में हड़ताल होती है तो कभी राजनीतिक दलों की रैलियां या जेल भरो आन्दोलन या धरना, तो कभी मालिकों द्वारा तालेबन्दी। इन सबसे शहरों की शान्ति भंग हो जाती है और अव्यवस्था फैल जाती है।

5. साक्षरता अनुपात

(LITERACY RATIO)

जिस देश में साक्षरता अनुपात जितना अधिक होगा उतना ही उस देश के विकास में सुविधा मिलेगी। चेस्टर बोल्स के अनुसार, “प्राकृतिक शक्तियों के नियन्त्रण और संरूपण तथा एक व्यवस्थित, प्रावैगिक और न्याय पर आधारित समाज के निर्माण में जो विभिन्न उपकरण सहायक होते हैं, उनमें शिक्षा सबसे शक्तिशाली उपकरण है।” इस दृष्टिकोण से हमारे देश में स्थिति सन्तोषजनक नहीं है, यद्यपि यहां साक्षरता के प्रतिशत में बराबर वृद्धि हो रही है। 1951 की जनगणना के अनुसार भारत में साक्षरता का प्रतिशत 18.33 था जो 1961 में बढ़कर 28.30, 1971 में 34.45, 1981 में 43.57, 1991 में 52.21, 2001 में 64.8 और 2011 में 73.0 हो गया। इस प्रकार पिछले 60 वर्षों में साक्षरता-दर में चार गुने की वृद्धि हुई है। साक्षरता के अनुपात के सम्बन्ध में अन्य विशेषताएं निम्न प्रकार हैं :

(1) स्त्रियों की साक्षरता-दर पुरुषों की साक्षरता-दर से कम—स्त्रियों की साक्षरता-दर पुरुषों की तुलना में कम है। 2011 की जनगणना के अनुसार स्त्रियों की साक्षरता प्रतिशत 64.6 प्रतिशत जबकि पुरुषों की 80.9 प्रतिशत है।

(2) **ग्रामीण क्षेत्रों व शहरी क्षेत्रों की साक्षरता-दर में अन्तर**—ग्रामीण क्षेत्रों में साक्षरता शहरी क्षेत्रों की तुलना में कम है।

(3) **विभिन्न राज्यों की साक्षरता प्रतिशत में अन्तर**—देश के भिन्न-भिन्न राज्यों में साक्षरता का प्रतिशत एक-सा नहीं है। 2011 की जनगणना के अनुसार भारत में केरल राज्य ऐसा राज्य है जहां साक्षरता का प्रतिशत 92.1 है जो सबसे ऊंचा है। भारत में सबसे कम साक्षरता बिहार में है जिसका साक्षरता प्रतिशत 61.8 है। शेष सभी राज्यों का साक्षरता प्रतिशत इन दोनों सीमाओं के बीच है। उत्तर प्रदेश में साक्षरता दर 67.7% है, जो पुरुषों में 73.3% तथा महिलाओं में 57.2% हैं।

6. प्रत्याशित आयु

(LIFE EXPECTANCY)

प्रत्याशित आयु से अर्थ जीवित रहने की आयु से है जिसे देश के निवासी जन्म के समय आशा कर सकते हैं। इसी बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि एक देश में एक बच्चा जब जन्म लेता है तो उसके कितने वर्ष तक जीवित रहने की आशा की जाती है? इस जीवित रहने की आशा को ही प्रत्याशित आयु या औसत आयु कहते हैं। यदि मृत्यु-दर ऊंची होती है या मृत्यु कम आयु पर हो जाती है तो प्रत्याशित आयु कम होती है। इसके विपरीत, यदि मृत्यु-दर नीची होती है तो व्यक्तियों की आयु अधिक होती है और इस प्रकार प्रत्याशित आयु भी अधिक होती है।

लगभग 100 वर्ष पूर्व भारत में प्रत्याशित आयु 24 वर्ष थी लेकिन इसमें धीरे-धीरे वृद्धि हो गयी है। गत वर्षों की प्रत्याशित आयु इस प्रकार रही : 1911 में 24 वर्ष, 1951 में 32.1 वर्ष, 1971 में 46.4 वर्ष व 1991 में 58.7 वर्ष तथा वर्तमान (2008-12) में 67 वर्ष।

भारत में प्रत्याशित आयु बढ़ी है जो 100 वर्षों में ढाई गुने से भी अधिक हो गयी है। इसके बढ़ने के कारण सामान्य मृत्यु-दर व बाल मृत्यु-दर में तेजी से कमी होना है जो शिक्षा, चिकित्सा सुविधाओं, रहन-सहन स्तर में वृद्धि, आदि का परिणाम है, लेकिन फिर भी भारत की प्रत्याशित आयु अन्य देशों की तुलना में काफी कम है, जैसे प्रत्याशित आयु जापान में 83.6, स्विट्जरलैण्ड में 82.6 व कनाडा में 81.5, अमरीका में 78.9, ब्रिटेन में 80.5 एवं चीन में 75.3 वर्ष है।¹

7. जन्म-दर व मृत्यु-दर (BIRTH RATE AND DEATH RATE)

जन्म-दर (Birth Rate)—जन्म-दर से अर्थ एक वर्ष में प्रति हजार जनसंख्या के पीछे बच्चों के जन्म से है, भारत में जन्म-दर में बराबर कमी होती रहती है। 1910-11 के मध्य यह दर 49.2 प्रति हजार थी जो 1961-71 के मध्य कम होकर 41.7 प्रति हजार हो गयी, लेकिन विभिन्न परिवार नियोजन कार्यक्रमों के अपनाने से इसमें और कमी हुई है अतः यह 1990-91 के मध्य 29.5 प्रति हजार रही है जबकि वर्तमान वर्ष 2012 में यह 21.4 प्रति हजार है। यह अन्य देशों की तुलना में काफी ऊंची है। औसत जन्म-दर ऑस्ट्रेलिया में 15 प्रति हजार, जर्मनी में 10 प्रति हजार, ब्रिटेन में 13 प्रति हजार, अमरीका में 16 प्रति हजार, कनाडा में 15 प्रति हजार व फ्रांस में 13 प्रति हजार है।

भारत में ऊंची जन्म-दर के कारण (Reasons of High Birth Rate in India)

(1) **सामाजिक विश्वास**—भारतीय समाज में विशेष रूप से हिन्दुओं में यह धारणा है कि पुत्र अवश्य होना चाहिए। अतः कई लड़कियों के जन्म के बाद भी सन्तान उत्पत्ति करते हैं। साथ ही जिस गृहिणी के कोई सन्तान नहीं होती है उसको समाज में अच्छा स्थान नहीं मिलता है। (2) **पारिवारिक मान्यता**—भारत में बड़ा परिवार सामाजिक सुरक्षा व समृद्धि का घोतक माना जाता है और समाज में ऐसे व्यक्ति को अच्छा स्थान मिलता है। (3) **बाल विवाह**—भारत में कम उम्र में ही शादी या विवाह कर दिया जाता है। इससे छोटी उम्र में ही बच्चे पैदा होना आरम्भ हो जाता है और मां की बच्चे उत्पन्न करने की अवधि लम्बी हो जाती है। (4) **विवाह की अनिवार्यता**—भारत में विवाह करना एक अनिवार्यता मानी जाती है और माता-पिता इस कार्य को करना अपना सामाजिक उत्तरदायित्व मानते हैं। यहां विवाह एक धार्मिक क्रिया भी माना जाता है। (5) **ईश्वरीय देन**—भारत में सन्तान एक ईश्वरीय देन मानी जाती है और इसकी प्राप्ति को अपने भाग्य की देन मानते हैं। अतः अधिकांश जनसंख्या का सन्तान निरोधक उपायों पर विश्वास नहीं है। (6) **मनोरंजन साधनों का अभाव**—अधिकांश जनसंख्या गांवों में रहती है जहां मनोरंजन के साधन नहीं होते हैं अतः लोग यौन सम्पर्क को ही मनोरंजन मानते हैं, इससे जनसंख्या में वृद्धि होती है। (7) **निम्न आय व निम्न जीवन-स्तर**—भारत में प्रति व्यक्ति आय अन्य देशों की तुलना में काफी कम है। इसी कारण यहां जीवन-स्तर भी निम्न है। अधिक सन्तान होने से आय वृद्धि होती है व जीवन-स्तर सुधरता है क्योंकि भारत में 7-8 वर्ष का बच्चा भी अपने पिता के काम में हाथ बंटाने लगता है। (8) **जलवायु (Climate)**—भारतीय जलवायु गरम है जिसके कारण भारतीय स्त्रियों की प्रजनन शक्ति अधिक है। (9) **ग्रामीण क्षेत्रों में निरोधक सुविधाओं की कमी**—ग्रामीण क्षेत्रों में गर्भ धारण को रोकने के लिए आवश्यक चिकित्सा व अन्य सुविधाओं का अभाव है।

मृत्यु-दर (Death Rate)—मृत्यु-दर से अर्थ एक वर्ष में प्रति हजार जनसंख्या के पीछे मृत्युओं की संख्या से है। इस दर में काफी कमी हुई है। 1911-20 के मध्य यह दर 47.7 थी जो 1950-51 के बीच 27.4 व 1990-91 के बीच 12.5 रह गयी तथा जो वर्तमान (वर्ष 2012) में 7.0 है। यह भी अन्य देशों की तुलना में ऊंची है।

मृत्यु-दर की कमी के कारण (Reasons of Reduction in Death Rate)—भारत में मृत्यु-दर में कमी के कई कारण हैं, लेकिन इनमें प्रमुख हैं : (1) अकालों व महामारियों में कमी, (2) चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सुधार कार्यक्रमों का विस्तार, (3) स्त्रियों की शिक्षा में वृद्धि, (4) विवाह आयु में वृद्धि, (5) मनोरंजन साधनों का विस्तार, (6) अन्धविश्वास में कमी, (7) शहरीकरण, (8) जीवन-स्तर में वृद्धि।

¹ Human Development Report, 2014.

8. जनसंख्या का व्यावसायिक वितरण

(OCCUPATIONAL DISTRIBUTION OF POPULATION)

जनसंख्या के व्यावसायिक वितरण से अर्थ कुल जनसंख्या के उस अनुपात से है जिसमें जनसंख्या विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में लगी है। दूसरे शब्दों में, कुल जनसंख्या विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में किस अनुपात में लगी है इसी को जनसंख्या का व्यावसायिक वितरण कहते हैं।

कुल जनसंख्या में कार्यशील जनसंख्या का अनुपात भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न है तथा एक ही देश में अलग-अलग समयों पर अलग-अलग है। इसके प्रमुख कारण हैं—प्रत्याशित आयु, रोजगार अवसरों की उपलब्धि, कार्य के प्रति जनता का दृष्टिकोण, आदि। भारत की कार्यशील जनसंख्या वर्तमान में 39.8 प्रतिशत है। यह प्रतिशत पिछले दशकों में घटता-बढ़ता रहा है। वर्ष 2001 में कार्यशील जनसंख्या 39.2 प्रतिशत थी जबकि 1931 में 42.4 प्रतिशत, 1961 में 43 प्रतिशत तथा 1991 में 46.6 प्रतिशत।

यदि हम अन्य देशों से भारत की कार्यशील जनसंख्या की तुलना करते हैं तो पाते हैं कि हमारा प्रतिशत जो 39.8 है, वह बहुत ही कम है; जैसे जर्मनी की 73 प्रतिशत, जापान की 50 प्रतिशत, इंग्लैण्ड की 45 प्रतिशत तथा फ्रांस की 43 प्रतिशत जनसंख्या कार्यशील है।

भारत में कुल श्रमिकों का 54.6 प्रतिशत कृषि व उससे सम्बन्धित व्यवसाय में, शेष खनन व निर्माणी उद्योग तथा सेवाओं (जैसे—परिवहन, संचार, व्यापार, वाणिज्य व अन्य सेवाएं, आदि) में लगा हुआ है।

भारत की जनगणना 2011 के अनुसार देश में 24.6% काश्तकार, 30.0% खेतिहार मजदूर, 3.8% पारिवारिक उद्योग कर्मी तथा 41.6% अन्य कर्मी हैं।

व्यावसायिक वितरण एवं आर्थिक विकास—यदि किसी देश की कुल जनसंख्या का एक बहुत बड़ा प्रतिशत कृषि पर निर्भर रहता है तो वह देश आर्थिक विकास की निम्न अवस्था में माना जाता है। इसके विपरीत, यदि किसी देश में कृषि पर बहुत कम प्रतिशत निर्भर करता है तो वह देश विकसित माना जाता है। इसी प्रकार यदि कोई देश विकास की ओर अग्रसर होता है तो उसकी जनसंख्या का कृषि व अन्य प्राथमिक व्यवसायों पर प्रतिशत कम होता जाता है।

आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में कार्यशील जनसंख्या का सर्वाधिक अनुपात प्राथमिक क्षेत्र में संलग्न होने के कई कारण हैं, जैसे—(i) अविकसित या अल्प-विकसित देशों में खाद्य सामग्री का उत्पादन कम होना—इसलिए यहां अधिकांश जनसंख्या न्यूनतम भोजन आवश्यकता को ही पूरा करने हेतु कृषि कार्य में संलग्न रहने के लिए विवश होती है। (ii) आवश्यक आयातों के भुगतान के लिए कच्चे पदार्थों का निर्यात किया जाना—अनेक अल्प-विकसित देशों को अपने आयातों का भुगतान करने के लिए कृषि उपज व खनिज पदार्थों का निर्यात करना पड़ता है। इस कारण से भी वहां जनसंख्या का अधिकतर भाग प्राथमिक क्षेत्रों में ही लगा रहता है। (iii) गैर-कृषि क्षेत्रों में रोजगार की कमी होना—यह भी एक तथ्य है कि गैर-कृषि क्षेत्रों में रोजगार सुविधाओं का अभाव ही रहता है।

किन्तु आर्थिक विकास के साथ-साथ दशाएं बदलने लगती हैं। प्राथमिक क्षेत्र में उत्पादन बढ़ने लगता है। श्रमिक निर्माण उद्योगों की ओर जाने लगते हैं क्योंकि विकास के साथ-साथ उनकी आय बढ़ती है। इससे उद्योग-निर्मित वस्तुओं के लिए मांग भी तेजी से बढ़ती है, जिससे उद्योगों का विस्तार होकर वहां रोजगार के अवसर बढ़ जाते हैं। निर्माण क्षेत्र की उन्नति के साथ-साथ बैंकिंग, बीमा, परिवहन, आदि क्षेत्रों का भी तेजी से विकास होने लगता है, फलस्वरूप इस क्षेत्र में संलग्न कार्यशील जनसंख्या का अनुपात बढ़ने लगता है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि भारत में कृषि क्षेत्र से श्रमिकों को हटाकर उद्योगों व सेवाओं में लगाया जाना चाहिए क्योंकि कृषि में लगभग एक-चौथाई व्यक्ति फालतू हैं जो कृषि उत्पादन में कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं देते हैं। ऐसा होने से प्रति व्यक्ति आय बढ़ेगी, राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी, उत्पादन बढ़ेगा, जीवन-स्तर में वृद्धि होगी, देश में गरीबी व वेरोजगारी कम होगी।

भारत में जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है और अनुमान है कि लगभग 60 लाख व्यक्ति प्रति वर्ष श्रम-बाजार में प्रवेश करते हैं। देश की प्रत्याशित आयु बराबर बढ़ रही है। इन सबसे रोजगार चाहने वालों की संख्या में वृद्धि हो रही है। अतः उद्योगों व सेवाओं के क्षेत्र में विस्तार किया जाना चाहिए। इससे कृषि क्षेत्र में श्रमिकों का अनुपात धीरे-धीरे कम हो जायेगा।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. “तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या आर्थिक विकास की प्रथम शत्रु है।” इस कथन पर टिप्पणी कीजिए।
2. भारत में जनसंख्या वृद्धि के क्या कारण हैं? इसको कैसे नियंत्रित किया जा सकता है?
3. जनसंख्या नीति की व्याख्या कीजिए तथा जनसंख्या नीति का मूल्यांकन कीजिए।
4. 2011 की जनगणना के आधार पर भारत की जनसंख्या की प्रमुख विशेषतायें बताइए।
5. “जनसंख्या राष्ट्र के लिए सम्पत्ति भी है और दायित्व भी।” इस कथन की विवेचना कीजिए।
6. मानवीय संसाधन से क्या आशय है? मानवीय संसाधन एवं आर्थिक विकास के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए।



GradeSetter

आधारभूत रचना का विकास

[INFRASTRUCTURE DEVELOPMENT]

(शक्ति, परिवहन, संचार, बैंकें, बीमा व वित्त)

(POWER, TRANSPORT, COMMUNICATION, BANKS,
INSURANCE AND FINANCE)

आधारभूत रचना से अर्थ—देश की प्रगति कृषि एवं उद्योग के विकास पर निर्भर है। कृषि उत्पादन के लिए ऊर्जा, वित्त, परिवहन आदि साधनों की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार उद्योगों में उत्पादन के लिए मशीनरी, प्रबन्ध, ऊर्जा, बैंक, बीमा, परिवहन आदि साधनों की आवश्यकता होती है। यह सभी सुविधाएं व सेवाएं सम्प्लिट रूप से आधारभूत रचना (Infrastructures) कहलाती हैं। बिना इन सेवाओं के विकास एवं विस्तार के औद्योगिक उत्पादन नहीं बढ़ सकता है। यह इसके लिए एक पूर्व शर्त (Pre-condition) है। सामान्यतया आधारभूत रचना में निम्न बातें आती हैं :

- I. ऊर्जा या शक्ति (Power)—इसमें विजली, कोयला, तेल एवं गैर परम्परागत स्रोत शामिल हैं।
- II. परिवहन (Transport)—इसमें सड़क, रेल, जल और वायु परिवहन शामिल हैं।
- III. संचार (Communication)—इसमें डाक, तार, टेलीफोन, आदि सेवाएं शामिल की जाती हैं।
- IV. बैंक, बीमा व वित्त (Banking, Insurance and Finance)।

स्वतन्त्रता के पश्चात् आधारभूत रचना का विकास (GROWTH OF INFRASTRUCTURE SINCE INDEPENDENCE)

भारत के राजनेता इस बात को भली-भांति जानते थे कि बिना आधारभूत रचना के विकास के देश का विकास नहीं हो सकता है। इसीलिए उन्होंने आर्थिक नियोजन की प्रक्रिया प्रारम्भ की जिसमें आधारभूत रचना के विकास पर जोर दिया गया। अब तक 11 पंचवर्षीय योजनाएं, तीन वार्षिक योजनाएं, तीन वर्ष का अन्तरकाल का नियोजन तथा बारहवीं पंचवर्षीय योजना के तीन वर्ष पूरे हो चुके हैं। इस प्रकार 64 वर्ष के नियोजन में आधारभूत रचना का अच्छा विकास हुआ है जिसका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :¹

	विवरण	इकाई	वर्ष 1950-51	वर्ष 2013-14
I.	ऊर्जा या शक्ति (Power)			
	(i) कोयले का उत्पादन	लाख टन में	323	5,698
	(ii) विद्युत का उत्पादन	विलियन kWh में	5	1,014.8
II.	(iii) कच्चे पेट्रोलियम का उत्पादन	लाख टन में	3	380
	परिवहन (Transport)			
	(i) रेलों की लम्बाई	हजार किलोमीटर में	53.6	65.8
III.	(ii) सड़कों की लम्बाई	लाख किलोमीटर में	4	49.49
	(iii) जहाजरानी की क्षमता	लाख GRT में	3.7	104.5
	संचार (Communication)			
IV.	(i) डाकखाने	हजार में	36	155.0
	(ii) टेलीफोन	लाख में	1.7	9,330
बैंक, बीमा एवं वित्त	(i) बैंक	कार्यालय	2,600	1,21,535

भारत में अपनी पंचवर्षीय योजनाओं में योजना व्यय का लगभग 50 प्रतिशत आधारभूत रचना पर व्यय किया है। जिसका परिणाम है कि अब यहां आधारभूत रचना उपलब्ध है।

लेकिन इसमें एक बात अवश्य है कि यह आधारभूत रचना शहरों व नगरों में ही उपलब्ध है। इसका यद्यपि गांवों में भी विकास हुआ है। लेकिन तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम ही हुआ है। इसका परिणाम है कि शहरों की जनसंख्या बढ़ रही है। लोग रोजगार की तलाश में गांव छोड़कर शहरों की ओर आ रहे हैं।

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में आधारभूत रचना का काफी विकास हुआ है। अब हम एक-एक करके प्रत्येक मद का विस्तार से विवेचन करेंगे।

(I) ऊर्जा या शक्ति संसाधन

(POWER RESOURCES)

आधुनिक युग में किसी भी देश का आर्थिक विकास एक बड़ी सीमा तक उस देश में उपलब्ध शक्ति के संसाधनों पर निर्भर करता है। जिस देश में सस्ते व पर्याप्त मात्रा में शक्ति संसाधन उपलब्ध होते हैं वह देश अपना विकास आसानी से व तीव्र गति से कर सकता है। इसका कारण यह है कि सभी क्षेत्रों—कृषि, उद्योग, परिवहन, आदि में शक्ति संसाधनों की आवश्यकता पड़ती है। इसके विपरीत, जिस देश में शक्ति संसाधन अपर्याप्त होते हैं या अविकसित होते हैं वह देश अन्य सभी आवश्यक सुविधाओं के होते हुए भी विकास मन्द गति से कर पाता है। यही कारण है कि प्रत्येक देश अपनी आर्थिक योजनाएँ बनाते समय शक्ति संसाधनों के विकास पर विशेष जोर देता है।

किसी देश के आर्थिक विकास का अनुमान उस देश में शक्ति संसाधनों की प्रति व्यक्ति खपत से लगाया जाता है और माना जाता है कि जिस देश में शक्ति संसाधन की प्रति व्यक्ति खपत जितनी अधिक होगी उस देश में प्रति व्यक्ति आय भी उतनी ही अधिक होगी। इस दृष्टि से भारत दोनों में ही पीछे है। यहाँ प्रति व्यक्ति शक्ति संसाधनों की खपत भी कम है और प्रति व्यक्ति आय भी कम है। भारत में विश्व की 16 प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है, लेकिन यहाँ पर कुल विश्व खपत की 1.5 प्रतिशत शक्ति ही खर्च होती है।

भारत में शक्ति संसाधन कई हैं; जैसे मनुष्य, पशु, लकड़ी, कोयला, वायु, जल, परमाणु, खनिज तेल, आदि, लेकिन अध्ययन की सुविधा के लिए यह साधन दो प्रकार के हैं—

(1) परम्परागत साधन जैसे—(I) कोयला, (II) विद्युत्, (III) खनिज तेल या पेट्रोलियम।

(2) गैर परम्परागत साधन—(I) परमाणु शक्ति, (II) वायु शक्ति, (III) सूर्य शक्ति, तथा (IV) गैस भाप विद्युत्-गृह आदि।

परम्परागत साधन

कोयला

वर्तमान शक्ति साधनों में कोयला परम्परागत एवं महत्वपूर्ण स्थान रखता है। मानव सभ्यता के प्रारम्भ और आर्थिक विकास के प्रथम चरण में कोयला ईंधन के क्षेत्र में सम्राट माना जाता रहा है। वास्तव में देखा जाय तो औद्योगिक क्रान्ति में शक्ति देने का कार्य भी कोयले द्वारा ही किया गया है। इसके महत्व को देखते हुए आज भी इसे काला सोना (Black Gold) या काला हीरा (Black Diamond) का नाम दिया जाता है।

कोयला का केवल एक ही उपयोग नहीं है, बल्कि इसको विभिन्न क्षेत्रों में व विभिन्न प्रकार से काम में लाया जाता है। इसका सबसे प्रमुख उपयोग (i) शक्ति उत्पादन है, जिससे कारखाने, कर्ले, इंजन, रेलें, आदि चलते हैं। (ii) इसको ईंधन के रूप में भी काम में लाया जाता है। (iii) इससे कई रासायनिक पदार्थ जैसे तेल, बैंजाल, नेपथा, आदि निकलते हैं जिससे रासायनिक उद्योग चलते हैं। (iv) इसको बिजली के सामान जैसे बटन, आदि के निर्माण में भी काम में लाया जाता है। (v) इससे कोलतार भी बनाया जाता है जो सड़क बनाने के काम आता है। इससे डायल भी बनाया जा सकता है जिससे अमोनिया द्रव निकलता है जो खाद बनाने वाले कारखानों में काम में आता है।

भारत में कोयला भण्डार—विश्व के कुल कोयला भण्डार की दृष्टि से भारत के कोयला भण्डार अधिक नहीं हैं। भारतीय भूगर्भ सर्वेक्षण विभाग के अनुमान के अनुसार 1 अप्रैल, 2011 को देश में (1,200 मीटर की गहराई तक) सुरक्षित कोयले का भण्डार 28,586 करोड़ मिलियन टन था जो विश्व के कुल कोयला भण्डार का 8 प्रतिशत है। इस दृष्टि से भारत का राष्ट्रमण्डल में दूसरा व विश्व में नवाँ स्थान है। सबसे अधिक कोयले के भण्डार अमेरिका, रूस व चीन के पास हैं जिनका प्रतिशत क्रमशः 31.5, 25.6 व 21.3 है। भारत

में कोयले के भण्डारों के बारे में विशेषज्ञों का अनुमान है कि यहाँ पर 2 प्रतिशत कोयला बढ़िया किस्म का, 7 प्रतिशत कोयला मध्यम किस्म का व 91 प्रतिशत कोयला गैर-कोकिंग (Non-cooking) श्रेणी का है। विशेषज्ञों का यह भी अनुमान है कि भारत जिस दर से वर्तमान में कोयले का उत्पादन कर रहा है उस दर से इन खानों से एक हजार वर्षों से अधिक समय तक कोयला मिल सकता है।

भारत में कोयला उत्पादन क्षेत्र—भारत में कोयला उत्पादन के मुख्य क्षेत्र झारखण्ड व पश्चिम बंगाल राज्य हैं जो अधिकांश कोयले का उत्पादन करते हैं। इन राज्यों के अतिरिक्त आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, उड़ीसा व महाराष्ट्र में भी कोयले का उत्पादन किया जाता है। भारत के सम्पूर्ण कोयला उत्पादन क्षेत्र को दो भागों में बाँटा जाता है (1) गोण्डवाना क्षेत्र (Gondwana Region) व (2) टरशीयरी क्षेत्र (Tertiary Region)। (1) गोण्डवाना क्षेत्र में झारखण्ड, पश्चिम बंगाल, ओडिशा, आन्ध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़ व मध्य प्रदेश को शामिल किया जाता है। देश के कुल कोयला उत्पादन का 90 प्रतिशत से अधिक भाग इसी क्षेत्र से मिलता है। इस क्षेत्र में झारखण्ड, झारिया, गिरडीह, बोकारो, डाल्टनगंज व कर्णपुरा क्षेत्र की खानें; पश्चिम बंगाल की रानीगंज की खानें; मध्य प्रदेश की रीवा व कटनी की खानें तथा महाराष्ट्र की नागपुर की खानें शामिल हैं। (2) टरशीयरी क्षेत्र में असोम, तमिलनाडु, कच्छ व राजस्थान आते हैं। इस क्षेत्र में असोम की माकूम, तमिलनाडु की नवेली, कच्छ की अमरसर तथा राजस्थान की बीकानेर की खानें शामिल हैं।

भारत में कोयला उत्पादन—भारत में कोयले का उत्पादन सर्वप्रथम 1814 में रानीगंज (पश्चिम बंगाल) में शुरू किया गया, लेकिन परिवहन सुविधाओं के अभाव में इसका विकास न हो सका। इसके बाद 1830 में कुछ अन्य खानों में भी उत्पादन प्रारम्भ किया गया और 1860 तक 50 खानों से कोयला निकाला जाने लगा था और उस समय का वार्षिक उत्पादन 2.82 लाख टन था। रेवले की स्थापना ने इस उद्योग को प्रोत्साहन दिया और 1914 तक कई नवीन खानों से कोयला निकाला जाने लगा। उस समय कोयले का उत्पादन 160 लाख टन था। प्रथम महायुद्ध के काल से कोयले की माँग बराबर बढ़ रही है। अतः इसी कारण इसका उत्पादन भी बढ़ता जा रहा है। गत वर्षों में कोयले का उत्पादन निम्न प्रकार रहा है :

1950-51 में 323 लाख टन, 1960-61 में 552 लाख टन, 1970-71 में 763 लाख टन, 1990-91 में 2,255 लाख टन, 2000-01 में 3,096 लाख टन, 2010-11 में 5,327 लाख टन तथा 2013-14 में 5,658 लाख टन।

भारत के कोयला उत्पादन क्षेत्र—भारत के कोयला उत्पादन क्षेत्र पश्चिम बंगाल, झारखण्ड व अन्य क्षेत्रों में बाँट देते हैं तो हम पाते हैं कि इन तीनों क्षेत्रों का कुल उत्पादन में प्रतिशत क्रमशः 24, 41 व 35 के लगभग रहता है। इसका अर्थ यह है कि पश्चिम बंगाल व झारखण्ड मिलकर 65 प्रतिशत कोयले का उत्पादन करते हैं। आजकल भारत में 22 प्रतिशत कोकिंग कोयला व 78 प्रतिशत गैर-कोकिंग कोयला उत्पादित होता है।

भारत में कोयला उत्पादन संगठन—भारत में कोयला उत्पादन का कार्य निजी क्षेत्र में था, लेकिन 17 अक्टूबर, 1971 को कोकिंग कोयला खानों का व 31 जनवरी, 1973 को गैर-कोकिंग कोयला खानों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। इस प्रकार अब यह उद्योग एक राष्ट्रीयकृत उद्योग है जिसका प्रबन्ध एक संस्था Coal India Limited के द्वारा किया जाता है जिसकी स्थापना 1 नवम्बर, 1975 को की गयी है। राष्ट्रीयकरण से पूर्व देश में 1,200 खानें थीं, लेकिन खानों का एकीकरण करके अब इन खानों की संख्या 220 रह गयी है। इस कोयला उद्योग में 6,000 करोड़ ₹ की पूँजी लगी है तथा लगभग 7 लाख श्रमिक इसमें कार्य करते हैं। इस समय 98 प्रतिशत कोयला सरकारी क्षेत्र में व शेष 2 प्रतिशत कोयला निजी क्षेत्र में निकाला जाता है। इस उद्योग में अगले कुछ वर्षों में और धन विनियोजित होने की आशा है। इससे कोयले का उत्पादन बढ़ेगा तथा उद्योगों को और अधिक कोयला मिल सकेगा। अब कोयला उत्पादन में निजी क्षेत्र को अनुमति दे दी गई है। इससे सरकारी क्षेत्र का हिस्सा कम होगा व निजी क्षेत्र का बढ़ेगा।

विद्युत्

किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए यदि कोई घटक महत्वपूर्ण है तो वह है विद्युत्-शक्ति। यह उद्योगों के लिए एक आवश्यक तत्व है। खेती के आधुनिकीकरण के लिए एक आवश्यक इनपुट है। ग्रामीण एवं शहरी विकास के लिए भी एक आवश्यक घटक है। देश की अर्थव्यवस्था का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र बाकी है जिसमें विद्युत्-शक्ति की आवश्यकता न पड़ती हो। पीने वाले पानी के लिए, परिवहन साधनों को चलाने के लिए, संचार सुविधाओं के लिए, घरों में व सड़कों पर रोशनी के लिए, आदि सभी कार्यों के लिए विद्युत् की भारी मात्रा में आवश्यकता होती है।

विश्व के विकसित देशों की तीव्र उन्नति का रहस्य भी विद्युत् उत्पादन ही है। सामाजिक परिवर्तन भी इसके विकास द्वारा ही लाये जा सकते हैं। इन्हीं कारणों की वजह से प्रत्येक देश अपना आर्थिक नियोजन करते समय विद्युत् पर ही सबसे अधिक ध्यान देता है। विद्युत् का उत्पादन (i) पानी, (ii) कोयला, (iii) डीजल, (iv) परमाणु शक्ति (Nuclear Power) से होता है।

भारत में विद्युत् शक्ति का उत्पादन—भारत में बिजली का उत्पादन सन् 1900 से प्रारम्भ हुआ है, जबकि कर्नाटक राज्य में शिवसमुद्रम नामक स्थान पर पहला पन-बिजलीघर बनाया गया। इसके बाद स्थान-स्थान पर पन-बिजलीघर व कोयले के बिजलीघर बनाये गये, लेकिन यह सभी शहरी क्षेत्रों तक ही सीमित थे। पंचवर्षीय योजनाओं में विद्युत् उत्पादन क्षमता एवं वास्तविक उत्पादन में काफी वृद्धि हुई है जिसका ब्यौरा निम्न प्रकार है :

विवरण	1950-51	1970-71	1990-91	2010-11	2013-14
कुल उत्पादन क्षमता (हजार मैगावाट में) (Installed Capacity)	2.3	16.3	74.7	208.1	281.7
कुल वास्तविक उत्पादन (विलियन kWh यूनिट में) (Energy Generated)	6.6	61.2	289.4	965.7	1,166

[Source : Economic Survey, 2014-15, p. A-34-35]

प्रति व्यक्ति उत्पादन—भारत में विद्युत् का प्रति व्यक्ति उत्पादन 55 किलोवाट वार्षिक है जो अन्य विकसित देशों की तुलना में काफी कम है; जैसे अमरीका में प्रति व्यक्ति वार्षिक उत्पादन 7,998 किलोवाट, ब्रिटेन में 4,462 किलोवाट, जापान में 3,476 किलोवाट व इटली में 2,186 किलोवाट है।

विद्युत् उत्पादन एवं खपत का विवरण—भारत में विद्युत् शक्ति के उत्पादन के 36.5 प्रतिशत भाग का उपयोग उद्योगों के द्वारा किया जाता है। 20.5 प्रतिशत विद्युत् कृषि के काम आती है। घरेलू उपयोग में 25.2 प्रतिशत विद्युत् को ही काम में लाया जाता है। जहाँ तक उत्पादन का प्रश्न है कुल उत्पादन की 13.94 प्रतिशत जल-विद्युत् द्वारा, 81.93 प्रतिशत ताप विद्युत् द्वारा शेष 3.54 प्रतिशत न्यूक्लीय विद्युत् द्वारा व अन्य साधनों से उत्पादित होती है।¹

आर्थिक विकास में जल-विद्युत् का महत्व—भारत में यदि जल-विद्युत् का विकास और किया जाय तो यह देश के हित में है और महत्वपूर्ण है। इससे देश को निम्न लाभ प्राप्त होते हैं :

- (1) **सस्ता साधन**—जल से पैदा की हुई विद्युत् की प्रति इकाई लागत बहुत ही कम आती है जो विद्युत् पैदा करने के अन्य साधनों में सबसे कम होती है। इनके अतिरिक्त, जल-विद्युत् को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में व्यय अन्य साधनों की तुलना में कम ही पड़ता है।
- (2) **असीमित मात्रा**—जल-विद्युत् वर्षा के पानी पर निर्भर है जिसके कम होने की कोई आशंका नहीं है, जबकि कोयला, तेल, डीजल, आदि सीमित मात्रा में ही उपलब्ध हैं जो किसी भी समय समाप्त हो सकते हैं।
- (3) **बहु-उद्देश्यीय**—जल-विद्युत् योजनाएँ बहु-उद्देश्यीय होती हैं। इनसे विद्युत् ही नहीं मिलती है, बल्कि बाढ़ भी रोकी जा सकती है। सिंचाई की भी व्यवस्था की जा सकती है। आन्तरिक जल परिवहन के रूप में भी काम में लिया जा सकता है। मछली उद्योग, आदि का भी विकास किया जा सकता है।
- (4) **औद्योगीकरण में सहायक**—जल-विद्युत् देने से उद्योगों का विकास किया जा सकता है।
- (5) **देश में विद्युतीकरण**—यह विद्युत् सस्ती पड़ती है। अतः इसका विस्तार कर सभी गाँवों को विद्युत् देने की व्यवस्था की जा सकती है। इससे गाँवों का विकास होता है। रहन-सहन का स्तर ऊपर उठता है। गाँवों में कुटीर उद्योगों को विकसित होने का अवसर मिलता है। खेती को भी विद्युत्-शक्ति की सहायता से और अधिक अच्छी प्रकार से किया जा सकता है।
- (6) **परिवहन व संचार सेवाओं का विकास**—जल-विद्युत् की सहायता से परिवहन व संचार (टेलीफोन) साधनों का विकास व विस्तार किया जा सकता है।
- (7) **हानिकारक न होना**—जल-विद्युत् से स्वास्थ्य को कोई हानि नहीं होती है, जबकि कोयला जलने में धुआँ देता है जो कि स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।
- (8) **जीवन-स्तर में वृद्धि**—विद्युत् का प्रयोग जनसाधारण के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाता है। विद्युत् से रेडियो, टेलीविजन, पंखा, रेफ्रीजरेटर, कूलर, आदि का आनन्द लिया जा सकता है।

¹ Economic Survey, 2014-15, p. 97.

विद्युत्-शक्ति का विकास—आजकल हिमाचल प्रदेश, जम्मू व कश्मीर, कर्नाटक, केरल व मेघालय मुख्य रूप से जल-विद्युत् पर निर्भर हैं। दिल्ली, बिहार व पश्चिम बंगाल मुख्य रूप से कोयले द्वारा उत्पादित विजली पर निर्भर हैं, लेकिन आन्ध्र प्रदेश, असम, हरियाणा, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, ओडिशा, पंजाब, राजस्थान, तमिलनाडु व उत्तर प्रदेश को जल-विद्युत् व कोयला से उत्पादित विद्युत् दोनों ही मिलती हैं।

आर्थिक नियोजन के प्रारम्भ से ही इस ओर बल दिया गया कि (i) ग्रामीण क्षेत्र में लघु उद्योगों को प्रोत्साहित करने एवं (ii) सन्तुलित तथा बहु विधि अर्थव्यवस्था का विकास करने के लिए, देहातों में विजली लगाना आवश्यक है। इसी उद्देश्य के अनुसार पहली योजना में 3,061 गाँवों को विद्युत् प्रदान की गयी, लेकिन वर्तमान में भारत के 5 लाख से अधिक गाँवों को विद्युत् पहुंचाई जा चुकी है जो कुल गाँवों का 78 प्रतिशत है। 23 जुलाई, 1969 को एक निगम 'ग्रामीण विद्युतीकरण निगम' (Rural Electrification Corporation) के नाम से बनाया गया है जिसका उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों की विद्युत् के लिए अर्थव्यवस्था करना है।

वर्तमान में ग्रामीण क्षेत्रों में विद्युत् की आपूर्ति में दक्षता प्राप्ति हेतु दीन दयाल उपाध्याय ग्राम ज्योति योजना प्रारम्भ की गई है।

खनिज तेल या पेट्रोलियम

आधुनिक युग में एक देश के लिए खनिज तेल या पेट्रोलियम बहुत ही महत्वपूर्ण एवं उपयोगी संसाधन है। इस पर देश का औद्योगिक विकास, प्रतिरक्षा व्यवस्था व परिवहन साधनों की उन्नति निर्भर करती है। खनिज तेल या पेट्रोलियम केवल शक्ति साधन ही नहीं है, बल्कि बहुत-से उद्योगों के लिए आधार भी है।

पेट्रोलियम शब्द लैटिन भाषा का शब्द है जो दो शब्दों से मिलकर बना है—पेट्रो + ओलियम। पेट्रो शब्द का अर्थ है 'चट्टान' व ओलियम शब्द का 'तेल'। इस प्रकार पेट्रोलियम शब्द का अर्थ होता है 'चट्टान का तेल' (Rock oil)। यह भूमि से तरल पदार्थ के रूप में निकलता है तथा इसका रंग भूरा या पीला या गहरा हरा होता है। भूमि से निकालने के लिए इसके गहरे कुएँ होते हैं। कुओं से निकले तेल को अशोधित तेल (Crude oil) कहते हैं। इन्हीं कुओं से गैस भी निकलती है जो जलाने के काम आती है। इस जलाने वाली गैस के अतिरिक्त अन्य प्रकार की रासायनिक गैस भी इन्हीं कुओं से प्राप्त होती हैं।

भारत में खनिज तेल या पेट्रोलियम—भारत में खनिज तेल या पेट्रोलियम के भण्डार 10.36 लाख वर्ग किलोमीटर में बताये जाते हैं। एक दूसरे अनुमान के अनुसार भारत में कुल खनिज तेल भण्डार 35 करोड़ टन के हैं। यह भण्डार असम, गुजरात, नाहरकटिया, खम्भात, अंकलेश्वर, डिगबोई, सूरमाघाटी, कच्छ की खाड़ी, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, ओडिशा, केरल, बंगाल की खाड़ी, बॉम्बे हाई, आदि में पाये जाते हैं।

भारत में तेल के स्रोत सर्वप्रथम 1866 में देखे गये थे और 1867 में सबसे पहले असम में मार्हेरिटा नामक स्थान के निकट तेल निकाला गया। इसके बाद 1889-90 में बोरझील के निकट तेल पाया गया जिसके फलस्वरूप डिगबोई क्षेत्र की स्थापना हुई और वहाँ का तेल निकालने का कार्य 1895 में असम ऑयल कम्पनी ने ले लिया। इसके बाद 1915 में वर्मा आयल कम्पनी ने बड़रपुर में तेल निकालने का कार्य प्रारम्भ किया। 1921 में असोम कम्पनी वर्मा आयल कम्पनी की सहायक कम्पनी बन गयी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद तेल की खोज व उसको निकालने का कार्य किया गया जिसके फलस्वरूप 1956 में तेल एवं प्राकृतिक गैस आयोग की स्थापना की गयी जिसे अब लिमिटेड कॉरपोरेशन में परिवर्तित कर उसका नाम तेल एवं प्राकृतिक गैस कॉरपोरेशन लिमिटेड कर दिया गया है। साथ ही निजी क्षेत्र के लिए भी यह क्षेत्र खोल दिया गया है जिसके फलस्वरूप Reliance व Essar ग्रुप की शोधनशालाएं भी इस दिशा कार्यरत हैं। गत वर्षों में भारत में खनिज तेल का उत्पादन निम्न प्रकार रहा है :

1950-51 में 3 लाख टन, 1970-71 में 68 लाख टन, 1990-91 में 330 लाख टन, 2010-11 में 377 लाख टन, 2011-12 में 381 लाख टन तथा 2013-14 में 380 लाख टन।

भारत घरेलू साधनों से अपनी 30 प्रतिशत आवश्यकताओं को ही पूरा कर पाता है। अतः शेष 70 प्रतिशत खनिज तेलों को आयात किया जाता है। 1970-71 में 136 करोड़ ₹ के मूल्य के खनिज तेलों का आयात किया गया था जो बढ़कर 2013-14 में 9,97,885 करोड़ ₹ का हो गया। ऐसी स्थिति में भारत को अभी कुछ और वर्षों तक प्रतिवर्ष खनिज तेल एवं पेट्रोलियम पदार्थों को आयात करना होगा।

इस समय देश में 19 करोड़ 34 लाख टन तेल शोधन क्षमता के 21 तेलशोधक कारखाने (17 सार्वजनिक क्षेत्र में, 3 निजी क्षेत्र में और 1 संयुक्त क्षेत्र में) हैं? सार्वजनिक क्षेत्र की 17 रिफाइनरियों में से 8 इण्डियन

ऑयल कॉर्पोरेशन लि. के स्वामित्व में हैं। दो-दो का स्वामित्व चेन्नई पेट्रोलियम कॉर्पोरेशन लि. (जो इण्डियन ऑयल की सहायक कंपनी है), हिन्दुस्तान पेट्रोलियम कॉर्पोरेशन लि. और ओ. एन. जी. सी. लि. के हाथों में हैं तथा एक-एक बी. पी. सी. एल. कोच्चि रिफाइनरीज लि. (बी. पी. सी. एल. की सहायक कंपनी), नुमालीगढ़ रिफाइनरीज लि. (भारत पेट्रोलियम कॉर्पोरेशन की सहायक) तथा बोंगाइगांव रिफाइनरीज एण्ड पेट्रोलियम इण्डियन आयल की सहायक के स्वामित्व में हैं। निजी क्षेत्र की दो रिफाइनरीज रिलांयस इण्डस्ट्रीज लि. तथा एफ एस्सार ऑयल लिमिटेड के पास हैं।

भारत में 1973 में समुद्र तल से भी तेल निकालने की शुरुआत की गयी जिसके फलस्वरूप 21 मई, 1976 से इन कुओं से तेल निकाला जाने लगा। यह स्थान समुद्र तल में मुम्बई महानगर से 70 किलोमीटर दक्षिण-पश्चिम में है। पूर्वी तट पर गोदावरी वेसिन व महानदी वेसिन में भी तेल पाया गया है।

अभी अनेक स्थानों पर तेल की खोज का कार्य चल रहा है जिससे तेल मिलने की सम्भावनाएँ हैं, लेकिन फिर भी अभी कुछ वर्षों तक तेल को आयात करने की सम्भावनाएँ बनी हुई हैं।

खनिज तेल के उपयोग को सीमित करना—देश में खनिज तेलों के उत्पादन एवं उनकी माँग को देखते हुए यह उचित है कि तेल के उपयोग को कम किया जाय जिससे कि विदेशी मुद्रा की बचत हो सके। अतः सुझाव दिये जाते हैं कि (1) जो विद्युत् गृह तेल से चल रहे हैं उन्हें कोयले से चलाने का प्रयास किया जाए। (2) रेलों में भाप इंजनों या विद्युत् इंजनों को काम में लिया जाए। (3) ग्रामीण विद्युतीकरण का विकास तेजी से किया जाए जिससे कि मिट्टी के तेल की बचत हो सके। (4) शहरों व परिवहन साधनों में भी तेल का उपयोग खूब होता है। अतः इस सम्बन्ध में उचित मूल्य नीति (pricing policy) अपनाकर इसके उपयोग पर कुछ प्रतिबन्ध अवश्य लगा दिये जायें।

गैर-परम्परागत साधन

शक्ति संसाधनों में एक नवीन कड़ी परमाणु शक्ति है जो अन्य शक्ति संसाधनों से अधिक लाभकारी और बहुत-सी समस्याओं का समाधान करने वाली है। अभी हमने ऊपर बताया है कि खनिज तेलों की भारत में कमी है। कोयले के भण्डार भी सीमित हैं। साथ ही कोयले से विद्युत् बनाने के लिए कोयले को विद्युत्-गृहों तक ले जाने में कठिनाई होती है तथा इसका ढुलाई व्यय अधिक होने से विद्युत् की लागत भी अधिक बैठती है। इसी प्रकार जल-विद्युत् के लिए भी वर्षा का होना आवश्यक है। इन सभी समस्याओं का एक हल हो सकता है और वह है परमाणु शक्ति। परमाणु शक्ति की लागत कम पड़ती है और इसके लिए स्थान-स्थान पर परमाणु विद्युत्-गृह बनाये जा सकते हैं। विद्वानों का कहना है कि (i) दस हजार टन कोयले से जितनी विद्युत् बनती है उतनी ही केवल एक टन यूरेनियम से बनायी जा सकती है। (ii) साथ ही कोयले का विद्युत्-गृह (Thermal) बनाने में जितनी लागत आती है उससे कम परमाणु शक्ति विद्युत्-गृह बनाने में आती है।

परमाणु शक्ति का विकास

भारत में परमाणु शक्ति के विकास का श्रेय डॉ. होमी जहाँगीर भाभा को है जिन्होंने 1944 में टाटा इंस्टीट्यूट के तत्कालीन अध्यक्ष को पत्र लिखकर टाटा आधारभूत अनुसन्धान संस्थान (Tata Institute of Fundamental Research) की स्थापना पर जोर दिया जिसके फलस्वरूप 1945 में यह संस्थान स्थापित किया गया। 1948 में परमाणु ऊर्जा आयोग का गठन किया गया। 1954 में केन्द्रीय सरकार ने परमाणु ऊर्जा विभाग स्थापित किया जिसके सचिव डॉ. भाभा ही बनाये गये। इस पद पर वह जनवरी 1966 तक (अपनी मृत्यु तक) बने रहे। भारत में 1954 में ट्रांस्फोर्मर में परमाणु ऊर्जा संस्थान की स्थापना की गयी जिसका नाम डॉ. भाभा की मृत्यु के पश्चात् ‘भाभा परमाणु अनुसन्धान केन्द्र’ कर दिया गया। इस समय इस केन्द्र में 2,000 वैज्ञानिक एवं इंजीनियर तथा करीब 8,000 अन्य कर्मचारी हैं। इस केन्द्र में चार अनुसन्धान रिएक्टर हैं—(i) अप्सरा, (ii) साइरस, (iii) जरलीना व (iv) पूर्णिमा।

उपर्युक्त प्रयलों के कारण भारत ने परमाणु शक्ति का विकास किया है जिसके फलस्वरूप आज देश में ये परमाणु विद्युत् केन्द्र तारापुर परमाणु केन्द्र (महाराष्ट्र), रावतभाटा परमाणु शक्ति केन्द्र (राजस्थान), कल्पकम परमाणु केन्द्र (तमिलनाडु), नरौरा परमाणु शक्ति केन्द्र (उत्तर प्रदेश), काकरपारा परमाणु शक्ति केन्द्र (गुजरात) व कैगा परमाणु केन्द्र (कर्नाटक)।

भारत में परमाणु शक्ति की वर्तमान क्षमता एवं भावी विकास—भारत में इस समय 4,800 मेगावाट परमाणु शक्ति की उत्पादन क्षमता के 6 परमाणु विद्युत्-गृह हैं जो अपनी पूरी क्षमता पर उत्पादन कर रहे हैं, लेकिन अमरीका द्वारा ईंधन की पूर्ति समय पर न करने के कारण इनके उत्पादन में समय-समय पर व्यवधान पैदा हो जाता है।

भारत में परमाणु शक्ति के विकास की आवश्यकता—भारत में परमाणु शक्ति के विकास की परम आवश्यकता है। इसके पक्ष में यह तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं : (1) पर्याप्त मात्रा में आवश्यक पदार्थों की उपलब्धि—परमाणु शक्ति के लिए यूरेनियम, मोनोजाइट (इससे ही थोरियम पदार्थ निकलता है); बेरीलियम व अन्य पदार्थों की आवश्यकता होती है जो भारत में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। (2) भारी जल की उपलब्धता—परमाणु शक्ति उत्पन्न करने के लिए भारी जल की भी आवश्यकता होती है जिसको भारत में भाखड़ा नंगल, चम्बल व अन्य योजनाओं से प्राप्त किया जा सकता है। (3) कोयले के सीमित भण्डार—भारत में कोयले के जो भण्डार उपलब्ध हैं उनके 350 से 400 वर्ष तक ही चलने की सम्भावना है। ऐसी स्थिति में यह उचित है कि कोयले से कम काम लेकर उसको लम्बे समय तक चला सकते हैं जिसका विकल्प केवल परमाणु शक्ति ही फिलहाल प्रतीत होता है। अतः इसका विकास किया जाना चाहिए। (4) अपर्याप्त जल शक्ति—जल शक्ति भी भारत में अपर्याप्त है और देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ है। अतः परमाणु शक्ति का विकास किया जाना चाहिए। (5) पर्याप्त एवं सस्ती शक्ति—देश में आर्थिक विकास तेज गति से चल रहा है जिसकी सफलता के लिए आवश्यक है कि पर्याप्त मात्रा में ही शक्ति न मिले बल्कि सस्ती भी मिले। परमाणु शक्ति की उत्पादन लागत अन्य साधनों की तुलना में कम पड़ती है। अतः यह उचित है कि परमाणु शक्ति का विकास अवश्य ही किया जाए।

वायु शक्ति (Wind Energy)

वायु को भी शक्ति के रूप में काम में लाया जा सकता है। कुछ देश जैसे नीदरलैण्ड्स, आदि ने इसका उपयोग पवन चक्रिकायाँ लगाकर किया है, लेकिन भारत में इसका उपयोग नहीं के बराबर है, यद्यपि गाँवों में किसान द्वारा अनाज को भूसे से अलग करने के लिए इस शक्ति का उपयोग किया जाता है। राष्ट्रीय वैज्ञानिक अनुसन्धानशाला, बंगलौर के अनुसार भारत में भी वायु शक्ति का उपयोग बिजली उत्पन्न करने के लिए किया जा सकता है। इसके लिए एक अनुसन्धानशाला ने दो प्रकार की पवन चक्रिकायाँ का आविष्कार किया है और यह संस्था बराबर विद्युत् उत्पन्न करने वाले यन्त्रों का परीक्षण कर रही है। भारत में 45,000 मेगावाट वायु शक्ति पैदा करने की क्षमता है लेकिन अभी तक 14,155 मेगावाट शक्ति का ही उपयोग कर पाया है। इस प्रकार भारत का वायु शक्ति पैदा करने वाले देशों में चौथा स्थान है। अन्य तीन देश हैं—जर्मनी, अमेरिका व स्पेन।

सूर्य शक्ति (Solar Energy)

वैज्ञानिकों ने आविष्कार किया है कि सूर्य से प्राप्त गर्मी को भी रोककर रखा जा सकता है और उसको शक्ति के रूप में लाया जा सकता है। वास्तव में, शक्ति का यह साधन ऐसा होगा जो कभी समाप्त नहीं होगा। भारत में 'भारत सूर्य शक्ति प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी' (Bharat Solar Energy Private Company) नाम की अपने ढंग की एक ही अकेली कम्पनी है, जिसने दिल्ली में मौर्या होटल के तालाब (Swimming pool) को सूर्य शक्ति से गरम करने का ठेका लेकर पूरा कर दिया है। इस कम्पनी का दावा है कि सूर्य शक्ति को तीन कार्यों के काम में लाया जा सकता है—घरेलू, वाणिज्यिक एवं औद्योगिक। इस कम्पनी का यह भी दावा है कि जलाने के लिए कोयला व तेल को साथ ले जाने के स्थान पर सूर्य शक्ति के हीटर (Heaters) शक्ति के साथ ले जाये जा सकते हैं।

भारत का प्रथम सौर ऊर्जा बिजलीघर लंदाख के छोंगलेश्वर नामक गाँव में स्थापित किया गया है जो विश्व में इस प्रकार की बिजली का दूसरा गाँव है। इस बिजलीघर ने अपना उत्पादन प्रारम्भ कर दिया है जिससे 20 शैय्याओं वाले एक अस्पताल व एक बड़े किचन को बिजली दी जा सकती है। भारत में BHEL कम्पनी की कैण्टीन जो हारिद्वार (उत्तराखण्ड) में है, में सूर्य शक्ति का उपयोग धोने के लिए गरम पानी के लिए किया जाता है। अमूल फैक्टरी जो आनन्द (गुजरात) में है इसका उपयोग सूखा दूध बनाने के लिए करती है। भावनगर (गुजरात) में पीने का पानी इसी शक्ति से साफ किया जाता है। दिल्ली का सुपर बाजार व उत्तर प्रदेश में उत्तर प्रदेश सरकार का गैर-परम्परागत ऊर्जा विभाग सूर्य शक्ति वाले हीटर बेच रहा है जिन्हें कोई भी व्यक्ति खरीद सकता है और अपने घर में इनको लगा सकता है। इन हीटरों में सेल लगे हैं जो सूर्य से गर्मी लेते हैं। इन हीटरों को खाना बनाने, चाय बनाने व अन्य घरेलू कार्यों में लगाया जा सकता है।

अहमदाबाद के कपड़ा मिल, जहाँगीर कपड़ा मिल, जो राष्ट्रीय वस्त्र निगम की एक इकाई है, ने अपने यहाँ धागे और कपड़ा सुखाने के लिए सौर ऊर्जा प्रणाली स्थापित की है। इसी प्रकार तिरुपति में भक्तों को गरम पानी देने के उद्देश्य से एक सौर ऊर्जा हीटर लगाया गया है।

दिल्ली में उत्तर प्रदेश भवन में भी एक सौर ऊर्जा हीटर लगाया गया है जो 5 हजार लीटर गरम पानी प्रतिदिन देता है। दिल्ली के अछेदा गाँव में सूर्य शक्ति वाला विद्युत्-गृह बनाया जा रहा है।

गैस भाप विद्युत्-गृह

भारत का पहला गैस भाप विद्युत्-गृह राजस्थान में कोटा के पास अन्ता में बनाया गया है जिसमें गैस से विद्युत् बनाना प्रारम्भ हो गया है। भारत का इस सम्बन्ध में यह पहला परीक्षण है।

भारत में ऊर्जा संकट व उसके कारण

संकट से अर्थ शक्ति साधनों के अभाव से है। “जितनी शक्ति की आवश्यकता होती है उससे कम शक्ति का मिलना ऊर्जा संकट कहलाता है।” यह ऊर्जा संकट केवल भारत के लिए ही नहीं अपितु विश्वव्यापी है। भारत में 1950-51 से लेकर अब तक की अवधि में विद्युत् उत्पादन में वृद्धि हुई है। इसी अवधि में कोयला व कच्चे तेल के उत्पादन में भी वृद्धि हुई है, लेकिन फिर भी यहाँ ऊर्जा की कमी बनी हुई है। कोयले के भण्डार कम होते जा रहे हैं। तेल देने वाले देश अपने तेल का सवार्धिक मूल्य लेकर ही तेल दे रहे हैं। ऊर्जा की माँग सभी क्षेत्रों में बढ़ रही है चाहे वह क्षेत्र औद्योगिक हो या घरेलू या कृषि परिवहन सम्बन्धी। भारत में ऊर्जा संकट के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं:

(1) **औद्योगिक विकास**—आर्थिक योजनाओं के लागू होने से भारत में औद्योगिक विकास तीव्र गति से हुआ है जिसके फलस्वरूप उद्योगों को आर्थिक शक्ति की आवश्यकता पड़ रही है। कुछ उद्योग तो ऐसे स्थापित हुए हैं जिनमें स्वभावतः ही आर्थिक शक्ति की आवश्यकता होती है; जैसे लोहा एवं इस्पात उद्योग, मशीनरी एवं इंजीनियरिंग उद्योग।

(2) **ग्राम विद्युतीकरण एवं कृषि यन्त्रीकरण**—आज भारत के 78 प्रतिशत गाँवों का विद्युतीकरण किया जा चुका है, जबकि 1974 में केवल 7 प्रतिशत गाँवों में ही विद्युत् थी। साथ ही कृषि का यन्त्रीकरण होने से भी विद्युत् की माँग बढ़ी है। आजकल विद्युत् का 20.5% उत्पादन कृषि के काम आता है, जबकि 1950 में केवल 3.9 प्रतिशत। इस प्रकार ग्राम विद्युतीकरण एवं कृषि यन्त्रीकरण के होने से ऊर्जा की माँग बढ़ गयी है जिसने ऊर्जा संकट को और अधिक गम्भीर बना दिया है।

(3) **पेट्रोलियम का बढ़ता हुआ उपयोग**—कोयले की तुलना में तेल से ऊर्जा आसानी से मिल जाती है। अतः तेल का उपयोग बराबर बढ़ रहा है। रेलवे ने भी अपने बहुत-से इंजन डीजल के कर लिए हैं। उद्योगों को कोयला, रेलों द्वारा समय पर नहीं दिया जाता है। अतः बहुत-से उद्योग तेल पर आधारित हो गये हैं। इन सभी कारणों से देश में तेल की खपत 1,500 लाख टन वार्षिक परं पहुँच गयी है, जबकि देश में कुल उत्पादन 380 लाख टन के लगभग है। अतः पेट्रोलियम पदार्थों का आयात किया जाता है।

(4) **कोयले का अभाव**—ताप विद्युत्-गृहों को समय पर कोयला नहीं मिल पाता है इससे भी ऊर्जा संकट पैदा हो जाता है। इसके कारण हैं रेलों द्वारा खाली वैगन समय पर उपलब्ध न करना, कोयले की खानों में श्रमिकों द्वारा हड़तालें करना, आदि।

(5) **जल-विद्युत् उत्पादन में कमी**—कभी-कभी ईश्वर की अनुकम्पा कम होने पर वर्षा कम होती है इससे जलाशय का स्तर गिर जाता है जिसके फलस्वरूप जल-विद्युत् उत्पादन भी गिर जाता है। कभी तकनीकी खराबी पैदा होने पर जल-विद्युत् उत्पादन में रुकावट पैदा हो जाती है। कभी-कभी जल-विद्युत् योजनाओं को कार्यरूप में परिणत करने में देरी हो जाती है और वे अपने लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाती हैं। इन सभी बातों से विद्युत् उत्पादन में कमी हो जाती है जो ऊर्जा का संकट पैदा कर देती है।

(6) **परमाणु शक्ति के विकास की धीमी गति**—भारत के पास परमाणु शक्ति उत्पन्न करने के लिए सभी आवश्यक पदार्थ, साज-सज्जा व तकनीक है, लेकिन फिर भी इसका विकास धीमी गति से हो रहा है। यहाँ 1969 में पहला परमाणु विद्युत्-गृह बन गया था, लेकिन अभी तक केवल पांच और परमाणु गृह ही बन पाये हैं।

(7) **विद्युत् चोरी**—भारत में कुल विद्युत् उत्पादन का लगभग 1/3 उत्पादन चोरी में चला जाता है जो 24,000 करोड़ ₹ प्रति वर्ष का बैठता है। यदि इतने रुपए प्रति वर्ष उत्पादन में लगाए जाएं तो 5,000 मेगावाट की क्षमता वाली विद्युत् उत्पादन क्षमता प्रति वर्ष बढ़ाई जा सकती है।

भारत में ऊर्जा संकट के समाधान हेतु सुझाव

भारत में ऊर्जा संकट से निकलने के लिए सरकार ने तीन प्रकार के प्रयत्न किये हैं—एक ओर कोयला, विद्युत्, परमाणु व पेट्रोलियम पदार्थों का उत्पादन बढ़ाने का प्रयास किया है, दूसरी ओर आवश्यक मशीनें व पेट्रोलियम पदार्थों का आयात किया गया है व तीसरी ओर ऊर्जा के उपयोग एवं वितरण पर प्रतिबन्ध लगाया गया है, लेकिन फिर भी हम संकट से अभी पार नहीं हो पाये हैं जिसके कारण आर्थिक विकास में बाधा उपस्थित हो रही है। अतः इस संकट से पार होने के लिए निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं :

(1) पेट्रोलियम पदार्थों का उत्पादन बढ़ाना एवं आन्तरिक उपभोग को कम करना—देश में पेट्रोलियम पदार्थों का उत्पादन बढ़ाया जाना चाहिए। इसके लिए वर्तमान कुओं से अधिक कच्चा तेल निकाला जाना चाहिए तथा नये कुओं की तलाश की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में तेल एवं प्राकृतिक गैस कॉर्पोरेशन लिमिटेड को और अधिक सक्रिय किया जाना चाहिए। पेट्रोलियम पदार्थों की खपत को कम करने के लिए रेलों में डीजलीकरण व विद्युतीकरण के स्थान पर कोयले का उपयोग बढ़ाया जाना चाहिए। तेलों पर आधारित विद्युत्-गृहों को कोयले में परिवर्तित कर देना चाहिए। मिट्टी के तेल, पेट्रोल व डीजल के वितरण पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए।

(2) गैस का उत्पादन बढ़ाना—देश में जलने वाली प्राकृतिक गैस का उत्पादन बढ़ाने के सम्बन्ध में आवश्यक प्रयत्न किये जाने चाहिए तथा नवीन स्थानों की खोज की जानी चाहिए जहाँ पर इस प्रकार की गैस के मिलने की सम्भावना हो उनके लिए तेल एवं प्राकृतिक गैस कॉर्पोरेशन लिमिटेड की क्रियाओं का और अधिक विस्तार किया जाना चाहिए।

(3) विद्युत् उत्पादन बढ़ाना—विद्युत् उत्पादन के चार साधन माने जाते हैं—कोयला, तेल, पानी व परमाणु। देश में कोयला व तेल की उपलब्धता कम है। परमाणु ऊर्जा का अभी पूर्ण विकास होने में कुछ समय लगेगा। अतः हमारे पास एक साधन पानी ही रह जाता है जो पर्यास मात्रा में उपलब्ध है। जल-विद्युत् में वृद्धि करनी चाहिए जो वर्षा के पानी को रोककर नदियों का पानी प्रयोग कर बनायी जा सकती है।

(4) विद्युत्-गृहों की पूरी क्षमता का उपयोग—विद्युत् उत्पादन बढ़ाने के लिए विद्युत्-गृहों की पूरी क्षमता का उपयोग किया जाना चाहिए। वर्तमान में विद्युत्-गृहों की 70 प्रतिशत क्षमता का उपयोग किया जा रहा है। इस प्रकार इनका उपयोग बढ़ाने की परम आवश्यकता है।

(5) विद्युत् की बर्बादी एवं चोरी में कमी—विद्युत् का लगभग 1/3 भाग यों ही नष्ट हो जाता है जो किसी भी काम नहीं आता है। अतः इसको व विद्युत् की चोरी रोकने का प्रयास किया जाना चाहिए। इससे ऊर्जा संकट को हल करने में सहायता मिलेगी।

(6) कोयला उत्पादन बढ़ाया जाय—देश के विद्युत् उत्पादकों में कोयला महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। यहाँ कुल उत्पादित विद्युत् का 82 प्रतिशत उत्पादन कोयले द्वारा ही होता है। कोयले के भण्डार भी यहाँ पर्यास मात्रा में हैं। अतः इसके उत्पादन को बढ़ाया जाना चाहिए जिससे कि इससे और अधिक विद्युत् बनायी जा सके। तेल के स्थान पर कोयले से विद्युत् बनायी जानी चाहिए। जो विद्युत्-गृह तेल या गैस पर आधारित हैं उन्हें कोयले में बदल देना चाहिए।

(7) अपरस्परागत ऊर्जा का विकास—परमाणु ऊर्जा, वायु एवं सूर्य ऊर्जा, गोबर गैस ऊर्जा व ज्वारीय ऊर्जा जैसी अपरस्परागत ऊर्जा का विकास किया जाना चाहिए जिससे कि तेल व कोयला दोनों की बचत की जा सके।

(8) ऊर्जा आयोग—भारत में शक्ति एवं ऊर्जा के स्रोतों को दृष्टिगत करते हुए केन्द्रीय सरकार ने मार्च 1981 में एक ऊर्जा आयोग गठित किया है। इस आयोग को तीन उत्तरदायित्व सौंपे गये :

- ऊर्जा के पुराने एवं नवीन स्रोतों को विकसित करने के लिए कार्यक्रम बनाना। ● ऊर्जा के स्रोतों से सम्बन्धित चल रहे अनुसन्धान एवं विकास कार्यों में तीव्रता एवं व्यापकता लाना। ● ऊर्जा से सम्बन्धित सरकारी नीति का क्रियान्वयन सुनिश्चित करना।

(9) इण्डिया पावर फण्ड की स्थापना—देश में विद्युत् क्षेत्र के विकास के लिए इस क्षेत्र की कम्पनियों की इक्विटी आवश्यकताओं में कमी की पूर्ति हेतु 'इण्डिया पावर फण्ड' की स्थापना 5 फरवरी, 2004 को की गई। इसके लिए 200 करोड़ ₹ की प्रारम्भिक पूँजी पावर फाइंसेंस कॉर्पोरेशन ने उपलब्ध कराई है। वर्ष 2012 तक विद्युत् क्षेत्र के लिए 70,000 करोड़ ₹ की इक्विटी की आवश्यकता होगी। इसके 10 प्रतिशत (7,000 करोड़ ₹) भाग की पूर्ति यह कोष करेगा।

(10) बिजली अधिनियम, 2003—बिजली अधिनियम, 2003 लागू कर दिया गया है और इस अधिनियम के प्रावधान (अनुभाग 121 के अतिरिक्त) 10 जून, 2003 से प्रभावी हैं। बिजली अधिनियम, 2003 के लागू होने से भारतीय बिजली अधिनियम, 1910, बिजली (आपूर्ति) अधिनियम, 1948 तथा बिजली नियामक आयोग अधिनियम, 1998 निरस्त हो गए हैं।

(11) राष्ट्रीय विद्युत् नीति—केन्द्र सरकार ने 2 फरवरी, 2005 को राष्ट्रीय विद्युत् नीति को स्वीकृति प्रदान की। इसका उद्देश्य आगामी 10 वर्षों में सभी को उचित गुणवत्ता वाली किफायती बिजली उपलब्ध कराने के साथ-साथ बिजली क्षेत्र को वित्तीय रूप से सशक्त बनाकर इस क्षेत्र में रोजगार के अवसर पैदा करना है।

राष्ट्रीय विद्युत् नीति में बिजली क्षेत्र के तीव्र विकास के लिए दिशा-निर्देश तय किए गए हैं। इसमें बिजली उत्पादन, ट्रान्समिशन और वितरण तीनों गतिविधियां शामिल हैं। इन दिशानिर्देशों का एक उद्देश्य उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करना और उन्हें बिजली क्षेत्र में कार्यरत कम्पनियों और ऑपरेटरों के शोषण से बचाना भी है। इसके अलावा यह नीति यह भी देखेगी कि बिजली उत्पादन, वितरण व ट्रान्समिशन की प्रक्रिया में ऊर्जा के स्रोतों, प्राकृतिक संसाधनों और पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी उपादानों का गैर-जरूरी दोहन न होने पाए। उपभोक्ता के स्तर पर नीति का मुख्य उद्देश्य बिजली की प्रति व्यक्ति उपलब्धता को बढ़ा़कर कम से कम 100 यूनिट तथा प्रति व्यक्ति दैनिक घरेलू खपत को कम-से-कम एक यूनिट करना है। इसके माध्यम से सरकार औद्योगिक एवं व्यापारिक प्रतिष्ठानों को उचित व प्रतिस्पर्द्धी दरों पर बिजली की विश्वसनीय आपूर्ति सुनिश्चित करना चाहती है। इसके लिए गांवों और कस्बों में बिजली उत्पादन और वितरण की छोटी-छोटी इकाइयों को बढ़ावा दिया जाएगा। इस प्रक्रिया में बड़े स्तर पर रोजगार के अवसर भी पैदा होंगे।

विद्युत् नीति के मुख्य उद्देश्य

- पांच वर्षों में सभी घरों में बिजली • वर्ष 2012 तक मांग पर बिजली • बिजली की उचित दरें
- बिजली की गुणवत्ता व विश्वसनीयता • प्रति व्यक्ति न्यूनतम उपलब्धता 100 यूनिट • प्रति व्यक्ति घरेलू खपत एक यूनिट • उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा • बिजली क्षेत्र को घाटे से मुनाफे में लाना।

निष्कर्षतः: कहा जा सकता है कि ऊर्जा संकट के समाधान के लिए देश में उपलब्ध साधनों का उचित उपयोग एवं नवीन साधनों का विकास किया जाना चाहिए। इसके लिए अनुसन्धान एवं विकास कार्य पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए जिससे कि विद्युत् उत्पादन सस्ता एवं पर्याप्त मात्रा में किया जा सके।

(II) भारत में परिवहन साधन

(MEANS OF TRANSPORT IN INDIA)

परिवहन शब्द अंग्रेजी के शब्द Transport का हिन्दी रूपान्तर है। अमरीकी विद्वान फेयर एवं विलियम्स (Fair & Williams) के अनुसार, “परिवहन का अर्थ मनुष्यों (Persons) अथवा सम्पत्ति का एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमनागमन (Movement) से है”¹

इस प्रकार परिवहन का मुख्य उद्देश्य मनुष्यों व पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाने व ले जाने से है। आजकल के मशीनी युग में परिवहन से तात्पर्य शीघ्रगामी व सस्ते साधन से है। इसी को हम आधुनिक परिवहन (Modern Transport) का नाम देते हैं। आजकल इसमें रेल, मोटर, पानी के जहाज, आदि सभी आते हैं।

किसी भी देश के आर्थिक विकास में परिवहन का महत्वपूर्ण योगदान होता है। इससे कृषि के क्षेत्र में वृद्धि व विविधीकरण होता है। नये-नये उद्योग स्थापित होते हैं। विशिष्टीकरण को बढ़ावा मिलता है। व्यापार का विस्तार होता है। मूल्यों में स्थिरता आती है व देश की सुरक्षा व रक्षा होती है तथा सरकारी आय बढ़ती है।

हम आर्थिक विकास में परिवहन के महत्व को निम्न ग्रकार व्यक्त कर सकते हैं :

(1) **कृषि क्षेत्र में—**परिवहन साधनों के बन जाने से कृषि क्षेत्र में परिवर्तन आ जाता है। पहाड़ी क्षेत्र, तराई क्षेत्र व वन, आदि की भूमि को कृषि के काम में लाया जा सकता है। इससे कृषि क्षेत्र का विस्तार होता है। परिवहन साधनों के बढ़ने से कृषि का स्वरूप ही बदल जाता है। नकदी फसलों में वृद्धि हो जाती है, क्योंकि कृषक उद्योगों के लिए कच्चे माल की पैदावार बढ़ाने लगते हैं या फिर फल, तरकारी व सब्जियों की अधिक

1 “Transport is the movement of persons or property from one place to another.”

—Fair & Williams, *Economics of Transportation*, p. 3.

खेती करने लगते हैं। साथ ही परिवहन से कृषि का विविधीकरण हो जाता है। गाँवों में डेरी उद्योग, मछली उद्योग, मुर्गियों का उद्योग तथा लघु एवं कुटीर उद्योग खुल जाते हैं। परिवहन के माध्यम से किसान अपने उत्पादन को शहरों में बेचने के लिए ले जा सकते हैं। यदि कोई माल अपने उत्पादन के लिए चाहिए तो वे उसे शहर से ला सकते हैं। परिवहन साधनों के विकास से कृषि उत्पादन बढ़ता है, क्योंकि शहरों से अच्छे बीज, रासायनिक खादें व कृषि यन्त्र प्राप्त किये जा सकते हैं और उनका उपयोग कृषि के लिए किया जा सकता है। परिवहन साधन उपलब्ध होने से किसानों को अपने उत्पादन का अच्छा मूल्य (शहरों व मण्डियों में बेचने से) मिल जाता है।

(2) **औद्योगिक क्षेत्र में**—परिवहन औद्योगिक क्षेत्र में बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। परिवहन साधनों का विकास होने से उन स्थानों पर नये-नये कारखाने स्थापित हो जाते हैं जो सड़कों, रेलों, बन्दरगाहों, आदि से जुड़ जाते हैं। साथ ही जिन स्थानों पर उद्योग स्थापित हो जाते हैं वहाँ नगर व शहर बस जाते हैं जिससे देश का आर्थिक विकास होता है। परिवहन के विकास के कारण ही खान उद्योग व वन उद्योग का विकास हुआ है, जिससे समाज को अनेक धातुएँ एवं पदार्थ मिल रहे हैं। परिवहन साधन श्रम में गतिशीलता ला देते हैं, अर्थात् श्रमिक एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर नौकरी कर लेते हैं, इससे उद्योगों को श्रमिक उचित मात्रा में मिल जाते हैं।

(3) **व्यापारिक क्षेत्र में**—परिवहन के विकास से व्यापारिक क्रियाओं में वृद्धि होती है। व्यापार का विस्तार होता है। व्यापारिक प्रतियोगिता बढ़ती है जिससे बचतों को प्रोत्साहन मिलता है। विदेशी व्यापार में भी वृद्धि होती है। हम अपनी आवश्यकता की वस्तु विदेशों से मँगा सकते हैं और अपने यहाँ उत्पादित वस्तु को विदेशों में भेज विदेशी मुद्रा अर्जित कर सकते हैं। परिवहन साधन मूल्यों में स्थिरता लाते हैं और अत्यधिक उत्तर-चढ़ाव नहीं होने देते हैं इससे व्यापार में स्थिरता बनी रहती है।

(4) **सामाजिक क्षेत्र में**—परिवहन के विकास के फलस्वरूप ही देश के विभिन्न देशों में रह रहे देशवासियों का एक-दूसरे से सम्पर्क होता है जिससे संस्कृतियों के सम्बन्ध में ज्ञान में वृद्धि होती है और संकुचित दृष्टिकोण में परिवर्तन आता है। बृहत् उत्पादन होने से नयी-नयी वस्तुएँ समाज को मिलती हैं जिससे उसका जीवन-स्तर ऊपर उठता है। परिवहन साधनों के विकास ने अन्धविश्वास व रुद्धिवादिता को कम करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। अब लोग देश-विदेश सभी जगहों पर घूमने चले जाते हैं। एक-दूसरे के साथ बसों, रेलों व जहाजों में यात्रा करते हैं, इससे भाई-चारे को बढ़ावा मिलता है। यदि शहरों में भीड़भाड़ होती है तो लोग पास के स्थानों में बस जाते हैं और रोजाना वहाँ से परिवहन साधनों के माध्यम से, काम के स्थान तक आते हैं और फिर शाम को लौट जाते हैं। इससे जनसंख्या का एक स्थान पर केन्द्रीकरण नहीं हो पाता है और साथ ही वे कारखानों के दूषित वातावरण से दूर स्वच्छ वातावरण में रह कर अपना जीवन सुखपूर्वक बिताते हैं।

(5) **राजनीतिक क्षेत्र में**—देश में शान्ति व सुरक्षा के लिए द्रुतगामी परिवहन साधनों की आवश्यकता होती है। सीमा क्षेत्र व विदेशों से रक्षा के लिए भी परिवहन साधन चाहिए। सरकार को अपना कार्य करते रहने के लिए आय चाहिए। यह आय भी परिवहन साधनों के विकास व उद्योगों की स्थापना से ही होती है।

अन्त में, यह कहा जा सकता है कि परिवहन साधनों के विकास से देश का आर्थिक विकास प्रभावित होता है। विश्व के सभी सम्पन्न देशों का विकास परिवहन साधनों के विकास के फलस्वरूप औद्योगिक विकास के कारण ही हुआ है।

मार्ग के आधार पर परिवहन साधनों का वर्गीकरण निम्न भागों में किया जा सकता है :

(I) सड़क परिवहन (Road Transport), (II) रेल (Railways), (III) जल परिवहन (Water Transport), (IV) वायु परिवहन (Air Transport)।

सड़क परिवहन (ROAD TRANSPORT)

सड़क परिवहन के साधन इस प्रकार हैं : (1) सिर पर बोझा (Head Load), (2) लद्दू पशु (Pack Animals), (3) बैलगाड़ी (Bullock-Carts), (4) मोटर ट्रक (Motor Truck)। इन सड़कों के स्थान पर अपनी सड़कें बनाकर चलने वाले साधनों में दो साधन और हैं—(5) रेल (Railways) व (6) नल (Pipe Lines)।

(1) सिर पर बोझा—परिवहन का यह साधन ऐसे पर्वतीय क्षेत्रों एवं पिछड़े क्षेत्रों में पाया जाता है जहाँ पर सड़कें बनाना आसान नहीं है। बड़े-बड़े नगरों में भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल लाने-ले जाने के लिए मजदूर मिलते हैं जो सिर पर बोझ रखकर ले जाते हैं।

(2) लदू पशु—इस साधन में जानवर की पीठ पर बोझा लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते हैं। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के जानवर इस कार्य के लिए काम में लाये जाते हैं; जैसे राजस्थान में ऊँट, उत्तरी भारत में गधे या घोड़े। गाँवों में बहुत-से व्यापारी इस प्रकार का साधन अपने यहाँ रखते हैं और थोड़ी मात्रा में अनाज, फल, दूध, धी इनकी पीठ पर बाँधकर पास की मण्डियों व शहरों में बेचने ले जाते हैं। इस साधन से सबसे बड़ा लाभ यह है कि जानवर सँकरे से सँकरे रास्ते से निकल सकते हैं। आज भी यह साधन भारतीय ग्रामीण एवं पर्वतीय क्षेत्रों में विस्तृत रूप से अपनाया जाता है।

(3) बैलगाड़ी—बैलगाड़ी काठ की बनी एक गाड़ी होती है जिसको बैलों की सहायता से खींचा जाता है। इसमें साधारणतया दो बैल लगाये जाते हैं, लेकिन कभी-कभी आवश्यकता के अनुसार दो से अधिक या कम भी लगा देते हैं। इसके दो पहिये होते हैं। बैलगाड़ी के अन्तर्गत हम रथ, रब्बा, बहली, मझोली, आदि को भी सम्मिलित करते हैं। कहीं-कहीं गाड़ी में बैल के स्थान पर ऊँट भी लगा देते हैं तो उसको ऊँटगाड़ी कहते हैं। इन गाड़ियों की क्षमता 3 टन से लेकर 5 टन तक की होती है, लेकिन यह क्षमता जानवर की नस्ल, संख्या व सड़क की दशा, आदि पर निर्भर होती है।

भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था में बैलगाड़ी का बहुत बड़ा महत्व होता है। भारत में 6 लाख से अधिक गाँव हैं जिनमें 68.84 प्रतिशत जनसंख्या रहती है। गाँव से शहरों को जाने वाली सड़कें कच्ची हैं जो वर्षा ऋतु में जलमग्न हो जाती हैं और ग्रीष्म ऋतु में रेत से ढक जाती हैं। ऐसी सड़कों पर मोटर ट्रक चलाना सम्भव नहीं होता है। अतः बैलगाड़ियाँ ही इन परिस्थितियों में उपयुक्त साधन हैं। देश में करीब 150 लाख बैलगाड़ियाँ हैं जिनमें अनुमानतः 3,000 करोड़ ₹ की पूँजी लगी है। इसमें 1 करोड़ व्यक्ति व 2 करोड़ जानवर लगे हुए हैं। यह बैलगाड़ियाँ 12.5 करोड़ टन माल परिवहन की सेवा प्रदान करती हैं।

बैलगाड़ियों के स्वामियों पर बैलों के ऊपर भरण-पोषण का कोई अतिरिक्त व्यय नहीं पड़ता है, क्योंकि बैल तो किसान को खेती की क्रियाओं को करने के लिए रखने ही पड़ते हैं। बैलों को खाने के लिए चारा व भूसा खेत में ही हो जाता है। जिस समय बैल खेतों के काम नहीं आते उस समय उनको परिवहन के काम में लाया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में बैलगाड़ी से सस्ता अन्य कोई साधन सुलभ नहीं होता है। इसका पूँजीगत व्यय, मरम्मत व्यय व संचालन व्यय बहुत कम होता है। यह गाँव में ही बन जाती है तथा मरम्मत भी गाँव में ही हो जाती है। किसान स्वयं ही गाड़ीवान (चालक) का कार्य करता है।

(4) मोटर ट्रक—आजकल मोटर ट्रक परिवहन का बहुत ही अच्छा, सस्ता व कम समय लेने वाला साधन है। यह साधन पिछले 6 दशकों में काफी विकसित हुआ है और इस स्थिति में आ गया है कि रेलों से डट कर प्रतिस्पर्धा करता है। इस समय देश में 8,118 हजार माल वाहक वाहन हैं जो माल ढोने का कार्य करते हैं।

(5) नल—नलों का प्रयोग नगरों में पानी की पूर्ति के लिए किया जाता है। भारत में अभी कुछ वर्षों में नलों का प्रयोग मिट्टी का तेल, पेट्रोल व गैस उत्पादन केन्द्रों से वितरण केन्द्रों तक पहुँचाने के लिए भी शुरू किया गया है। इस समय देश में नाहरकटिया से बरौनी तक 1,370 किलोमीटर, हल्दिया से बरौनी तक 525 किलोमीटर, गुवाहाटी से सिलीगुड़ी तक 425 किलोमीटर, बरौनी से कानपुर तक 667 किलोमीटर, सलाया से कोयली तक 411 किलोमीटर व वीरमगाँव से मथुरा तक 803 किलोमीटर लम्बी पाइप लाइनें हैं। तेल एवं प्राकृतिक गैस कॉर्पोरेशन भी गैस के लिए 26 इंच व्यास की व कच्चे तेल के लिए 30 इंच व्यास की मुम्बई समुद्र से यूरान (Uran) तक 220 किमी की पाइप लाइन डाल चुका है।

भारतीय गैस प्राधिकरण ने दुनिया की सबसे लम्बी (1,270 किलोमीटर) जामनगर-लोनी (गजियाबाद) एल.पी.जी. पाइप लाइन का निर्माण कार्य पूरा कर लिया है जिसका राष्ट्र को समर्पण 9 मई, 2001 को किया गया। इसकी लागत 1,250 करोड़ ₹ आई है। यह पाइप लाइन गुजरात में जामनगर से शुरू होकर उत्तर प्रदेश में लोनी पर समाप्त होती है। इसकी लम्बाई गुजरात में 522 किलोमीटर, राजस्थान में 610 किलोमीटर, हरियाणा में 75 किलोमीटर, दिल्ली में 6 किलोमीटर व उत्तर प्रदेश में 37 किलोमीटर है। इस पाइप लाइन

से एल.पी.जी. सिलिंडरों में गैस भरने की व्यवस्था अजमेर, जयपुर, हरियाणा के दियाला, दिल्ली के मदनपुर खादर और लोनी में की गई है।

भारत में सड़कों का विकास

भारतीय अति प्राचीन काल से सड़कों का महत्व समझते रहे हैं और यह सिद्ध हो चुका है कि इसा से 3,500 वर्ष पूर्व भारत में सड़कें थीं। रामायण, महाभारत, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, आदि सभी में सड़कों का विवरण मिलता है। मुगलकालीन शासकों ने भी सड़कों के विकास में विशेष रुचि दिखायी। अंग्रेजों ने महत्वपूर्ण व्यापारिक सड़कों की ओर ध्यान दिया। 1855 में सड़कों के निर्माण का कार्य सार्वजनिक निर्माण विभाग को सौंप दिया गया। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जनसाधारण में भी राजनीतिक चेतना आयी और वह सड़कों के सुधार की माँग करने लगा। अतः 1917 में भारतीय सड़क विकास समिति (Indian Road Development Committee) नियुक्त की गयी जिसने सड़कों के विकास पर जोर दिया तथा सड़क निधि संचय (Road Reserve Fund) की स्थापना की।

केन्द्रीय सरकार ने 1929 में सड़क निधि व 1934 में भारतीय सड़क कांग्रेस (Indian Road Congress) नामक अर्ध-सरकारी संस्था की स्थापना की। इस कांग्रेस का उद्देश्य सड़कों के विकास से सम्बन्धित बातों पर विचार-विमर्श करना तथा इससे सम्बन्धित ज्ञान एवं अनुभव का संचय करना है। दिसम्बर 1943 में केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों के इन्जीनियरों का सम्मेलन नागपुर में हुआ जिसमें सड़कों के विकास के लिए एक दस-वर्षीय योजना बनायी गयी जिसे 'नागपुर योजना' के नाम से जाना जाता है। इस योजना में 448 करोड़ ₹ की लागत से 4 लाख मील लम्बी सड़कें बनाने का प्रावधान था।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सड़कों के विकास पर नौवीं योजना के अन्त तक कुल 49,066.82 करोड़ ₹ व्यय व्यय किये गये।

योजनाकाल में सड़कों की प्रगति इस प्रकार रही है : भारत में 1950-51 में कुल 4 लाख किलोमीटर सड़कें थीं (1.57 लाख किलोमीटर पक्की व 2.43 लाख किलोमीटर कच्ची सड़कें) जिनकी लम्बाई वर्तमान में 49.49 लाख किलोमीटर हो गयी है।

पिछले 62 वर्षों में सड़कों की लम्बाई दस गुनी हो गयी है, लेकिन फिर भी भारत में सड़कें अन्य देशों की तुलना में कम हैं। यहां इस समय 100 वर्ग किलोमीटर में 75 किलोमीटर सड़कें हैं। भारत में 54 प्रतिशत के लगभग सड़कें कच्ची हैं।

भारत में सड़कों का वर्गीकरण

भारतीय सड़कों का जो वर्गीकरण नागपुर सम्मेलन में किया गया था वही वर्गीकरण आज भी मान्य है जिसके अनुसार सड़कें चार प्रकार की मानी गयी हैं :

(1) राष्ट्रीय राजमार्ग या राष्ट्रीय सड़कें—यह सड़कें राष्ट्रीय महत्व की हैं जो राज्य की राजधानियों, प्रमुख बन्दरगाहों व प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों को जोड़ती हैं। यही सड़कें पड़ोसी राज्यों की सड़कों को भी जोड़ती हैं; जैसे पाकिस्तान, बांग्लादेश, म्यांमार, नेपाल, आदि। इस समय ऐसी सड़कों की लम्बाई 79,1 हजार किलोमीटर है। इन सड़कों के रखरखाव का उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार पर है। वर्तमान में कुल 223 राष्ट्रीय राजमार्ग हैं जो सड़क यातायात के 40 प्रतिशत यातायात को ढोते हैं।

(2) राज्य राजमार्ग या राज्य की सड़कें—यह राज्यों की मुख्य सड़कें हैं जो राष्ट्रीय राजमार्ग व पड़ोसी राज्यों की सड़कों एवं मुख्य व्यापारिक केन्द्रों को जोड़ती हैं। इनके निर्माण एवं अनुरक्षण का उत्तरदायित्व राज्य सरकारों का होता है। इस समय इनकी लम्बाई 168.3 हजार किलोमीटर है।

(3) जिला मार्ग या जिले की सड़कें—यह प्रत्येक जिले की मुख्य सड़कें होती हैं जो एक ओर अन्य जिलों की मुख्य सड़कों से मिलती हैं व दूसरी ओर राज्य सड़कों से। यह सड़कें स्टेशन, यात्रियों, व्यापारिक केन्द्रों, आदि को जोड़ती हैं। इन सड़कों के रखरखाव का उत्तरदायित्व जिला प्रशासन पर होता है।

(4) ग्रामीण सड़कें—ये सड़कें गाँवों को जिले की सड़कों से मिलाती हैं तथा एक गाँव को दूसरे गाँव से जोड़ती हैं। इन सड़कों का उत्तरदायित्व ग्राम सभाओं व जिला परिषदों पर होता है।

भारत में सड़क परिवहन का विकास

सड़क परिवहन साधनों में मुख्यतः बैलगाड़ियों, बाइसिकिलों तथा मोटरगाड़ियों को सम्मिलित किया जाता है। भारत गाँवों का देश है जहाँ सड़कों की कमी है। अतः यहाँ बैलगाड़ी सड़क परिवहन का एक महत्वपूर्ण साधन है। आज देश में 1.5 करोड़ बैलगाड़ियाँ हैं जो लगभग 12.50 करोड़ टन माल ढोती हैं।

भारत में 1947-48 में 3.61 लाख बाइसिकिलें थीं, लेकिन आज देश में इनकी संख्या करोड़ों में है। पहले बाइसिकिलें विदेशों से आयात होती थीं, लेकिन आज देश में बाइसिकिलें बनाने के 8 बड़े व 300 छोटे कारखाने हैं जो प्रतिवर्ष 197 लाख बाइसिकिलें बनाते हैं।

भारत में प्रथम मोटरगाड़ी 1898 में आयात की गयी थी। देश में 1950-51 में पंजीकृत 306 हजार वाहन थे जो बढ़कर वर्तमान में 1,72,285 हजार हो गए हैं।

इस समय देश में 18 बड़े कारखाने हैं जो कारें, ट्रक व जीप बनाते हैं तथा 24 कारखाने स्कूटर, मोटर साइकिल व मोपेड बनाते हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त मोटर परिवहन में काफी विकास हुआ है। ढोये जाने वाले माल व यात्री सेवाओं में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है। 1950-51 में सड़क यातायात कुल यातायात का 11 प्रतिशत माल ढोता था जो वर्तमान में बढ़कर 60 प्रतिशत हो गया है। इसी प्रकार यात्री यातायात में 1950-51 में यह 20 प्रतिशत यात्री ले जाता था जो वर्तमान में बढ़कर 87.4 प्रतिशत हो गया है।

राष्ट्रीय राजमार्गों को 4 व 6 लेन तक चौड़ा करने, कश्मीर से कन्याकुमारी व सिल्चर से सौराष्ट्र और दिल्ली, मुंबई, चेन्नई व कोलकाता चारों महानगरों को जोड़ने के लिए राष्ट्रीय एकीकृत राजमार्ग परियोजना लागू की गई है। इस योजना की कुल लम्बाई 13,000 किलोमीटर है।

सड़क परिवहन की समस्याएँ एवं सुधार हेतु सुझाव

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सड़क परिवहन का काफी विकास हुआ है, लेकिन फिर भी यह विकास सन्तोषजनक नहीं है। इसका कारण सड़क परिवहन की समस्याएँ हैं जो कि निम्नलिखित हैं :

(1) **अपर्याप्त एवं बुरी सड़कें**—सड़क परिवहन की सबसे बड़ी एवं प्रमुख समस्या अपर्याप्त एवं बुरी सड़कों का होना है जिसमें दुर्घटनाएँ अधिक होती हैं। यहाँ प्रति 1,000 गाड़ियों के पीछे 31.8 दुर्घटनाएँ होती हैं। साथ ही यहाँ खराब सड़कों के कारण 3,470 करोड़ ₹ प्रतिवर्ष की हानि भी होती है। भारत में एक लाख जनसंख्या के पीछे 89 किलोमीटर पक्की सड़कें हैं जो कि बहुत ही कम हैं, इसके साथ-साथ यहाँ 50 प्रतिशत सड़कें कच्ची हैं। अतः सुझाव दिया जाता है कि सड़कों का विकास किया जाए व कच्ची सड़कों को पक्की सड़कों में बदला जाए। इस सम्बन्ध में भारत सरकार का ध्यान इस ओर गया है और वह इनके सुधार एवं विस्तार के लिए प्रयत्नशील है।

(2) **अनुरक्षण का अभाव**—भारत में सड़कों के अनुरक्षण पर राष्ट्रीय आय का 0.66 प्रतिशत व्यय किया जाता है जो कि अन्य उन्नत देशों की तुलना में बहुत ही कम है। जापान अपनी आय का 3 प्रतिशत, स्विट्जरलैण्ड 2.6 प्रतिशत, जर्मनी 2.9 प्रतिशत व्यय करते हैं। सड़कों के अनुरक्षण पर कम व्यय करने से परिवहन साधनों की चलने की लागत अधिक आती है तथा उनकी घिसावट अधिक होती है। अतः सरकार को अनुरक्षण पर अधिक व्यय करना चाहिए।

(3) **अत्यधिक कर भार**—भारत में एक मोटर वाहन पर करों का भार औसतन 3,700 ₹ आता है, जबकि अमरीका में 500 ₹, जापान व फ्रांस में 800 ₹ व ब्रिटेन में 1,300 ₹। पिछले कुछ वर्षों में इसमें और भी अधिक वृद्धि हुई है। इस प्रकार यह सुझाव दिया जाता है कि कर भार में कमी की जानी चाहिए।

(4) **वाहन-भार सीमाएँ**—मोटर ट्रकों के माल लादने की सीमाएँ बहुत ही कम हैं जिनमें मोटर ट्रक चलाने के व्यय भी पूरे नहीं होते हैं। अतः भाड़ा दरें ऊँची रखनी पड़ती हैं। सरकार को इस वाहन-भार सीमा में वृद्धि करनी चाहिए जिससे कि भाड़ा दरें कम हो सकें तथा लदान में वृद्धि हो सके।

(5) **आज्ञा-पत्र देने में देरी**—मोटर ट्रक व यात्री बसों के चलाने के लिए आज्ञा-पत्र देने में काफी समय लग जाता है। इससे मोटर ट्रक व बस बेकार खड़े रहते हैं तथा परिवहन साधनों के विकास में बाधा आती है। सरकार को आज्ञा-पत्र देने में देरी न करके शीघ्रता करनी चाहिए।

(6) **प्रतिस्पर्द्धी इकाइयाँ**—कुल मोटर परिवहन के मालिकों का 89 प्रतिशत ऐसा है जिनके पास केवल 1 ट्रक है तथा 9.8 प्रतिशत के पास 1 से 4 ट्रक हैं। इस प्रकार ट्रक मालिकों में बहुत अधिक प्रतिस्पर्द्धा पायी

जाती है जो व्यवसाय के विकास में एक प्रकार की बाधा उत्पन्न करती है। अतः सुझाव दिया जाता है कि द्रक मालिकों की छोटी-छोटी इकाइयाँ बनायी जायें जिससे कि वे कुशल प्रबन्ध कर सकें तथा अपना कार्यकौशल दिखा सकें।

(7) राज्यों में सहयोग एवं समन्वय का अभाव—प्रत्येक राज्य की अलग-अलग नीतियाँ हैं, लेकिन इन नीतियों का प्रभाव अन्तर्राज्यीय यातायात पर पड़ता है। उन्हें स्थान-स्थान पर कर देने के लिए रुकना पड़ता है जिसमें समय व्यर्थ जाता है तथा यात्रा लागत बढ़ती है। अतः राज्यों को चाहिए कि वे एक सहकारी एवं समन्वित नीति का अनुसरण करें जिससे कि सड़क परिवहन के विकास में कोई बाधा उपस्थित न हो।

(8) अपर्याप्त साख-सुविधाएँ—भारत में परिवहन साधनों को साख-सुविधाएँ देने के लिए पर्याप्त वित्तीय संस्थाएँ नहीं हैं जिसके अभाव में परिवहन साधनों का विकास धीमी गति से हो रहा है। इस सम्बन्ध में स्टेट बैंक व कुछ अन्य राष्ट्रीयकृत बैंकों द्वारा कुछ सहायता दी जा रही है, लेकिन देश की विशालता व आवश्यकताओं को देखते हुए यह अपर्याप्त है। अतः इन सुविधाओं का विस्तार किया जाना चाहिए।

(9) रात्रि विश्राम-गृहों का अभाव—सड़कों के सहारे रात्रि विश्राम-गृहों का अभाव है। अतः इस अभाव की पूर्ति के लिए सड़कों के किनारे विश्राम-गृहों का निर्माण किया जाना चाहिए।

(10) स्थानीय सरकारें—स्थानीय सरकारें जैसे, नगरपालिका, महापालिका, नगर निगम, आदि उनकी सीमा में बाहर से आने एवं जाने वाले वाहनों पर कर लगाती हैं जिससे परिवहन साधनों को कर चुकाने के लिए रुकना पड़ता है। इससे साधनों की गति मन्द पड़ जाती है व पहुंचने में काफी समय लग जाता है। अतः इस प्रकार के करों को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। सरकार इस कमी को दूर करने के लिए प्रयत्नशील है और केन्द्रीय सरकार ने सिद्धान्तः यह स्वीकार कर लिया है कि अब मोटर-ठेलों को न तो अन्तर्राज्यीय बैरियरों पर रुकना पड़ेगा और न परमिट लेने की आवश्यकता होगी।

भारत में रेल परिवहन का विकास

भारत में प्रथम रेल 16 अप्रैल, 1853 को 21 मील मार्ग पर बम्बई से थाना तक चली थी। यह मार्ग धीरे-धीरे बढ़कर 15 अगस्त, 1947 को 40,524 मील हो गया जिसमें से 6,539 मील पाकिस्तान को व शेष 33,985 मील भारत को मिला।

1 अप्रैल, 1951 से प्रथम पंचवर्षीय योजना आरम्भ की गयी तब से अब तक 64 वर्ष के नियोजन काल में रेलों में काफी विकास हुआ है।

इस काल (1950-51 से 2013-14) में यात्रियों की संख्या 128 करोड़ प्रतिवर्ष से बढ़कर 839.7 करोड़ प्रतिवर्ष हो गयी है। इस प्रकार ढोये गये माल की मात्रा भी 9.3 करोड़ टन से 105.8 करोड़ टन हो गयी है। 1950-51 में रेलमार्ग 53,596 किलोमीटर था जो 2013-14 में बढ़कर 6,58,000 किलोमीटर हो गया है। इसी समय विद्युत् रेलमार्ग 388 किलोमीटर से बढ़कर 21,600 किलोमीटर हो गया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि योजनाकाल में यात्रियों की मात्रा में सात गुना व ढोये गये माल की मात्रा में लगभग 12 गुना अधिक की वृद्धि हुई है यद्यपि रेलमार्ग केवल 1 गुना ही बढ़ा है। 1950-51 में 8,209 इंजन थे जिनकी संख्या वर्तमान में 9,213 हो गयी है, और माल के डिब्बों की संख्या 2.06 लाख से बढ़कर 2.29 लाख हो गयी है।

लेकिन भारत में रेलवे लाइनें अन्य विकसित देशों की तुलना में बहुत कम हैं। उदाहरण के लिए, भारत में प्रति 100 मील में 2.7 मील रेलवे लाइनें हैं, जबकि अमरीका में 6.6 मील, कनाडा में 16 मील, ब्रिटेन में 20 मील व बेल्जियम में 44 मील।

योजनाओं में रेलवे विकास की विशिष्ट बातें

योजनाओं के अन्तर्गत हुई रेलवे विकास की विशिष्ट बातें निम्नलिखित हैं :

(I) विद्युतीकरण—1950-51 में 388 किलोमीटर रेलमार्ग ही विद्युतयुक्त था जो वर्तमान में बढ़कर 21,600 किलोमीटर हो गया है। अगले कुछ वर्षों में देश के प्रमुख सात मुख्य मार्गों पर विद्युतीकरण का कार्य पूरा हो जायेगा। वर्तमान में, विद्युत् रेलमार्ग की दृष्टि से, भारत का एशिया में दूसरा व विश्व में ग्यारहवाँ स्थान है।

(II) इंजन—भारत में पहला डीजल इंजन सन् 1947 में अमरीका से आया था जिसको टाटानगर-राऊरकेला-बर्नपुर रेलमार्ग पर चलाया गया था। 1950-51 में भारत के पास केवल 17 डीजल इंजन थे, लेकिन आज इनकी संख्या 4,963 है। वर्तमान में रेलवे के पास 43 भाप इंजन, 5,197 डीजल इंजन व 4,309 बिजली के इंजन हैं।

(III) सन्देशवाहन व्यवस्था—रेलवे के द्वारा सन्देश भेजने के लिए टेलीफोन लड्डों का सहारा लिया जाता है, लेकिन मौसम की खराबी व टेलीफोन के लड्डों के तारों की चोरी के कारण यह प्रणाली विश्वासप्रद नहीं रही है। अतः अब रेलवे ने Super High Frequency and Channelling System पर आधारित सूक्ष्म तरंग पद्धति (Microwave System) लागू की है जो वर्तमान में 16,000 किलोमीटर रेलमार्ग पर अपनायी जा रही है।

(IV) सिग्नल व्यवस्था में सुधार—पहले यन्त्रीकृत सिग्नल काम में आते थे, लेकिन अब इनको बिजली सिग्नलों में बदला जा रहा है, जो लाल, हरे व पीले रंग के स्वचालित हैं। यह सिग्नल प्रणाली अधिक विश्वसनीय व वैज्ञानिक है।

(V) रेलों की गति में वृद्धि—रेलों की गति में बराबर वृद्धि की जा रही है। मार्च, 1969 से नई दिल्ली-हावड़ा के बीच एक रेलगाड़ी 'राजधानी एक्सप्रेस' के नाम से चलायी गयी जो 1,445 किलोमीटर का मार्ग 20 घण्टे में तय करती है। इसी प्रकार दूसरी रेलगाड़ी मई 1972 में दिल्ली व मुम्बई के बीच चलायी गयी। इस समय 28 राजधानी एक्सप्रेस विभिन्न मार्गों पर चल रही हैं। इसी प्रकार की कई अन्य तेज गति वाली गाड़ियाँ चलायी गयी हैं, जिन्हें 'सुपर एक्सप्रेस' कहा जाता है; जैसे गीतांजलि एक्सप्रेस, नवजीवन एक्सप्रेस, साबरमती एक्सप्रेस, कालका एक्सप्रेस, मीनार एक्सप्रेस, के. के. एक्सप्रेस, तमिलनाडु एक्सप्रेस, आदि यह गाड़ियाँ हैं। दिल्ली-भोपाल, दिल्ली-लखनऊ, दिल्ली-कालका, मुम्बई-अहमदाबाद नई दिल्ली-चण्डीगढ़, नई दिल्ली-अमृतसर, नई दिल्ली-अजमेर, व चेन्नई-मैसूर, आदि यह गाड़ियाँ हैं। कुछ रेलगाड़ियाँ शताब्दी एक्सप्रेस के नाम से चलायी गयी हैं जिनकी गति वर्तमान सभी गाड़ियों से अधिक है। कुछ इण्टरसिटी जन शताब्दी एक्सप्रेस 1 जुलाई, 2002 से चलाई गई। इन गाड़ियों में शताब्दी एक्सप्रेस की अधिकांश सुविधाएं हैं, लेकिन इनमें केवल द्वितीय श्रेणी कुर्सीयान सुविधा ही उपलब्ध है। अब शीघ्र ही एक रेलगाड़ी सुपर शताब्दी के नाम से दिल्ली और लखनऊ के बीच चलाई जा रही है जिसकी गति सभी रेलगाड़ियों से अधिक होगी।

(VI) रेल निर्माणक इकाइयाँ—रेलवे परिवहन के उपकरणों, इन्जनों व डिब्बों के बनाने के लिए भारत में निम्न चार प्रमुख कारखाने हैं जिनकी स्थापना स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् ही हुई है :

(1) चितरंजन लोकोमोटिव वर्क्स, कोलकाता—इस कारखाने की स्थापना 1950 में भाप के इंजन बनाने के लिए की गयी थी। इसमें 1960 से बिजली व डीजल इंजन बनने लगे हैं। वर्तमान में इसकी उत्पादन क्षमता 165 बिजली इंजन व 81 डीजल इंजन वार्षिक है।

(2) इण्टीग्रल कोच फैक्ट्री, पैराम्बूर (तमिलनाडु)—इस कारखाने से पहला डिब्बा अक्टूबर 1955 में बनकर निकला। बाद में डिब्बे को सजाने का कारखाना भी इसके साथ जोड़ दिया गया। इस प्रकार पहला सुसज्जित डिब्बा फरवरी 1975 में बनकर निकला। वर्तमान में इसकी क्षमता 1,600 डिब्बे प्रतिवर्ष है।

(3) इण्टीग्रल कोच फैक्ट्री, कपूरथला—इस फैक्ट्री में 1,100 सवारी गाड़ी के डिब्बे प्रतिवर्ष बनाये जाते हैं।

(4) डीजल लोकोमोटिव वर्क्स, वाराणसी—इस कारखाने में डीजल इंजन बनते हैं। पहला डीजल इंजन जनवरी 1964 में बनकर बाहर आया। वर्तमान में यह 200 से अधिक डीजल इंजन प्रतिवर्ष बनाता है।

(VII) माल परिवहन व्यवस्था में उन्नति—रेलवे से माल बहुत देर से पहुँचता था, अतः इसमें सुधार किया गया है। 1966 से कण्टेनर सेवा प्रारम्भ की गयी है। शीघ्रता से माल पहुँचाने के लिए प्रमुख शहरों के मध्य सीधी 'सुपर एक्सप्रेस मालगाड़ियाँ' चलायी जा रही हैं। 1969 में 'फ्रेट फारवर्ड स्कीम' लागू की गयी है जिसके अन्तर्गत 'फ्रेट फारवर्ड' छोटे-छोटे सामान को एकत्रित कर रेलवे को वैगन माल के रूप में देता है। इस समय यह सेवा 50 स्थानों के बीच लागू है।

रेलों का प्रबन्ध

भारत में रेलों की स्थापना ब्रिटिश कम्पनियों द्वारा की गयी थी। अतः इनका प्रबन्ध भी वे ही कम्पनियाँ करती थीं, लेकिन बाद में रेलों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। इस समय देश में 17 रेलवे जोन हैं; जैसे (1) मध्य रेलवे, मुम्बई; (2) पूर्वी रेलवे, कोलकाता; (3) उत्तर रेलवे, दिल्ली; (4) दक्षिणी रेलवे, चेन्नई (5) पश्चिमी रेलवे, मुम्बई; (6) पूर्वोत्तर रेलवे, गोरखपुर; (7) दक्षिण-पूर्वी रेलवे, कोलकाता; (8) पूर्वोत्तर सीमान्त रेलवे, गुवाहाटी; (9) दक्षिण-मध्य रेलवे, सिकन्दराबाद; (10) पूर्वी तटीय रेलवे, भुवनेश्वर; (11) उत्तर-मध्य रेलवे, इलाहाबाद; (12) पूर्वी-मध्य रेलवे, हाजीपुर; (13) दक्षिण-पश्चिम रेलवे, हुबली; (14) उत्तर-पश्चिम रेलवे, जयपुर; (15) पश्चिम-मध्य रेलवे, जबलपुर; (16) दक्षिण-पूर्व मध्य रेलवे, बिलासपुर व (17) कोलकाता मेट्रो (कोलकाता)।

प्रत्येक सरकारी इकाई का प्रबन्ध उसके महाप्रबन्धक (General Manager) द्वारा किया जाता है जो अपनी इकाई के लिए उत्तरदायी है। यह महाप्रबन्धक रेलवे बोर्ड (Railway Board) के अधीन कार्य करते हैं। रेलवे बोर्ड सीधा रेल मन्त्रालय, भारत सरकार के अन्तर्गत कार्य करता है जिसका उत्तरदायित्व रेल मन्त्री पर होता है।

रेल परिवहन का आर्थिक महत्व

रेल परिवहन के विकास से देश की अर्थव्यवस्था को लाभ हुआ है जिसका विवरण निम्न प्रकार है :

(1) कृषि का विकास—रेलों की सुविधा होने से कृषि का स्वरूप ही बदल गया है। पहले किसान अपनी व आस-पास की आवश्यकताओं के लिए ही कृषि उपज करता था, लेकिन आज उसके दृष्टिकोण में परिवर्तन आ गया है। वह उन पदार्थों को भी उत्पादित करता है जिनको निर्यात किया जाता है; जैसे चाय, कपास, पटसन, तम्बाकू, आदि या जिनका उपयोग देश के अन्दर ही अन्य स्थानों पर होता है।

(2) नाशवान वस्तुओं की बिक्री—रेलों द्वारा नाशवान वस्तुएँ जैसे फल, तरकारी, दूध, मक्खन, घी, गन्ना, मछलियाँ, आदि एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजी जाती हैं। इससे इन वस्तुओं के उत्पादन एवं बिक्री में वृद्धि हुई है।

(3) अकालों पर नियन्त्रण (Control on Famines)—भारत में अकाल पड़ना एक सामान्य बात थी लेकिन जब से रेलवे का परिवहन साधन के रूप में विकास हुआ है तब से अकाल पर न केवल नियन्त्रण ही कर लिया गया है, बल्कि अकाल पड़ना ही असम्भव हो गया है। रेलों द्वारा खाद्यान्न एक स्थान से दूसरे स्थान पर बहुत शीघ्र भेज दिया जाता है।

(4) मूल्यों में स्थिरता—देश में वस्तुओं के मूल्यों में जो विषमता रहती थी, रेलों के विकास से वह काफी हद तक कम हो गयी है, क्योंकि रेलों द्वारा आसानी से माल एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचा दिया जाता है।

(5) उद्योगों का विकास—देश में औद्योगीकरण का प्रादुर्भाव रेलों के विकास के साथ ही हुआ है। आज रेलों कोयला, लोहा-इस्पात, सीमेण्ट, जूट, सूती वस्त्र, आदि उद्योगों के विकास में योगदान दे रही हैं। रेलों के द्वारा ही सैकड़ों किलोमीटर दूर से कच्चा माल; जैसे कोयला, आदि उत्पादन स्थान तक पहुँचाया जाता है।

(6) नगरों की वृद्धि—भारत गाँवों का देश है जिसमें 6,40,390 लाख गाँव हैं। रेलों की स्थापना एवं इनके विकास से सैकड़ों गाँव व कस्बे नगरों में परिणत हो गये हैं, समुद्री बन्दरगाहों का विकास हुआ है। कानपुर नगर पहले एक छोटा-सा कस्बा था जिसकी आबादी 50 हजार के लगभग थी, लेकिन आज इसकी आबादी 27.17 लाख से अधिक है। यह रेलों के विकास के कारण ही सम्भव हुआ है।

(7) डाक सेवा—रेलों द्वारा 1890 से डाक सेवा प्रारम्भ की गयी है। आजकल रेलों प्रतिदिन हजारों टन डाक एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाती हैं। इससे सन्देशवाहन व संचार-व्यवस्था में उन्नति हुई है।

(8) निर्यात संवर्द्धन—रेलों द्वारा निर्यात संवर्द्धन में महत्वपूर्ण योगदान दिया गया है। रेलों के द्वारा निर्यात होने वाली वस्तुओं को पास के बन्दरगाह के स्टेशनों तक पहुँचा दिया जाता है जहाँ से निर्यातकर्ता का प्रतिनिधि सुपुर्दगी लेकर जहाज तक पहुँचाने का कार्य करता है।

(9) पर्यटन को प्रोत्साहन—रेलों पर्यटन को प्रोत्साहन देती है। इसके लिए रेलवे द्वारा सरकूलर टूअर टिकट भी बेचे जाते हैं जो अधिक-से-अधिक 90 दिन की अवधि तक के होते हैं। इससे रमणीक, धार्मिक, ऐतिहासिक व सांस्कृतिक स्थानों का विकास हुआ है।

(10) श्रम की गतिशीलता—रेलों ने श्रम में गतिशीलता ला दी है जिससे श्रमिक गाँव छोड़कर शहरों व कस्बों में आ गया है। इसका श्रमिक जीवन पर अच्छा प्रभाव पड़ा है। देश का आर्थिक विकास हुआ है।

रेल परिवहन की समस्याएँ

वर्तमान समय में रेलवे की कुछ समस्याएँ हैं जिनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं :

(1) बिना टिकट यात्रा—रेलवे प्रशासन की सबसे बड़ी समस्या बिना टिकट यात्रा करने वालों की है। इससे रेलवे को करोड़ों रुपयों की हानि होती है तथा टिकट लेकर चलने वाले यात्रियों के लिए असुविधा होती है। रेलवे को इस रोकथाम के लिए न्यायाधीशों व अन्य कर्मचारियों पर 10 करोड़ रुपया प्रतिवर्ष व्यय करना पड़ता है।

(2) रेल दुर्घटनाएँ—रेलवे की दूसरी समस्या दुर्घटनाएँ हैं। इससे रेलवे सम्पत्ति व जन-हानि होती है। यह दुर्घटनाएँ कई प्रकार की होती हैं; जैसे रेल का पटरी से उत्तर जाना, गाड़ी का नदी में गिर जाना, दो गाड़ियों में एक ही पटरी पर आने से टक्कर हो जाना, रेलवे फाटक खुल रह जाने पर टक्कर हो जाना, आदि।

समय-समय पर रेल प्रशासन और सरकार ने रेल दुर्घटनाओं की रोकथाम और सुरक्षा की वृद्धि के लिए सुझाव देने हेतु विभिन्न समितियों की नियुक्तियाँ की हैं और उनके सुझावों को लागू किया है, जैसे शाहनवाज समिति (1954), कुंजरू समिति (1964) एवं वांचू समिति (1969)। प्रयलों के बावजूद दुर्घटनाओं की समस्या हल नहीं हुई है। इसका मुख्य कारण एक तो कर्मचारियों का अनुत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से कार्य करना और दूसरे राजनीतिक कारणों से तोड़-फोड़ होना है।

(3) गाड़ियों में भीड़-भाड़—रेलवे की तीसरी समस्या द्वितीय श्रेणी के डिब्बों में भीड़-भाड़ का होना है। इसका कारण एक तो गाड़ियों में डिब्बों की संख्या कम होना व दूसरी ओर बढ़ती हुई जनसंख्या, व्यापार व शिक्षा का होना है। इस ओर रेल प्रशासन ध्यान दे रहा है लेकिन डिब्बों व इन्जनों की कमी इसमें सबसे बड़ी बाधा है।

(4) रेलों में भ्रष्टाचार—रेलवे प्रशासन की चौथी समस्या रेलवे में बढ़ता हुआ भ्रष्टाचार है। यह भ्रष्टाचार माल के बुक करते समय या माल के उतारते व चढ़ाते समय, कम या अधिक तौलकर, या माल में से बाद में चोरी करके या कम किराया वसूल करके किया जाता है। कभी-कभी यात्रियों से टिकट के पैसे लेने पर भी रसीद न देकर या स्टेशन से बिना टिकट निकल जाने, आदि के द्वारा भी किया जाता है।

(5) रेलों में डकैतियाँ—रेल प्रशासन के समक्ष अब एक नवीन समस्या रेलों में डकैतियों की है जिनकी संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही है। इस सम्बन्ध में कुछ राज्य सरकारों व केन्द्र सरकार ने आवश्यक कदम उठाये हैं। महत्वपूर्ण रेलों में सुरक्षा गार्डों की व्यवस्था कर दी गयी है, लेकिन फिर भी यह कदम पूर्ण नहीं है।

(6) सम्पत्ति व सामान की चोरी—प्रति वर्ष करोड़ों रुपये की रेलवे सम्पत्ति या जनता द्वारा भेजा गया माल रास्ते में चुरा लिया जाता है। सरकार ने इसको रोकने के लिए रेल सुरक्षा दल, आदि तैनात किये हैं, लेकिन वे अभी पर्याप्त मात्रा में नहीं हैं। अतः इनकी संख्या बढ़ायी जानी चाहिए।

(7) गाड़ियों में समय का पालन न होना—रेलवे की सातवीं समस्या गाड़ियों का समय पर न चलना है। इसके कारण रेलवे संचार व्यवस्था में खराबी आ जाना, बाढ़, वर्षा, नागरिक उपद्रव, मेला या तीर्थ यात्रा, आदि हैं। कभी-कभी रेल कर्मचारी ओवरटाइम के लालच में भी रेलों को धीमी गति से चलाते हैं। अतः सरकार को ओवरटाइम देने की प्रथा बन्द कर देनी चाहिए।

(8) अन्तर्माप की समस्या—रेलवे की एक समस्या अन्तर्माप की भी है। यहाँ तीन प्रकार की रेलवे लाइनें हैं—बड़ी, छोटी व सँकरी। इससे रेलवे को भारी असुविधा होती है, क्योंकि विभिन्न स्थानों पर माल को एक गाड़ी से उतारकर दूसरी गाड़ी में चढ़ाना पड़ता है। इससे टूट-फूट होती है, समय लगता है व लागत बढ़ती है। अतः अब छोटी लाइनों को बड़ी लाइनों में धीरे-धीरे बदला जा रहा है।

(9) चैन खींचना व हौज पाइप काटना—रेलवे में गाड़ियों की चैन खींचकर या उनके हौज पाइप काटकर चलती गाड़ी को रोकना एक साधारण बात हो गयी है। इससे गाड़ियों के पहुँचने में देरी होती है व बिना टिकट यात्रा को प्रोत्साहन मिलता है। रेलवे को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

जल परिवहन (WATER TRANSPORT)

परिवहन के साधनों में जल परिवहन साधन बहुत ही प्राचीन साधन है। यह साधन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उस समय एक महत्वपूर्ण साधन था, जबकि रेलों का जन्म भी नहीं हुआ था, वायु परिवहन की कल्पना तक नहीं थी तथा सड़क परिवहन अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था।

प्रत्येक राष्ट्र के लिए जल परिवहन साधन का अपना महत्व है। इसी बात को जल परिवहन के लाभ के स्पष्ट में व्यक्त कर सकते हैं :

(1) परिवहन का सस्ता साधन—जल परिवहन सबसे सस्ता साधन है। इसके तीन कारण हैं : (i) इस साधन में न तो सड़क बनानी पड़ती है और न रेल की पटरी ही बिछानी पड़ती है। (ii) इस साधन में सड़कों या रेलमार्गों की भाँति उनको कार्यशील बनाये रखने के लिए कुछ भी व्यय नहीं करना पड़ता है। (iii) किसी भी भार को पहियों की अपेक्षा पानी में खींचने में कम खर्च करना पड़ता है।

(2) कम पूँजीगत व्यय—यदि एक किलोमीटर रेलमार्ग बनाया जाता है तो उसका व्यय 15 लाख ₹ से 20 लाख ₹ तक आता है। इसी प्रकार यदि एक किलोमीटर सड़क बनायी जाती है तो उसका व्यय लगभग 1 लाख रुपये आता है जबकि राष्ट्रीय राजपथ का 4 से 5 लाख ₹ तक आता है, लेकिन समुद्री मार्ग या नदी मार्ग बनाने में कोई व्यय नहीं करना पड़ता है।

(3) अधिक क्षमता—जलयान की भार खींचने की क्षमता रेल या सड़क परिवहन साधनों से अधिक होती है। ऐसा अनुमान है कि एक नाव या जहाज अपनी भार क्षमता के 7: गुने तक खींचने की क्षमता रखता है। साथ ही जलयान व नावों की धिसावट भी रेल या सड़क परिवहन साधनों से कम होती है।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की जननी—जल परिवहन साधन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के जनक माने जाते हैं। इसी माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास हुआ और भविष्य में भी इसी के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति होने की सम्भावनाएँ हैं। इसका कारण यह है कि समुद्र, रेल, वायुयान, आदि के माध्यम से माल भेजने में लागत अधिक आती है।

(5) राष्ट्रीय सुरक्षा—राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से जलमार्ग बहुत ही महत्वपूर्ण है। शत्रु के देश द्वारा पुलों, रेलमार्गों व सड़क मार्गों को नष्ट किया जा सकता है लेकिन वह जलमार्गों को नष्ट नहीं कर सकता है।

(6) एकमात्र साधन—जल परिवहन कुछ क्षेत्रों के लिए तो एकमात्र साधन है; जैसे पहाड़ी ढालों, घने वनों, बर्फीले स्थानों पर जलमार्ग ही एकमात्र साधन है जिससे माल व यात्री एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाये जा सकते हैं।

(7) थोक दुलाई के लिए उपयुक्त—यह साधन थोक दुलाई (Bulk Carriage) के लिए बहुत ही उपयुक्त, सस्ता एवं सुविधाजनक है। इससे समय की बचत होती है। एक बड़ा बड़ा बड़ा रेलगाड़ी व चार मझली किस्म की रेलगाड़ी के बराबर भार ले जाने में समर्थ होता है।

(8) तटीय व्यापार की दृष्टि से महत्वपूर्ण—भारत का समुद्रतटीय क्षेत्र काफी विशाल है। यहाँ कई बन्दरगाह तथा वर्ष भर पानी देने वाली नदियाँ हैं। अतः तटीय जल परिवहन का विकास किया जा सकता है।

(9) आर्थिक विकास—जल परिवहन आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देता है। इसके माध्यम से देश से बाहर माल भेजा जा सकता है तथा विदेशों से माल मँगाया जा सकता है।

जल परिवहन के प्रकार

जल परिवहन दो प्रकार का होता है—(I) आन्तरिक जल परिवहन (Inland Water Ways) व (II) सामुद्रिक या जहाजरानी परिवहन (Shipping)। आन्तरिक जल परिवहन में देश के भीतर आन्तरिक भागों में नदियाँ एवं नहरों से किये जाने वाले परिवहन को शामिल किया जाता है, जबकि सामुद्रिक या जहाजरानी परिवहन में समुद्र के माध्यम से देश के बाहर माल व यात्री भेजने या प्राप्त करने के साधनों को शामिल किया जाता है।

(I) आन्तरिक जल परिवहन

भारतीय अर्थव्यवस्था में आन्तरिक जल परिवहन का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। देश में महत्वपूर्ण औद्योगिक नगरों की स्थापना एवं उनके विकास का श्रेय भी आन्तरिक जल परिवहन को ही है। बंगाल के जूट उद्योग, असम के चाय उद्योग व बिहार के नील उद्योग के विकास में भी आन्तरिक जल परिवहन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

भारत में जल परिवहन काफी प्राचीन है। इसा से 300 वर्ष पूर्व के समय में भी भारतीय जल परिवहन का खूब उपयोग होता था। इसके प्रमाण कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलते हैं। यूनानी यात्री मैगस्थनीज के यात्रा-वर्णन में भी जल परिवहन के बारे में उल्लेख मिलता है और उसने लिखा था कि देश में 58 ऐसी नदियाँ हैं जो जल परिवहन के योग्य हैं, लेकिन रेलमार्ग के विकसित होने से इस पर प्रभाव पड़ा और उसका महत्व धीरे-धीरे कम होने लगा। देश के विभाजन का भी प्रभाव पड़ा।

स्वतन्त्रा-ग्रासि के पश्चात् भारत सरकार ने आन्तरिक जल परिवहन के विकास पर बल दिया है।

वर्तमान समय में भारत 14,500 किलोमीटर के लगभग आन्तरिक जल मार्ग का उपयोग करता है, यद्यपि यहाँ 7,517 किलोमीटर लम्बे परिवहन योग्य जल-मार्ग हैं। इसी प्रकार 4,300 किलोमीटर लम्बी नहरें देश में हैं, लेकिन यहाँ केवल 900 किलोमीटर लम्बी नहरों का ही उपयोग होता है। देश में आन्तरिक जल परिवहन के प्रमुख मार्ग इस प्रकार हैं—गंगा एवं ब्रह्मपुत्र तथा इनकी सहायक नहरें, गोदावरी एवं कृष्णा तथा इनकी नहरें, आन्ध्र प्रदेश तथा तमिलनाडु से बंकिंघम नहर, गोवा की मण्डोवी व जौरी नदियाँ।

दामोदर घाटी योजना के अन्तर्गत 137 किलोमीटर लम्बा नहर मार्ग का निर्माण किया गया है जो सिंचाई के साथ-साथ जल परिवहन के कार्य भी आता है। यह नहर रानीगंग को हुगली होते हुए कोलकाता से जोड़ती है। फरक्का पर जो बाँध भारत बना रहा है उसके पूरा हो जाने पर गंगा व हुगली नदी के मध्य भागीरथी होते हुए आन्तरिक जल परिवहन का विकास किया जायेगा। आन्तरिक जल परिवहन की व्यवस्था सुधारने के लिए पांच राष्ट्रीय जल मार्ग बनाए जा चुके हैं और छठे राष्ट्रीय जल मार्ग की घोषणा की जा चुकी है।

आन्तरिक जल परिवहन भारत के लिए निम्न प्रकार लाभकारी है :

(1) आन्तरिक जल परिवहन भारत के लिए बहुत ही लाभकारी है। यह एक सस्ता साधन है। इसमें न तो रेलमार्ग विछाने पड़ते हैं और न सड़कें ही बनानी पड़ती हैं। यह सेवा प्रकृति द्वारा निःशुल्क प्रदान की जाती है। (2) आन्तरिक जल परिवहन साधनों में कम शक्ति का प्रयोग होता है। (3) इस साधन से भारी माल कम व्यय में एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाया जा सकता है। इससे आन्तरिक व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। (4) युद्ध के समय में भी यह मार्ग बेकार नहीं होता है और न शत्रु इस मार्ग को नष्ट कर पाता है। इस प्रकार इस साधन से माल के साथ-साथ युद्ध सामग्री भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचायी जा सकती है। (5) बाढ़ के समय जबकि सड़क साधन निष्क्रिय हो जाते हैं यह साधन बराबर कारगर बना रहता है। (6) पहाड़ी क्षेत्रों के लिए तो यह एकमात्र साधन है।

भारत में जल परिवहन के विकास के लिए पर्याप्त प्राकृतिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं—(1) यहाँ अधिकांश नदियों में वर्ष भर पानी रहता है। (2) शीतकाल में यहाँ की अनेक नदियों में बर्फ नहीं जमती है। अतः बर्फ को हटाने के लिए व्यय भी नहीं करना पड़ता है। (3) यहाँ पर नदी-घाटी योजनाओं के अन्तर्गत कई लम्बी-लम्बी नहरें बनायी गयी हैं जो सिंचाई के लिए पानी उपलब्ध कराती हैं। इन नहरों को जल परिवहन के रूप में भी काम में लाया जा सकता है। (4) भारतीय नदियाँ चौड़ी हैं इस कारण उनमें बड़ी-बड़ी नावें चलायी जा सकती हैं। (5) भारत की भूमि समतल होने के कारण नदियाँ भी समतल हैं। अतः उसमें परिवहनों के चलने में कोई असुविधा नहीं होती है।

(II) सामुद्रिक या जहाजरानी परिवहन

प्राचीनकाल में भारत का सामुद्रिक परिवहन साधन उज्ज्ञति के उच्च शिखर पर था। इसीलिए भारत के व्यापारिक सम्बन्ध एशिया के देशों से ही नहीं वरन् यूरोप के देशों से भी थे। भारत को उस समय ‘पूर्वी सागरों की रानी’ (Mistress of Eastern Sea) कहा जाता था तथा इसका मिस्र, यूनान, रोम, आदि जैसे प्राचीन सभ्यता वाले देशों से भी सम्बन्ध था। भारत के सामुद्रिक परिवहन साधनों की ख्याति मुगल शासनकाल तक बनी रही।

भारत में आधुनिक सामुद्रिक परिवहन के विकास का शुभारम्भ 1854 से हुआ, जबकि ‘ब्रिटिश इण्डिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी’ की स्थापना हुई। इस कम्पनी का तटीय व्यापार (Coastal Trade) में तो एकाधिकार-सा था जिसे वह अनेक वर्षों तक बनाये रखी। 1893 से एक कम्पनी टाटा द्वारा व 1906 में स्वदेशी शिपिंग कम्पनी बनायी गयी, लेकिन यह प्रयत्न सफल नहीं हुए। 1919 में एक भारतीय उद्योगपति बालचन्द हीराचन्द के प्रयासों से सिन्धिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी की स्थापना की गयी, लेकिन ब्रिटिश कम्पनियों की प्रतियोगिता

के कारण भारतीय जहाजरानी अभी भी अपने पैर जमाने में असमर्थ ही रही। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय इसकी क्षमता विश्व जहाजरानी की केवल 2.4 प्रतिशत ही थी। स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय भारतीय जहाजी बेड़े में 59 जहाज थे और उनकी माल ढोने की क्षमता 1.92 लाख GRT थी।

योजनाकाल में भारतीय जहाजरानी की प्रगति

प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ करते समय देश में जहाजरानी की क्षमता 3.7 लाख GRT थी व जहाजों की संख्या 94 थी जो आज (2014-15) बढ़कर क्रमशः 104.5 लाख GRT व 1,209 हो गयी है।

योजनाकाल में भारतीय जहाजरानी ने भारत से माल ले जाने में अच्छी उन्नति की है। 1955-56 में विदेशी व्यापार में भारतीय जहाजों का हिस्सा 6.5 प्रतिशत था जो 1980 में 40% तक पहुंच गया था, लेकिन 2011-12 में केवल 10.4 प्रतिशत हो गया है।

भारतीय जहाजरानी की वर्तमान स्थिति

भारतीय जहाजरानी का विश्व में 18वाँ एवं एशिया में दूसरा स्थान है तथापि इसकी क्षमता विश्व जहाजरानी की तुलना में 1.1 प्रतिशत है। आज भारतीय जहाज विश्व के सभी समुद्री मार्गों पर चलते हैं। दो कम्पनियाँ (भारतीय नौवहन निगम व मुगल लाइन्स लिमिटेड) सार्वजनिक क्षेत्र में हैं शेष निजी क्षेत्र में। भारतीय नौवहन निगम सबसे बड़ी कम्पनी है। निजी क्षेत्र की अन्य महत्वपूर्ण कम्पनियाँ हैं सिन्धिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी, इण्डियन स्टीमशिप कम्पनी, ग्रेट ईस्टर्न शिपिंग कम्पनी, साउथ इण्डिया शिपिंग कॉर्पोरेशन, आदि।

भारतीय जहाजरानी संगठन

भारतीय जहाजरानी के सफल संचालन के लिए तीन संस्थाएँ : (1) राष्ट्रीय नौवहन बोर्ड—यह बोर्ड केन्द्रीय सरकार को जहाजरानी के मामलों में समय-समय पर सलाह देता है। (2) जहाजरानी समन्वय समिति—यह समिति केन्द्रीय भूतल परिवहन मन्त्रालय के अन्तर्गत कार्य करती है। इसका कार्य सरकार व जहाज कम्पनियों के बीच समन्वय करना है जिससे कि अधिक-से-अधिक क्षमता का उपयोग किया जा सके। (3) अखिल भारतीय जहाजरानी परिषद्—यह परिषद् पोत सम्मेलनों में शिपिंग कम्पनियों के बीच किराया व अन्य जहाजी समस्याओं पर समझौता करती है। इसके अतिरिक्त भारतीय राष्ट्रीय जहाजरानी मालिक संघ भी है जो राष्ट्रीय जहाजरानी को प्रोत्साहन देने, जहाज बनाने व सम्बन्धित कार्यों के करने में अपना सहयोग देता है।

जहाजरानी निर्माण या पोत निर्माण

भारत में इस समय चार समुद्री जहाज निर्माण करने वाली संस्थाएँ हैं जो सार्वजनिक क्षेत्र में हैं :

(1) हिन्दुस्तान शिप्यार्ड, विशाखापटनम—यह शिप्यार्ड अब तक 80 जहाज बना चुका है। इस यार्ड की क्षमता प्रतिवर्ष 21,400 DWT के 4.3 जहाज बनाने की है, लेकिन इसको 80,000 DWT के 14 जहाज बनाने की क्षमता तक लाया जा रहा है। यह कारखाना काफी उन्नति कर रहा है। यहाँ एक जहाज घाट प्रशिक्षण स्कूल भी है।

(2) कोचीन शिप्यार्ड—यह शिप्यार्ड अप्रैल 1972 में जापान की एक फर्म के साथ स्थापित किया गया है जिसने अपना उत्पादन फरवरी 1976 से प्रारम्भ कर दिया है। यह एशिया का सबसे बड़ा शिप्यार्ड है। यहाँ थोक वाहन (Bulk Carriers), जिनका आसार 86 हजार DWT या इससे अधिक होता है, बनाये जाते हैं। यहाँ 5 जहाज एक वर्ष में बनाने की क्षमता है।

(3) मझगाँव डाक, मुम्बई—यह इकाई भारतीय जल सेना के लिए पोत बनाने के उद्देश्य से स्थापित की गयी है, लेकिन इसके द्वारा बड़े पोत, यात्री पोत, माल-यात्री पोत, आदि भी बनाये जा सकते हैं। इसकी एक सहायक कम्पनी भी है जिसका नाम गोवा शिप्यार्ड लिमिटेड है जो जहाजों की मरम्मत करती है तथा लंगर, आदि बनाती है। इस समय मझगाँव डाक इकाई शिपिंग कॉर्पोरेशन ऑफ इण्डिया के लिए दो यात्री एवं मालवाहक जहाजों का निर्माण कर रही है।

(4) गार्डन रीच वर्कशॉप, कोलकाता—पहले यह इकाई जलपोतों के लिए कल-पुर्जी, लंगरों, आदि का निर्माण करती थी, लेकिन अब इसकी क्षमता प्रतिवर्ष दो जहाज बनाने की है जो 15 हजार से 35 हजार DWT की क्षमता के होते हैं।

भारतीय व्यापार की प्रगति को देखते हुए भारत की जहाज निर्माण क्षमता कम है जो 2.5 लाख टन से 3 लाख टन वार्षिक ही है। अतः इस क्षमता के विस्तार करने की आवश्यकता है।

वायु परिवहन (AIR TRANSPORT)

वायु परिवहन आधुनिक युग की नवीनतम एवं क्रान्तिकारी भेंट है जिसके माध्यम से हजारों किलोमीटर दूर कुछ घण्टों में ही पहुंच सकते हैं। इससे समय की बचत होती है। भौगोलिक कठिनाइयों पर विजय पा सकते हैं। अप्राप्य स्थानों की खोज कर सकते हैं। अकाल से अपने आपको बचा सकते हैं। देश की रक्षा उचित एवं प्रभावकारी ढंग से कर सकते हैं।

भारत के लिए वायु परिवहन आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक व सभी दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण एवं लाभकारी है।

संक्षेप में, इसके महत्व या लाभ निम्न प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं :

(1) **वाणिज्य विस्तार**—व्यावसायिक दृष्टि से वायु परिवहन बहुत महत्वपूर्ण एवं लाभकारी है। थोड़े-से समय में ही नाशवान, मूल्यवान एवं कलात्मक वस्तुओं को विदेशों में भेजा जा सकता है तथा विदेशों से उन्हें मँगाया जा सकता है। वायु परिवहन का ही फल है कि आज भारत से आम, केले, सन्तरे व अन्य फल विदेशों को भेजे जा रहे हैं। औद्योगिक वस्तुएँ भी वायु परिवहन साधनों से विदेशों को भेजी जा रही हैं। इससे निर्यात में वृद्धि हो रही है। कच्चा माल व अन्य आवश्यक वस्तुएँ भी इसी प्रकार विदेशों से मँगायी जा रही हैं। इस प्रकार वाणिज्य का विस्तार हो रहा है।

(2) **कृषि के विकास में सहायक**—इससे समय-समय पर कीटनाशक दवाइयों को खेतों में छिड़ककर टिह्डियों व अन्य कीटाणुओं का नाश किया जा सकता है। भारत 1954 से इस सेवा का उपयोग कर रहा है। वायु परिवहन से खेतों में खाद भी छिड़की जा सकती है। इस प्रकार कृषि विकास में यह सहायक होता है।

(3) **सुरक्षा एवं शान्ति**—वायु परिवहन देश की सुरक्षा के लिए एक अचूक यन्त्र है। इसकी सहायता से विदेशी आक्रमणों को रोका जा सकता है तथा दुश्मन देश को सबक सिखाया जा सकता है। भारत-पाक युद्ध के समय या गोवा की स्वतन्त्रता के समय वायु परिवहन ने अपना कौशल दिखा दिया है।

शान्ति काल में वायु परिवहन के माध्यम से सर्वेक्षण करा सकते हैं। विभिन्न देशों से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। प्राकृतिक संकट के समय खाद्य पदार्थ व दवाइयाँ, आदि को भी संकटग्रस्त स्थान तक पहुंचा सकते हैं। भारत में बाढ़ग्रस्त क्षेत्रों में खाने व दवाई के पैकिटों का वितरण कार्य इसी के द्वारा किया जाता है।

(4) **भौगोलिक बाधाओं से मुक्ति**—वायु परिवहन में भौगोलिक बाधाओं से मुक्ति मिल जाती है। अतः समुद्र, रेगिस्तान, बर्फीले प्रदेश, नदी, नाले, आदि इसके कार्य में कोई बाधा उपस्थित नहीं कर पाते हैं। यही कारण है कि आज भी हजारों फुट की ऊँचाई पर भारतीय सेना अपने देश के प्रहरी का कार्य कर रही है।

(5) **स्वास्थ्य में सुधार**—विमान परिवहन जनसाधारण के स्वास्थ्य के काम में भी लाया जा सकता है। इससे दवाइयों का छिड़काव कर जनस्वास्थ्य में सुधार किया जा सकता है। मलेरिया या ऐसे ही अन्य रोगों के कीटाणुओं को नष्ट किया जा सकता है।

(6) **वनों की रक्षा**—वनों में कभी-कभी ऐसी भयानक आग लग जाती है कि उसको किसी भी प्रकार से बुझाना सम्भव नहीं होता। ऐसी स्थिति में वायु परिवहन सहायता कर सकता है और ऊपर से आग बुझा सकता है।

(7) **पर्यटन उद्योग को प्रोत्साहन**—वायु परिवहन पर्यटन उद्योग को प्रोत्साहन देता है। इससे करोड़ों रुपये की विदेशी मुद्रा मिलती है।

फेयर एवं विलियम्स के अनुसार, “मनुष्य को उपलब्ध विभिन्न साधनों में वायु परिवहन सबसे नवीनतम, सबसे अधिक विकासशील, सबसे अधिक चुनौती देने वाला और हमारे आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन में सबसे अधिक क्रान्ति उत्पन्न करने वाला है।”

भारत में वायु परिवहन का विकास

भारत में प्रयोगात्मक उड़ानें 1919 में प्रारम्भ हुई थीं, लेकिन आधुनिक विमान परिवहन का वास्तविक शुभारम्भ 1927 में हुआ जबकि भारत सरकार ने नागरिक उड़ायन विभाग की स्थापना की। 1929 में ब्रिटेन, हॉलैण्ड व फ्रांस में प्रथम बार साम्राज्य वायु-सेवा (Empire Air Services) के वायुयान भारत में उतरे और यहाँ से यात्रियों को उन देशों में उड़ाकर ले गये। इस प्रकार अनुसूचित विमान सेवा की यहाँ प्रथम बार

शुरुआत हुई। इसी समय इम्पीरियल एअरवेज नामक ब्रिटिश कम्पनी ने कराँची व दिल्ली के बीच नियमित हवाई सेवा प्रारम्भ की। 1932 में 15 अक्टूबर को कराँची व मद्रास के बीच टाटा बन्धुओं ने एक स्वदेशी सेवा प्रारम्भ की। 1933 में इण्डियन नेशनल एअरवेज लिमिटेड नामक एक और संस्था भारत में बनी जिसने कराँची व लाहौर तक विमान सेवा प्रारम्भ की। 1935 में टाटा ने बम्बई-त्रिवेन्द्रम व 1937 में बम्बई-दिल्ली सेवा प्रारम्भ की। 1936 में एअर सर्विसेज ऑफ इण्डिया लिमिटेड नामक एक तीसरी संस्था भारत में बनी, लेकिन हानि के कारण 1939 में बन्द हो गयी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने पर भारत की वायुयान सेवा पर प्रभाव पड़ा। इम्पीरियल एअर सर्विस ने अपनी सेवाएँ बन्द कर दीं। भारत की अन्य कम्पनियाँ भी देश की रक्षा में लग गयीं, लेकिन इससे विमान मार्गों में वृद्धि हुई। युद्ध के उपरान्त 1946 में कम्पनियों को अपनी उड़ान भारत में करने के लिए अनुज्ञापत्र (Licence) लेना अनिवार्य कर दिया गया। अतः वायु परिवहन लाइसेंस बोर्ड की स्थापना की गयी। 1947 के प्रारम्भ में वायुयान सेवा की 27 कम्पनियाँ थीं। प्रशिक्षण सुविधा बढ़ाने के लिए एक वैज्ञानिक स्कूल सहारनपुर में उसी वर्ष खोला गया। सन् 1948 में एक विमान चालक प्रशिक्षण केन्द्र इलाहाबाद में स्थापित किया गया।

लेकिन स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् वायु सेवा का राष्ट्रीयकरण करने के लिए सरकार पर दबाव पड़ना प्रारम्भ हो गया। अतः 1950 में इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक समिति बनायी गयी जिसने राष्ट्रीयकरण को अगले पाँच वर्षों तक न करने की सलाह दी, लेकिन सरकार ने 1953 में इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया और आठ कम्पनियों का काम अपने हाथ में ले लिया जिसके फलस्वरूप दो निगमों की स्थापना हुई। देश के भीतर सेवाओं के लिए भारतीय विमान निगम (Indian Airlines Corporation), अन्तर्राष्ट्रीय सेवाओं के लिए अन्तर्राष्ट्रीय भारतीय विमान निगम (Air India International Corporation)। अगस्त 1953 में इन दोनों निगमों ने अपनी सेवाएँ प्रारम्भ कीं, लेकिन 26 जनवरी, 1981 से एक तीसरी सेवा वायुदूत के नाम से प्रारम्भ की गयी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् वायु परिवहन ने काफी प्रगति की है।

वायु परिवहन की वर्तमान स्थिति

- वर्तमान में वायु परिवहन कम्पनियां सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र अर्थात् दोनों ही क्षेत्र में हैं।
- सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियाँ—सार्वजनिक क्षेत्र की इण्डियन ‘एयरलाइंस’ एवं ‘एअर इण्डिया’ का अगस्त, 2007 में विलय करके इसका नाम ‘द नेशनल एविएशन कम्पनी ऑफ इण्डिया लि.’ कर दिया गया, लेकिन नवम्बर, 2010 में इसका नाम बदल कर एअर इण्डिया लि. कर दिया गया। सार्वजनिक क्षेत्र की अन्य कम्पनियाँ हैं—इण्डियन चार्टर्स लि. (एयर इण्डिया एक्सप्रेस) और एलायंस एअर।
- वर्ष 2008-09 में एअर इण्डिया पर पर 31 जहाज थे, जिनमें 11 बोइंग जहाज और 20 एअर बस थीं वर्ष 2008-09 में इनके द्वारा कुल 28.34 लाख सवारियों (24.52 लाख अन्तर्राष्ट्रीय तथा 3.82 लाख घरेलू) यात्रियों और 73,809 टन माल (65,442 टन अन्तर्राष्ट्रीय और 8,367 टन घरेलू) ले जाया गया।
- एलायंस एअर 15 अप्रैल, 1996 को एक अलग कम्पनी के रूप में स्थापित हुई। 2008-09 में इसके बेड़े में 16 जहाज थे, जिनमें 6 बोइंग, 3 CRJ तथा 7 ATR जहाज थे। 2008-09 में इनके द्वारा 3.18 लाख यात्रियों और 11,963 टन माल ले जाया गया। एअर इण्डिया एक्सप्रेस के बेड़े में इस समय 6 अपने बी 737-800 विमान हैं और 7 किराए (लीज) के विमान हैं। केरल/खाड़ी देशों के मध्य 26 उड़ानें शुरू करने के साथ एअर इण्डिया एक्सप्रेस के नेटवर्क में नए मार्ग जुड़ गए हैं। इस समय विभिन्न मार्गों पर 57 अन्तर्राष्ट्रीय उड़ानों का संचालन किया जाता है। भारत और बहरीन/दोहा के मध्य एअर इण्डिया एक्सप्रेस द्वारा जनवरी 2007 में उड़ानें शुरू की गईं।
- निजी क्षेत्र की कम्पनियाँ—निजी क्षेत्र की कम्पनियों पर 31 मार्च, 2009 को 238 जहाज थे। इनमें जेट एअरवेज (88 जहाज), किंग फिशर (83 जहाज), जेट लाइन (24 जहाज) स्पाइस जेट एअरवेज (19 जहाज), इण्डिगो (19 जहाज) उल्लेखनीय हैं। वर्ष 2008-09 निजी क्षेत्र की सभी कम्पनियों द्वारा 3.32 करोड़ यात्रियों और 1.84 लाख टन माल को ले जाया गया। नवीनतम समंकों के अनुसार वर्तमान समय में देश में 12 अनुसूचित विमान सेवाएँ कार्य प्रचालन

कर रही हैं (10 यात्री एवं 2 माल वाहक)। दिसम्बर 2010 को उनके बेड़े में जहाजों की कुल संख्या 419 थी। गैर-अनुसूचित प्रचालकों के पास दिसम्बर 2010 में 360 जहाज थे। यह उल्लेखनीय है कि वर्ष 2004 के पश्चात् भारतीय विमान यातायात में प्रतिवर्ष लगभग 18% की वृद्धि हुई। वर्ष 2010 में 140 मि. यात्रियों की तुलना में वर्ष 2020 में 420 मि. यात्रियों के होने का अनुमान है।

- **पवनहंस हेलीकॉप्टर्स लि.**—इस कम्पनी की स्थापना देश में हेलीकॉप्टर सेवाओं को प्रदान करने की दृष्टि से सन् 1985 में की गई थी। वर्तमान में इसके पास 42 हेलीकॉप्टर हैं। यह कम्पनी तेल और प्राकृतिक गैस निगम, आयल इण्डिया लि. तथा चेन्नई की हार्डी एक्सप्लोरेशन कम्पनी को हेलीकॉप्टर सेवाएं प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त यह अरुणाचल प्रदेश सहित कई राज्य सरकारों और सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों को भी सेवाएं प्रदान करती हैं।
- अब तक अन्तर्राष्ट्रीय विमानपत्तन प्राधिकरण (International Airport Authority of India—AAI) द्वारा इन हवाई अड्डों का प्रबन्ध किया जाता था, परन्तु 1 अप्रैल, 1995 को राष्ट्रीय विमानपत्तन प्राधिकरण (NAA) तथा अन्तर्राष्ट्रीय विमानपत्तन प्राधिकरण (IAAI) का विलय करके भारतीय विमानपत्तन प्राधिकरण (Airports Authority of India—AAI) की स्थापना कर दिए जाने के बाद अब यह दायित्व भारतीय विमानपत्तन प्राधिकरण द्वारा उठाया जाता है।

हवाई अड्डे—इस समय देश में 127 हवाई अड्डे हैं जहाँ से यात्री व माल लाने-ले जाने की सुविधा प्राप्त है। इसमें 15 अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे हैं :

निजी क्षेत्र का भारत का पहला हवाई अड्डा

केरल राज्य शासन द्वारा निजी क्षेत्र में भारत का पहला हवाई अड्डा कोच्चि में बनाया गया है। इसका निर्माण कोचीन इंटरनेशनल एयरपोर्ट लिमिटेड नामक कम्पनी द्वारा किया गया है। यह हवाई अड्डा अन्तर्राष्ट्रीय उड़ानों के लिए भी सुविधाएं उपलब्ध कराता है। हवाई अड्डे का प्रबन्धन कोचीन अन्तर्राष्ट्रीय विमानपत्तन लिमिटेड, जिसमें राज्य शासन की प्रमुख शेरधारिता है, द्वारा किया जा रहा है।

वायु परिवहन की समस्याएँ एवं सुझाव

भारत में वायु परिवहन की कुछ समस्याएँ हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं :

(1) **अधिक किराया**—भारत के अन्दर एवं बाहर जाने के लिए हवाई सेवा के किराये इतने अधिक हैं कि अधिकांश व्यक्ति इनकी सेवाओं का लाभ नहीं उठा पाते हैं। किरायों के अधिक होने के दो कारण हैं : (i) अधिक संचालन व्यय, एवं (ii) पूर्ण क्षमता का उपयोग न हो पाना। (वर्तमान में वायु परिवहन 60 प्रतिशत क्षमता का ही उपयोग कर रहा है।)

(2) **संघर्ष**—कर्मचारियों व प्रबन्धकों के बीच समय-समय पर संघर्ष होते रहते हैं जिनसे हड़तालें व तालेबन्दी हो जाती हैं, इससे उड़ानों पर प्रभाव पड़ता है।

(3) **वायुयान निर्माण**—भारत अभी वायु परिवहन के लिए पर्याप्त विमान बनाने की स्थिति में नहीं है। अतः नये विमान विदेशों से क्रय करने पड़ते हैं जिनसे विदेशी मुद्रा कोष पर दबाव बढ़ जाता है।

(4) **वायुयान दुर्घटनाएँ**—भारत में वायुयान सम्बन्धी दुर्घटनाएँ अधिक होती हैं जिससे धन-जन की हानि होती है और भारी रकम क्षतिपूर्ति के रूप में देनी पड़ती है।

(5) **प्रशिक्षण एवं अन्वेषण**—भारत में यद्यपि अन्वेषण एवं प्रशिक्षण सुविधाएँ उपलब्ध हैं, लेकिन फिर भी आवश्यकताओं को देखते हुए कम हैं। इसके लिए अधिकांश कार्य भारतीय वायु सेना द्वारा किया जाता है।

अतः इन समस्याओं को हल करने के लिए निम्न सुझाव दिये जाते हैं :

- (1) **किराये में कमी**—किराये की दरों में कमी की जानी चाहिए जिससे कि वायुयान पूरी क्षमता का उपयोग कर सकें। (2) **मितव्ययिता**—निगमों को अपनी हानियों को कम करने व लाभों को बढ़ाने के लिए मितव्ययिता करनी चाहिए। (3) **ओद्योगिक संघर्षों से मुक्ति**—ओद्योगिक संघर्षों को उत्पन्न न होने देने के लिए ओद्योगिक परिषदें होनी चाहिए जो समय होते हुए समस्याओं को समझकर हल कर सकें। (4) **दुर्घटनाएँ कम करने का प्रयास**—दुर्घटनाओं को कम करने के लिए प्रयास किये जाने चाहिए। आधुनिकतम उपकरणों का उपयोग होना चाहिए तथा चालकों को पर्याप्त प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। (5) **अन्वेषण व प्रशिक्षण पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए**। (6) **वायुयान निर्माण**—वायुयान निर्माण कार्य में तेजी लानी चाहिए।

राष्ट्रीय परिवहन नीति, 2005

नई राष्ट्रीय शहरी परिवहन नीति के अन्तर्गत केन्द्र सरकार ऐसे शहरों में 'यूनिफाइड मेट्रोपोलिटन ट्रान्सपोर्ट अथॉरिटी' (यूएमटीए) स्थापित करेगी, जहां की जनसंख्या दस लाख से अधिक होगी। इसके अलावा मेट्रो के समान परिवहन व्यवस्था के लिए राज्य सरकारों को आर्थिक सहायता देगी। नयी नीति में कहा गया है कि अधिक जन सुविधा के उद्देश्य की पूर्ति के लिए सार्वजनिक परिवहन को साफ-सुथरा और आकर्षक बनाया जाये। सख्ती से परिवहन कानून का पालन कराया जाये।

(III) संचार

(COMMUNICATION).

भारत में संचार सेवा की शुरुआत जनता के लिए 1837 में प्रारम्भ हुई है। 1854 में यहां 700 डाकखाने थे। तब से अब तक इस क्षेत्र में काफी प्रगति हुई है। संचार सेवा के वर्तमान में निम्न साधन हैं :

- (1) डाकखाना, (2) तार, (3) टेलीफोन, (4) सेल्युलर फोन, (5) फैक्स, (6) ई-मेल।

(1) डाकखाना (Post Office)

1854 में भारत में 700 डाकखाने थे। तब से अब तक इस क्षेत्र में काफी प्रगति हुई है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश में डाक नेटवर्क का विस्तार बहुत बड़े पैमाने पर हुआ है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय देश में लगभग 23,344 डाकघर थे जो वर्तमान में 1,55,015 हो गये हैं। इनमें से 89.76% ग्रामीण क्षेत्रों में हैं। औसत रूप से एक डाकघर 21.23 वर्ग किमी के क्षेत्र और 7,817 व्यक्तियों को अपनी सेवाएं प्रदान करता है। भारत विश्व में सबसे बड़ा डाक नेटवर्क रखने वाला देश है।

पूरे देश में 241 अतिरिक्त विभागीय शाखा डाकघर और 25 विभागीय उप डाकघर खोले गये हैं। देश के लगभग पांच लाख गांवों में डाकघर नहीं हैं। डाक सेवाएं प्रदान करने के लिए पूरे देश को 22 डाक सर्किलों में बांटा गया है। 22 सर्किलों के अतिरिक्त एक अन्य डाक सर्किल भी है जिसे बैस सर्किल कहा जाता है, जो सशस्त्र सेनाओं की डाक संचार सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करता है। इस समय डाक विभाग में 6.01 लाख कर्मचारी कार्यरत हैं। यह संख्या चीन और अमरीका के बाद तीसरे नम्बर पर आती है। प्रत्येक डाकिया औसतन 3,300 व्यक्तियों को चिह्नियां बांटता है जबकि सरकारी तौर पर एक डाकिए पर औसतन 690 पत्र एवं पार्सल प्रतिदिन वितरित करने की जिम्मेदारी तय की गयी है।

सुविधा व तुरन्त कार्यवाही के लिए बड़े-बड़े शहरों के लिए विशेष सुविधा देने के उद्देश्य से डाक को निम्न प्रकार बांटा गया है :

(i) राजधानी चैनल—यह चैनल 16 मई, 1994 को प्रारम्भ किया गया। पहले केवल 6 राज्यों की राजधानी को इससे जोड़ा गया था बाद में सभी राजधानियों को इससे जोड़ दिया गया। इसके लिए पीले रंग की एक पत्र-पेटिका कुछ निश्चित स्थानों पर प्रत्येक राजधानी में लगी रहती है। यदि इनमें पत्र डाला जाता है तो पत्र अन्य पत्रों की तुलना में जल्दी ही अपने स्थान पर पहुंच जाता है क्योंकि उसे छांटने में आसानी रहती है।

(ii) मेट्रो चैनल—यह चैनल 2 अप्रैल, 1994 को प्रारम्भ किया गया। इसमें 6 मेट्रो शहर—कोलकाता, चेन्नई, दिल्ली, मुम्बई, बंगलुरु व हैदराबाद हैं। इसके लिए इन शहरों में हल्के नीले रंग की पत्र-पेटिका कुछ महत्वपूर्ण स्थानों पर लगी हैं। इन जगहों के लिए पत्र इन पेटिकाओं में डालने से शीघ्र ही अपने गन्तव्य स्थान पर पहुंच जाता है।

(iii) ग्रीन चैनल—हर बड़े शहर में हरे रंग की पत्र-पेटिकाएं लगी हैं जो स्थानीय (Local) पत्रों के लिए हैं। इनमें डाला हुआ पत्र दूसरे दिन उसी शहर में गन्तव्य स्थान पर पहुंच जाता है।

(iv) व्यापारिक चैनल—यह चैनल 1 जुलाई, 1994 में प्रारम्भ किया गया। इसमें बड़े व्यापारिक घराने या कम्पनियां अपने पत्र सीधे ही डाकखाने की खिड़की पर जमा कर देते हैं जो उन्हें गन्तव्य स्थानों पर पहुंचाने का कार्य करते हैं। यदि एक समय में पत्रों की संख्या 2,000 से अधिक है तो व्यापारिक घराने या कम्पनी को उन पत्रों को स्थान के अनुसार छांटकर देना पड़ता है। यह सुविधा केवल साधारण पत्रों के लिए है रजिस्टर्ड पत्र के लिए नहीं।

(v) थोक डाक चैनल—यदि रजिस्टर्ड पत्र 250 से अधिक हैं या बिना रजिस्टर्ड पत्र 2,000 से अधिक हैं तो उसे थोक डाक कहते हैं। इसके लिए भेजने वाली संस्था को डाकखाने के नियमों के अनुसार छांटकर देना होता है। वह भी निश्चित डाकखाने पर ही उन्हें जमा किया जा सकता है।

(vi) पीरिओडीकल चैनल—अखबारों व पत्रिकाओं को शीघ्र पहुंचाने के लिए यह चैनल है। इसके लिए भेजने वाले स्थानों पर व्यवस्था है जिससे कि वे कम से कम समय में पाने वाले तक पहुंच सकें।

डाकखाने के माध्यम से अपने पत्र व छोटे-छोटे माल या नमूने के पैकिट भी शीघ्रता से भेजे जा सकते हैं जिसके लिए डाकखाना सामान्य दर से कहीं अधिक दर वसूल करता है लेकिन साथ ही यह वायदा करता है कि आपका पत्र मात्र 48 घण्टे या निर्धारित सीमा में पहुंचा दिया जायेगा। इसके लिए निम्न सेवाएं प्रदान की हैं :

(A) स्पीड पोस्ट—यह सेवा 1 अगस्त, 1986 को प्रारम्भ की गई है। इस सेवा का उद्देश्य निर्धारित समय से पत्रों/माल के पैकिट पहुंचाना है। यह सेवा प्राइवेट कोरियर सेवा जैसी है। इस सेवा की विशेषता है कि यदि एक संस्था बहुत अधिक पत्र या पैकिट प्रतिदिन डाकखाने को देती है तो डाकखाना ऐसे पत्रों, माल के पैकिटों को उन्हीं के स्थान से एकत्रित कर लेता है तथा Book-now-pay-later स्कीम की सुविधा भी दे देता है।

(B) एक्सप्रेस पार्सल सेवा—यह सेवा 1 मार्च, 1999 से आरम्भ की गई है। इसमें समयबद्ध पार्सल भेजे जाते हैं। यह पार्सल द्वार से द्वार तक पहुंचाए जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि यह पार्सल भेजने वाले के स्थान से एकत्रित करते हैं और पाने वाले के स्थान तक पहुंचाते हैं।

डाक विभाग की नई सेवाएं

- कुल 25,531 विभागीय डाकघरों में से 14,324 को कम्प्यूटरीकृत किया जा चुका है और 10,530 डाकघरों को ब्रॉडबैंड की सुविधा के साथ जोड़ा गया है।
- भारतीय डाक ग्रामीण क्षेत्रों में अपने 39,113 डाकघरों तथा नगरीय क्षेत्रों में 15,862 डाकघरों के माध्यम से वित्तीय समावेश के उद्देश्य का अनुसरण कर रहा है।
- 2003-04 में ग्रामीण डाक जीवन बीमा पॉलिसियों की संख्या 26.66 लाख थी जो बढ़कर 2011-12 में 1.96 करोड़ से अधिक हो गई।
- 1,200 से अधिक शहरों में स्पीड पोस्ट सेवा उपलब्ध है।
- नाबांड के साथ हुए समझौते के आधार पर डाकघर स्व- सहायता समूहों को अति लघु (माइक्रो) क्रृषि सुविधा प्रदान कर रहा है।
- रिलायंस मनी लिमिटेड के साथ हुए समझौते के आधार पर 1,098 डाकघरों में स्वर्ण सिक्कों की बिक्री की जाती है।
- बिहार, दिल्ली, झारखण्ड और पूर्वोत्तर में 20 लाख डाकघर बचत खातों के माध्यम से और जम्मू-कश्मीर, कर्नाटक, हिमाचल प्रदेश, गुजरात, राजस्थान तथा तमिलनाडु में मनीऑर्डर के माध्यम से वृद्धावस्था पेन्शन प्रदान की जा रही है।
- इस समय रेलवे टिकटों की डाकघरों के माध्यम से बिक्री की योजना 165 स्थानों पर चल रही है।
- अक्टूबर 2009 से पूरे देश में 1,183 डाकघरों को ग्रामीण मूल्य सूचकांक के लिये आंकड़ों के संग्रहण का कार्य सौंपा गया है।
- अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय डाक प्रोसेसिंग की गुणवत्ता में सुधार किया गया है तथा अन्तर्राष्ट्रीय इलेक्ट्रोनिक मनीऑर्डर सेवा, वर्ल्ड नेट एक्सप्रेस तथा ई. एम. ओ. विदेश सेवा का प्रारम्भ किया गया है।

(2) तार (Telegram)

सबसे पहले 1851 में तार सेवा कोलकाता से डाइमण्ड हार्बर के लिए प्रारम्भ की गई थी। बाद में वह सेवा मार्च 1884 में आगरा व कोलकाता के लिए खोली गई। इसमें डेमी मशीन की सहायता से तार का सन्देश भेजा जाता है। मृत्यु की सूचना जैसे तार सब तारों को रोककर पहले भेजे जाते हैं। इसमें शुल्क प्रति शब्द के आधार पर लिया जाता है। परन्तु कम्प्यूटर और अन्य संचार साधनों के आगमन से डाक प्रणाली पर गहरा असर हुआ है। वर्तमान में यह सेवा बन्द कर दी गई है। टेलीग्राम का स्थन फैक्स, लॉबी दूरी के टेलीफोन और ई-मेल ने ले लिया हैं।

(3) दूरसंचार (Telecommunication)

दूरसंचार क्षेत्र के सेवा प्रदान करने वाले दो विभाग (अर्थात् दूरसंचार सेवा विभाग तथा दूरसंचार प्रचालन विभाग) का निगमीकरण कर दिया गया है। अब 'भारत संचार निगम लिमिटेड' (BSNL) नाम की एक पब्लिक सेक्टर कम्पनी ने 1 अक्टूबर, 2000 से दोनों विभागों के सेवा प्रदान करने वाले दोनों क्रियाकलाप अपने हाथ में ले लिए हैं। मार्च, 2014 के अन्त में देश में टेलीफोन उपभोक्ताओं की संख्या 93.30 करोड़ थी। इस सम्बन्ध में भारत का चीन व अमेरिका के बाद तीसरा स्थान है।

(4) मोबाइल फोन या सेल्युलर फोन (Mobile Phone)

यह एक बेतार का तार (Wireless) जैसा फोन है जिसे मोबाइल फोन या सेल्युलर फोन कहते हैं। इस फोन को आप कहीं भी जब में रखकर ले जा सकते हैं और वहीं से फोन कर सकते हैं या बाहर के फोन प्राप्त कर सकते हैं। 52 करोड़ से अधिक मोबाइल फोन कनेक्शनों वाला भारत विश्व में दूसरा देश है। मोबाइल फोन कनेक्शनों की संख्या के सम्बन्ध में पहला स्थान चीन का है।

(5) इन्टरनेट (Internet)

इंटरनेट द्वारा विश्वभर के लाखों कम्प्यूटर सूचना-केन्द्रों से प्राप्त सूचनाओं व आंकड़ों को अपनी भाषा में बड़ी सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। इस विधि को 'ट्रांसमिशन कन्ट्रोल प्रोटोकॉल या इंटरनेट प्रोटोकॉल' कहा जाता है। इंटरनेट 'इंटरनेशनल नेटवर्क' का संक्षिप्त नाम है।

भारत में इंटरनेट का प्रवेश वर्ष 1987-88 में हुआ था। भारत में इंटरनेट का उपयोग करने वालों की संख्या 2.1 करोड़ है। ब्रॉड वैण्ड उपभोक्ताओं की संख्या मार्च, 2014 में 8.22 करोड़ थी। इंटरनेट उपयोग करने वाले शीर्षस्थ देशों में अमेरिका (15.3 करोड़) पहले स्थान पर है, जबकि चीन (8.68 करोड़) दूसरे, जापान (5.36 करोड़) तीसरे, जर्मनी (3.2 करोड़) चौथे व इंग्लैण्ड (3 करोड़) पांचवें स्थान पर हैं।

(6) फैक्स (Fax)

फैक्स एक प्रकार से लिखित सन्देश प्राप्त करने या भेजने का साधन है। इसके लिए एक मशीन की आवश्यकता होती है जिसे फैक्स मशीन कहते हैं। यह मशीन टेलीफोन नम्बर से जोड़ देते हैं। जब भी हमें लिखित सन्देश भेजना होता है तो उस टेलीफोन नम्बर को मिलाकर मशीन में उस सन्देश को लगा देते हैं जो हमें भेजना है। यह मशीन उस सन्देश को कागज पर प्राप्त कर छाप देती है। साथ ही भेजने वाले का टेलीफोन नम्बर, नाम, पता व समय भी लिख देती है। इसमें टेलीफोन का व्यय लिया जाता है।

(7) ई-मेल (E-mail)

वर्तमान युग कम्प्यूटर का युग है। सन्देश वाहन में भी कम्प्यूटर एक महत्वपूर्ण साधन है। पहले कम्प्यूटर को टेलीफोन से जोड़ा जाता है फिर उस पर सन्देश टाइप किया जाता है। यह सन्देश उस कम्प्यूटर में पढ़ा जा सकता है जहां वह भेजा गया है। इस प्रकार यह भी संचार का एक साधन है।

टेलीफोन में वृद्धि— निजी क्षेत्र की बढ़ती भागीदारी के चलते कुल टेलीफोन कनेक्शनों में निजी क्षेत्र का हिस्सा 1999 में मामूली 5 प्रतिशत से बढ़कर अक्टूबर 2012 में 86 प्रतिशत हो गया है। टेलीफोन घनत्व जो दूरसंचार के फैलाव का एक महत्वपूर्ण संकेतक है, मार्च 2004 में 7.02 प्रतिशत से बढ़कर नवम्बर, 2014 में 77.12 प्रतिशत हो गया। इस प्रकार, देश के समग्र टेलीफोन घनत्व में निरन्तर सुधार हुआ है।

(IV) बैंकें, बीमा एवं वित्त

(BANKS, INSURANCE AND FINANCE)

आधारभूत रचना के विकास के लिए बैंकों, बीमा कम्पनियों व वित्त संस्थाओं के विकास की भी आवश्यकता होती है। भारत में बैंकों का काम सेठ, साहूकार व महाजन करते थे लेकिन ईस्ट इंडिया कम्पनी के आने पर 1806 में Bank of Bengal स्थापित की गई। इसके बाद अनेकों बैंकों स्थापित हुई लेकिन इन बैंकों द्वारा व्यावसायिक परम्पराओं को नहीं अपनाया गया अतः अधिकांश बैंकें फेल हो गईं। 1950-51 में यहां लगभग 2,600 बैंकों की शाखाएं थीं जो 30 जून, 2014 में बढ़कर 1,21,535 हो गईं। यह बैंकें कारखानों व व्यवसायों को ऋण देती हैं जिससे उनका विस्तार होता है।

बीमा जोखिमों के दुष्परिणामों से सुरक्षा प्रदान करने की एक व्यवस्था है। यदि जोखिम नहीं है तो बीमा की कोई आवश्यकता नहीं है। भारत में इसकी शुरुआत 1710 में कलकत्ता में 'सन इंश्योरेन्स ऑफिस' के नाम से हुई थी। यह कम्पनी अंग्रेजों की थी। बाद में 1825 में एलाइन्स ब्रिटिश एण्ड फॉरेन इंश्योरेन्स कम्पनी

ने मद्रास में अपना ऑफिस स्थापित किया। भारतीयों ने इस सम्बन्ध में पहला प्रयास 1850 में किया और द्राइटन इन्श्योरेन्स कम्पनी लिमिटेड के नाम से यह कम्पनी स्थापित हुई लेकिन विदेशी कम्पनियों की प्रतियोगिता के कारण फेल हो गई।

1885 तक भारत में लगभग 50 एजेन्सी कार्यालय स्थापित हो चुके थे। बाद में भारत में 1905 में स्वदेशी आन्दोलन के फलस्वरूप अनेक भारतीय कम्पनियां स्थापित हुईं। 1938 में बीमा अधिनियम पारित किया गया। इस प्रकार 1971 में यहां 107 बीमा कम्पनियां कार्य कर रही थीं। 13 मई, 1971 के एक अध्यादेश के फलस्वरूप इन कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और नवम्बर 1972 में भारतीय साधारण बीमा निगम (G.I.C.) बना दिया गया। इस निगम की चार सहायक कम्पनियां हैं : (1) नेशनल इन्श्योरेन्स कम्पनी लिमिटेड, (2) न्यू इंडिया इन्श्योरेन्स कम्पनी लिमिटेड, (3) ओरिएण्टल इन्श्योरेन्स कम्पनी लिमिटेड व (4) यूनाइटेड इंडिया इन्श्योरेन्स कम्पनी लिमिटेड।

भारतीय साधारण बीमा निगम (G.I.C.) को नवम्बर 2000 से इसकी सहायक कम्पनियों से विधिवत् अलग कर दिया गया। G.I.C. को भारतीय बीमाकर्ता अधिसूचित किया गया है। इसने सीधा बीमा व्यवसाय और फसल बीमा बन्द कर दिया है। वर्तमान में G.I.C. और अन्य चारों कम्पनियों की अंश पूँजी सरकार के पास है। ये पांचों संस्थाएं सरकारी कम्पनियां हैं और कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत हैं। चारों कम्पनियों ने एक एसोसिएशन बना लिया है, जिसे जनरल इंश्योरेंस (पब्लिक सेक्टर) एसोसिएशन ऑफ इण्डिया कहते हैं।

देश में इस समय जीवन बीमा निगम के अतिरिक्त 22 कम्पनियां जीवन बीमा के क्षेत्र में और 24 कम्पनियां साधारण बीमा के क्षेत्र में कार्य कर रही हैं। इसमें 5 सरकारी कम्पनियां—जीवन बीमा निगम, न्यू इंडिया इन्श्योरेन्स, यूनाइटेड इंडिया इन्श्योरेन्स, नेशनल इन्श्योरेन्स तथा ओरियण्टल इन्श्योरेन्स शामिल हैं।

औद्योगिक वित्त की सुविधा प्रदान करने के लिए स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले कोई संस्थान नहीं था। अतः 1948 में भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (I.F.C.I.) स्थापित किया गया। इसके बाद 1951 में राज्य वित्त अधिनियम, 1951 पारित किया गया जिसके अन्तर्गत राज्यों को राज्य वित्त निगम स्थापित करने का अधिकार दिया गया। इस समय 18 राज्यों में यह निगम कार्यरत हैं। 1955 में औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम (I.C.I.C.I.), 1964 में भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (I.D.B.I.) व 1971 में औद्योगिक पुनर्गठन निगम (I.R.C.I.) स्थापित किए गए। बाद में भारतीय जीवन बीमा निगम (L.I.C.) व भारतीय साधारण बीमा निगम (G.I.C.) ने भी उद्योगों को ऋण देना प्रारम्भ कर दिया। वर्तमान में यह सभी संस्थाएं उद्योगों को वित्त सुविधा प्रदान करने का कार्य कर रही हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

- आधारभूत रचना से क्या अर्थ है? स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद आधारभूत रचना के विकास के बारे में बताइए।
- भारत के शक्ति संसाधनों के बारे में व्याख्या कीजिए।
- भारत के परिवहन संसाधनों की व्याख्या कीजिए।
- निम्न पर टिप्पणी लिखिए :
 - संचार संसाधन,
 - वायु परिवहन संसाधन।
- आधारभूत रचना में बैंक, बीमा एवं वित्त के योगदान पर टिप्पणी लिखिए।

राष्ट्रीय आय

[NATIONAL INCOME]

राष्ट्रीय आय अथवा घरेलू उत्पाद से अर्थ

(MEANING OF NATIONAL INCOME OR DOMESTIC PRODUCT)

राष्ट्रीय आय अथवा घरेलू उत्पाद देश के कुल उत्पादन को धन में मापने का एक साधन है। इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय आयअथवा घरेलू उत्पाद की परिभाषा देने वाले अर्थशास्त्रियों में एकमत नहीं है। हम यहाँ पर कुछ प्रमुख परिभाषाओं को दे रहे हैं :

(1) डॉ. मार्शल (Dr. Alfred Marshall)—“देश के प्राकृतिक साधनों पर श्रम तथा पूँजी द्वारा कार्य करने पर प्रतिवर्ष विभिन्न भौतिक एवं अभौतिक वस्तुओं और सेवाओं का जो उत्पादन होता है उन सभी के शुद्ध योग को देश की वास्तविक शुद्ध वार्षिक आय या देश का आगम या राष्ट्रीय लाभांश कहते हैं।”¹ [डॉ. मार्शल के अनुसार, देश में श्रम एवं पूँजी द्वारा उसके प्राकृतिक साधनों से जो भौतिक एवं अभौतिक वस्तुएँ उत्पादित होती हैं, उनमें यदि सभी प्रकार की सेवाएँ तथा विदेशों से प्राप्त आय भी जोड़ दी जाय तो वह राष्ट्रीय आय कहलाती है। उनकी दृष्टि में यही राष्ट्रीय लाभांश है।]

(2) प्रो. ए. सी. पीगू (A. C. Pigou)—“राष्ट्रीय आय किसी समाज की वह वास्तविक (Objective) आय है, जिसमें विदेशों से प्राप्त आय भी शामिल है जिसे मुद्रा में नापा जा सके।”² [प्रो. पीगू के अनुसार, राष्ट्रीय आय में केवल उस उत्पत्ति को शामिल करते हैं जिसे मुद्रा में नापा जा सकता है।]

(3) प्रो. साइमन कुज्नेट्स (Simon Kuznets)—“राष्ट्रीय आय वस्तुओं एवं सेवाओं की वह शुद्ध उत्पत्ति है जो कि वर्ष में देश की उत्पादन प्रणाली में प्रवाहित होकर अन्तिम उपभोक्ताओं के हाथों में पहुँचती है या जो देश के पूँजीगत माल के स्टॉक में वृद्धि करती है।”³ [इस परिभाषा के अनुसार राष्ट्रीय आय में (i) उत्पादन का वह भाग ही सम्मिलित किया जाता है जो उपभोक्ताओं के हाथों में पहुँचता है, तथा (ii) जो पूँजीगत माल के स्टॉक में वृद्धि करता है।]

(4) भारतीय राष्ट्रीय आय समिति (Indian National Income Committee)—“एक राष्ट्रीय आय अनुमान से अर्थ किसी दी हुई अवधि में वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन की मात्रा को बिना किसी दुहरी गणना के मापने से है।”⁴ [इस परिभाषा के अनुसार राष्ट्रीय आय का वास्तविक अर्थ एक निश्चित समय में उत्पादित सभी वस्तुओं और सेवाओं के मौद्रिक मूल्य से लगाया जाता है।]

¹ “The labour and capital of the country acting on its natural resources, produce annually a certain net aggregate of commodities, material and immaterial, including services of all kinds. This is the true net annual income or revenue of the country or the national dividend.”

—Dr. Alfred Marshall : *Principles of Economics*.

² “The national dividend is that part of the objective income of the community, including of course, income derived from abroad which can be measured in money.”

—A. C. Pigou : *The Economics of Welfare*.

³ “National income is the net output of commodities and services flowing during the year from the country's productive system into the hands of the ultimate consumers or into net additions to the country's stock of capital goods.”

—Simon Kuznets : *Economic Changes*.

⁴ “A national income estimate measures the volume of commodities and services turned out during a given period counted without duplication.”

—National Income Committee of India, 1951.

राष्ट्रीय आय के तत्व—उपर्युक्त सभी परिभाषाओं के अवलोकन करने पर राष्ट्रीय आय के यह लक्षण दिखायी देते हैं : (1) यह एक माप है जो धन में मापा जाता है। (2) इन सभी उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं के शुद्ध मूल्य को जोड़ा जाता है। (3) यह सामान्यतया एक निश्चित समय के सन्दर्भ में बतायी जाती है। (4) इसमें एक साधन को एक बार ही गिना जाता है। (5) इसके मापने में हास की व्यक्तिगत व सरकारी क्षेत्रों का उत्पादन घटा दिया जाता है। (6) राष्ट्रीय आय में सभी व्यक्तिगत व सरकारी क्षेत्रों के उत्पादन घटा दिया जाता है चाहे वह उपभोग के लिए हो या पूँजीगत क्षेत्र के लिए। (7) इसमें अन्तर्राष्ट्रीय सौदों के लाभों को भी जोड़ा जाता है।

निष्कर्ष—इस प्रकार कहा जा सकता है कि “राष्ट्रीय आय से अर्थ किसी देश में एक वर्ष के मध्य उत्पादित सभी वस्तुओं एवं सेवाओं के बाजार-मूल्य के कुल जोड़ से है जिसे हास घटाकर व विदेशी लाभ जोड़ कर निकाला जाता है।”

एक देश की राष्ट्रीय आय निम्न पाँच प्रकार से प्रकट की जाती है :

(1) **सकल राष्ट्रीय उत्पादन अथवा सकल घरेलू उत्पाद (Gross National Product or GNP or Gross Domestic Product)**—सकल राष्ट्रीय उत्पादन से अर्थ एक वर्ष में उत्पादित होने वाली सभी वस्तुओं और सेवाओं के बाजार मूल्य के जोड़ से है। इसमें स्थायी सम्पत्तियों पर होने वाले हास को नहीं घटाया जाता है। वास्तव में, सकल राष्ट्रीय उत्पादन दो अनुमानों का जोड़ है—(i) देश में उत्पादित सभी वस्तुओं के मूल्य एवं (ii) विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय। सकल राष्ट्रीय उत्पादन एवं राष्ट्रीय आय में अन्तर है। सकल राष्ट्रीय उत्पादन देश के सम्पूर्ण उत्पादन (हास बिना घटाये ही) का बाजार मूल्य होता है। राष्ट्रीय आय शुद्ध उत्पादन (हास घटाने के बाद) होता है। यह स्मरण रहे कि सकल राष्ट्रीय उत्पादन में चालू वर्ष में ही उत्पन्न वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य को ही शामिल किया जाता है।

(2) **शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन अथवा शुद्ध घरेलू उत्पाद (Net National Product or NNP or Net Domestic Product)**—सकल राष्ट्रीय उत्पादन में हास (depreciation) घटाने के बाद जो शेष रहता है, वह शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन या शुद्ध घरेलू उत्पाद कहलाता है। गणितीय रूप में यह $NNP = (GNP - Depreciation)$ है। इस शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन से देश में उपभोग, बचत, निवेश के लिए उपलब्ध राशि, आदि का बोध होता है।

(3) **राष्ट्रीय आय (National Income)**—इसे ‘साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय आय’ (Net National Product Factor Cost) भी कहते हैं। इसकी गणना हेतु शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन (NNP) में से अप्रत्यक्ष करों (Indirect taxes) को घटा दिया जाता है, किन्तु सरकार द्वारा दी गयी सहायता (Subsidies) जोड़ दी जाती है। यह अवधारणा राष्ट्रीय आय के वितरण पक्ष का अध्ययन करने में सहायक होती है।

(4) **व्यक्तिगत आय या घरेलू उत्पादन (Personal Income or Net Domestic Product)**—यह आय वह आय है जो कि वास्तव में देश की जनता द्वारा एक वित्तीय वर्ष में प्राप्त की जाती है। राष्ट्रीय आय सम्बन्धी यह अवधारणा देश में क्रय-शक्ति को मापने की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानी जाती है। इसकी गणना निम्न प्रकार की जाती है :

$$\text{व्यक्तिगत आय} = \text{राष्ट्रीय आय} - [\text{निगम व कम्पनियों पर कर} + \text{कम्पनी के अवितरित लाभ} + \text{प्रॉविडेंट फ़ण्ड में अंशदान} - (\text{सरकार द्वारा सामाजिक सुधार पर व्यय})]$$

(5) **व्यय योग्य आय (Disposable Income)**—इसका तात्पर्य जनता के पास शुद्ध आय का है, जिसे जनता व्यय करने को तत्पर है। ऐसी आय की गणना के लिए व्यक्तिगत आय में से व्यक्तिगत प्रत्यक्ष करों को घटा दिया जाता है।

उपर्युक्त अवधारणाओं को ही संयुक्त रूप से राष्ट्रीय आय लेखांकन (National Income Accounting) कहते हैं।

राष्ट्रीय आय अथवा घरेलू उत्पाद का महत्व

राष्ट्रीय आय का अध्ययन कई दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है। इसके द्वारा एक देश की आर्थिक प्रगति आँकी जा सकती है। अर्थव्यवस्था से लोगों के जीवन-स्तर तथा उनके कल्याण के विषय में जानकारी प्राप्त की जा सकती है। अर्थव्यवस्था में हुए परिवर्तनों का पता लगाया जा सकता है और सरकारी नीति अपनाने के

लिए इसको आधार माना जा सकता है। विभिन्न देशों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। राष्ट्रीय आय के अध्ययन के महत्व को निम्न प्रकार और स्पष्ट कर सकते हैं :

(1) **आर्थिक प्रगति का मापदण्ड**—किसी भी देश की आर्थिक प्रगति उस देश की राष्ट्रीय आय या घरेलू उत्पाद से मापी जा सकती है। यदि किसी देश की राष्ट्रीय आय बढ़ती है तो उससे उस देश में प्रति व्यक्ति आय भी बढ़ती है जो इस बात की सूचक है कि देश में आर्थिक प्रगति हो रही है। इसके विपरीत, यदि राष्ट्रीय आय गिरती है, तो उससे प्रति व्यक्ति आय भी गिरती है जो यह प्रदर्शित करती है कि देश आर्थिक दृष्टि से अवनति की ओर जा रहा है।

(2) **आर्थिक कल्याण**—किसी देश की राष्ट्रीय आय का अध्ययन कर इस बात का पता लगाया जा सकता है कि उस देश में जीवन-स्तर व आर्थिक कल्याण किस प्रकार का है। यदि किसी देश में प्रति व्यक्ति आय बढ़ रही है तो यह माना जा सकता है कि उस देश में औसत जीवन-स्तर ऊपर उठ रहा है और जनता के आर्थिक कल्याण में भी वृद्धि हो रही है। इसके साथ-साथ राष्ट्रीय आय के वितरण के स्वरूप का पता लगाकर उपयुक्त नीतियाँ अपनायी जा सकती हैं जिससे असमानता में कमी की जा सकती है तथा पिछड़े भागों में कल्याण की गति अधिक तेज़ की जा सकती है।

(3) **तुलनात्मक समीक्षा**—राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय के आधार पर स्वदेश एवं अन्य देशों से तुलना की जा सकती है और पता लगाया जा सकता है कि देश कितना आगे या पीछे है। यद्यपि यह माना जाता है कि भिन्न-भिन्न देशों में वस्तुओं के मूल्यांकन, उनके आगणन के आधार, मान्यताएँ और माप के तरीकों में काफी अन्तर होता है तथापि राष्ट्रीय आय से मोटा अनुमान तो लगाया ही जा सकता है। सामान्यतया विकसित एवं अल्प-विकसित देशों के विभाजन का मूल आधार राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़े ही होते हैं।

(4) **आर्थिक नियोजन**—जिन देशों में आर्थिक नियोजन के कार्यक्रम अपनाये जाते हैं उनके लिए राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों का बहुत महत्व है, क्योंकि इन्हीं आँकड़ों के आधार पर उत्पादन, उपभोग, बचत, आदि के लक्ष्य निर्धारित किये जाते हैं तथा नियोजन के कार्यों का मूल्यांकन भी राष्ट्रीय आय के आधार पर ही किया जाता है।

(5) **सरकारी नीतियों के निर्धारण में सहायक**—राष्ट्रीय आय सरकार की नीतियों के निर्धारण में एक आधार का कार्य करती है, जैसे जिन क्षेत्रों में उत्पादन कम होता है या जिन क्षेत्रों में कम आय होती है तो उन क्षेत्रों को करों से छूट देने का आधार भी राष्ट्रीय आय ही होती है। इसका कारण यह है कि राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों से ही ही यह पता लगता है कि किन क्षेत्रों में उत्पादन या आय कम है या किन क्षेत्रों में अधिक।

(6) **भावी प्रवृत्तियाँ**—राष्ट्रीय आय से ही हम यह पता लगा सकते हैं कि देश में भावी प्रवृत्ति किस प्रकार की होगी और वह किस दिशा में बढ़ेगी। यदि उससे इस बात का संकेत मिलता हो कि भावी प्रवृत्ति देश हित में नहीं है तो उसके सुधार हेतु आवश्यक प्रयत्न किये जा सकते हैं।

राष्ट्रीय आय या घरेलू उत्पाद की गणना करने की रीतियाँ

राष्ट्रीय आय या घरेलू उत्पाद की गणना करने की निम्नलिखित चार विधियाँ या रीतियाँ हैं :

(1) **उत्पादन गणना विधि** (Census of Production Method), (2) **आय गणना विधि** (Census of Income Method), (3) **व्यय गणना विधि** (Census of Expenditure Method) व (4) **सामाजिक लेखांकन विधि** (Social Accounting Method)।

(1) **उत्पादन गणना विधि**—इस विधि में राष्ट्रीय आय की गणना उत्पादन के आधार पर की जाती है जिसके लिए सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को विभिन्न क्षेत्रों में बॉट लिया जाता है; जैसे कृषि, उद्योग, सेवाएँ, विदेशी सहायता, आदि। इसके बाद इन विभिन्न क्षेत्रों में एक वर्ष में जिन वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन होता है उनका बाजार मूल्य लगाकर जोड़ लिया जाता है। इस जोड़ को ही राष्ट्रीय आय कहते हैं। इस दुहरी गणना से बचने के लिए केवल अन्तिम वस्तुओं के मूल्यों को ही जोड़ा जाता है और मध्यवर्ती वस्तुओं के मूल्यों को छोड़ दिया जाता है, क्योंकि उनका मूल्य तो अन्तिम मूल्य में पहले से ही शामिल है। शुद्ध राष्ट्रीय आय का पता लगाने के लिए उत्पादन के मूल्य-हास को घटा देते हैं, लेकिन विदेशी आय को जोड़ लेते हैं।

(2) **आय गणना विधि**—इसमें उत्पादन साधनों को उनकी सेवाओं के बदले जो प्रतिफल दिया जाता है उसका जोड़ लगाकर राष्ट्रीय आय निकाली जाती है। इस हेतु आय के पाँच वर्ग किये जाते हैं : (i) मजदूरी एवं

वेतन—जो कि वर्ष भर में कर्मचारी को प्राप्त होता है। सामाजिक सुरक्षा, भविष्य निधि, पेंशन फण्ड, इत्यादि में नियोक्ता द्वारा किये गये अंशदान को भी सहायक आय के रूप में इस वर्ग के अन्तर्गत गिनते हैं। (ii) **गैर-कम्पनी व्यवसायों की आय**—इसके अन्तर्गत एकाकी, साझेदारी एवं स्व-रोजगार व्यक्ति (Self-employed persons) की आय शामिल की जाती है। (iii) **व्यक्तियों की किराये की आय**—इसमें कृषि एवं गैर-कृषि सम्पत्तियों से व्यक्तियों को प्राप्त होने वाली किराये की राशि सम्मिलित की जाती है। (iv) **कम्पनियों के लाभ**—इसमें कम्पनियों द्वारा दिये जाने वाला निगम कर और अंशधारियों का लाभांश जोड़ा जाता है। (v) **ब्याज की आय**—इसमें व्यक्तियों की सरकार के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से प्राप्त शुद्ध ब्याज की आय शामिल की जाती है।

इस प्रकार देश की अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में होने वाली आय-राशियों का जोड़ लगाकर राष्ट्रीय आय निकाली जाती है। इस विधि को अपनाने में इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि दुहरा मूल्यांकन न हो जाय और जो भुगतान उत्पादन कार्यों से सम्बन्धित नहीं है उसको इसमें न जोड़ा जाए।

(3) **व्यय गणना विधि**—इसमें एक देश जितना व्यय करता है उन सबका योग लगा दिया जाता है और उसमें बचत या निवेश की राशियों को जोड़ दिया जाता है। इन सबके योग से जो राशि आती है वही राष्ट्रीय आय मानी जाती है। इस विधि में उपयोग एवं सेवाओं पर व्यय तथा बचत का हिसाब रखना आवश्यक है। वास्तव में, इस प्रकार से आँकड़े एकत्रित करना एवं उनका हिसाब लगाना कठिन है। अतः इस प्रकार की विधि से प्राप्त राष्ट्रीय आय कम विश्वसनीय मानी जाती है।

(4) **सामाजिक लेखांकन विधि**—यह विधि कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रोफेसर रिचार्ड स्टोन द्वारा प्रतिपादित की गयी है। इस विधि में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को पाँच भागों में विभाजित किया गया है—अन्तिम उपभोक्ता, उत्पादन संस्थान, वित्तीय संस्थान, बीमा एवं सामाजिक सुरक्षा संस्थान तथा अन्य। प्रत्येक के लिए चार प्रकार के खाते रखने होते हैं : संचालन खाता, पूंजी खाता, संचित खाता एवं चालू खाता। इन सभी वर्गों के विभिन्न खातों का योग राष्ट्रीय आय कहलायेगा। सामाजिक लेखांकन सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की क्रियाविधि को समझने में सहायक होता है। इस विधि को तभी अपनाया जा सकता है जबकि सभी संस्थान, व्यक्ति एवं सरकार अपने-अपने लेन-देन से सम्बन्धित पूरे विश्लेषणात्मक खाते (Analytical Accounts) रखें। चूंकि भारत में ऐसा नहीं किया जाता है, इसलिए यह विधि अपनाना सम्भव नहीं है।

भारत में राष्ट्रीय आय या घरेलू उत्पाद की गणना

भारत में राष्ट्रीय आय या घरेलू उत्पाद की गणना के अनुमानों को दो भागों में बाँटकर अध्ययन किया जा सकता है—(I) योजनाकाल से पूर्व के अनुमान एवं (II) योजनाकाल के अनुमान।

(I) योजनाकाल से पूर्व के अनुमान

भारत में राष्ट्रीय आय की गणना 1951-52 से प्रारम्भ की गयी है। इससे पूर्व भारत में राष्ट्रीय आय की गणना करने का कोई सरकारी तरीका नहीं था यद्यपि समय-समय पर कुछ व्यक्तियों द्वारा निजी रूप में राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने का प्रयत्न किया गया था। शायद इस ओर दावा भाई नौरोजी का सबसे पहला प्रयत्न था, जिन्होंने 1868 में अपनी पुस्तक ‘Poverty and British Rule in India’ में राष्ट्रीय आय 340 करोड़ ₹ की बतायी थी। इसके बाद में बारिंग व बारबेर ने राष्ट्रीय आय का अनुमान 525 करोड़ ₹ लगाया था। इसके बाद भी समय-समय पर राष्ट्रीय आय के अनुमान इस प्रकार लगाये गये—1897-98 में लॉर्ड कर्जन 675 करोड़ ₹; 1899 में विलियम डिव्ही द्वारा 390 करोड़ ₹; 1911 में फिण्डले शिराज द्वारा 1,942 करोड़ ₹; 1913-14 में वाडिया एवं जोशी द्वारा 1,087 करोड़ ₹; 1921-22 में शाह एवं खाम्बाता द्वारा 2,364 करोड़ ₹; 1931-32 में डॉ. वी. के. आर. वी. राव द्वारा 1,689 करोड़ ₹; 1942-43 में कॉर्मस साप्ताहिक द्वारा 4,265 करोड़ ₹।

इन अनुमानों की मान्यताएँ एवं आधार भिन्न-भिन्न थे तथा इनका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं था। यह सभी न्यून तथ्यों एवं दोषपूर्ण गणना के तरीके पर आधारित थे, लेकिन डॉ. वी. के. आर. वी. राव का अनुमान उत्पादन गणना विधि एवं आय गणना विधि के सम्मिलित प्रयोग पर आधारित था। डॉ. राव की ही पद्धति में कुछ परिवर्तन करके राष्ट्रीय आय समिति एवं केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन द्वारा उनको स्वीकार कर लिया गया था।

(II) योजनाकाल के अनुमान

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् 4 अगस्त, 1949 को केन्द्रीय सरकार ने कलकत्ता स्थित Indian Statistical Institute के प्रो. पी. सी. महालनोबिस की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय आय समिति नियुक्त की। इस समिति के दो सदस्य थे—गोखले स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स के डॉ. डी. आर. गाडगिल व देहली स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स के डॉ. बी. के. आर. वी. राव। इस समिति की सहायता एवं मन्त्रणा के लिए तीन विदेशी विशेषज्ञ भी नियुक्त हुए—प्रो. साइमन कुजनेट्स (पेन्सिलवेनिया विश्वविद्यालय, अमरीका), प्रो. जे. आर. डी. स्टोन (कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय, ब्रिटेन) व डॉ. बी. डी. डर्कसेन (संयुक्त राष्ट्र संघ)। इस समिति ने अपनी प्रथम रिपोर्ट 1951 में व अन्तिम रिपोर्ट 14 फरवरी, 1955 को प्रस्तुत की।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कुछ वर्षों तक, अर्थात् 1960-61 तक राष्ट्रीय आय के अनुमान चालू मूल्यों व 1948-49 के मूल्यों के आधार पर लगाये जाते रहे, लेकिन 1960-61 में राष्ट्रीय आय की गणना की नवीन शृंखला प्रारम्भ की गयी जिसमें 1960-61 को आधार वर्ष माना गया, लेकिन बाद में 1970-71, 1980-81, 1993-94, 1999-2000, 2004-05 में तथा वर्तमान में 2011-12 को आधार वर्ष मानकर नवीन शृंखला को अपनाया गया है।

योजनाकाल में राष्ट्रीय आय की मुख्य प्रवृत्तियों का अध्ययन निम्न शीर्षकों में किया जा सकता है :

(1) सकल घरेलू उत्पाद अथवा सकल राष्ट्रीय आय में वृद्धि (Growth of Gross Domestic Product or Gross National Income)—सकल राष्ट्रीय आय अथवा सकल घरेलू उत्पाद सामान्यतया बराबर बढ़ते रहे हैं जिसका विवरण निम्न प्रकार है :

वर्ष	बाजार मूल्य पर सकल राष्ट्रीय आय (करोड़ ₹)	
	वर्तमान मूल्यों पर	स्थिर मूल्यों पर
1950-51	10,360	2004-05 के मूल्यों पर 2,92,996
1970-71	47,354	6,40,275
1990-91	5,78,667	14,70,766
2000-01	21,54,860	25,35,911
2010-11	77,02,308	52,27,739
2011-12	89,32,892	55,86,683
		2011-12 के मूल्यों पर
2011-12	87,55,188	87,55,188
2012-13	98,71,777	91,72,925
2013-14	1,12,05,169	98,00,813
2014-15	1,24,98,682	1,05,27,936

स्रोत : आर्थिक समीक्षा 2014-15, p. A-1, A-2

वर्तमान मूल्यों के आधार पर सकल आय में वृद्धि प्रथम पंचवर्षीय योजना में 2.0%, द्वितीय योजना में 9.6%, तृतीय योजना में 10.0%, चतुर्थ योजना में 11.2%, पांचवीं योजना में 11.0%, छठी योजना में 15.2%, सातवीं योजना में 14.2%, आठवीं योजना में 16.2%, नौवीं पंचवर्षीय योजना में 10.7%, दसवीं योजना में 12.8% तथा ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में 16.0% रही। बारहवीं पंचवर्षीय योजना के प्रथम तीन वर्षों 2012-13, 2013-14, 2014-15 में यह वृद्धि दर क्रमशः 12.8%, 13.5% तथा 11.5% रही।

स्थिर मूल्यों पर यह वृद्धि क्रमशः 4.0%, 4.1%, 3.4%, 3.2%, 5.1%, 5.4%, 5.8%, 6.5%, 5.6%, 7.6%, 7.8% रही। यह वृद्धि बारहवीं योजना के प्रथम तीन वर्षों 2012-13, 2013-14 तथा 2014-15 में क्रमशः 4.8%, 6.8% तथा 7.4% रही।

(2) शुद्ध राष्ट्रीय आय अथवा शुद्ध घरेलू उत्पाद में वृद्धि (Growth of Net National Income or Net Domestic Product)—शुद्ध राष्ट्रीय आय अथवा शुद्ध घरेलू उत्पाद में सामान्यतः बराबर वृद्धि हुई है जिसका विवरण अग्र प्रकार है :

वर्ष	बाजार मूल्य पर सकल राष्ट्रीय आय (करोड़ ₹)	
	वर्तमान मूल्यों पर	स्थिर मूल्यों पर
1950-51	9,829	2004-05 के मूल्यों पर 2,69,724
1970-71	44,550	5,96,470
1990-91	5,26,017	13,42,031
2000-01	19,47,788	22,91,795
2010-11	69,42,089	46,57,438
2011-12	80,52,996	49,58,849
2011-12	78,46,531	2011-12 के मूल्यों पर 78,46,531
2012-13	88,41,733	81,93,427
2013-14	1,00,56,523	87,51,834
2014-15	1,12,17,079	94,00,266

स्रोत : आर्थिक समीक्षा 2014-15, पृ. A-1, A-2

वर्तमान मूल्यों के आधार पर शुद्ध राष्ट्रीय आय में वृद्धि इस प्रकार रही—प्रथम पंचवर्षीय योजना में 2.1%, द्वितीय पंचवर्षीय योजना में 9.7%, तृतीय पंचवर्षीय योजना में 10.0%, चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में 11.0%, पांचवीं पंचवर्षीय योजना में 10.8%, छठी पंचवर्षीय योजना में 15.1%, सातवीं पंचवर्षीय योजना में 14.0%, आठवीं पंचवर्षीय योजना में 16.3%, नौवीं पंचवर्षीय योजना में 10.6%, दसवीं पंचवर्षीय योजना में 12.8% तथा एकादशीं पंचवर्षीय योजना में 16.0% रही। बारहवीं पंचवर्षीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में यह वृद्धि क्रमशः 12.7%, 13.7% तथा 11.5% रही। इसी तरह स्थिर मूल्यों के आधार पर उपर्युक्त पंचवर्षीय योजनाओं में यह वृद्धि दर क्रमशः 4.6%, 4.1%, 3.3%, 3.0%, 5.0%, 5.3%, 5.8%, 6.5%, 5.4%, 7.6% तथा 7.9% रही। बारहवीं पंचवर्षीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में यह वृद्धि दर क्रमशः 4.4%, 6.8% तथा 7.4% रही।

(3) प्रति व्यक्ति आय में परिवर्तन (Variations in Per Capita Income)—पिछले 64 वर्षों में प्रति व्यक्ति आय में भी बराबर परिवर्तन होते रहे हैं जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :

वर्ष	प्रति व्यक्ति आय (₹ में) निवल राष्ट्रीय आय	
	वर्तमान मूल्यों पर	स्थिर मूल्यों पर
1950-51	274	वर्ष 2004-05 के मूल्यों पर 7,513
1970-71	823	11,025
1990-91	6,270	15,996
2000-01	19,115	22,491
2010-11	58,534	39,270
2011-12	66,997	41,255
		आधार वर्ष 2011-12 के मूल्यों पर
2011-12	64,316	64,316
2012-13	71,593	66,344
2013-14	80,388	69,959
2014-15	88,533	74,153

स्रोत : आर्थिक समीक्षा 2014-15, पृ. A-1, A-2

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि योजनाकाल में प्रति व्यक्ति आय चालू मूल्यों के आधार पर 323 गुना बढ़ गई है।

राष्ट्रीय आय या घरेलू उत्पाद की प्रवृत्तियाँ या विशेषताएं

भारत की राष्ट्रीय आय या घरेलू उत्पाद में निम्न विशेषताएँ पायी जाती हैं। इन्हीं विशेषताओं को राष्ट्रीय आय या घरेलू उत्पाद में होने वाले परिवर्तन या प्रवृत्तियाँ भी कहते हैं :

(1) **शुद्ध राष्ट्रीय आय में वृद्धि**—1950-51 और 2014-15 के बीच शुद्ध राष्ट्रीय आय में बराबर वृद्धि हुई है। वर्तमान मूल्यों के आधार पर शुद्ध राष्ट्रीय आय 1950-51 में 9,829 करोड़ ₹ थी जो 2014-15 में बढ़कर 1,12,17,079 करोड़ ₹ हो गयी है, अर्थात् 782 गुनी वृद्धि हुई है।

(2) **प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि**—भारत में प्रति व्यक्ति आय बराबर बढ़ रही है। वर्तमान मूल्यों के आधार पर 1950-51 में प्रति व्यक्ति आय 274 ₹ थी जो 2014-15 में बढ़कर 88,533 ₹ हो गयी है, अर्थात् इसमें 323 गुनी वृद्धि हुई है।

(3) **शुद्ध घरेलू उत्पादन में सार्वजनिक क्षेत्र का बढ़ता हुआ भाग**—राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में सरकारी भूमिका में बराबर वृद्धि हो रही है। 1950-51 में सार्वजनिक क्षेत्र का भाग 7.6 प्रतिशत था जो 1980-81 में 17.5 प्रतिशत व वर्तमान (2009-10) में 21.2 प्रतिशत हो गया है।

(4) **राष्ट्रीय आय में विभिन्न आर्थिक क्रियाकलापों का योगदान**—शुद्ध घरेलू उत्पादन में कृषि का योगदान निरन्तर कम हो रहा है। औद्योगिक क्षेत्र का योगदान मन्द गति से बढ़ा है। सेवा क्षेत्र का योगदान औद्योगिक क्षेत्र की अपेक्षा कुछ तेजी से बढ़ा है, अर्थात् अर्थव्यवस्था में उत्पादन के आधार पर वांछित विकास नहीं हो सका, जो एक चिन्ताजनक पहलू है।

(5) **राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि दरों में अन्तर**—राष्ट्रीय आय के अध्ययन से यह पता चलता है कि वर्तमान मूल्यों के आधार पर शुद्ध राष्ट्रीय आय 1950-51 व 2014-15 के बीच 1,141 गुनी बढ़ी है, लेकिन इसी अवधि में प्रति व्यक्ति आय केवल 323 गुना बढ़ी है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भारत में राष्ट्रीय आय बढ़ने पर भी प्रति व्यक्ति आय में उतनी वृद्धि नहीं हुई है। इसका एक महत्वपूर्ण कारण बढ़ती हुई जनसंख्या है।

(6) **राष्ट्रीय आय का असमान वितरण**—हाल में लगाये गये एक अनुमान के अनुसार राष्ट्रीय आय का लगभग 33 प्रतिशत भाग उच्च वर्ग के 1 प्रतिशत परिवारों को प्राप्त होता है, जबकि बीच के 66 प्रतिशत परिवारों को केवल 33 प्रतिशत ही भाग प्राप्त होता है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय का वितरण बहुत ही असमान है।

(7) **विभिन्न व्यवसायों की आय में असमानता**—विभिन्न व्यवसाय के लोगों की आय में काफी अन्तर रहता है। प्रति व्यक्ति शुद्ध वार्षिक आय कृषि में कम है, जबकि मिलों और फैक्टरियों में, रेल और संचार में, बैंकिंग एवं व्यापार में तथा सरकारी सेवाओं में अधिक है।

(8) **क्षेत्रीय असमानता**—भारत में प्रति व्यक्ति आय के सम्बन्ध में क्षेत्रीय असमानता पायी जाती है।

भारत की राष्ट्रीय आय या घरेलू उत्पाद की गणना में कठिनाइयाँ या सीमाएँ

किसी भी देश की राष्ट्रीय आय की गणना करने के लिए अनेक प्रकार की जानकारी चाहिए, लेकिन यह जानकारी तभी मिल सकती है जबकि इस सम्बन्ध में नियमित रूप से ऑकड़े एकत्रित किये जाते हैं। भारत में राष्ट्रीय आय सम्बन्धी ऑकड़े न तो पर्याप्त हैं और न बहुत सही। इसलिए राष्ट्रीय आय की गणना में अनेक कठिनाइयाँ हैं। यहाँ सूचनाओं का अभाव है। संकलन के उचित ढंग भी नहीं हैं। कुछ कठिनाइयाँ अवधारणा (Structure) सम्बन्धी हैं, जैसे किन वस्तुओं की सेवाओं को राष्ट्रीय आय में शामिल किया जाए? नवीन वस्तुओं का मूल्यांकन किस प्रकार किया जाए? आदि। भारत में राष्ट्रीय आय की गणना करने में निम्न कठिनाइयाँ या सीमाएँ हैं। इन कठिनाइयों को दो भागों में बाँट सकते हैं—(I) सामान्य कठिनाइयाँ, (II) विशेष कठिनाइयाँ।

(I) **सामान्य कठिनाइयाँ**—यह कठिनाइयाँ दो हैं जो एक प्रकार से सैद्धान्तिक (Conceptual) हैं।

(1) **सेवाएँ**—इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रीय आय की गणना करने में सेवाओं को शामिल किया जाए अथवा नहीं? यदि शामिल भी किया जाए तो किन सेवाओं को। उदाहरण के लिए, गृहिणी द्वारा घर में सेवाएँ करना, कार के मालिक द्वारा स्वयं कार चलाना, गृहिणी द्वारा घर में कलात्मक वस्तुओं को बनाकर अपने शयन-कक्ष में लगाना, आदि। भारत में यह सेवाएँ शामिल नहीं की जाती हैं। अतः राष्ट्रीय आय के अनुमान सही प्रतीत नहीं होते हैं।

(2) नवीन वस्तुएँ—भारत एक विकासशील देश है। अतः यहाँ बहुत-सी वस्तुएँ पैदा की जाती हैं जिन्हें बाद में राष्ट्रीय आय निकालने में शामिल कर लेते हैं, लेकिन जब वे वस्तुएँ आधार वर्ष में होती ही नहीं थीं तो उनका उस आधार वर्ष में मूल्य निकालने में कठिनाइयाँ होती हैं।

(II) विशेष कठिनाइयाँ—यह कठिनाइयाँ पाँच हैं :

(3) अमुद्राकृत क्षेत्र की विद्यमानता—एक देश की राष्ट्रीय आय का ठीक-ठीक अनुमान लगाने के लिए यह आवश्यक है कि उस देश की अर्थव्यवस्था संगठित हो तथा वस्तुओं व सेवाओं का विनिमय मुद्रा में होता हो। भारत में स्थिति भिन्न है। यहाँ गाँवों में क्रय-विक्रय में मुद्रा का प्रयोग भी कम होता है। अतः यहाँ पर यह पता लगाना कठिन है कि कितने उत्पादन का इस प्रकार विनिमय हुआ। अतः भारत में राष्ट्रीय आय निकालने के लिए इस सम्बन्ध में कुछ अनुमान (Guess) ही लगाये जाते हैं, लेकिन वे सदा सही हों, ऐसा होना सम्भव नहीं है।

(4) व्यावसायिक विशेषीकरण का अभाव—भारत में विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए व्यक्तियों के लिए कोई विशिष्ट आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं तथा एक व्यक्ति एक व्यवसाय के साथ अन्य व्यवसाय भी करता है। इससे राष्ट्रीय आय की गणना करने में कठिनाई होती है, जैसे भारत में किसान खेती भी करता है, कपड़े भी बुनता है, मजदूरी भी करता है, मुर्गी भी पालता है, इससे राष्ट्रीय आय की गणना करने में कठिनाई होती है।

(5) जन-सहयोग का अभाव—भारत में राष्ट्रीय आय की गणना करने में कठिनाई जन-सहयोग की है। जब कभी भी यहाँ आँकड़े एकत्रित किये जाते हैं तो जनता द्वारा सही सूचनाएँ नहीं दी जाती हैं। कुछ व्यक्ति तो आय-कर व अन्य कर न लग जायें इससे सही सूचना नहीं देते जबकि कुछ अशिक्षा व अपर्याप्ति हिसाब-किताब के कारण सूचना नहीं दे पाते हैं। इससे राष्ट्रीय आय की गणना में कठिनाई होती है तथा गणना सही प्रतीत नहीं होती है।

(6) पर्याप्त एवं सही सांख्यिकी का अभाव—राष्ट्रीय आय की गणना करने में अनेक प्रकार की सांख्यिकी की आवश्यकता पड़ती है; जैसे उत्पादन लागत, बचत, उपभोग व्यय, कार्यशील जनसंख्या, मजदूरी व लाभ, आदि। भारत में यह आँकड़े सरकारी कर्मचारी एकत्रित करते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में यह कार्य पटवारी या लेखपाल के द्वारा किया जाता है जो इस कार्य के लिए प्रशिक्षित नहीं होता है साथ ही उसका यह कार्य मुख्य भी नहीं होता है। इसका फल यह होता है कि वे आँकड़े सही और पर्याप्त नहीं होते हैं। इसलिए राष्ट्रीय आय समिति ने अपनी पहली रिपोर्ट में लिखा है कि “भारत में राष्ट्रीय आय के क्षेत्र में सांख्यिकीय और विश्लेषणात्मक (Statistical and Analytical) दोनों प्रकार की सामग्रियों का अपेक्षाकृत अभाव निर्धानता के उस दुष्यक्र का अंग है, जो कि अन्य-विकसित अर्थव्यवस्था का लक्षण है।”¹

(7) प्रादेशिक अन्तर—भारत के सभी प्रदेश—जलवायु, भूमि, रहन-सहन, औद्योगिक उत्पादन, कृषि उत्पादन, रीति-रिवाज, आदि में भिन्न हैं। अतः प्रत्येक प्रदेश के आँकड़े अलग-अलग एकत्रित करने पड़ते हैं। इसमें समय, धन, सामग्री, आदि को जुटाने में कठिनाई होती है।

भारत की राष्ट्रीय आय या घरेलू उत्पाद की गणना में सुधार हेतु सुझाव

भारत में राष्ट्रीय आय की गणना करने में कुछ कठिनाइयाँ आती हैं। अतः इस सम्बन्ध में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—(i) आँकड़े विश्वसनीय हों, व (ii) विभिन्न क्षेत्रों के सम्बन्ध में आवश्यक आँकड़े उपलब्ध हों। इस सम्बन्ध में निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं :

(1) आँकड़ों का नियमित एवं निरन्तर एकत्रीकरण—आँकड़ों की आवश्यकता केवल राष्ट्रीय आय की गणना करने के लिए ही नहीं होती, बल्कि आर्थिक विकास की राह पर चलने के लिए भी होती है। अतः सबसे प्रमुख एवं महत्वपूर्ण सुझाव यह है कि देश में एक ऐसी केन्द्रीय संस्था होनी चाहिए जो आँकड़ों को नियमित रूप से एकत्रित करती रहे। इससे आँकड़े नियमित रूप से मिलते रहेंगे तथा उनमें एकरूपता बनी रहेगी। यह संस्था केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन जैसी हो सकती है या फिर इसी केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन को और अधिक प्रभावशाली बनाया जा सकता है। इस समय भारत में कई एजेन्सियाँ आँकड़े एकत्रित करती हैं उन सबको मिलाकर एक कर देना चाहिए।

¹ First Report of the National Income Committee (1951).

(2) कुछ क्षेत्रों के सम्बन्ध में आँकड़े एकत्रित करने की आवश्यकता—राष्ट्रीय आय की गणना में सुधार हेतु दूसरा सुझाव यह है कि जिन क्षेत्रों के सम्बन्ध में आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं तथा जिनके बारे में केवल अनुमान ही लगाया जाता है, उन क्षेत्रों में सम्बन्धित आँकड़े एकत्रित करने की व्यवस्था की जानी चाहिए। इन क्षेत्रों में फसलें, कृषीर उद्योग, घरेलू तथा स्व-रोजगार, आदि आते हैं। भारत में उत्पादन लागत के सम्बन्ध में भी आवश्यक आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। अतः इस सम्बन्ध में भी व्यवस्था की जानी चाहिए।

(3) उपभोग के सम्बन्ध में आँकड़े एकत्रित करने की आवश्यकता—राष्ट्रीय आय की गणना में उपभोग सम्बन्धी आँकड़ों का होना भी आवश्यक है जिससे कि गैर-जरूरी उपभोग, माँग की लोच, भावी माँग, आदि का भी उचित अनुमान लगाया जा सके। इन सभी के विषय में आवश्यक आँकड़े होने से आय के न्यायोचित वितरण के लिए नीतियाँ अपनायी जा सकती हैं।

भारत में राष्ट्रीय आय की गणना करने में जो कठिनाइयाँ या कमियाँ हैं वे उपर्युक्त सुझावों को पूरा करने पर दूर की जा सकती हैं, लेकिन धनाभाव इसमें बाधा उपस्थित करता है और भारत जैसे देश के लिए आँकड़ों के एकत्रण पर भारी व्यय करना भी दिखायी उचित नहीं देता है, लेकिन कुछ समय बाद स्थिति सुधर जायेगी और भारत आँकड़ों के एकत्रण पर भारी व्यय करने में समर्थ हो सकेगा, परन्तु तब तक इतना तो अवश्य ही किया जा सकता है कि वर्तमान आँकड़े एकत्रित करने वाली संस्थाओं में (i) उचित तालमेल बनाये रखा जा सकता है जिससे कि एक ही आँकड़े दो संस्थाएँ एकत्रित न करें; (ii) आँकड़े एकत्रण के जाल का धीरे-धीरे विस्तार किया जा सके।

भारत में प्रति व्यक्ति आय

प्रति व्यक्ति आय से अर्ध देश की जनता की औसत आय से है। यह एक देश की राष्ट्रीय आय में उस देश की कुल मानव जनसंख्या का भाग देकर निकाली जाती है। इसके आधार पर ही उस देश की जनता के जीवन-स्तर का अनुमान लगाया जाता है।

भारत में प्रति व्यक्ति आय में बराबर वृद्धि हो रही है। 1950-51 में वर्तमान मूल्यों के आधार पर प्रति व्यक्ति आय 274 ₹ वार्षिक थी जो 2014-15 में 88,533 ₹ वार्षिक हो गयी है लेकिन अभी भी अन्य देशों की तुलना में यह बहुत निम्न है। *World Development Report, 2015* के अनुसार भारत में प्रति व्यक्ति आय 1,530 डॉलर है, जबकि अन्य देशों में कहीं अधिक है। उदाहरण के लिए, अन्य देशों में प्रति व्यक्ति आय इस प्रकार है—ब्रिटेन 38,250 डॉलर, जापान 47,870 डॉलर, अमरीका 50,120 डॉलर। यह आँकड़े यह बताते हैं कि भारत विकसित राष्ट्रों से पर्याप्त पीछे है।

भारत में राष्ट्रीय आय या घरेलू उत्पाद एवं प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण

भारत में राष्ट्रीय आय या घरेलू उत्पाद एवं प्रति व्यक्ति आय कम होने के बहुत से कारण हैं जिनमें से प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :

(1) पूँजी का अभाव—भारत में प्रति व्यक्ति आय कम होने से बचत कम होती है। इससे पूँजी-निर्माण की दर कम रहती है जिसका अन्त में प्रभाव यह होता है कि पूँजी के अभाव में उद्योगों का विकास नहीं हो पाता है। अतः उत्पादन वृद्धि के अभाव में प्रति व्यक्ति आय कम ही बनी रहती है।

(2) बढ़ती हुई जनसंख्या—इस देश की जनसंख्या बराबर बढ़ रही है जो बढ़ती हुई प्रति व्यक्ति आय को निगल जाती है और इस प्रकार प्रति व्यक्ति आय कम ही बनी रहती है।

(3) साहसी योग्यता का अभाव—भारत में साहसी योग्यता का अभाव है। यहाँ कोई भी सामान्य व्यक्ति जोखिम लेकर नये-नये उद्योग व व्यवसाय स्थापित नहीं करना चाहता है। इससे उत्पादन में वृद्धि नहीं होती है और इस प्रकार प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि नहीं होती है।

(4) निम्न उत्पादकता—यहाँ पर प्रति श्रमिक उत्पादकता अन्य देशों की तुलना में कम है। अतः कुल उत्पादन में कोई विशेष परिवर्तन न होने के कारण प्रति व्यक्ति आय कम ही बनी रहती है।

(5) भाग्यवादिता एवं खण्डिवादिता—प्रति व्यक्ति आय कम होने में एक महत्वपूर्ण घटक भारतवासियों की भाग्यवादिता व खण्डिवादिता भी है। वे अधिक परिश्रम पर विश्वास नहीं करते हैं और न वे उत्पादन की पुरानी तकनीकों को ही बदलना चाहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उत्पादन न बढ़ने के कारण प्रति व्यक्ति आय कम बनी रहती है।

(6) आधारभूत सेवाओं का अभाव—यहाँ पर उन आधारभूत सेवाओं का अभाव है जो कुल उत्पादन को बढ़ाने में योग देती हैं जिससे प्रति व्यक्ति आय बढ़ती है। यह सेवाएँ हैं—परिवहन व संचार, बीमा, बैंक, वित्तीय संस्थाएँ, विद्युत्-शक्ति, आदि।

(7) सीमित बाजार—यहाँ पर वस्तुओं व सेवाओं के लिए बाजार भी सीमित हैं, क्योंकि यहाँ की आम धारणा में भौतिक वृद्धि को स्थान नहीं है। यहाँ पर वस्तुओं व सेवाओं की माँग उनके उत्पादन से कम ही रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि न तो नयी-नयी वस्तुएँ बनती हैं और न कुल उत्पादन ही बढ़ता है।

(8) बचत एकत्रित करने वाली संस्थाओं का अभाव—प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि का सीधा सम्बन्ध बचत→पूँजी-निर्माण→उत्पादन वृद्धि से है। यदि किसी देश में बचत एकत्रित करने वाली संस्थाएँ हैं तो पूँजी-निर्माण करके उसको उत्पादन कार्यों में लगाया जा सकता है और इसके फलस्वरूप प्रति व्यक्ति आय बढ़ायी जा सकती है। भारत में बचत एकत्रित करने वाली संस्थाओं का अभाव है।

(9) प्राकृतिक साधनों का उचित विदोहन न होना—प्रति व्यक्ति आय कम होने का महत्वपूर्ण कारण प्राकृतिक साधनों का उचित विदोहन न होना भी है।

भारत में राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय बढ़ाने के सुझाव

(SUGGESTIONS FOR RAISING NATIONAL & PER CAPITA INCOME IN INDIA)

भारत की राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय बढ़ाने के लिए उन कारणों का ही निवारण करना होगा जो इनको कम बनाये रखने में योग दे रहे हैं तथा जिनका उल्लेख कम होने के कारणों में किया गया है। संक्षेप में, राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय बढ़ाने के लिए सुझाव इस प्रकार हैं—(1) जनसंख्या वृद्धि को रोकना, (2) उद्योगों की अप्रयुक्त-क्षमता का पूर्ण उपयोग करना, (3) कृषि का आधुनिकीकरण करना, (4) आधारभूत सेवाओं का विस्तार, (5) बचतों को प्रोत्साहन एवं पूँजी-निर्माण, (6) प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादन बढ़ाना, (7) साहसियों को पर्याप्त सुविधाएँ एवं प्रेरणा देना, (8) शक्ति साधनों में वृद्धि करना, (9) भाग्यवादिता व रुद्धिवादिता को समाप्त करने के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करना, (10) प्राकृतिक साधनों का उचित विदोहन करना, (11) विदेशी व्यापार में वृद्धि, तथा (12) शिक्षा का विस्तार।

राष्ट्रीय आय अथवा घरेलू उत्पाद की रचना

(COMPOSITION OF NATIONAL INCOME OR DOMESTIC PRODUCT)

राष्ट्रीय आय या घरेलू उत्पाद में विभिन्न क्षेत्रों जैसे उद्योग, कृषि, व्यापार, परिवहन, आदि का योगदान रहता है और इन योगदानों में बहुत विभिन्नता देखी जाती है। कुछ क्षेत्रों का योगदान अधिक होता है और कुछ का कम। इसके अतिरिक्त, आर्थिक विकास के साथ-साथ इनके सापेक्षिक महत्व में भी परिवर्तन होता रहता है। सामान्यतः अत्य-विकसित देशों की राष्ट्रीय आय या घरेलू उत्पाद में कृषि एवं सम्बन्धित क्षेत्र का योगदान अधिक होता है, किन्तु आर्थिक विकास होने से इसमें कमी होने लगती है और उद्योग एवं सेवा का योगदान बढ़ने लगता है।

भारत में शुद्ध घरेलू उत्पादन में 1950-51 में कृषि एवं सम्बन्धित क्षेत्र (प्राथमिक क्षेत्र) का भाग 56.7 प्रतिशत, उद्योग एवं सम्बन्धित क्षेत्र (द्वितीय क्षेत्र) का भाग 13.7 प्रतिशत और तृतीयक क्षेत्र या सेवा क्षेत्र का 29.6 प्रतिशत था। विदेशों से अर्जित शुद्ध आय ऋणात्मक रही है। 1950-51 में यह (-) 0.2 प्रतिशत थी।

(अ) प्राथमिक क्षेत्र (Primary Sector)—2014-15 में शुद्ध घरेलू आय में इस क्षेत्र का योगदान 17.6% था, जबकि यह 1950-51 में 56.7% था। इस क्षेत्र के चार उप-क्षेत्र निम्न हैं :

(1) कृषि (Agriculture), (2) वन एवं लकड़ी (Forestry and Lumbering), (3) मत्स्य-पालन (Fishing) एवं (4) खनन एवं पत्थर तोड़ना (Mining and Quarrying)।

(ब) द्वितीयक क्षेत्र (Secondary Sector)—इस क्षेत्र का निबल उत्पादन 1950-51 व 2014-15 के बीच बढ़ा है। राष्ट्रीय आय में (स्थिर कीमतों पर) इस क्षेत्र का भाग 2014-15 में 29.7% था, जबकि 1950-51 में 13.7 प्रतिशत। इस क्षेत्र में उप-क्षेत्र हैं : रजि. विनिर्माण (Manufacturing regd.), गैर-रजि. निर्माण (Manufacturing unregd.), भवन-निर्माण (Construction) एवं बिजली, गैस व जल आपूर्ति (Electricity, Gas and Water Supply)।

(स) तृतीयक क्षेत्र (Tertiary Sector)—इस क्षेत्र का निबल उत्पादन 1950-51 व 2014-15 के बीच बढ़ा है। सापेक्षिक रूप से, राष्ट्रीय आय या घरेलू उत्पाद में इसका योगदान 29.6 प्रतिशत से बढ़कर 52.7 प्रतिशत हो गया। इसके कई उप-क्षेत्र हैं—(1) परिवहन, भण्डारण एवं संचार, (2) व्यापार एवं होटल,

(3) बैंकिंग एवं बीमा, (4) वास्तविक जायदाद, (5) लोक प्रशासन, एवं (6) अन्य सेवाएँ। इन सबमें निरपेक्ष रूप से निबल उत्पादन बढ़ा है और अन्तिम उप-क्षेत्र को छोड़कर शेष के योगदान सापेक्षिक रूप से भी बढ़े हैं।

इस प्रकार सकल राष्ट्रीय आय या घरेलू उत्पाद व उसके क्षेत्रवार वितरण के प्रतिशत में भारी परिवर्तन हो रहा है जिसका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :

	मद	1950-51	2014-15
1.	कृषि व सम्बद्धित क्षेत्र	56.7	17.6
2.	विनिर्माण (Manufacturing) आदि	13.7	29.7
3.	सेवा क्षेत्र	29.6	52.7
		100.0	100.0

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय आय में कृषि का सर्वोच्च स्थान है। सभी क्षेत्रों में वृद्धि हो रही है जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय का स्तर भी ऊँचा उठा है, लेकिन भारतीय अर्थव्यवस्था के ढाँचे में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं आया है। भारतीय अर्थव्यवस्था अभी भी मूलतः एक कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था है जिसके कारण उद्योगों व खानों, आदि का स्थान कृषि के बाद ही आता है। इस क्षेत्र में वृद्धि करने की आवश्यकता है। अतः इसमें अधिक पूँजी लगायी जानी चाहिए जिसका प्रभाव यह होगा कि अर्थव्यवस्था सन्तुलित हो। जायेगी तथा देश अपेक्षाकृत अधिक तेजी से एवं स्थायी तौर पर आर्थिक प्रगति कर अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अपना उच्च स्थान प्राप्त करने में सफल होगा।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. राष्ट्रीय आय की रचना के बारे में बताइए। क्या इसमें परिवर्तन हो रहे हैं? यदि हां तो उनके बारे में बताइए।
2. भारतीय राष्ट्रीय आय का अर्थ, ज्ञात करने की विधियां एवं महत्व पर प्रकाश डालिए।

भारत में नियोजन : उद्देश्य एवं रणनीति

[PLANNING IN INDIA : OBJECTIVES AND STRATEGY]

अल्प-विकसित अर्थव्यवस्था में आर्थिक नियोजन का महत्व (IMPORTANCE OF ECONOMIC PLANNING IN UNDER-DEVELOPED ECONOMY)

अल्प-विकसित देशों के लिए आर्थिक नियोजन का महत्वपूर्ण स्थान है। इसीलिए ऑस्कर लॉगे (Oskar Lange) ने लिखा है कि “आज अनेक अल्प-विकसित राष्ट्र विश्वास करते हैं कि उनके पिछड़ेपन का एकमात्र समाधान आर्थिक नियोजन ही है।”

अतः अनेक विद्वानों का कहना है कि आर्थिक नियोजन आज के युग की आवश्यकता है। संक्षेप में अल्प-विकसित देशों में आर्थिक नियोजन के महत्व को निम्न तथ्यों के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है :

(1) विदेशी शासन—अनेक अल्प-विकसित देश काफी लम्बे काल तक विदेशी शासकों के अन्तर्गत रहे हैं जिन्होंने अपने हितों की पूर्ति के लिए अल्प-विकसित देशों का मनमाने ढंग से शोषण किया तथा उनकी आर्थिक उन्नति के लिए कोई महत्वपूर्ण प्रयास नहीं किया। अतः अब स्वतन्त्र होने पर इन देशों के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वे अपना विकास सुव्यवस्थित नियोजन के आधार पर करें।

(2) गरीबी के दुष्क्र का समाधान—अल्प-विकसित देशों में गरीबी का दुष्क्र चलता रहता है। इसका कारण यह होता है कि इन देशों में आय कम होने के कारण बचत कम होती है जिससे पूंजी-निर्माण धीमी गति से होता है। अतः विनियोग भी कम मात्रा में ही होता है और इस प्रकार आय कम होने का चक्र चलता ही रहता है। इस चक्र को तोड़ने और पूंजी-निर्माण की गति तेज करने के लिए ऐसे देशों के लिए आर्थिक नियोजन महत्वपूर्ण हैं।

(3) जनसंख्या समस्या का समाधान—अल्प-विकसित देशों में जनसंख्या वृद्धि तेजी से होती है। इन देशों में इस तेजी में कमी लाने व जनसंख्या को नियन्त्रित करने के लिए आर्थिक विकास करना आवश्यक होता है जिसे आर्थिक नियोजन के माध्यम से ही किया जा सकता है।

(4) वेरोजगारी की समस्या का समाधान—अल्प-विकसित देशों में वेरोजगारी की समस्या होती है। एक देश की उन्नति उस समय तक पूरी नहीं मानी जाती है जब तक कि उस देश में अधिक-से-अधिक लोगों को रोजगार न प्रदान कर दिया जाए। इस समस्या का समाधान करने के लिए आर्थिक नियोजन महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है।

(5) आधारभूत रचना के निर्माण के लिए—अल्प-विकसित देशों में भौतिक आधारभूत रचना; जैसे बिजली, परिवहन साधन, सिंचाई साधन, लोहा, सीमेण्ट, आदि का अभाव होता है जिनके विकास के बिना देश प्रगति नहीं कर सकता है। अतः ऐसे देशों में आर्थिक नियोजन इस आधारभूत रचना के विकास के लिए आवश्यक होता है।

(6) उपलब्ध साधनों के पूर्ण शोषण के लिए—अल्प-विकसित देशों में उपलब्ध साधनों का पूरा-पूरा शोषण नहीं हो पाता है। अतः उपलब्ध साधनों के पूर्ण शोषण के लिए यह आवश्यक है कि देश में आर्थिक नियोजन की नीति अपनायी जाए जिससे कि आर्थिक विकास किया जा सके।

(7) साहसी क्षमता के अभाव की पूर्ति के लिए—अल्प-विकसित देशों में साहसी क्षमता की कमी पायी जाती है जिससे देश का विकास धीमी गति से होता है। यदि यह देश आर्थिक नियोजन की नीति अपना लेते हैं तो सरकारी सहयोग से देश में साहसी क्षमता बढ़ जाती है और देश प्रगति करने लगता है।

(8) शिक्षित व प्रशिक्षित व्यक्तियों के अभाव की पूर्ति के लिए—अल्प-विकसित देशों में शिक्षित व प्रशिक्षित व्यक्तियों का अभाव होता है। अतः नियोजन के माध्यम से इस अभाव की पूर्ति की जा सकती है और देश की प्रगति की जा सकती है।

(9) समाजवादी समाज की स्थापना के लिए—अल्प-विकसित देश विदेशी शासकों के अन्तर्गत रहने से पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के दोषों से प्रभावित रहे हैं जिससे उनकी जनता का काफी शोषण हुआ है। अतः यह देश अपने यहाँ समाजवादी समाज की स्थापना कर जनता का कल्याण करने के लिए आर्थिक नियोजन की नीति अपनाते हैं।

अल्प-विकसित देशों में नियोजन की समस्याएँ

(PROBLEMS OF PLANNING IN UNDER-DEVELOPED COUNTRIES)

यद्यपि अल्प-विकसित देशों के लिए आर्थिक नियोजन एक आवश्यकता है, परन्तु इन देशों को इसे अपनाने में अनेक कठिनाइयों व समस्याओं का सामना करना पड़ता है। हम इन कठिनाइयों व समस्याओं को तीन भागों में बाँट सकते हैं :

(I) आधारभूत समस्याएँ, (II) नियोजन निर्माण की समस्याएँ, (III) नियोजन के क्रियान्वयन की समस्याएँ। अब हम एक-एक करके इन समस्याओं का विस्तार से विवेचन करेंगे :

(I) आधारभूत समस्याएँ

आधारभूत समस्याएँ वैसे तो कई हैं, लेकिन उनमें प्रमुख निम्न हैं :

(1) जनसंख्या की समस्या—अल्प-विकसित देशों की एक आधारभूत समस्या जनसंख्या समस्या होती है, अर्थात् इन देशों में जनसंख्या तेजी से बढ़ती रहती है जिससे वहाँ खाद्यान्न समस्या, बेरोजगारी की समस्या, आवास की समस्या व जन-कल्याण जैसी समस्याएँ बनी रहती हैं। इससे आर्थिक नियोजन की प्रगति महत्वहीन हो जाती है।

(2) पूंजी की समस्या—अल्प-विकसित देशों के पास अपना आर्थिक नियोजन करने के लिए पूंजी पर्याप्त मात्रा में नहीं होती है, क्योंकि इन देशों में बचत का स्तर निम्न व पूंजी-निर्माण की गति धीमी होती है। अतः इन देशों को अपना आर्थिक नियोजन कार्यक्रम छोटे स्तर से ही प्रारम्भ करना पड़ता है, साथ ही विदेशी सहायता भी लेनी पड़ती है।

(3) तकनीकी ज्ञान की समस्या—अल्प-विकसित देशों में श्रमिकों का आधिक्य व पूंजी की कमी के कारण नवीन तकनीक को अपनाने की समस्या होती है, क्योंकि नवीन तकनीक अपनाने से एक ओर तो पूंजी की आवश्यकता होती है तो दूसरी ओर श्रमिकों में बेरोजगारी फैलने का डर रहता है।

(II) नियोजन निर्माण की समस्याएँ

अल्प-विकसित देशों में नियोजन निर्माण की निम्न समस्याएँ सामने आती हैं :

(1) प्राथमिकताओं की समस्या—अल्प-विकसित देशों में विकास की प्राथमिकताएँ निर्धारित करना भी एक समस्या होती है; जैसे (i) विकास योजनाओं में कृषि को प्राथमिकता दी जाए या उद्योगों को, (ii) क्षेत्रीय विकास किया जाए अथवा सामान्य, (iii) सामाजिक कल्याण की कौन-सी योजनाएँ अपनायी जायें, (iv) उत्पादन को प्राथमिकता दी जाए या वितरण, (v) विनियोग पर जोर दिया जाए या उपभोग पर।

(2) पर्याप्त एवं विश्वसनीय आँकड़ों का अभाव—आर्थिक नियोजन के लिए पर्याप्त एवं विश्वसनीय आँकड़े होने चाहिए जिससे कि नियोजन का उचित लाभ मिल सके, परन्तु अल्प-विकसित देशों में पर्याप्त एवं विश्वसनीय आँकड़ों का अभाव रहता है। इससे नियोजन के परिणाम वास्तविकता से दूर रह जाते हैं।

(3) नियोजन तकनीक समस्या—अल्प-विकसित देशों में नियोजन तकनीक अपनाने की भी समस्या होती है। नियोजन तकनीक कई हैं; जैसे (i) श्रम-प्रधान तकनीक व पूंजी-प्रधान तकनीक, (ii) सन्तुलित विकास तकनीक व असन्तुलित विकास तकनीक, (iii) प्रोत्साहन तकनीक व निर्देशन तकनीक, आदि। अल्प-विकसित देशों को इन तकनीकों में से चुनना पड़ता है और यह तय करना पड़ता है कि वे किस तकनीक को अपनायें।

(III) नियोजन के क्रियान्वयन की समस्याएँ

अल्प-विकसित देशों में नियोजन के क्रियान्वयन की भी समस्याएँ होती हैं जिनमें से प्रमुख निम्न हैं :

(1) **जन सहयोग का अभाव**—अल्प-विकसित देशों में जनता का सहयोग उचित प्रकार से नहीं मिल पाता है। इसके दो प्रमुख कारण हैं, एक तो जनता शिक्षित नहीं होती है। अतः वह नियोजन के लाभों को नहीं समझ पाती है। दूसरे नियोजन के फलस्वरूप कर लगाये जाते हैं जिन्हें जनता पसन्द नहीं करती है। इस प्रकार अल्प-विकसित देशों में जन सहयोग की समस्या बनी रहती है।

(2) **कुशल प्रशासन का अभाव**—अल्प-विकसित देशों में प्रशासन कुशल नहीं होता है। अतः वे नियोजन के क्रियान्वयन को उचित रूप प्रदान नहीं कर पाते हैं तथा नियन्त्रण प्रभावशाली नहीं रहता है।

(3) **योग्य साहसियों का अभाव**—इन देशों में योग्य साहसियों का अभाव रहता है जिससे नियोजन के फलस्वरूप स्थापित औद्योगिक इकाइयों का प्रबन्ध उचित रूप से नहीं हो पाता है और न निर्धारित उत्पादन लक्ष्य ही प्राप्त हो पाते हैं। इस प्रकार नियोजन के क्रियान्वयन की यह समस्या बनी रहती है।

(4) **विदेशी विनियम की समस्या**—अल्प-विकसित देशों में नियोजन के कारण पूँजीगत माल का आयात काफी मात्रा में बढ़ जाता है, जबकि निर्यात उस मात्रा में नहीं बढ़ पाते हैं। अतः विदेशी विनियम के भुगतान की समस्या पैदा हो जाती है जिससे आर्थिक नियोजन में कटौती करनी पड़ती है।

(5) **मुद्रा-स्फीति की समस्या**—यह देश आर्थिक विकास के लिए घाटे की वित्त व्यवस्था अपनाते हैं जिससे मुद्रा-स्फीति की समस्या पैदा हो जाती है। इससे कई कठिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं। योजना लागत बढ़ जाती है और जनता का जीवन-स्तर ऊपर उठाना कठिन हो जाता है, आदि।

(6) **सामाजिक समस्याएँ**—अल्प-विकसित देशों में समाज ख़फ़ि़वादी व अन्धविश्वासी होता है वह जाति के बधानों में बँधा हुआ होता है। श्रमिकों में गतिशीलता कम होती है। उद्योगों में अनुपस्थितिवाद काफी होता है। पारिवारिक घनिष्ठता अधिक होती है। इन सभी के फलस्वरूप नियोजन का क्रियान्वयन कठिन हो जाता है और नियोजन में नवीन समस्याएँ पैदा हो जाती हैं।

आर्थिक नियोजन के आवश्यक तत्व

(ESSENTIALS OF ECONOMIC PLANNING)

आर्थिक नियोजन भिन्न-भिन्न उद्देश्यों को लेकर किया जाता है। अतः सफलता के लिए आवश्यक तत्व भी भिन्न-भिन्न हैं, लेकिन सामान्यतया प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं जो सभी प्रकार के उद्देश्यों के लिए उपयुक्त हैं :

(1) **सांख्यिकीय समंकों की उपलब्धता**—सभी प्रकार का भावी नियोजन सांख्यिकीय समंकों पर आधारित होता है। यह समंक वर्तमान आवश्यकता, भूत की वस्तु-स्थिति और भावी अनुमान पर निर्भर रहते हैं। यदि यह समंक उपलब्ध हैं तथा सही हैं तो नियोजन भी सफल होता है अन्यथा यह देखने में आया है कि अधिकांश देशों में नियोजन की असफलता का कारण समंकों का अभाव ही पाया गया है।

(2) **आर्थिक संगठन**—यदि किसी देश में नियोजन किया जाता है तो वहाँ आर्थिक संगठन इस प्रकार का होना चाहिए जो नियोजन कार्य को प्रोत्साहन दे सके। ऐसा नहीं होना चाहिए कि नियोजन में उसके द्वारा कठिनाइयाँ पैदा की जायें।

(3) **शक्तिशाली सरकार व योग्य प्रशासन**—आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए शक्तिशाली सरकार व योग्य प्रशासन का होना आवश्यक है। नियोजन के नाम पर अयोग्य एवं शक्तिहीन सरकार राष्ट्र के लिए एक धोखा है। इसमें राष्ट्रीय साधनों के अपव्यय की सम्भावनाएँ बनी रहती हैं। यदि देश में प्रशासन योग्य है तथा कर्मचारियों का तकनीकी ज्ञान उच्च स्तर का है तो आदर्श योजनाओं का निर्माण किया जा सकता है एवं विभिन्न योजनाओं में सम्बन्ध किया जा सकता है।

(4) **निश्चित उद्देश्यों एवं प्राथमिकताओं का होना**—नियोजन की सफलता के लिए योजनाओं के उद्देश्य निश्चित होने चाहिए जिन्हें उन योजनाओं के माध्यम से प्राप्त किया जाना है। यह उद्देश्य देश की आवश्यकताओं के अनुसंध होने चाहिए तथा जनता की इच्छा को ध्यान में रखकर बनाये जाने चाहिए। प्रत्येक देश में साधन सीमित हैं। अतः प्राथमिकताओं को विवेकपूर्ण ढंग से निश्चित किया जाना चाहिए।

(5) **पर्याप्त आर्थिक एवं भौतिक साधन**—प्रत्येक कार्य की सफलता धन व साधनों पर निर्भर है। इसी प्रकार नियोजन की सफलता भी आर्थिक एवं भौतिक साधनों पर निर्भर है। यदि साधनों की कमी है तो योजना के बांधित लक्ष्य प्राप्त नहीं किये जा सकते हैं और न प्राकृतिक साधनों का पूर्ण विदोहन ही हो सकता है।

(6) **व्यापकता**—नियोजन का रूप व्यापक होना चाहिए, अर्थात् अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों का समावेश योजना में होना चाहिए। यदि कुछ ही क्षेत्रों का समावेश किया जाता है तो वह आंशिक नियोजन कहलायेगा और राष्ट्रीय समस्याओं का सही प्रतिनिधित्व नहीं कर सकेगा। अतः नियोजन की सफलता के लिए योजनाएँ व्यापक होनी चाहिए।

(7) **राष्ट्रीय चरित्र**—आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए राष्ट्र में उच्चकोटि का चरित्र भी होना चाहिए। यदि राष्ट्र में नैतिकता का अभाव है, आत्मविश्वास नहीं है, समाज में राष्ट्र के प्रति निष्ठा की कमी है, राष्ट्रीय भावना का अभाव है, तो ऐसे देश में आर्थिक नियोजन पूर्णरूप से सफल नहीं हो सकता है। भ्रष्ट व बेर्इमान लोग विकास कार्यों में वाधा ही उत्पन्न करेंगे, सहयोग नहीं।

(8) **व्यापक प्रचार**—आर्थिक नियोजन करते समय जन-जागृति उत्पन्न करने के लिए योजना का प्रचार किया जाना चाहिए और बताया जाना चाहिए कि वह जनता के लिए किस प्रकार उपयोगी है। इससे जन-सहयोग को बढ़ावा मिलेगा, जन-विरोध में कमी होगी और अन्त में योजना सफलता की ओर अग्रसर होगी।

(9) **जन-सहयोग**—आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए परम आवश्यक है कि जनता का पूरा-पूरा सहयोग प्राप्त हो। इस सम्बन्ध में प्रो. लुईस ने यह विचार व्यक्त किया है कि जन उत्साह नियोजन के लिए चिकना तेल (lubricating oil) तथा आर्थिक विकास के लिए पेट्रोल है—यह एक गतिशील शक्ति है जो सभी बातों को सम्भव बनाती है। लेकिन ध्यान रहे कि जन सहयोग उसी अवस्था में मिलता है, जबकि जनता को विश्वास हो कि नियोजन का लाभ उसको मिलेगा।

(10) **राजनीतिक स्थायित्व**—आर्थिक नियोजन में निरन्तरता एवं एकरूपता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि देश में राजनीतिक स्थायित्व हो, क्योंकि यदि ऐसा नहीं हुआ तो प्रत्येक बार थोड़े-थोड़े समय के उपरान्त सरकार बदलने पर नियोजन के लक्ष्य, उद्देश्य व प्राथमिकताएँ बदलती रहेंगी। इससे उचित लाभ नहीं मिल पायेंगे।

(11) **गतिशील सामाजिक दृष्टिकोण**—आर्थिक नियोजन के लिए यह भी आवश्यक है कि सामाजिक दृष्टिकोण गतिशील हो। उसमें रुद्धिवादिता व जातिवादिता के बन्धन से मुक्ति और नियोजन में सहयोग देने की इच्छा होनी चाहिए।

(12) **विदेशी सहायता**—अल्प-विकसित देशों को अपने नियोजन की प्रारम्भिक अवस्था में विदेशी सहायता की आवश्यकता होती है। अतः उनको उचित मात्रा में यह सहायता मिलनी चाहिए।

(13) **कुशल एवं प्रभावशाली नियोजन संगठन**—आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि उस देश में कुशल एवं प्रभावशाली नियोजन संगठन होना चाहिए। इसके लिए विभिन्न प्रकार के अनुभवी एवं कुशल विशेषज्ञों को नियोजन संगठन में शामिल किया जाना चाहिए।

नियोजन चरण या नियोजन प्रक्रिया

(STEPS IN PLANNING OR PLANNING PROCESS)

सबसे पहले सामाजिक एवं राजनीतिक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर योजना आयोग (वर्तमान केन्द्रीय सरकार द्वारा योजना आयोग के स्थान पर नीति आयोग का गठन किया गया है) द्वारा एक दीर्घकालीन योजना (Perspective Plan) बनायी जाती है जो 15-20 वर्षीय होती है। इस दीर्घकालीन योजना की पृष्ठभूमि में पंचवर्षीय योजनाएँ बनायी जाती हैं। इन पंचवर्षीय योजनाओं में विभिन्न मॉडलों का प्रयोग किया जाता है। द्वितीय एवं तृतीय योजना में महालनोबिस मॉडल का उपयोग किया गया है। इन पंचवर्षीय योजनाओं के साथ-साथ एकवर्षीय योजनाओं का भी निर्माण किया जाता है। योजना बनाने का कार्य कार्यकारी दल या उपदल करते हैं जिससे कि योजना अधिक व्यावहारिक हो सके। अनेक सलाहकार समितियाँ व परामर्शदाता समितियाँ योजना आयोग को योजना निर्माण में सहायता प्रदान करती हैं। योजना आयोग को उसके कार्य में सहायता रिजर्व बैंक के आर्थिक विभाग, सांख्यिकीय विभाग, भारतीय लोक प्रशासन संस्थान, आर्थिक विकास संस्थान, आदि के द्वारा दी जाती है। योजना बनाते समय योजना आयोग निजी क्षेत्र से भी विचार-विमर्श करता है।

भारतीय योजनाओं को निर्माण से लेकर क्रियान्वयन तक विभिन्न अवस्थाओं या चरणों से गुजरना पड़ता है। यह अवस्थाएँ या चरण निम्नलिखित हैं। इन्हीं को नियोजन प्रक्रिया कहते हैं :

(1) **योजना का विचार**—नवीन योजना प्रारम्भ होने से 2-3 वर्ष पहले से ही योजना के लक्ष्यों, उद्देश्यों व कार्यक्रमों पर विचार करना प्रारम्भ हो जाता है। इसके लिए योजना आयोग यह अनुभाव लगाता है कि विचाराधीन योजना अवधि में किस सीमा तक संसाधन उपलब्ध हो सकेंगे तथा राष्ट्रीय उत्पादन किस सीमा

तक बढ़ सकेगा तथा किस सीमा तक उस वडे हुए राष्ट्रीय उत्पादन को जनसंख्या द्वारा उपभोग में ले लिया जायेगा और राष्ट्रीय बचत किस सीमा तक हो सकेगी। इस प्रकार योजना आयोग राष्ट्रीय उत्पादन, उपभोग, संसाधनों की उपलब्धि, राष्ट्रीय बचत व विनियोग के सम्बन्ध में आँकड़े एकत्रित करता है। इन आँकड़ों के आधार पर विभिन्न सूक्ष्म (Micro) व व्यापक (Macro) योजनाएँ तैयार की जाती हैं जिन्हें राष्ट्रीय विकास परिषद् के विचार हेतु प्रस्तुत किया जाता है।

(2) **राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा स्वीकृति—**योजना आयोग (नीति आयोग) द्वारा तैयार किये गये आँकड़ों व योजनाओं पर यह परिषद् विचार कर इसमें संशोधन या बिना संशोधन के स्वीकृति दे देती है और फिर इन्हें वापस योजना आयोग को भेज देती है।

(3) **केन्द्र व राज्य सरकारों द्वारा योजना तैयार करना—**राष्ट्रीय विकास परिषद् के विचार के बाद यह आँकड़े व योजनाएँ केन्द्र व राज्य सरकारों को भेज दी जाती हैं जहाँ उन सरकारों के विभिन्न मन्त्रालय अपनी-अपनी परियोजनाएँ बनाते हैं। वे इस कार्य के लिए विभिन्न कार्यकारी दल (Working Groups) भी बनाते हैं जो अपने-अपने क्षेत्र से सम्बन्धित करों के बारे में अध्ययन कर सुझाव देते हैं।

(4) **विशेषज्ञों की सलाह—**अब केन्द्र व राज्य सरकारों की योजनाओं को विशेषज्ञों की सलाह लेने के लिए योजना आयोग पैनल बनाता है जो अपने-अपने क्षेत्र के सम्बन्ध में सलाह देते हैं। यह पैनल सरकारी न होकर गैर-सरकारी होते हैं।

(5) **प्रारूप स्मृति पत्र—**अब योजना आयोग केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के प्रारूप कार्यक्रमों पर विचार करता है तथा विशेषज्ञों की सलाह पर एक प्रारूप स्मृति पत्र तैयार किया जाता है जिसमें उन सभी बातों का उल्लेख होता है जिनकी नीति निर्धारण में आवश्यकता होती है। इस स्मृति पत्र को केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के पास विचार-विमर्श करने व अपने सुझाव देने के लिए भेज दिया जाता है।

(6) **योजना का प्रारूप—**केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल इस प्रारूप स्मृति पत्र पर विचार करके आधारभूत नीतियाँ तथा दिशा-निर्देश तैयार करता है। योजना आयोग (नीति आयोग) इन सुझावों सहित राष्ट्रीय विकास परिषद् के सामने प्रस्तुत करता है। राष्ट्रीय विकास परिषद् इस पर टीका-टिप्पणी करती है, सुझाव देती है, निर्देश प्रस्तुत करती है। अब आयोग इन सभी के आधार पर योजना का प्रारूप तैयार करता है जिसमें प्रमुख नीतियाँ, उद्देश्य, विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित कार्यक्रम व लक्ष्य, आदि का विस्तृत विवरण होता है।

(7) **योजना प्रारूप का प्रकाशन—**अब इस योजना प्रारूप को केन्द्रीय सरकार के मन्त्रालयों व राज्य सरकारों के पास भेज दिया जाता है जिनकी स्वीकृति मिलने पर इसे फिर राष्ट्रीय विकास परिषद् के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है।

राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्वीकृति मिलने पर योजना प्रारूप को जनसाधारण के विचार-विमर्श हेतु प्रसारित कर दिया जाता है जिससे कि वे भी अपने विचार योजना आयोग को भेज सकें और इन पर अन्तिम प्रारूप/योजना तैयार करते समय ध्यान रखा जा सके।

(8) **योजना आयोग द्वारा आलोचनाओं व सुझावों का अध्ययन—**योजना प्रारूप के प्रकाशन के पश्चात् जनता, अर्थशास्त्री, लेखक, विशेषज्ञ व विभिन्न संस्थाओं से जो आलोचनाएँ व सुझाव आये हैं उन सभी को वह केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल तथा राष्ट्रीय विकास परिषद् को भेज देता है जो उस पर विचार कर निर्णय लेती है।

(9) **योजना का अन्तिम प्रतिवेदन—**अब योजना आयोग राष्ट्रीय विकास परिषद् की रिपोर्ट के आधार पर योजना सम्बन्धी अन्तिम प्रतिवेदन तैयार करता है जिसको केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल व परिषद् की स्वीकृति मिलने पर प्रकाशित कर दिया जाता है और फिर संसद के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है जिस पर संसद विचार-विमर्श करती है और उस योजना को स्वीकार कर लेती है। संसद की स्वीकृति पर यह प्रारूप योजना का रूप ले लेता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. अल्प-विकसित देशों में आर्थिक नियोजन का क्या महत्व है? समझाइए।
2. अल्प-विकसित देशों में आर्थिक नियोजन की समस्याएँ कौन-कौन सी हैं? विस्तार से बताइए।
3. आर्थिक नियोजन के आवश्यक तत्व कौन-कौन से हैं? बताइए।
4. भारत में कौन से योजन प्रक्रिया की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।

12

नियोजन की उपलब्धियाँ एवं असफलताएँ

[ACHIEVEMENTS AND FAILURES OF PLANNING]

नियोजन के अन्तर्गत भारत का आर्थिक विकास (ECONOMIC DEVELOPMENT OF INDIA UNDER PLANNING)

भारत में आर्थिक नियोजन को 1 अप्रैल, 1951 से प्रारम्भ किया गया है तब से अब तक यारह पंचवर्षीय योजनाएँ, तीन वार्षिक योजनाएँ तथा तीन वर्ष का अन्तरकाल तथा बारहवीं योजना के तीन वर्ष पूरे हो चुके हैं। इस प्रकार नियोजन के 64 वर्ष पूरे हो चुके हैं। इन 64 वर्षों में देश ने निःसन्देह प्रगति की है। कृषि का उत्पादन बढ़ा है। उद्योगों का विकास हुआ है। परिवहन वं संचार सुविधाओं में वृद्धि हुई है। शिक्षा का प्रसार हुआ है। विदेशी व्यापार के आकार का समुचित विस्तार हुआ है। राष्ट्रीय आय, घरेलू बचत व विनियोग दरों में भी वृद्धि हुई है। हम आत्मनिर्भरता की ओर अग्रसर हुए हैं, लेकिन अभी भी गरीबी एवं बेरोजगारी दूर करने में सफलता नहीं मिली है। नियोजन में भारत की उपलब्धियाँ निम्न प्रकार रही हैं :

(1) राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि—योजना काल में शुद्ध राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय दोनों में बराबर वृद्धि हुई है। राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय 1950-51 में चालू मूल्यों के आधार पर क्रमशः 10,360 करोड़ ₹ वं 274 ₹ थी जो 2014-15 में बढ़कर 1,24,98,662 करोड़ ₹ वं 88,533 ₹ हो गयी है। इन आँकड़ों से यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है कि प्रत्येक दृष्टि से आय में वृद्धि हुई है।

(2) बचत एवं विनियोग दरों में वृद्धि—इस योजनाकाल में घरेलू बचत व विनियोग दोनों में बराबर वृद्धि हुई। 1950-51 में सकल घरेलू बचत की दर 8.6 प्रतिशत थी जो 2013-14 में बढ़कर 30.6 प्रतिशत हो गयी है। इसी प्रकार 1950-51 में विनियोग दर 8.7 प्रतिशत थी वह भी बढ़कर 32.3 प्रतिशत हो गयी है।

(3) कृषि क्षेत्र में विकास—आर्थिक नियोजन के 64 वर्षों में कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई है। जैसे खाद्यान्नों का जो उत्पादन 1950-51 में 508 लाख टन था वह 2013-14 में बढ़कर 2,648 लाख टन हो गया है। इसी प्रकार कपास व जूट का उत्पादन भी इसी अवधि में 30 व 33 लाख गाँठों से बढ़कर क्रमशः 367 व 110 लाख गाँठों हो गया है।

इसी प्रकार सिंचाई सुविधाओं में भी चार गुने की वृद्धि हुई है। 1950-51 में 2.26 करोड़ हेक्टेअर क्षेत्र में सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध थीं, वर्तमान में यह सुविधाएँ 11.32 करोड़ हेक्टेअर क्षेत्र में मिलने लगी हैं।

(4) औद्योगिक क्षेत्र में प्रगति—आर्थिक नियोजन के 64 वर्षों में औद्योगिक क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। आधारभूत उद्योगों की स्थापना हुई है। सार्वजनिक उद्योगों का भारी विकास हुआ है। उद्योगों में विविधतां आयी है। उत्पादन बढ़ा है। जिन उद्योगों का भारत में पहले कोई नाम भी नहीं था वे उद्योग यहाँ स्थापित हुए हैं। औद्योगिक आत्मनिर्भरता बढ़ी है।

(5) सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार—इस काल में सार्वजनिक क्षेत्र का काफी विकास हुआ है। 1950-51 में भारत में केवल 5 सार्वजनिक उपक्रम थे और उनमें 29 करोड़ रुपये विनियोजित थे, लेकिन 31 मार्च 2014 के अन्त तक इन उपक्रमों की संख्या 290 हो गयी जिनमें 9,92,971 करोड़ ₹ विनियोजित थे।

(6) विद्युत उत्पादन में वृद्धि—प्रथम योजना के प्रारम्भ में अर्थात् 1950-51 में विद्युत उत्पादन 5 बिलियन किलोवाट था जो 2013-14 में बढ़कर 1,014.8 बिलियन किलोवाट (गैर-जनोपयोगी को छोड़कर) हो गया है। 1950-51 में प्रति व्यक्ति खपत 2.4 किलोवाट थी जो वर्तमान में 150 किलोवाट प्रतिघण्टा पहुंच गयी है।

(7) परिवहन एवं संचार साधनों के क्षेत्रों में प्रगति—योजनाकाल में परिवहन एवं संचार साधनों में काफी प्रगति हुई है। 1950-51 में 53,000 किलोमीटर रेलमार्ग था जो आज बढ़कर 65,800 हजार किलोमीटर हो गया है। इसी प्रकार 1950-51 में 4 लाख किलोमीटर लम्बी सड़कें थीं, जबकि आज इन सड़कों की लम्बाई 49,49 लाख किलोमीटर है।

1950-51 के अन्त में जहाजरानी की क्षमता 3.7 लाख GRT थी जो अब बढ़कर 110.6 लाख GRT हो गयी है।

1950-51 में कुल 36,000 डाकखाने थे, लेकिन आज इनकी संख्या 1,55,015 है।

(8) शिक्षा का प्रचार—योजना प्रारम्भ करते समय देश में 27 विश्वविद्यालय थे, लेकिन आज इनकी संख्या 665 है। 1951 में देश की साक्षरता 16.6 प्रतिशत थी जो 2011 में बढ़कर 73 प्रतिशत हो गयी है। इसी प्रकार 1950-51 में प्राइमरी स्कूलों की संख्या 2.3 लाख थी जो आज 7,14,261 है। 1950-51 में 578 स्नातक व स्नातकोत्तर कॉलेज थे जो कला, विज्ञान व कॉर्मस में शिक्षा देते थे, लेकिन आज इनकी संख्या 35,829 है। 1950-51 में 6 से 11 वर्ष तक की उम्र के 42.6 प्रतिशत बच्चे स्कूल जाते थे, लेकिन आज यह प्रतिशत 98.31 है। जहाँ 1950-51 में 11 से 14 वर्ष की उम्र के 12.7 प्रतिशत बच्चे पढ़ने जाते थे आज 62.49 प्रतिशत बच्चे पढ़ने जाते हैं। इसी प्रकार आज 6 से 14 तक की उम्र के 84.91 प्रतिशत बच्चे पढ़ने जाते हैं। देश में तकनीकी एवं प्रबन्धकीय संस्थानों में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई है।

(9) आयात एवं निर्यात में वृद्धि—इस 64 वर्ष के आर्थिक नियोजन में आयात एवं निर्यात में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। 1950-51 में आयात एवं निर्यात क्रमशः 608 व 606 करोड़ ₹ के थे जो 2013-14 में बढ़कर क्रमशः 27,15,434 व 19,05,011 करोड़ ₹ के हो गये हैं।

(10) बैंकिंग क्षेत्र में उन्नति—देश में बैंकिंग सेवा का काफी विस्तार किया गया है। दिसम्बर 1951 में वाणिज्यिक बैंकों की शाखाओं की संख्या 2,647 थी जो 30 जून, 2014 के अन्त में बढ़कर 1,21,535 हो गयी है।

(11) स्वास्थ्य एवं समाज सेवाएँ—स्वास्थ्य एवं समाज सेवाओं में काफी प्रगति हुई है। 1950-51 में देश में 28 मेडिकल कॉलेज थे, लेकिन आज इनकी संख्या 193 है। पहले मलेरिया, टी.बी., चेचक व प्लेग, आदि से हजारों व्यक्तियों की मृत्यु हो जाती थी, लेकिन आज ऐसी बात नहीं है। मृत्यु-दर जो 1950-51 में 27.4 प्रति हजार थी वह घटकर 7.0 प्रति हजार रह गयी है। इसी प्रकार औसत जीवन जो पहले 23 वर्ष था आज 67 वर्ष से अधिक है। 1950 में देश के ग्रामीण क्षेत्रों में एक भी स्वास्थ्य केन्द्र नहीं था, लेकिन आज देश में 1,76,820 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र कार्य कर रहे हैं।

भारत में आर्थिक नियोजन की असफलताएँ (FAILURES OF ECONOMIC PLANNING IN INDIA)

पिछले 64 वर्ष के आर्थिक नियोजन से देश को बहुत कुछ मिला है : (1) देश आर्थिक व सुरक्षा की दृष्टि से मजबूत हुआ है। (2) आधारभूत उद्योगों एवं भारी उद्योगों की स्थापना से देश का औद्योगिक विकास सुदृढ़ हुआ है। (3) परिवहन व संचार सुविधाओं में वृद्धि हुई है। (4) कृषि उत्पादन बढ़ा है। (5) शिक्षा का प्रसार हुआ है। (6) समाज सेवाओं में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। (7) सार्वजनिक उद्योगों का विस्तार किया गया है। (8) विदेशी व्यापार के आकार में वृद्धि एवं विविधता आयी है तथा सन्तुलित व्यापार की ओर अग्रसर हुए हैं। (9) राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय बढ़ी है। (10) बचत एवं विनियोग दरों में वृद्धि हुई है। (11) विद्युत उत्पादन बढ़ा है। (12) बैंकिंग सेवा का विस्तार किया गया है।

लेकिन इन सब उपलब्धियों के बावजूद पहले से निर्धारित लक्ष्य प्राप्त नहीं किये जा सके हैं। अतः आशा के अनुरूप सफलता नहीं मिली है। इसलिए कुछ विद्वानों का कहना है कि नियोजन असफल रहा है। डॉ. के. एन. राज के मत में, “नियोजन काल में देश में आय एवं सम्पत्ति की असमानता बढ़ी है तथा भारत की अर्थव्यवस्था में समाजवादी तत्वों की अपेक्षा पूँजीवादी तत्वों का बाहुत्य बना हुआ है।” इस प्रकार भारत में आर्थिक नियोजन की कुछ समस्याएँ हैं जो निम्न प्रकार हैं, इन्हीं समस्याओं को असफलताएँ भी कहते हैं :

(1) प्रति व्यक्ति आय में धीमी प्रगति—भारत में आर्थिक नियोजन के बाद भी प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि बहुत ही धीमी गति से हो रही है।

(2) **क्षेत्रीय असन्तुलन**—नियोजन के फलस्वरूप क्षेत्रीय असन्तुलन कम होना चाहिए था, लेकिन उसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। आज भी उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, बिहार आदि राज्य पिछड़े राज्य बने हुए हैं जबकि महाराष्ट्र, तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल, पंजाब, हरियाणा, आदि राज्य आज भी विकसित हैं और नियोजन से पूर्व भी विकसित थे।

(3) **मूल्य वृद्धि**—नियोजन काल में घाटे की अर्थव्यवस्था होने से मूल्य वृद्धि होती है, लेकिन भारत में यह मूल्य वृद्धि आवश्यकता से अधिक रही है।

(4) **बेरोजगारी में वृद्धि**—आर्थिक नियोजन के उद्देश्यों में से एक उद्देश्य बेरोजगारी में कमी करना रहा है, लेकिन नियोजन काल में बेरोजगारी में बराबर वृद्धि होती रही है। बेरोजगारी कितनी है, इस सम्बन्ध में विश्वसनीय आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु यह निश्चित है कि हर योजना के अन्त में बेरोजगारी कम होने के बजाय बढ़ती ही गयी है। जहाँ प्रथम योजना के प्रारम्भ में 33 लाख व्यक्ति बेकार थे, वहाँ वर्तमान में लगभग 4 करोड़ व्यक्ति बेरोजगार होने का अनुमान है।

(5) **आय एवं धन की असमानता में वृद्धि**—आर्थिक नियोजन के उद्देश्यों में से एक महत्वपूर्ण उद्देश्य आर्थिक केन्द्रीकरण को समाप्त कर आर्थिक समानता में वृद्धि करना रहा है, लेकिन नियोजन के 64 वर्षों के पश्चात् भी धनी व्यक्ति अधिक धनी व गरीब और गरीब हो गया है। आय व धन की असमानता बढ़ी है। डॉ. एन. राज के मत में आय व सम्पत्ति की असमानता बढ़ी है।

(6) **सार्वजनिक उद्योग की असफलताएँ**—इस समय देश में केन्द्रीय सरकार के 290 उपक्रम हैं जिनमें 9,92,971 करोड़ ₹ की पूँजी लगी हुई है, लेकिन अनेक उपक्रम हानि पर चल रहे हैं। इसके कारण हैं—यह अपनी पूरी क्षमता से कार्य नहीं कर पा रहे हैं। कर्मचारियों के वेतन-भत्ते अधिक हैं। इनके पास स्टॉक अधिक रहते हैं। प्रबन्धकों में प्रबन्धकीय योग्यता की कमी है, क्योंकि वे पेशेवर प्रबन्धक न होकर सरकारी अफसर हैं। अतः सार्वजनिक उद्योग आशा के अनुकूल परिणाम देने में असमर्थ रहे हैं।

(7) **विदेशी सहायता पर निर्भरता**—भारतीय आर्थिक नियोजन की विफलता का एक कारण विदेशी सहायता पर अत्यधिक निर्भरता भी है। प्रो. बी. आर. शेनॉय (Prof. B. R. Shenoy) के मत में, “विदेशी सहायता का लाभ सर्वसाधारण को नहीं मिल पाया है, क्योंकि साधनों के एक बड़े भाग का उपयोग विशाल नदी-धारी योजनाओं या अनुत्पादक औद्योगिक इकाइयों में किया गया है।” समय-समय पर विदेशी सहायता रोक लिये जाने से देश के आर्थिक नियोजन में गतिरोध पैदा हो गया था जिसके फलस्वरूप योजनाओं को स्थगित करना पड़ा था।

(8) **लक्ष्य प्राप्ति में असफलता**—विभिन्न योजनाओं में निर्धारित लक्ष्य प्राप्त नहीं किये जा सके हैं। इसके प्रमुख कारण इस प्रकार हैं : (i) पर्याप्त जनसहयोग का अभाव, (ii) प्रशासकीय एवं प्रबन्धकीय अयोग्यता, (iii) हीनार्थ-प्रबन्धन, (iv) असन्तोषजनक औद्योगिक सम्बन्ध, (v) ऊँचे लक्ष्य, (vi) पर्याप्त पूँजी-निवेश का अभाव, (vii) निजी क्षेत्र में सामाजिक उत्तरदायित्वों का अभाव, (viii) भ्रष्ट विनियोजित व्यवस्था, (ix) देशी तकनीक के विकास पर बल न देना, (x) अक्षम लोक वित्तीय नीति।

(9) **दोषपूर्ण नियन्त्रण नीति**—इस 64 वर्ष के नियोजन में सरकारी नियन्त्रण नीति भी दोषपूर्ण रही है जिससे आर्थिक नियोजन के लाभ प्राप्त नहीं हो सके हैं। विभिन्न क्षेत्रों में समय-समय पर जो नियन्त्रण और नियमन लगाये हैं वे परस्पर असम्बद्ध रहे हैं। प्रत्येक नियन्त्रण ने एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति की, लेकिन देश की अर्थव्यवस्था एक स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था के रूप में कार्य करती रही है।

योजनाओं को सफल बनाने के लिए सुझाव

(SUGGESTIONS FOR THE SUCCESS OF PLANS)

देश के करोड़ों निवासियों के रहन-सहन के स्तर को ऊपर उठाने, बेरोजगारी को कम करने, प्राकृतिक साधनों का उचित विदोहन करने, आर्थिक विषमता को कम करने तथा समाजवादी व्यवस्था को आगे बढ़ाने का एक ही रास्ता है और वह है नियोजन को आगे बढ़ाना। अतः आर्थिक नियोजन को सफल बनाने के लिए निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं :

(1) **जन-सहयोग**—योजना की सफलता के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि जन-सहयोग अवश्य प्राप्त किया जाए। इसके लिए जनता को योजनाओं से परिचित कराया जाए। लाभों को बताया जाए तथा जनता में योजनाओं के प्रति उदासीनता की प्रवृत्ति को त्यागकरं योजनाओं में सहयोग देने के लिए आकर्षित किया जाए। इसके लिए ‘देश की समृद्धि आपकी समृद्धि है’ जैसे नारों का प्रयोग किया जाए।

(2) मूल्य स्थायित्व—योजनाओं की सफलता के लिए दूसरा सुझाव यह है कि मूल्य स्थायित्व लाया जाए। यद्यपि योजनाकाल में मूल्य वृद्धि होती है, लेकिन वह सीमित दायरे में ही होनी चाहिए। अत्यधिक मूल्य वृद्धि योजना की लागत बढ़ाती है तथा योजना के लाभों को अप्रभावी कर देती है। इससे अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(3) सार्वजनिक व निजी क्षेत्र में समन्वय—योजनाओं की सफलता के लिए सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र के उद्योगों में उचित समन्वय एवं सहयोग के साथ-साथ सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र का पर्याप्त विकास भी किया जाना चाहिए। यह दोनों क्षेत्र एक-दूसरे के प्रतियोगी न होकर सहयोगी होने चाहिए। भारत जैसे देश में जहाँ मिश्रित अर्थव्यवस्था का सिद्धान्त अपनाया जाता है वहाँ तो इनमें सहयोग एवं समन्वय और भी आवश्यक है।

(4) गाँवों में गैर-कृषि क्षेत्र का विकास—भारत में छ: लाख से अधिक गाँव हैं जिनमें 68.8 प्रतिशत जनसंख्या रहती है। अतः इस बात की आवश्यकता है कि ग्रामीण जनता को गैर-कृषि कार्यों में लगाया जाए। जिससे कृषि पर जनसंख्या का भार कम हो सके तथा कुल उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हो सके। इसके लिए गाँवों में गैर-कृषि उद्योग-धन्यों; जैसे कुटीर उद्योग, दुग्ध उद्योग, मुर्गी पालन, आदि का विकास किया जाना चाहिए जिसके लिए वित्तीय एवं तकनीकी सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए।

(5) बचतों एवं विनियोगों को प्रोत्साहन—देश में पूँजी-निर्माण की दर को गति देने के लिए यह आवश्यक है कि बचत एवं विनियोगों को प्रोत्साहित किया जाए। इसके लिए व्ययों में छूट दी जानी चाहिए।

(6) केन्द्र व राज्यों के बीच मधुर सम्बन्ध—भारत एक संघीय राष्ट्र है जहाँ केन्द्र व राज्यों के बीच विभिन्न उत्तरदायित्वों का बँटवारा संविधान के अन्तर्गत किया गया है। आर्थिक नियोजन सम्पूर्ण राष्ट्र के विकास के लिए किया जाता है। अतः केन्द्र व राज्यों के बीच अच्छे सम्बन्ध होने चाहिए।

(7) पूँजी-प्रधान एवं उपभोग-प्रधान उद्योगों में समन्वय—योजनाओं की सफलता के लिए पूँजी-प्रधान एवं उपभोग-प्रधान उद्योगों में समन्वय होना चाहिए जिससे कि राष्ट्र आत्मनिर्भर बने तथा जनता की उपभोग सम्बन्धी कठिनाइयाँ दूर हो सकें।

(8) कुशल प्रशासन एवं मूल्यांकन—आर्थिक नियोजन की योजनाओं को कार्यस्वरूप में परिणत करते समय उनका प्रशासन कुशलता से किया जाना चाहिए। हर स्तर पर मितव्यिता तथा बर्बादी का ध्यान रखना चाहिए। साथ ही समय-समय पर योजनाओं का मूल्यांकन भी किया जाता रहना चाहिए जिससे कि गलतियों को तुरन्त ठीक किया जा सके।

(9) मानव-शक्ति का उपयोग—योजनाएँ इस प्रकार की होनी चाहिए कि उन योजनाओं में उपलब्ध मानव-शक्ति अधिकाधिक लगायी जा सके। इससे बेरोजगारी की समस्या को हल करने में सुविधा रहेगी।

(10) वास्तविक एवं व्यावहारिक नीतियाँ—नियोजन की सफलता के लिए वास्तविक एवं व्यावहारिक नीतियाँ निर्धारित की जायें जिससे कि लक्ष्य की प्राप्ति हो सके।

(11) अन्य सुझाव—उपर्युक्त सुझावों के अतिरिक्त कुछ सुझाव और दिये जाते हैं : (i) प्रशुल्क एवं मौद्रिक नीति में उचित समन्वय होना चाहिए। (ii) प्रशासन व्यवस्था को ईमानदार बनाया जाए। (iii) विदेशी निर्भरता समाप्त की जाए। (iv) साधनों को ध्यान में रखकर नियोजन किया जाए। (v) नियोजन को सफल बनाने के लिए जनसंख्या वृद्धि पर भी नियन्त्रण किया जाए।

निष्कर्ष—नियोजन के वर्ष सफलताओं एवं असफलताओं का मिश्रण हैं। इसमें दो राय नहीं है कि औद्योगिक उत्पादन में आशा के अनुरूप प्रगति नहीं हुई है। विकास दर धीमी रही है। बेरोजगारी दर कम होने के स्थान पर बढ़ रही है, लेकिन इस अवधि में देश ने बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को झेला है। प्राकृतिक प्रकोपों का सामना किया है। वास्तव में, इन योजनाओं से कुछ सफलता भी मिली है। नये-नये उद्योग स्थापित हुए हैं। प्रति व्यक्ति आय बढ़ी है। कृषि उत्पादन बढ़ा है। सामाजिक सुविधाओं का विस्तार हुआ है। प्रति व्यक्ति आय एवं रहन-सहन का स्तर ऊपर उठा है, लेकिन यदि नियोजन की विफलताओं को ध्यान में रखकर कुछ और प्रयास किये जायें तो नियोजन से और अधिक लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. भारत में आर्थिक नियोजन की उपलब्धियों एवं असफलताओं की संक्षेप में विवेचना कीजिए। नियोजन को अधिक प्रभावी बनाने के लिए सुझाव दीजिए।
2. नियोजन के अन्तर्गत भारत के आर्थिक विकास पर प्रकाश डालिए।
3. आर्थिक नियोजन की असफलताओं के बारे में बताइए।

ग्यारहवीं एवं बारहवीं पंचवर्षीय योजना : उद्देश्य, विनियोजन एवं लक्ष्य

[ELEVENTH AND TWELFTH FIVE YEAR PLAN :
OBJECTIVES, ALLOCATION AND TARGETS]

प्रारम्भिक—भारत में आर्थिक नियोजन का विधिवत प्रारम्भ एक अप्रैल, 1951 से हुआ, परन्तु इसके लिए सैद्धान्तिक प्रयास स्वतन्त्रतापूर्व से ही प्रारम्भ हो गया था। सन् 1934 में सर एम. विश्वेश्वरैया ने भारत के लिए नियोजित अर्थव्यवस्था' (Planned Economy for India) नामक पुस्तक लिखकर लोगों का ध्यान इस तरफ आकर्षित किया था। 1938 में पण्डित जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय नियोजन समिति गठित की गई। द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो जाने के फलस्वरूप यह समिति इस दिशा में कोई सकारात्मक कार्य नहीं कर सकी। जनवरी, 1944 में मुम्बई के आठ प्रमुख उद्योगपतियों ने मिलकर एक योजना प्रस्तुत की जिसको 'मुम्बई योजना' का नाम दिया गया। अप्रैल, 1944 में एक साम्यवादी नेता श्री एम. एन. राय द्वारा एक जन योजना (People's Plan) प्रस्तुत किया गया। इसके उपरान्त 1944 में ही गांधी जी के विचारों से प्रभावित होकर श्रीमन्नारायण ने एक योजना निर्मित की जिसे गांधीवादी योजना के नाम से जाना जाता है। यह सभी योजनाएं किन्हीं न किन्हीं कारणों से कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकीं और मात्र कागजी रह गईं।

वर्ष 1946 में अन्तरिम सरकार गठित हो जाने के उपरान्त श्री के. सी. नियोगी की अध्यक्षता में गठित सलाहकार योजना बोर्ड ने एक स्थायी योजना आयोग के गठन का सुझाव दिया। इस सुझाव के आधार पर, 15 मार्च, 1950 को भारत सरकार के प्रस्ताव द्वारा योजना आयोग (Planning Commission) का गठन किया गया। इस आयोग का कार्य योजनाएं बनाना, उनको कार्यरूप में परिणत करने का सुझाव देना तथा योजना की प्रगति का मूल्यांकन करना है।

पण्डित जवाहर लाल नेहरू योजना आयोग के प्रथम अध्यक्ष बने। भारत में आर्थिक नियोजन 1 अप्रैल, 1951 से प्रारम्भ किया गया। अब तक कुल ग्यारह पंचवर्षीय योजनाएं तथा 6 वार्षिक योजनाएं पूरी हो चुकी हैं। बारहवीं पंचवर्षीय योजना प्रगति पर है। इस तरह भारत ने अपने आर्थिक नियोजन के 64 वर्ष पूरे कर लिए हैं।

भारत की पंचवर्षीय योजनाएं

भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना 1 अप्रैल, 1951 से प्रारम्भ हुई जो 5 वर्ष की अवधि के लिए थी। उसके बाद द्वितीय एवं तृतीय पंचवर्षीय योजनाएं चलाई गईं। तृतीय पंचवर्षीय योजना की समाप्ति के उपरान्त चतुर्थ योजना 1 अप्रैल, 1966 से प्रारम्भ की जानी थी, परन्तु भारत-पाक युद्ध, लगातार दो वर्षों तक पड़ने वाले भयानक मूर्खों, मुद्रा के अवमूल्यन, मूल्यों में वृद्धि तथा संसाधनों की कमी के फलस्वरूप चतुर्थ पंचवर्षीय योजना 1 अप्रैल, 1969 से प्रारम्भ की गई। तीसरी तथा चौथी योजना के बीच के काल में तीन एक वर्षीय योजनाएं चलाई गईं। इस काल को योजना अन्तराल का नाम दिया गया। इसी तरह पांचवीं तथा छठी योजना के बीच भी एक वार्षिक योजना चलाई गई। सातवीं पंचवर्षीय योजना, 31 मार्च, 1990 को समाप्त हुई। आठवीं योजना, 1 अप्रैल, 1990 से प्रारम्भ की जानी थी, परन्तु वह 1 अप्रैल, 1992 से प्रारम्भ की गई।

इस तरह सातवीं तथा आठवीं योजना के बीच दो वर्ष तक वार्षिक योजनाएं चलाई गई और इस दौरान योजना अन्तराल रहा। आठवीं योजना, 31 मार्च, 1997 को समाप्त हुई तथा नौवीं पंचवर्षीय योजना 1 अप्रैल, 1997 से प्रारम्भ हुई जो 31 मार्च, 2002 तक चली।

दसवीं पंचवर्षीय योजना एक अप्रैल, 2002 को प्रारम्भ हुई जो 31 मार्च, 2007 तक चली तथा ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना 1 अप्रैल, 2007 से प्रारंभ होकर 31 मार्च, 2012 तक चली। बारहवीं पंचवर्षीय योजना 1 अप्रैल, 2012 से प्रारम्भ हो चुकी है।

भारत की पंचवर्षीय योजनाओं के काल तथा उन योजनाओं में किए गए सार्वजनिक व्यय का विवरण निम्नवत् है :

प्रथम योजना	(1 अप्रैल, 1951 से 31 मार्च, 1956 तक)	1,960 करोड़ ₹
द्वितीय योजना	(1 अप्रैल, 1956 से 31 मार्च, 1961 तक)	4,672 करोड़ ₹
तृतीय योजना	(1 अप्रैल, 1961 से 31 मार्च, 1966 तक)	8,577 करोड़ ₹
तीन एक-एक वर्षीय योजनाएं	(1 अप्रैल, 1966 से 31 मार्च, 1969 तक)	6,625 करोड़ ₹
चतुर्थ योजना	(1 अप्रैल, 1969 से 31 मार्च, 1974 तक)	15,779 करोड़ ₹
पांचवीं योजना	(1 अप्रैल, 1974 से 31 मार्च, 1979 तक)	39,426 करोड़ ₹
एक वर्ष का अन्तराल	(1 अप्रैल, 1979 से 31 मार्च, 1980 तक)	12,177 करोड़ ₹
छठी योजना	(1 अप्रैल, 1980 से 31 मार्च, 1985 तक)	1,09,292 करोड़ ₹
सातवीं योजना	(1 अप्रैल, 1985 से 31 मार्च, 1990 तक)	2,18,730 करोड़ ₹
दो एक-एक वर्षीय योजनाएं	(1 अप्रैल, 1990 से 31 मार्च, 1992 तक)	1,23,121 करोड़ ₹
आठवीं योजना	(1 अप्रैल, 1992 से 31 मार्च, 1997 तक)	4,85,457 करोड़ ₹
नौवीं योजना	(1 अप्रैल, 1997 से 31 मार्च, 2002 तक)	8,13,998 करोड़ ₹
दसवीं योजना	(1 अप्रैल, 2002 से 31 मार्च, 2007 तक)	16,18,460 करोड़ ₹
ग्यारहवीं योजना	(1 अप्रैल, 2007 से 31 मार्च, 2012 तक)	37,50,977 करोड़ ₹
बारहवीं योजना	(1 अप्रैल, 2012 से 31 मार्च, 2017 तक)	84,86,226 करोड़ ₹ (प्रस्तावित)

Source : Compiled from Different Economic Survey Reports and Various Plan Documents. Govt. of India.

भारत में नियोजन की रणनीति (STRATEGY OF PLANNING IN INDIA)

भारत में आर्थिक नियोजन की रणनीति (strategy) का अध्ययन तीन बातों को लेकर कर सकते हैं : (I) आर्थिक नियोजन के उद्देश्य, (II) आर्थिक नियोजन में प्राथमिकताएं, (III) आर्थिक योजनाओं के लिए वित्तीय संसाधन। यहां तीनों का क्रमानुसार विस्तृत विवेचन प्रस्तुत है :

(I) भारत में नियोजन के उद्देश्य

अब तक के 64 वर्ष के नियोजन के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार रहे हैं :

(1) **आत्मनिर्भरता**—योजनाओं के प्रारम्भ से ही आत्मनिर्भरता की बात कही गयी है, लेकिन तृतीय योजना ने इस पर विशेष बल दिया है। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में तो विदेशी सहायता पर निर्भरता को न्यूनतम करने की बात कही गयी थी। आठवीं योजना में तकनीक, खाद्यान्न, सुरक्षा व साधनों की आत्मनिर्भरता का उद्देश्य रखा गया था जबकि नवीं योजना से 12वीं योजना तक का उद्देश्य आत्मनिर्भरता के प्रयासों को मजबूत करना रहा है।

(2) **राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि**—भारतीय नियोजन दूसरा मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय में तीव्र गति से वृद्धि करना रहा है जिससे कि जन-साधारण के जीवन-स्तर को ऊपर उठाया जा सके।

(3) **कल्याणकारी राज्य की स्थापना**—भारतीय योजना का एक उद्देश्य कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना रहा है, जिसके लिए आय एवं सम्पत्ति की असमानता को दूर करने की बात प्रथम पंचवर्षीय योजना से ही प्रत्येक योजना में कही जा रही है। पाँचवीं योजना से ही गरीबी दूर करने की बात कही गयी है। छठी योजना में भी इस उद्देश्य को पूरा करने के संकल्प को दोहराया गया, जबकि सातवीं तथा ग्यारहवीं योजना में पुनः गरीबी कम करने की बात पर जोर दिया गया है।

(4) रोजगार अवसरों की वृद्धि—भारतीय नियोजन का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य रोजगार सुविधाओं में वृद्धि का भी रहा है। प्रत्येक योजना में इस बात को शामिल किया गया है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर कृषि, उद्योग, सेवाएँ, आदि का विस्तार किया गया है। 31 मार्च, 2012 को सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्रों में कुल 295.8 लाख व्यक्तियों को रोजगार मिला हुआ था।

(5) सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार—भारत में आर्थिक नियोजन का एक उद्देश्य यह भी रहा है कि सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार किया जाए जिससे कि जिन क्षेत्रों में निजी उद्योगपति भारी विनियोग के कारण उद्योग स्थापित करने में असमर्थ रहते हैं उन क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना की जा सके तथा निजी क्षेत्र से प्रतियोगिता कर उनके शोषण की प्रवृत्ति को रोका जा सके। लेकिन अब सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार कुछ ही क्षेत्रों के लिए सीमित कर दिया गया है।

(6) समाजवादी समाज की स्थापना—इन योजनाओं में समाजवादी समाज की स्थापना पर विशेष जोर दिया गया है। इसके लिए आर्थिक असमानताओं को कम करने तथां आम जनता को सामाजिक न्याय दिलाने का प्रयास किया गया है।

(7) अन्य उद्देश्य—उपर्युक्त उद्देश्यों के अतिरिक्त आर्थिक नियोजन के उद्देश्य भी रहे हैं; जैसे जनसंख्या वृद्धि पर नियन्त्रण, मूल्य स्थिरता, उद्योग एवं सेवाओं का विस्तार, खाद्य एवं औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि, आदि। भारत में आर्थिक नियोजन के उद्देश्यों की प्राप्ति

भारत में आर्थिक नियोजन के उद्देश्यों की प्राप्ति में सफलता कहाँ तक प्राप्त हुई है यह प्रश्न विवादास्पद है। अर्थशास्त्रियों व राजनीतिज्ञों का मत है कि आर्थिक नियोजन अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में पूर्ण सफल रहा है, जबकि कुछ इसको पूर्णतया असफल मानते हैं। हम मध्यम मार्ग अपनाकर यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि भारत अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में पूर्णरूप से सफल न होकर आंशिक रूप से सफल रहा है। इसके लिए निम्न तथ्य प्रस्तुत कर सकते हैं :

(1) राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि—भारत में 1950-51 में सकल राष्ट्रीय उत्पाद (चालू मूल्यों पर) 10,360 करोड़ ₹ थी जो 2013-14 में बढ़कर 1,24,98,682 करोड़ ₹ हो गयी है। इसी प्रकार प्रति व्यक्ति निबल राष्ट्रीय उत्पाद जो 1950-51 में 274 ₹ था वह 2013-14 में बढ़कर 88,533 ₹ (चालू मूल्यों पर) हो गया है।

(2) आत्मनिर्भरता—नियोजन के कारण ही आज हम आत्मनिर्भर होने की स्थिति में हैं। विदेशी सहायता भी हम कम ले रहे हैं और भविष्य में और भी कम लेने का अनुमान है। यह भी सम्भव है कि अगले वर्षों में बिना किसी विदेशी निर्भरता से ही अपना विकास कर सकते हैं।

(3) कल्याणकारी राज्य की स्थापना—कल्याणकारी राज्य की स्थापना में भी हम अग्रसर हुए हैं। नियोजन काल में देश में शिक्षा का विस्तार हुआ है। स्वास्थ्य, कल्याणकारी कार्यों में प्रगति हुई है। सामाजिक सेवाओं जैसे पिछड़ी जातियों के कल्याण, उचित मूल्य पर वस्तुओं का वितरण, परिवहन एवं संचार सेवाओं का विस्तार, आदि किया गया है।

(4) रोजगार सेवाओं में वृद्धि—नियोजन काल में नये-नये उद्योगों की स्थापना एवं पुराने उद्योगों के विकास, परिवहन एवं संचार सेवाओं के विस्तार, सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार, आदि के कारण रोजगार अवसरों में भारी वृद्धि हुई है। मार्च 1961 के अन्त में सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों में कुल 2.23 करोड़ व्यक्तियों को रोजगार मिला हुआ था, जबकि मार्च 2012 के अन्त में यह संख्या बढ़कर 2.95 करोड़ व्यक्ति हो गयी है।¹

आज अकेले सरकारी क्षेत्र के उपक्रमों में 176.09 लाख कर्मचारी कार्य कर रहे हैं।

(5) सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार—नियोजन के फलस्वरूप सार्वजनिक क्षेत्र का काफी विस्तार हुआ है। वर्तमान में इस क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार के उपक्रमों में 9,92,971 करोड़ ₹ की पूँजी विनियोजित है जिसमें उर्वरक, भारी एवं हल्की इंजीनियरिंग सामान, खनिज एवं धातु, उपभोक्ता माल, परिवहन, विपणन, आदि की सेवाएँ शामिल हैं।

(6) समाजवादी समाज की स्थापना—आर्थिक नियोजन समाजवादी समाज की स्थापना करने में भी सहायता दे रहा है, यद्यपि अभी हम पूर्ण रूप से समाजवादी समाज की स्थापना नहीं कर पाये हैं।

¹ Economic Survey, 2014-15, p. A-55.

(7) अन्य उद्देश्य—आर्थिक नियोजन अन्य उद्देश्यों को भी प्राप्त करने में आंशिक रूप से ही सफल रहा है। पिछड़े क्षेत्रों का विकास किया है। उद्योगों का विकास हुआ है। कृषि उत्पादन बढ़ा है। सिंचाई सुविधाओं का विस्तार हुआ है। जनसंख्या वृद्धि पर नियन्त्रण करने में भी सहायता मिली है। विदेशी व्यापार कुछ सन्तुलित हुआ है। परिवहन एवं संचार व्यवस्था का विस्तार हुआ है तथा आन्तरिक बचतें बढ़ी हैं।

(II) भारत में आर्थिक नियोजन में प्राथमिकताएँ

प्रत्येक देश में भौतिक एवं मानवीय साधन सीमित होते हैं, जबकि लक्ष्य अनेक एवं असीमित। इसका कारण, देश में अनेक समस्याएँ होना है जिनका समाधान करने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार एक और तो सीमित साधन होते हैं तो दूसरी ओर अनेक समस्याएँ। अतः इस बात की आवश्यकता होती है कि आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत विभिन्न उपलब्ध साधनों को इस प्रकार गतिशील बनाया जाए कि राष्ट्रीय आय अधिकतम दर से बढ़ सके तथा शीघ्रता से विकसित हो सके। यही कारण है कि नियोजन में प्राथमिकताएँ निर्धारण करने की आवश्यकता होती है।

एक देश का विकास एक साथ न होकर धीरे-धीरे होता है। वैसे सभी कार्य एक साथ हो भी नहीं सकते हैं। इसलिए पहले उन क्षेत्रों का विकास किया जाता है जिनकी परम आवश्यकता होती है या जिनके फल शीघ्र ही सामने आने की सम्भावना होती है। किसी योजना में किसी एक क्षेत्र का विकास किया जाता है तो दूसरी योजना में अन्य क्षेत्र का। जो क्षेत्र किसी योजना में आगे होता है वही क्षेत्र अन्य बाद वाली योजनाओं में पीछे रहता है।

योजनाओं में प्राथमिकताएँ निर्धारित करना एक समस्या है। इसका अर्थ यह है कि किस योजना में किस क्षेत्र को प्राथमिकता दें यह तय करना ही समस्या है। वैसे प्राथमिकताएँ निर्धारित करते समय दो पहलुओं पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है—(1) समस्या की तीव्रता व (2) साधनों की उपलब्धि।

अल्प-विकसित देशों में बहुत-सी समस्याएँ होती हैं जो कृषि, उद्योग, व्यापार, परिवहन, संचार, सिंचाई, सामाजिक सेवाएँ, शिक्षा, आदि से सम्बन्धित होती हैं। जो समस्या जितनी अधिक तीव्र होती है वही समस्या सबसे पहली प्राथमिकता ले जाती है। उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साधनों की उपलब्धि होना भी आवश्यक है जिसके लिए आन्तरिक व बाहरी सहायता भी ली जा सकती है। जो समस्याएँ भारी विनियोग से ही हल हो सकती हैं उन समस्याओं को प्राथमिकता नहीं मिलती है। उन्हें बाद में ही पूरा किया जाता है।

भारत की विभिन्न योजनाओं में प्राथमिकताएँ निम्न प्रकार रही हैं :

(1) प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-1956)—प्रथम योजना में कृषि को उच्च प्राथमिकता दी गयी जिसमें भूमि सुधार, पशु पालन, सुधरे बीज, सिंचाई सुविधाएँ, आदि शामिल थीं।

(2) द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-61)—द्वितीय योजना में उद्योग एवं खनिज पर अधिक महत्व दिया गया।

(3) तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961-66)—द्वितीय योजना में खाद्यान्नों की समस्या पुनः उत्पन्न होने के कारण तृतीय योजना में कृषि को फिर प्राथमिकता प्रदान की गयी।

(4) चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969-74)—इस योजनाकाल में कृषि को प्राथमिकता दी गयी जिससे कि देश कृषि के क्षेत्र में आत्मनिर्भर बन सके।

(5) पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79)—पाँचवीं योजना का प्रमुख उद्देश्य गरीबी उन्मूलन एवं आत्मनिर्भरता की प्राप्ति थे।

(6) छठवीं पंचवर्षीय योजना (1980-85)—इस योजना के अन्तर्गत अर्थव्यवस्था के लिए विभिन्न क्षेत्रों के लिए रणनीति, लक्ष्य एवं परिव्यय (outlays) निर्धारित करते समय सर्वाधिक प्राथमिकता अधिकाधिक रोजगार सृजन करने वाले और निर्धन व्यक्तियों के जीवन-स्तर पर बहुत प्रभाव डालने वाले क्षेत्रों को दी गयी।

(7) सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90)—इस योजना में प्राथमिकता (i) गरीबी कम करने, (ii) उत्पादकता बढ़ाने व (iii) रोजगार अवसर बढ़ाने को दी गयी थी।

(8) आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97)—आठवीं योजना में रोजगार सृजन, खाद्य पदार्थों में आत्मनिर्भरता तथा समाज सेवाओं को प्राथमिकता दी गई थी।

(9) नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002)—नौवीं योजना में कृषि एवं ग्रामीण विकास को प्राथमिकता, मूल्यों में स्थायित्व, समाज को न्यूनतम मूलभूत सेवाएं प्रदान करना, जनसंख्या वृद्धि को रोकना, महिलाओं

और कमजोर वर्ग के लोगों को शक्तियां प्रदान करना, पंचायती राज को बढ़ावा देना व आत्मनिर्भरता का लक्ष्य निर्धारित किया।

(10) **दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002-2007)**—इस योजना में निर्धनता अनुपात में कमी, रोजगार अवसरों में वृद्धि, साक्षरता प्रतिशत में वृद्धि व पेयजल उपलब्धता में वृद्धि करने के मुख्य लक्ष्य हैं। इसलिए ऊर्जा, सामाजिक सेवाएं, परिवहन, ग्राम विकास व सिंचाई तथा बाढ़ नियन्त्रण पर कुल प्रस्तावित योजना व्यय का 78.8 प्रतिशत व्यय करने का प्रावधान किया गया।

(11) **ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007-2012)**—इस योजना में शिक्षा, स्वास्थ्य, गरीबी उन्मूलन तथा बुनियादी ढांचे के विकास का लक्ष्य रखा गया।

(12) **बारहवीं पंचवर्षीय योजना (2012-2017)**—इस योजना में तीव्र, धारणीय तथा अधिक समावेशी विकास पर जोर दिया गया है।

(III) भारत में आर्थिक योजनाओं के लिए वित्तीय संसाधन

किसी भी देश के आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए यद्यपि भौतिक, मानवीय एवं तकनीकी साधनों के संग्रह की आवश्यकता होती है, लेकिन वित्तीय साधनों के संग्रह की आवश्यकता इन सब साधनों से अधिक महत्वपूर्ण है। आर्थिक योजना चाहे बड़ी हो या छोटी बिना पर्याप्त वित्तीय साधन संग्रह के पूरी नहीं हो सकती है। यदि किसी प्रकार वित्तीय साधनों को जुटा पाने में असमर्थ रहते हैं तो अच्छी-से-अच्छी योजनाएँ केवल कागज पर ही रह जाती हैं। इस प्रकार योजना की सफलता वित्तीय साधनों के संग्रह पर बहुत बड़ी मात्रा में निर्भर करती है। योजनाओं के लिए वित्तीय साधनों का संग्रह कई स्रोतों से हो सकता है लेकिन निम्न स्रोत प्रमुख हैं :

(1) कराधान, (2) सार्वजनिक ऋण, (3) सार्वजनिक उपक्रमों से बचत, (4) अल्प बचत, (5) विदेशी ऋण एवं सहायता, (6) घाटे की वित्त व्यवस्था।

उपर्युक्त वित्तीय स्रोतों के अपने-अपने गुण, दोष व सीमाएँ हैं। भारत एक विकासशील देश है जिसकी आवश्यकताएँ भी इतनी अधिक हैं कि कोई भी एक स्रोत आवश्यक मात्रा में वित्तीय साधन जुटाने में समर्थ नहीं हो सकता है। इसलिए भारत ने अपने आर्थिक नियोजन को पूरा करने के लिए विभिन्न स्रोतों का सहारा लिया है। वित्तीय संसाधनों में तीन स्रोतों—कराधान, विदेशी ऋण एवं घाटे की वित्त व्यवस्था—का उपयोग खूब सोच-समझकर किया जाना चाहिए। अधिक कराधान या अधिक विदेशी सहायता या अधिक घाटे की व्यवस्था तीनों ही न तो जनहित में और न देश हित में उचित हैं।

प्रथम योजना में सार्वजनिक क्षेत्र का व्यय 1,960 करोड़ ₹, द्वितीय योजना में 4,672 करोड़ ₹, तीसरी योजना में 8,577 करोड़ ₹, चतुर्थ योजना में 15,779 करोड़ ₹, पंचम योजना में 39,426 करोड़ ₹, छठवीं योजना में 1,09,292 करोड़ ₹, सातवीं योजना में 2,18,730 करोड़ ₹ हुए हैं, आठवीं योजना में 4,34,100 करोड़ ₹ नौवीं योजना में 8,59,200 करोड़ ₹ व्यय हुए हैं, दसवीं योजना में 15,25,639 करोड़ ₹, ग्यारहवीं योजना में 36,44,718 करोड़ ₹ व्यय हुए हैं तथा बारहवीं योजना में 76,69,807 करोड़ ₹ का व्यय प्रस्तावित है।

विभिन्न योजनाओं का वित्त प्रबन्ध (प्रतिशत) निम्न प्रकार है :

योजना	घरेलू बचत अथवा संसाधन	विदेशी सहायता	घाटे की व्यवस्था	योग
प्रथम पंचवर्षीय योजना	73.4	9.6	17.0	100
द्वितीय पंचवर्षीय योजना	57.1	22.5	20.4	100
तृतीय पंचवर्षीय योजना	58.7	28.2	13.1	100
चतुर्थ पंचवर्षीय योजना	74.3	12.9	12.8	100
पंचम पंचवर्षीय योजना	78.4	12.8	—	100
षष्ठम पंचवर्षीय योजना	78.2	7.7	14.1	100
सप्तम पंचवर्षीय योजना	82.3	10.0	7.7	100
अष्टम पंचवर्षीय योजना	82.8	12.6	4.6	100
नौवीं पंचवर्षीय योजना	93.0	7	—	100
दसवीं पंचवर्षीय योजना	98.3	1.7	—	100
ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना	100.0	—	—	100
बारहवीं पंचवर्षीय योजना	100.0	—	—	100

योजनाओं के वित्तीय संसाधनों की समीक्षा

(REVIEW OF FINANCING OF PLANS)

भारत में योजनाओं के लिए जिस प्रकार वित्त जुटाया गया है उसके अध्ययन और विश्लेषण से निम्न महत्वपूर्ण एवं विचाराधीन तथ्यों का ज्ञान होता है :

(1) **घरेलू बजट साधन** (Domestic Budgetary Resources)—योजनाओं में प्रारम्भ में घरेलू बजट साधनों (चालू राजस्व, अतिरिक्त कराधान, सार्वजनिक उपक्रमों की आय, लघु बचतें, सार्वजनिक ऋण एवं अतिरिक्त साधनों से प्राप्तियाँ) पर निर्भरता अधिक रही है। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में घरेलू साधनों का प्रतिशत इस प्रकार रहा है—प्रथम योजना 73.4%, द्वितीय योजना 57.1%, तृतीय योजना 58.7%, चतुर्थ योजना 74.3%, पंचम योजना 78.4%, षष्ठी योजना 78.2%, सातवीं योजना में 82.3%, आठवीं योजना में 82.8%, नवीं योजना में 93%, दसवीं योजना में 98.3%, ग्यारहवीं तथा बारहवीं योजना में 100%।

(2) **कराधान या करारोपण** (Taxation)—विकास योजनाओं को पूरा करने के लिए वित्तीय व्यवस्था में कराधान या करारोपण का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। जनता की स्वेच्छा से बचत तो बहुत ही कम होती है। अतः कराधान उनको विवश करता है कि वे अपनी आय का एक निश्चित भाग अवश्य ही कर के रूप में बचायें। यह तो अनिवार्य बचत का एक प्रत्यक्ष उपाय है। साथ ही कराधान से धनी व्यक्तियों पर अधिक भार डाला जा सकता है तथा धन व आय के वितरण में समानता लायी जा सकती है। कराधान मूल्य वृद्धि को रोकने में मदद करता है। आयात-निर्यात का विनियमन करता है तथा उद्देश्य विशेष को प्रोत्साहन देता है। इन्हीं कारणों को ध्यान में रखकर भारत की विकास योजनाओं में इसको महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

(3) **सार्वजनिक ऋण**—जब नियोजन पर होने वाला व्यय बड़ी मात्रा में होता है तो अकेला कराधान अधिक सहयोग नहीं दे पाता है। जनता द्वारा भी अधिक करों का विरोध किया जाता है। अतः अतिरिक्त साधनों को एकत्रित करने के लिए सरकार द्वारा ऋणपत्र, बॉण्ड, आदि जारी किये जाते हैं जिन पर सरकार द्वारा ब्याज दिया जाता है। इससे जनता की आय बढ़ती है। जब जनता की बचतें ऋण के रूप में सरकार के पास आ जाती हैं तो इससे निवेश की दर भी बढ़ती है।

(4) **सार्वजनिक उपकरणों से बचत**—किसी भी देश के सार्वजनिक उपक्रम विकास कार्यक्रमों के लिए साधन जुटाने में काफी महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। भारत में केन्द्रीय सरकार के सार्वजनिक उपक्रमों में आजकल 9,92,971 करोड़ ₹ से भी अधिक धन विनियोजित है, लेकिन भारतीय सार्वजनिक उपक्रमों की दशा इस दृष्टि से अच्छी नहीं है। अधिकांश घाटे में चल रहे हैं और जो लाभ दे भी रहे हैं वह निजी क्षेत्र की तुलना में बहुत ही कम हैं। सार्वजनिक उपक्रमों से बचत की प्राप्ति सन्तोषजनक नहीं रही है। किसी भी योजना में इस सम्बन्ध में लक्ष्य प्राप्त नहीं किये जा सके हैं।

(5) **अल्प बचत**—अल्प बचत को प्रोत्साहन देकर कम आय वालों को योजनाओं में सहयोग देने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। इससे मूल्य में वृद्धि को रोकने में सहायता मिलती है। भारत एक गरीब देश है। यहाँ प्रति व्यक्ति आय निम्न है अतः यहाँ बचत की अपनी सीमा है।

(6) **विदेशी ऋण एवं सहायता**—जब किसी देश में पर्याप्त पूँजी एवं तकनीकी ज्ञान उपलब्ध नहीं होता है तो देश को विदेशी सहायता एवं ऋण लेने के लिए मजबूर होना पड़ता है। यह विदेशी सहायता एवं ऋण कई रूपों में मिलते हैं; जैसे विदेशी मुद्रा ऋण के रूप में वस्तुओं को आयात करने के लिए, विदेशी मुद्रा में अनुदान जिसको वापस नहीं किया जाएगा, विदेशी संस्था द्वारा नवीन संस्था की स्थापना में साझेदार संस्था बनाना, आदि। भारत ने विदेशी ऋण एवं सहायता का उपयोग पर्याप्त मात्रा में किया है। देश के आर्थिक विकास में विदेशी सहायता का महत्वपूर्ण स्थान होता है परन्तु विदेशी सहायता पर बहुत अधिक निर्भर नहीं रहना चाहिए।

(7) **घाटे की वित्त व्यवस्था**—अर्थ-प्रबन्धन एक नया साधन है, लेकिन इसका उपयोग विवादग्रस्त है। कुछ इसको अच्छा बताते हैं तो कुछ इसकी आलोचना करते हैं। आलोचकों का कहना है कि इसमें मूल्य वृद्धि होती है। वास्तव में एक सीमा के उपरान्त भी घाटे की वित्त व्यवस्था की जाती है तो अर्थव्यवस्था लड़खड़ा जाती है। सट्टेबाजी की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। चोरबाजारी बढ़ने लगती है। भुगतान शेष की स्थिति अच्छी नहीं रहती है। जन-साधारण का जीवन कष्टमय हो जाता है।

लेकिन यदि इसको एक सीमा में काम में लाया जाता है तो वह लाभकारी है। इससे आय व बचत में वृद्धि की जा सकती है।

पंचवर्षीय योजनाओं में विनियोग का स्वरूप

(PATTERN OF INVESTMENT UNDER FIVE YEAR PLANS)

भारत में पहली योजना 1 अप्रैल, 1951 से प्रारम्भ की गयी थी जो 5 वर्ष की अवधि के लिए थी, इसके बाद की दोनों योजनाएँ भी पांच-पांच वर्ष की थीं, लेकिन तृतीय पंचवर्षीय योजना के तुरन्त बाद चतुर्थ योजना 1 अप्रैल, 1966 से प्रारम्भ होनी थी, परन्तु भारत-पाक युद्ध, लगातार दो वर्षों तक सूखा, मुद्रा का अवमूल्यन, मूल्यों में वृद्धि व साधनों की कमी के कारण चतुर्थ योजना के बनाने में देर हो गयी। अतः चतुर्थ योजना 1 अप्रैल, 1969 से लागू की गयी और तीसरी व चौथी योजना के बीच के काल के लिए एक-एक वर्षीय तीन योजनाएँ अपनायी गयीं। इसी प्रकार पांचवीं योजना के बाद भी एक-वर्षीय योजना अपनाई गई और छठवीं योजना 1 अप्रैल, 1980 से प्रारम्भ हो सकी। यही स्थिति सातवीं योजना के बाद रही। यहां दो वर्ष का अन्तर काल रहा। अतः आठवीं योजना 1 अप्रैल, 1992 से प्रारम्भ हो सकी जो 31 मार्च, 1997 तक चली। नौवीं योजना (1997-2002), दसवीं योजना (2002-07) तथा ग्यारहवीं योजना (2007-12) भी पूरी हो चुकी है व वर्तमान में बारहवीं पंचवर्षीय योजना 1 अप्रैल, 2012 से प्रारम्भ हो चुकी है। इस प्रकार अब तक नियोजन के 64 वर्ष पूरे हो गये हैं।

प्रथम योजना में 1,960 करोड़ ₹; द्वितीय योजना में 4,672 करोड़ ₹; तृतीय योजना में 8,577 करोड़ ₹; चतुर्थ योजना में 15,779 करोड़ ₹; पंचम योजना में 39,426 करोड़ ₹; षष्ठम योजना में 1,09,292 करोड़ ₹; सप्तम योजना में 2,18,730 करोड़ ₹ व आठवीं योजना में 4,34,100 करोड़ ₹ व्यय किये गए हैं जबकि नौवीं योजना में 8,59,200 करोड़ ₹, दसवीं योजना में कुल 15,25,639 करोड़ ₹ तथा ग्यारहवीं योजना में कुल 36,44,718 करोड़ ₹ का व्यय किया गया। 12वीं योजना में कुल 76,69,807 करोड़ ₹ के वित्तीय संसाधन होने का अनुमान है।

पंचवर्षीय योजनाओं में मदवार व्यय

(HEADWISE EXPENDITURE IN FIVE YEAR PLANS)

भारत में पहली योजना 1 अप्रैल, 1951 से प्रारम्भ की गयी थी जो 5 वर्ष की अवधि के लिए थी। उसके बाद की दोनों योजनाएँ भी पाँच वर्ष की थीं, लेकिन तृतीय पंचवर्षीय योजना के तुरन्त बाद चतुर्थ योजना 1 अप्रैल, 1966 से प्रारम्भ होनी थी, परन्तु भारत-पाक युद्ध, लगातार दो वर्षों तक सूखा, मुद्रा का अवमूल्यन, मूल्यों में वृद्धि व साधनों की कमी के कारण चतुर्थ योजना के बनाने में देर हो गयी। अतः चतुर्थ योजना 1 अप्रैल, 1969 से लागू की गयी और तीसरी व चौथी योजना के बीच के काल के लिए एक-एक वर्षीय तीन योजनाएँ अपनायी गयीं। इसी प्रकार पाँचवीं व छठवीं योजना के बीच भी एक वर्षीय योजना अपनाई गई। इसी प्रकार सातवीं व आठवीं योजना के बीच में भी दो वर्षों के लिए एक-एक वर्षीय योजनाएँ अपनायी गई। भारत की प्रथम ग्यारह पंचवर्षीय योजनाओं में सार्वजनिक व्यय मदवार निम्नांकित रहा है :

भारत की पंचवर्षीय योजनाएँ एवं उनका मद-वार वास्तविक व्यय

(राशि करोड़ ₹)

मद	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना	चतुर्थ योजना	पांचवीं योजना	छठी योजना	सातवीं योजना	आठवीं योजना	नौवीं योजना	दसवीं योजना	ग्यारहवीं योजना (प्रस्तावित)
1. कृषि एवं सम्बन्धित, ग्रामीण विकास, विशेष क्षेत्र कार्यक्रम	290 (14.8)	549 (11.7)	1,089 (12.7)	2,320 (14.7)	4,865 (12.3)	15,201 (13.9)	31,509 (14.4)	63,643 (14.7)	1,20,77 (14.0)	2,01,740 (13.3)	4,63,779 (12.7)
2. सिंचाई एवं बाढ़ नियन्त्रण	434 (22.2)	430 (9.2)	665 (7.8)	1,354 (8.6)	3,877 (9.8)	10,930 (10)	16,590 (7.6)	32,525 (7.5)	55,420 (6.5)	1,03,315 (6.8)	2,10,326 (5.8)
3. ऊर्जा	149 (7.6)	452 (9.7)	1,252 (14.6)	2,932 (18.6)	7,400 (18.8)	30,751 (28.1)	61,689 (28.2)	1,15,561 (26.6)	2,22,375 (25.9)	4,03,927 (26.5)	8,54,123 (23.4)

4. ग्राम एवं लघु उद्योग	42 (2.1)	187 (4.0)	241 (2.8)	243 (1.5)	592 (1.5)	1,945 (1.8)	3,249 (1.5)	6,334 (1.5)	65,148 (7.6)	58,939 (3.9)	1,53,600 (4.2)
5. उद्योग एवं खनिज	55 (2.8)	938 (20.1)	1,726 (20.1)	2,864 (18.2)	8,989 (22.8)	15,002 (13.7)	25,971 (11.9)	40,588 (9.3)			
6. परिवहन एवं संचार	518 (26.4)	1,261 (27.0)	2,112 (24.6)	3,080 (19.5)	6,870 (17.4)	17,678 (16.2)	37,974 (17.4)	81,036 (18.7)	1,66,653 (19.4)	3,24,945 (21.3)	6,67,823 (18.3)
7. शिक्षा एवं अनुसन्धान	149 (7.6)	273 (5.8)	660 (7.7)	905 (5.7)	1,710 (4.3)	3,997 (3.6)	10,709 (4.5)	9,443 (21.7)	2,28,807 (26.6)	4,32,773 (28.2)	12,95,067 (35.6)
8. स्वास्थ्य, समाज सेवाएं व अन्य	323 (16.5)	582 (12.5)	832 (9.7)	2,081 (13.1)	5,123 (13.7)	13,788 (12.7)	31,039 (14.5)				
कुल	1,960	4,672	8,577	15,779	39,426	1,09,292	2,18,730	4,34,100	8,59,200	15,25,639	36,44,718

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण 2010-11

बारहवीं पंचवर्षीय योजना का मदवार व्यय (अनुमानित चालू दरों पर)

(i) कृषि एवं सम्बद्ध कार्यक्रम 3,63,273 करोड़ ₹ (4.7%), (ii) ग्रामीण विकास 4,57,464 करोड़ ₹ (6.0%), (iii) विशेष क्षेत्र कार्यक्रम 80,370 करोड़ ₹ (1.0%), (iv) सिंचाई और बाढ़ नियंत्रण 4,22,012 करोड़ ₹ (5.5%), (v) ऊर्जा 14,38,466 करोड़ ₹ (18.8%), (vi) उद्योग और खनिज 3,77,302 करोड़ ₹ (4.9%), (vii) परिवहन 12,04,172 करोड़ ₹ (15.7%), (viii) संचार 80,984 करोड़ ₹ (1.1%), (ix) विज्ञान प्रौद्योगिकी और पर्यावरण 1,67,350 करोड़ ₹ (2.2%), (x) सामान्य आर्थिक सेवाएं 3,05,612 करोड़ ₹ (4.0%), (xi) सामाजिक सेवाएं 26,64,843 करोड़ ₹ (34.7%), (xii) सामान्य सेवाएं 1,07,959 करोड़ ₹ (1.4%)। कुल योजना परिव्यय 76,69,807 करोड़ ₹ (100%)।

पंचवर्षीय योजनाओं में विकास दर

विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में औसत विकास के लक्ष्य एवं वास्तविक प्राप्ति निम्न प्रकार रही है :

विवरण	लक्ष्य	वास्तविक प्राप्ति
1. प्रथम योजना (1951-56)	2.1	3.5
2. द्वितीय योजना (1956-61)	4.5	4.21
3. तृतीय योजना (1961-66)	5.6	2.72
4. चतुर्थ योजना (1969-74)	5.7	3.20
5. पंचम योजना (1974-79)	4.4	4.7
6. षष्ठम योजना (1980-85)	5.2	5.5
7. सप्तम योजना (1985-90)	5.0	5.6
8. अष्टम योजना (1992-97)	5.6	6.54
9. नवम योजना (1997-02)	6.5	5.52
10. दसवीं योजना (2002-07)	7.9	7.74
11. ग्यारहवीं योजना (2007-12)	8.1	7.9

स्रोत : ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007-12) Vol. I, p. 25.

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007-2012)

(ELEVENTH FIVE YEAR PLAN)

भारत की ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना 2007 से 2012 के मध्य रही। ग्यारहवीं योजना में केन्द्र सरकार ने शिक्षा, स्वास्थ्य, गरीबी उन्मूलन, बुनियादी ढांचे के विकास को विशेष प्राथमिकता दी। योजना का आकार 36,44,718 करोड़ ₹ का रखा गया। इसमें केन्द्र की भागीदारी 21,56,571 करोड़ ₹ तथा राज्यों की भागीदारी 14,88,147 करोड़ ₹ की थी। इसके अतिरिक्त बुनियादी ढांचे के विकास के लिए निजी क्षेत्र की भागीदारी पर विशेष बल दिया गया। 11वीं योजना में महिलाओं, अल्पसंख्यकों, अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के विकास के लिए अनेक नई योजनाएं प्रारम्भ करने की तैयारी की गयी ताकि विकास में उनकी हिस्सेदारी सुनिश्चित हो सके। योजना के प्रमुख निर्धारित लक्ष्य अग्रलिखित थे :

- जीडीपी वृद्धि दर का लक्ष्य बढ़ाकर 9 प्रतिशत कर दिया गया।
- वर्ष 2016-17 तक प्रति व्यक्ति आय दोगुनी हो जाएगी।
- 6-7 करोड़ नए रोजगार का सृजन, शिक्षित बेरोजगार दर को घटाकर 5 प्रतिशत से कम करना।
- स्कूली बच्चों के पढ़ाई छोड़ने की दर 52 प्रतिशत थी, इसे घटाकर 20 प्रतिशत करना।
- साक्षरता दर में वृद्धि कर 85 प्रतिशत तक पहुंचाना।
- जन्म के समय नवजात शिशु मृत्यु दर को घटाकर 28 प्रति हजार करना।
- मातृ मृत्यु दर को घटाकर प्रति हजार जन्म पर 1 करने का लक्ष्य रखा गया।
- सभी के लिए वर्ष 2009 तक स्वच्छ पेयजल उपलब्ध कराना।
- लिंगानुपात दर को सुधारते हुए वर्ष 2011-12 तक प्रति हजार 935 और वर्ष 2016-17 तक 950 प्रति हजार करने का लक्ष्य।
- वर्ष 2009 तक सभी गांवों एवं गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों तक विजली पहुंचाना।
- नवम्बर 2007 तक प्रत्येक गांव में दूरभाष की सुविधा का लक्ष्य।
- वर्ष 2011-12 तक प्रत्येक गांव को ब्रॉडबैंड से जोड़ना।
- वर्ष 2009 तक 1,000 की जनसंख्या वाले गांवों को सड़क की सुविधा।
- बनीकरण की अवस्था में 5 प्रतिशत की वृद्धि।
- विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा निर्धारित स्वच्छ वायु के मापदण्डों को लागू करना।
- नदियों की सफाई के क्रम में शहरों से प्रदूषित जल का उपचार करना।
- गरीबी अनुपात को 10 प्रतिशतांक तक घटाना।
- दशकीय जनसंख्या वृद्धि दर को वर्ष 2001-2011 के बीच 16.2 प्रतिशत तक घटाकर लाना।
- कृषि क्षेत्र की विकास दर को बढ़ाकर 4 प्रतिशत तक ले जाने का लक्ष्य रखा गया। औद्योगिक व सेवा क्षेत्र की विकास दर बढ़ाकर क्रमशः 10.5 प्रतिशत तथा 9.9 प्रतिशत करने का लक्ष्य रखा गया। आयात व निर्यात की विकास दर को बढ़ाकर क्रमशः 12.5 प्रतिशत तथा 16.4 प्रतिशत करने का लक्ष्य रखा गया।
- ग्यारहवीं योजना के दौरान वायु व जल की गुणवत्ता सुधारने, ठोस कूड़े का उचित प्रबन्धन करने और वन्य जीवन तथा जैव-विविधता को संरक्षित करने पर जोर दिया गया।
- योजना के दौरान विकास की रणनीति समन्वित रूप से बनायी गयी जहां वंचितों, गरीबों का सशक्तीकरण, सर्व शिक्षा अभियान के लिए प्राथमिक शिक्षा का विस्तार, विकलांग छात्रों को आवश्यक सहायता प्रदान करना, सेकेण्डरी शिक्षा को बढ़ावा देना, रोजगारपरक शिक्षा को बढ़ावा देना तथा वयस्क साक्षरता के अभियान को बढ़ावा देने के अतिरिक्त विज्ञान और तकनीक के आधार विकसित करने के लक्ष्य निर्धारित किए गए।
- ग्रामीण क्षेत्र को स्वस्थ बनाना। इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन के लक्ष्यों को पूरा करने, सभी को स्वच्छ जल उपलब्ध कराने तथा ग्रामीण स्वच्छता के लक्ष्य पूरे करने पर जोर दिया गया। भारत निर्माण कार्यक्रम के अनुरूप ग्रामीण अधिरचना को मजबूत करने का प्रावधान रखा गया।
- विद्युत उत्पादन की 68,000 मेगावाट अतिरिक्त क्षमता का सृजन करना।

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के वृहत् आर्थिक सूचक

	10वीं योजना (वास्तविक)	11वीं योजना (औसत लक्ष्य)
1. सकल घरेलू जल्याद की संवृद्धि दर (0%) जिनमें से— (क) कृषि (ख) उद्योग (ग) सेवाएं	7.8	9.0
(क) कृषि	3.42	4.1
(ख) उद्योग	8.74	10.5
(ग) सेवाएं	9.30	9.9
2. निवेश दर (सकल घरेलू जल्याद का %) जिनमें से— (क) सार्वजनिक (ख) निजी	28.10	35.1
(क) सार्वजनिक	6.7*	10.2
(ख) निजी	21.1*	24.9

3.	घरेलू बचत दर (सकल घरेलू उत्पाद का %)	26.62	32.3
	जिनमें से—		
(क)	परिवार क्षेत्रक	22.8*	22.0
(ख)	निगमित क्षेत्रक	4.5*	6.1
(ग)	सार्वजनिक उपक्रम	4.2*	3.0
(घ)	सरकारी क्षेत्रक	-3.2*	1.2
4.	चालू खाते का घाटा (सकल घरेलू उत्पाद का प्रतिशत)	0.2*	-2.8
5.	सरकारी राजस्व अधिशेष (सकल घरेलू उत्पाद का प्रतिशत)	-4.4*	-0.2
6.	सरकारी राजकोषीय अधिशेष (सकल घरेलू उत्पाद का प्रतिशत)	-8.0*	-6.0
*	अनुमानित		

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना की प्राथमिकताएं

1. कृषि एवं सिंचाई—ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में कृषि क्षेत्र की औसत वृद्धि दर का लक्ष्य 4.1 प्रतिशत रखा गया था। कृषि क्षेत्र के विकास के लिए तथा कृषि को संकट से उबारने के लिए मृदा संरक्षण एवं विकास, जल संरक्षण तथा जल स्रोतों को पुनः क्रियाशील बनाना तथा जल के प्रत्येक बूँद का दक्षतम उपयोग करना, कृषि क्रष्ण तथा बीमा में सुधार, कृषि प्रौद्योगिकी तथा कृषि आगतों में सुधार एवं उपलब्धता को सुनिश्चित करना सम्मिलित था। इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय कृषक आयोग ने जो महत्वपूर्ण सुझाव दिए थे उस पर ध्यान दिया गया। आयोग ने कृषि, पशु पालन, मत्स्य पालन, स्वास्थ्य, शिक्षा एवं पात्रता से जुड़ी बहुआयामी एवं मांग आधारित सूचनाओं को जरूरतमन्द लोगों तक शीघ्रता से पहुंचाने के लिए कारगर नीति अपनाने पर बल दिया।

कार्य नीति—ग्यारहवीं योजना में कृषि की कार्य-नीति सम्बन्धी जिन अन्य घटकों पर बल दिया गया था वे हैं :

(1) कृषि की उन्नत पद्धतियों का प्रयोग, (2) गुणवत्ता युक्त बीजों का उत्पादन व वितरण, (3) सरकारी क्रष्ण संस्थाओं को पुनर्जीवित करना, (4) आधुनिक विपणन प्रबन्धन, (5) अनुबन्ध खेती, (6) विविधीकृत कृषि, (7) कृषि अनुसन्धान एवं विकास तथा (8) भूमि सुधार।

सिंचाई पर ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में विशेष बल दिया गया था और कहा गया था कि विद्यमान सिंचाई प्रणालियों को अच्छी तरह से अनुरक्षण करके उसके कुशल उपयोग को सुनिश्चित किया जाना चाहिए। योजना में 25 लाख हेक्टेएर प्रतिवर्ष सिंचाई क्षेत्र के विस्तार की बात कही गई थी।

2. आधारभूत संरचना—इस योजना में सामान्य और ग्रामीण दोनों ही आधारिक संरचना के विकास को प्राथमिकता दी गई थी। भारत निर्माण कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामीण सड़कें, पेयजल, ग्रामीण विद्युतीकरण, आवास व्यवस्था तथा ग्रामीण दूरसंचार सम्पर्क पर ध्यान दिया गया। सामान्य आधारभूत संरचना पर विचार करते हुए यह दृष्टिकोण पत्र दहाई की संख्या की विकास दर प्राप्त करने में हमारी एक प्रमुख बाधा के रूप में इस क्षेत्र में कमियों की ठीक-ठीक पहचान करता है। हमारी रेलों, सड़कों, पत्तनों तथा विद्युत क्षेत्र सभी में व्यापक विस्तार तथा गुणवत्ता पूर्ण सुधार की आवश्यकता है।

3. उद्योग—ग्यारहवीं योजना में स.घ.उ. की विकास दर 9 प्रतिशत प्राप्त करने के लिए उद्योग क्षेत्र में विकास की दर का लक्ष्य 10.5 प्रतिशत रखा गया। औद्योगिक विकास के इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु निम्न उपायों पर जोर दिया गया :

- (i) औद्योगिक विकास के लिए आधार संरचना को सुदृढ़ बनाना।
- (ii) निर्माणी क्षेत्र को सुदृढ़ करना ताकि द्वितीय विकास दर प्राप्त की जा सके।
- (iii) घरेलू उद्योगों को विदेशी उपक्रमों से प्रतिस्पर्धा योग्य बनाना।
- (iv) उद्यम कौशल को बढ़ावा देने के लिए अनुकूल वातावरण बनाना।
- (v) सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्र में सफलता के बाद अब फर्मास्यूटिकल कल-पुर्जे व कपड़ा उद्योग आदि पर विशेष ध्यान दिया जाएगा।
- (vi) लघु व मध्यम स्तरीय उद्योगों को विशेष रियायतें दी जाएंगी।
- (vii) घरेलू औद्योगिक इकाइयों में तकनीकी सुधार पर बल दिया जाएगा।
- (viii) तकनीकी सुधार पर विशेष बल दिया जाएगा।

ग्यारहवीं योजना में औद्योगिक विकास के कार्य में निजी क्षेत्र की भागीदारी को अधिक महत्व दिया गया तथा विदेशी कम्पनियों को भारत के उद्योगों में निवेश करने की छूट प्रदान की गई।

4. मानव विकास—योजना आयोग द्वारा ग्यारहवीं योजना के लिए प्रस्तुत किए गए दृष्टिकोण पत्र में मानव विकास के महत्वपूर्ण सूचक—शिक्षा, स्वास्थ्य, तथा महिला व बाल विकास सम्बन्धी मुद्दों पर विशेष ध्यान दिया गया।

5. सामाजिक क्षेत्र व रोजगार—सामाजिक क्षेत्र में—अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, अन्य पिछड़े वर्गों, अल्पसंख्यकों, स्त्रियों व बच्चों के उत्थान पर विशेष कार्यक्रम तैयार किए गए।

रोजगार—इस योजना में 70 मिलियन रोजगार के अवसर सृजित करने का प्रस्ताव रखा गया था।

संसाधनों का क्षेत्रवार आबंटन—ग्यारहवीं योजना का कुल परिव्यय 36,44,718 करोड़ ₹ अनुमानित था जिसका क्षेत्रवार आबंटन निम्नवत् है :

ग्यारहवीं योजना में विभिन्न मदों पर प्रस्तावित व्यय

मदे	कुल व्यय (करोड़ ₹)	कुल योजना व्यय का प्रतिशत
1. कृषि	1,36,382	3.7
2. ग्रामीण विकास	3,01,069	8.3
3. विशेष क्षेत्र कार्यक्रम	26,329	0.7
4. सिंचाई	2,10,326	5.8
5. ऊर्जा	8,54,123	23.4
6. उद्योग	1,53,599	4.2
7. परिवहन	5,72,443	15.7
8. संचार	95,380	2.6
9. विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी	87,933	2.4
10. अन्य आर्थिक सेवाएं	62,523	1.7
11. सामाजिक सेवाएं	11,02,327	30.9
12. सामान्य सेवाएं	42,283	1.2
कुल	36,44,718	100.0

उपर्युक्त तालिका के क्षेत्रवार आबंटन से स्पष्ट है कि योजना में आधार संरचना अर्थात् ऊर्जा, परिवहन एवं संचार पर 41.8 प्रतिशत व्यय करने का प्रावधान रखा गया। जबकि सामाजिक सेवाओं यथा—शिक्षा एवं स्वास्थ्य आदि पर 30.9 प्रतिशत व्यय रखा गया। कुल प्रस्तावित व्यय का 18.5 प्रतिशत भाग कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्रों—ग्रामीण विकास, विशेष क्षेत्र कार्यक्रम, सिंचाई तथा बाढ़ नियन्त्रण पर खर्च करने का प्रावधान रखा गया। उद्योग तथा खनिज पर 4.2 प्रतिशत, विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी पर 2.4 प्रतिशत, सामान्य आर्थिक सेवाओं पर 1.7 प्रतिशत तथा सामान्य सेवाओं पर 1.2 प्रतिशत व्यय की व्यवस्था की गयी।

ग्यारहवीं योजना का वित्त पोषण—ग्यारहवीं योजना में सार्वजनिक क्षेत्र के लिए वित्तीय संसाधनों की उपलब्धता को निम्नलिखित तालिका द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है :

ग्यारहवीं योजना का वित्त पोषण (करोड़ ₹)

वित्त पोषण के स्रोत	राशि	प्रतिशत
1. चालू राजस्व से शेष	10,39,039	28
2. ऋण तथा विविध प्राप्तियां	14,17,144	39
3. विदेश से निवल प्रवाह	—	—
4. सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के संसाधन	11,88,535	33
योग	36,44,718	100

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना की उपलब्धियां

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007-12) में 9% औसत वार्षिक वृद्धि की दर का लक्ष्य रखा गया था जिसे बाद में संशोधित करके 8.1% कर दिया गया था। ग्यारहवीं योजना में 2004-05 की कीमतों पर साधन लागत पर सकल राष्ट्रीय आय की औसत वार्षिक वृद्धि दर 8.0% तथा साधन लागत पर निवल राष्ट्रीय आय की औसत वृद्धि दर 7.8% रही। ग्यारहवीं योजना के दौरान कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र की 4.1% की अद्भुत औसत वृद्धि दर दर्ज की गयी, जबकि इस योजना में कृषि क्षेत्र की वृद्धि दर 4.0% निर्धारित की गई थी। ग्यारहवीं योजना में कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र का सकल घरेलू उत्पाद में योगदान (2004-05 की कीमतों पर) 15.2% रहा। कुल रोजगार में कृषि क्षेत्र का हिस्सा 54.6% रहा। (कुल रोजगार में कृषि क्षेत्र का योगदान 2011 की जनगणना के अनुसार 54.6% था जो घटकर 2011-12 में 48.9% रह गया है।) 11वीं योजना के अन्त तक खाद्यान्नों के उत्पादन में कम-से-कम 2 करोड़ टन की वृद्धि के मिशन के अंदाज में राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा मिशन प्रारम्भ किया गया। वर्ष 2011-12 में खाद्यान्न उत्पादन 259.3 मिलियन टन रहा जबकि वर्ष 2007-08 में यह 230.8 मिलियन टन था। इस योजना के दौरान राष्ट्रीय कृषि विकास योजना प्रारम्भ की गई जिसके लिए 25 हजार करोड़ ₹ आवंटित किए गए।

औद्योगिक उत्पादन सूचकांक की औसत वार्षिक वृद्धि दर 11वीं योजना के दौरान 6.88% रही। औद्योगिक क्षेत्र वैशिक मंदी से प्रभावित रहा।

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान आयात-निर्यात (अमेरिकी डॉलर) की औसत वार्षिक वृद्धि दर क्रमशः 22.34% तथा 20.18% रही।

ग्यारहवीं योजना के दौरान औसत बचत दर सं.घ.उ. की 33.46% तथा औसत पूंजी-निर्माण दर सं.घ.उ. की 36.14% रही।

भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी आधारित सेवा उद्योग देश की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है। सकल घरेलू उत्पाद में सेवा क्षेत्र का हिस्सा वर्ष 2007-08 में 52.7% था, बढ़कर ग्यारहवीं योजना के अन्त में वर्ष 2011-12 में 55.7% हो गया। इस योजना के दौरान सेवा क्षेत्र (निर्माण को छोड़कर) की औसत वार्षिक वृद्धि दर 9.76% रही। वर्ष 2011-12 में आई.टी. सूचना प्रौद्योगिकी सेवाओं में 3.0 मिलियन लोग नियोजित थे। वर्ष 2007-08 में सॉफ्टवेयर तथा सेवाओं का निर्यात 40.4 बिलियन अमेरिकी डॉलर था बढ़कर 2011-12 में 68.8 बिलियन अमेरिकी डॉलर हो गया।

भारत के दूरसंचार क्षेत्र का तेजी से विकास हुआ। वर्तमान में चीन के बाद विश्व का दूसरा सबसे बड़ा टेलीफोन नेटवर्क भारत में है। मार्च, 2012 को देश में दूरसंचार उपभोक्ताओं की संख्या 951.35 मिलियन तथा इंटरनेट उपभोक्ताओं की संख्या 2 करोड़ हो गयी थी।

टेली घनत्व जो कि दूरसंचार अभिगम्यता का एक महत्वपूर्ण संकेतक है और प्रति 100 व्यक्तियों पर टेलीफोन संख्या को दर्शाता है, मार्च 2007 में 18.22% से बढ़कर मार्च 2012 में 78.66% हो गया।

बारहवीं पंचवर्षीय योजना (2012-17)

[12th FIVE YEAR PLAN (2012-17)]

पंचवर्षीय योजनाओं की सतत शृंखला में बारहवीं पंचवर्षीय योजना 1 अप्रैल, 2012 से शुरू हो चुकी है। इस योजना के अन्तिम स्वरूप को योजना आयोग की पूर्ण बैठक में 15 सितम्बर, 2012 को स्वीकार किया। बारहवीं पंचवर्षीय योजना को 'तीव्र, धारणीय एवं अधिक समावेशी विकास' (Faster, Sustainable and more Inclusive Growth) के केन्द्रीय दृष्टिकोण के आधार पर तैयार किया गया है। योजना की मुख्य विशेषताएं निम्न प्रकार हैं :

1. विकास लक्ष्य (Development Aim)

बारहवीं योजना में प्रारम्भ में 9% से 9.5% वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य रखा गया था, जिसे अन्तिम रूप से अब 8.2% निर्धारित किया गया है। यह उल्लेखनीय है कि ग्यारहवीं योजना में 8.1% वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य रखा गया था, लेकिन वास्तविक वृद्धि 8% की रही।

2. विकास शीर्षों के अनुसार योजना का अनुमानित परिव्यय

बारहवीं पंचवर्षीय योजना का कुल अनुमानित परिव्यय 76,69,807 करोड़ ₹ है जिसका क्षेत्रवार आबंटन निम्नवत् है :

विकास मद	राशि (करोड़ ₹)	कुल योजना व्यय का प्रतिशत
कृषि एवं सम्बद्ध कार्यकलाप	3,63,273	4.7
ग्रामीण विकास	4,57,464	6.0
विशेष क्षेत्र कार्यक्रम	80,370	1.0
सिंचाई और बाढ़ नियंत्रण	42,20,212	5.5
ऊर्जा	14,38,466	18.8
उद्योग एवं खनिज	3,77,302	4.9
परिवहन	12,04,172	15.7
संचार	80,984	1.1
विज्ञान प्रौद्योगिकी एवं पर्यावरण	1,67,350	2.2
सामान्य आर्थिक सेवाएं	30,56,612	4.0
सामाजिक सेवाएं	26,64,843	34.7
सामान्य सेवाएं	1,07,959	1.4
कुल	76,69,807	100.0

स्रोत : आर्थिक समीक्षा 2013-14. सांख्यिकीय परिशिष्ट पृ. 37.

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि बारहवीं पंचवर्षीय योजना में आधार संरचना अर्थात् ऊर्जा, परिवहन एवं संचार पर 25.6 प्रतिशत व्यय करने का प्रावधान किया गया है। सामाजिक सेवाओं—शिक्षा, स्वास्थ्य आदि पर 34.9 प्रतिशत व्यय का प्रावधान किया गया है। कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्रों, ग्रामीण विकास क्षेत्र विशेष कार्यक्रम तथा सिंचाई और बाढ़ नियंत्रण पर 17.2 प्रतिशत व्यय करने का प्रावधान किया गया है। इसी तरह उद्योग एवं खनिज पर 4.9%, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी पर 2.2%, सामान्य आर्थिक सेवाओं पर 4.0% तथा सामान्य सेवाओं पर 1.4% व्यय की व्यवस्था की गयी है।

3. ऊर्जा (Energy)

यह स्वीकार किया गया है कि ऊर्जा एक मुश्किल क्षेत्र है। देश के पास ऊर्जा संसाधनों की कमी है और आयात पर निर्भरता बढ़ रही है। इसलिए यह आवश्यक है कि ऊर्जा उत्पादों का घरेलू उत्पादन बढ़ाया जाए। इसके लिए ऊर्जा नीति की व्यापक समीक्षा भी करनी होगी।

4. परिवहन (Transport)

तीव्र विकास के लिए कुशल, विश्वसनीय एवं सुरक्षित परिवहन की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से सड़कों, रेलवे, बन्दरगाहों और नागरिक उड्डयन में क्षमता विस्तार एवं आधुनिकीकरण के लिए बड़ी मात्रा में विनियोग करना होगा। सड़क परिवहन में सार्वजनिक निजी साझेदारी (PPP) मॉडल का अधिक व्यापक रूप से प्रयोग किया जाएगा। रेलवे में आधुनिकीकरण को तीव्र प्राथमिकता दी जाएगी। बन्दरगाहों की क्षमता का विस्तार किया जाएगा। वायु-परिवहन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण नगरों को वायु-सम्पर्क से जोड़ने पर जोर दिया जाएगा।

5. ग्रामीण रूपान्तरण (Rural Transformation)

जनगणना 2011 के अनुसार 83.3 करोड़ व्यक्ति ग्रामीण भारत में रहते हैं, जिनमें से अधिकांश फसल कृषि, बागवानी, पशुपालन या मछली पालन पर निर्भर हैं। इस क्षेत्र में निर्धनता को कम करने के लिए फॉर्म क्षेत्र में आय अवसरों का विस्तार करना होगा तथा गैर-कृषि क्रियाओं में व्यक्तियों के प्रगतिशील अवशोषण के प्रयास करने होंगे। बारहवीं योजना में ग्रामीण अवसंरचना को अधिक विस्तृत और सुदृढ़ किया जाएगा। ग्रामीण क्षेत्र में स्वास्थ्य एवं पोषणता पर विशेष ध्यान दिया जाएगा तथा ग्रामीण स्थानीय सरकारों को अधिक अधिकार दिए जाएंगे।

6. कृषि क्षेत्र (Agricultural Sector)

कृषि क्षेत्र में इस प्रकार के प्रयास किए जाएंगे, जिससे 4% वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य प्राप्त किया जा सके। इस दृष्टि से (अ) जल प्रबन्धन में सुधार किया जाएगा, (ब) मिट्टी की उर्वरता का संरक्षण किया जाएगा तथा मिट्टी में पोषणीय तत्वों के कुशल प्रबन्धन के लिए आवश्यक कदम उठाए जाएंगे। (स) रासायनिक उर्वरकों के प्रबन्धन में कुशलता पर ध्यान दिया जाएगा। (द) कृषि उत्पादकता में वृद्धि करने के लिए नवीनतम तकनीकों के प्रयोग एवं नवोन्मेष को प्राथमिकता दी जाएगी। (य) कृषि शोध एवं विकास में विनियोग में वृद्धि की जाएगी। (र) अच्छे बीजों की समय पर उपलब्धि को सुनिश्चित किया जाएगा। (ल) भूमि एवं पट्टा सुधार के क्षेत्र में चल रही समस्याओं का प्रभावशाली समाधान किया जाएगा। (व) डेयरी क्षेत्र को सुदृढ़ किया जाएगा। इनके अतिरिक्त कृषि बीमा का विस्तार किया जाएगा, विपणन व्यवस्था में सुधार किए जाएंगे।

7. निर्माणी क्षेत्र (Manufacturing Sector)

निर्माणी क्षेत्र में ग्राहकों योजना में 10-11 प्रतिशत वृद्धि के लक्ष्य की तुलना में 7.7% की प्राप्ति का अनुमान है। चिन्ता का विषय यह है कि घरेलू राष्ट्रीय उत्पाद में निर्माणी क्षेत्र का भाग मात्र 15% है, जबकि चीन में यह 34% है। इसके साथ ही रोजगार सृजन की दृष्टि से भी इस क्षेत्र का तीव्र विकास चाहनीय है। इस दृष्टि से (i) निर्माणी क्षेत्र को वैश्विक नेटवर्क से एकीकृत किया जाएगा, (ii) भौतिक अवसंरचना में सुधार किया जाएगा, (iii) सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम क्षेत्र की भूमिका में वृद्धि की जाएगी, (iv) कुशल मानव संसाधन की उपलब्धता में वृद्धि के कदम उठाए जाएंगे, (v) निर्माणी क्षेत्र में आने वाली बाधाओं का समाधान करने तथा क्षमता सृजन करने के लिए आवश्यक कदम उठाए जाएंगे, (vi) सार्वजनिक क्षेत्र के उपकरणों में भूमिका को पेशेवर प्रबन्ध के आधार पर सुधारा जाएगा, (vii) निर्यातों को प्रोत्साहित किया जाएगा तथा (viii) व्यावसायिक नियमनात्मक ढांचे को प्रतियोगिता प्रेरित बनाया जाएगा।

8. स्वास्थ्य (Health)

बारहवीं पंचवर्षीय योजना में स्वास्थ्य सुविधाओं और विशेष रूप से महिला एवं बाल स्वास्थ्य की योजनाओं पर विशेष ध्यान दिया जाएगा। इसके लिए स्वास्थ्य अवसंरचना का विस्तार किया जाएगा तथा स्वास्थ्य के लिए मानव संसाधन में वृद्धि की जाएगी। स्वास्थ्य में स्वच्छ पीने के पानी एवं स्वच्छता पर भी विशेष बल रहेगा।

9. शिक्षा एवं दक्षता विकास (Education and Efficiency Development)

बारहवीं पंचवर्षीय योजना में सभी स्तरों—प्राइमरी, सेकण्डरी, हायर सेकण्डरी तथा उच्च शिक्षा को सुदृढ़ करने के लिए सघन प्रयास किए जाएंगे। साथ ही वोकेशनल शिक्षा एवं दक्षता विकास के प्रयासों को भी सुदृढ़ किया जाएगा।

10. नवोन्मेष (Innovation)

2010-2020 तक के दशक को 'नवोन्मेष दशक' की घोषणा के साथ में योजना में इस दिशा में भी विशिष्ट एवं विस्तृत प्रयास किए जाएंगे।

11. रोजगार एवं गरीबी (Employment and Poverty)

बारहवीं पंचवर्षीय योजना में गैर-कृषि क्षेत्र में 5 करोड़ व्यक्ति को रोजगार करने तथा पिछले अनुमान की तुलना में गरीबी को 10% कम करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

12. चालू खाते का घाटा (Current Account Deficit)

चालू खाते का घाटा 1991-92 में 3.1% था, जो 2011-12 में 4.2% हो गया। 2016-17 तक इसे घटाकर 2.9% करने का लक्ष्य रखा गया है। इस सन्दर्भ में प्रधानमन्त्री ने यह भी स्पष्ट किया है कि चालू खाते के ऊंचे घाटे की वित्त-व्यवस्था के लिए विदेशी प्रत्यक्ष निवेश एवं विदेशी संस्थागत निवेश का प्रवाह आवश्यक है।

योजना के मसौदे को स्वीकार करने वाली पूर्ण योजना आयोग की बैठक में प्रधानमन्त्री ने स्पष्ट किया कि "बुनियादी ढांचे का विकास समय की आवश्यकता है। अतः सम्बन्धित मन्त्रालय 12वीं योजना में बड़े लक्ष्य निर्धारित करें। यह भी आवश्यक है कि बुनियादी क्षेत्र के लक्ष्यों को तिमाही आधार पर समीक्षा की जाए।" वैश्विक आर्थिक चुनौतियों का हवाला देते हुए प्रधानमन्त्री ने कहा कि ये अल्पकालिक कठिनाइयां हैं। आने वाले समय में हमारी प्रगति की सम्भावनाओं को लेकर इससे निराश होने की आवश्यकता नहीं है।

बारहवीं योजना (2012-17) का वित्त पोषण

बारहवीं योजना के दौरान सार्वजनिक क्षेत्र आयोजना परिव्यय की समग्र वित्त पोषण पद्धति का विवरण निम्नवत् है :

संसाधन	केन्द्र	राज्य एवं संघ राज्य क्षेत्र	योग
1. चालू राजस्व की शेष राशि	13,87,371	9,59,979	23,47,350
2. उधार (निवल ऐम.सी.आर. एवं अन्य देनदारियों सहित)	21,81,255	15,18,301	36,99,556
3. विदेशों से निवल अंतर्वाह	—	—	—
4. सरकारी क्षेत्र के उद्यमों के संसाधन	16,22,899	3,80,319	20,03,218
5. राज्यों के अपने संसाधन	—	28,58,599	28,58,599
6. राज्यों एवं संघ राज्य क्षेत्रों के लिए केन्द्रीय सहायता	— 8,57,786	8,57,786	—
सरकारी क्षेत्र की आयोजना के संसाधन	43,33,739	65,74,984	1,09,08,723

बारहवीं योजना में सार्वजनिक क्षेत्र के कुल वित्तीय संसाधन 1,09,08,723 करोड़ ₹ हैं जिसमें से केन्द्र सरकार का हिस्सा 43,33,739 करोड़ ₹ तथा राज्य एवं संघ राज्य क्षेत्र का हिस्सा 65,74,984 करोड़ ₹ है।

उपलब्धियां

बारहवीं योजना (2012-17) के प्रथम तीन वर्षों 2012-13, 2013-14 तथा 2014-15 में सकल घरेलू उत्पाद (2011-12 की कीमतों पर) की वृद्धि दर क्रमशः 5.1%, 6.9% तथा 7.4% रही। इन्हीं वर्षों में औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि दर क्रमशः 2.4%, 4.5% तथा 5.9% रही। इसी तरह बारहवीं योजना के प्रथम तीन वर्षों में कृषि क्षेत्र का सं.घ.उ. में क्रमशः 1.2% तथा 3.7% तथा 1.1% का योगदान रहा।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना को विस्तार से समझाइए। इसकी उपलब्धियों की विवेचना कीजिए।
2. भारत में आर्थिक नियोजन की रणनीति की व्याख्या कीजिए।
3. भारत के आर्थिक नियोजन के लिए वित्तीय संसाधन कहाँ से जुटाए जाते हैं? समीक्षात्मक विवेचना कीजिए।
4. बारहवीं पंचवर्षीय योजना पर एक निबंध लिखिए।
5. भारत में आर्थिक नियोजन के प्रमुख उद्देश्य क्या हैं? इन उद्देश्यों को प्राप्त करने में कहाँ तक सफलता मिली है?

14

नवीन आर्थिक सुधार

[NEW ECONOMIC REFORMS]

(उदारीकरण, निजीकरण एवं भूमण्डलीकरण, आर्थिक सुधारों के पीछे तर्क, उदारीकरण, निजीकरण एवं भूमण्डलीकरण की उन्नति)

(LIBERALIZATION, PRIVATIZATION AND GLOBALIZATION, RATIONALE BEHIND ECONOMIC REFORMS, PROGRESS OF LIBERALIZATION, PRIVATIZATION & GLOBALIZATION)

भारत को स्वतन्त्रता 15 अगस्त, 1947 को मिली थी। उस समय खाद्यान्न एवं अनेक उपभोक्ता वस्तुओं का अभाव था। औद्योगिक उत्पादन एवं औद्योगिक इकाइयों की मात्रा अत्यन्त ही सीमित थी। औद्योगिक संरचना के लिए आवश्यक तत्वों का अभाव था। सामाजिक सुविधाएं भी केवल नाममात्र की थीं। देश की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि था। अतः सरकार ने 1 अप्रैल, 1951 से आर्थिक नियोजन की नीति अपनायी जिसके अन्तर्गत पंचवर्षीय योजनाएं प्रारम्भ की गईं। उद्योगों की स्थापना के लिए लाइसेन्स नीति अपनाई गई जिसके अन्तर्गत उद्योगों की स्थापना व संचालन के लिए आवश्यक संरचना का विकास देशी हितों को ध्यान में रखकर किया गया। विदेशी पूँजी भी आमन्त्रित की गई, लेकिन उसे देश के नियमों के अन्तर्गत ही विकसित होने का अवसर दिया गया। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से भी ऋण व सहायता प्राप्त की गई। देश में सार्वजनिक उद्योगों का विकास किया गया। उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन एवं वितरण पर प्रतिबन्ध लगाये गये। कृषि उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए कृषि में यन्त्रीकरण की नीति अपनाई गई।

इससे देश का विकास हुआ। अनेक आधारभूत उद्योग स्थापित हुए जिससे न केवल औद्योगिक उत्पादन ही बढ़ा, परन्तु औद्योगिक वस्तुओं का निर्यात भी किया जाने लगा। कृषि के क्षेत्र में अच्छा विकास हुआ। खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता-सी आयी। सामाजिक क्षेत्र में भी जनसाधारण को अनेक सुविधाएं (जैसे स्कूल, कॉलेज, अस्पताल, बीमा, सड़कें, परिवहन, आदि) मिलने लगीं।

परन्तु इन सबके होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हमारी स्थिति अच्छी नहीं रही। औद्योगिक उत्पादन की गुणवत्ता अन्तर्राष्ट्रीय स्तर से निम्न रही। सार्वजनिक क्षेत्र की अधिकांश इकाइयां पूँजी पर उचित प्रतिफल देने में असमर्थ रहीं। आयात निर्यात से अधिक रहे। अतः विदेशी मुद्रा की कमी सदा ही बनी रही। अतः जुलाई 1991 से आर्थिक सुधार की रणनीति या कार्यक्रम अपनाया गया।

आर्थिक सुधार के उद्देश्य

(OBJECTIVES OF ECONOMIC REFORMS)

“आर्थिक नीति अथवा आर्थिक सुधार का आधारभूत उद्देश्य भारत के लोगों के जीवन की क्वालिटी में तेजी से एवं स्थिरता से सुधार लाना है”¹ वैसे पी. एन. धर ने अपनी पुस्तक *Economic Reforms in India* में निम्नलिखित पांच उद्देश्य बताये हैं :

¹ “The fundamental objective of economic reform is to bring about rapid and sustained improvement in the quality of life of the people of India.”

—Text of Economic Reforms : A Discussion Paper; issued by Govt. of India.

(1) **स्वतन्त्र व्यापार** (Liberalised Trade)—सरकार की रणनीति है कि आयात-निर्यात व्यापार स्वतन्त्र हो तथा आयात-निर्यात शुल्क उन्नत देशों के समान हो जिसमें विवेक आयात लाइसेन्स (Discretionary Import Licensing) न हो सिवाय छोटी अपवाद सूची (Negative list) के।

(2) **स्वतन्त्र विनियम दर** (Free Exchange Rate)—विनियम दर प्रणाली व्यापार के लिए बंटवारा प्रतिबन्ध से स्वतन्त्र हो (Free of allocation restriction for trade)।

(3) **वित्तीय प्रणाली** (Financial System)—वित्तीय प्रणाली ऐसी हो जो प्रतियोगी बाजार वातावरण और विनियमित सुदृढ़ विवेकपूर्ण सिद्धान्त एवं प्रमाप पर आधारित हो।

(4) **कुशल एवं गतिशील औद्योगिक क्षेत्र** (Efficient and Dynamic Industrial Sector)—देश में कुशल एवं शक्तिमान औद्योगिक क्षेत्र हो जिस पर केवल पर्यावरण सुरक्षा, औद्योगिक सुरक्षा, अनुचित व्यापार व एकाधिकार व्यवहार तथा कपटपूर्ण बातों पर ही प्रतिबन्ध हो।

(5) **स्वतन्त्र, प्रतियोगी एवं धारा प्रवाह सार्वजनिक क्षेत्र** (An Autonomous, Competitive and Streamlined Public Sector)—देश में स्वतन्त्र, प्रतियोगी एवं धारा प्रवाह सार्वजनिक क्षेत्र हो जिसमें आवश्यक संरचनात्मक वस्तुएं व सेवाएं बनें।

आर्थिक सुधारों के पीछे तर्क

(RATIONAL BEHIND ECONOMIC REFORMS)

सरकार की वर्तमान आर्थिक सुधार नीति निम्न प्रकार की है जिसे आर्थिक सुधार रणनीति या कार्यक्रम भी कहा जाता है :

(1) **राजकोषीय घाटे को ठीक करना** (Correcting Fiscal Imbalances)—विगत वर्षों में प्रतिवर्ष राजकोषीय घाटा काफी रहा है जिससे भुगतान सन्तुलन में अस्थिरता व मुद्रा-स्फीति बढ़ती रही है। अतः आर्थिक सुधार कार्यक्रम के अन्तर्गत राजकोषीय घाटा कम करने की बात कही गई है। यह घाटा 1990-91 में सकल घेरेलू उत्पाद (GDP) का 6.6 प्रतिशत था जो 2007-08 में 2.5 प्रतिशत रह गया, लेकिन 2012-13 में 5.7 प्रतिशत हो गया। इसके पश्चात् इसमें पुनः गिरावट की प्रवृत्ति दिखाई दी और यह 2014-15 में घट कर 4.1 प्रतिशत रह गया।

(2) **औद्योगिक नीति में सुधार** (Reforms in Industrial Policy)—आर्थिक सुधार कार्यक्रम के अन्तर्गत औद्योगिक नीति में आमूलचूल परिवर्तन किया गया है। (i) औद्योगिक लाइसेन्स प्रणाली समाप्त कर दी गई है। अब केवल 5 उद्योगों को ही स्थापना के लिए लाइसेन्स लेने की आवश्यकता होगी। इस प्रकार 90 प्रतिशत उद्योग लाइसेन्स प्रणाली के बाहर हो गये हैं। इस प्रकार अब क्षमता के विस्तार के लिए सरकार से अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं होगी। (ii) MRTP गृहों को विनियोग व विस्तार के लिए अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं है। (iii) सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित उद्योगों की संख्या 17 से घटाकर 2 (अणु शक्ति एवं रेलवे यातायात) कर दी गई है। (iv) विदेशी तकनीक को भारत में आना आसान कर दिया गया है।

(3) **व्यापार एवं विनियम दर नीतियाँ** (Trade & Exchange Rate Policies)—विगत वर्षों में व्यापार एवं विनियम दर नीतियों पर कड़े सरकारी नियन्त्रण थे, परन्तु अब (i) आयात शुल्क जो काफी थे उन्हें कई Stages में कम कर दिया गया है, जैसे जुलाई 1991 में अधिकतम 150% तक करना, फरवरी 1992 में 110% तक करना, फरवरी 1993 में 85% तक करना व मार्च, 1995 में 50% तक करना। (वर्तमान में यह 20 से 40 प्रतिशत तक कर दी गई है।) (ii) सोना व चांदी के आयात का उदारीकरण करना, (iii) रुपये की विनियम दर विदेशी विनियम बाजार में मांग व पूर्ति के अनुसार निर्धारित होना।

(4) **विदेशी विनियोग नीति** (Foreign Investment Policy)—विदेशी विनियोग नीति देश के औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। अतः 48 प्राथमिकता वाले उद्योगों को, यदि उनकी पूँजी में विनियोग 51 प्रतिशत से अधिक का नहीं है तो उन्हें Automatic Approval माना जायेगा।

(5) **कर सुधार** (Tax Reforms)—सरकार करवंचना को रोकने व अधिक कर वसूल करने के उद्देश्य से करों में सुधार कर रही है जिसके अन्तर्गत चलैया समिति की प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष करों से सम्बन्धित अनेक सिफारिशों को सरकार ने मानकर कार्यरूप में परिणत कर दिया है—(i) व्यक्तिगत आयकर की अधिकतम

दर 30 प्रतिशत कर दी गई है। (ii) छोटे व्यापारियों व दुकानदारों को निश्चित रकम के रूप में देने की सुविधा प्रदान की गई है। (iii) आयातित वस्तुओं पर आयात शुल्क कम कर दिया गया है व आयात-निर्यात शुल्क के ढांचे को सरल बनाया गया है। (iv) उत्पाद शुल्क में भी सरलीकरण किया जा रहा है।

(6) **आर्थिक क्षेत्र में सुधार (Reforms in Financial Sector)**—आर्थिक क्षेत्र में सुधार के लिए सरकार ने यह कार्य किये हैं : (i) बैंकों के लिए नवीन सिद्धान्त बनाये हैं जिससे कि उनके वार्षिक खाते सही स्थिति को बता सकें। (ii) बैंकों के लिए SLR की सीमा घटाई जा रही है जिससे कि उनके पास अधिक कोष रह सकें। (iii) सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों को पूँजी बाजार से अपनी पूँजी एकत्रित करने की अनुमति दे दी गई है, लेकिन 51 प्रतिशत पूँजी सदा ही सरकार के पास रहेगी। (iv) निजी क्षेत्र की बैंकों अपना विकास, बिना राष्ट्रीयकरण के भय के कर सकती हैं। (v) पूँजी बाजार में भी इसी प्रकार के सुधार प्रारम्भ किये गये हैं—सेबी (SEBI) को अब वैधानिक अधिकार (Statutory Powers) दे दिये गये हैं। पूँजी नियन्त्रक का कार्यालय बद्ध कर दिया गया है। सेबी ने पूँजी बाजार को नियमित करने के लिए अनेक नियम व उपनियम लागू किये हैं। राष्ट्रीय स्कंध विनियम स्थापित किया जा चुका है जो अन्य विनियमों के लिए एक मॉडल होगा।

(7) **सार्वजनिक क्षेत्र में सुधार (Reforms in Public Sector)**—सार्वजनिक क्षेत्र ने आशा के अनुरूप कार्य नहीं किया है। अधिकांश इकाइयां घाटे में चल रही हैं जिनका भार परोक्ष रूप से जनसाधारण पर पड़ता है जिससे सामाजिक सेवाएं प्रभावित हो रही हैं, क्योंकि उन्हें पर्याप्त आर्थिक सहायता नहीं मिल पाती है। अतः (i) घाटे वाली इकाइयों को गैर-योजना ऋण नहीं दिये जावेंगे। (ii) लाभ देने वाली सार्वजनिक इकाइयों को अपनी पूँजी का 49 प्रतिशत तक निजी क्षेत्र को देने की अनुमति दे दी गई है।

उदारीकरण, निजीकरण एवं भूमण्डलीकरण की उन्नति

(PROGRESS OF LIBERALIZATION, PRIVATIZATION AND GLOBALIZATION)

वर्तमान आर्थिक नीति या सुधार रणनीति अथवा कार्यक्रम की अनेक आशंकाएं एवं आलोचनाएं हैं और यह भारत के भावी औद्योगिक विकास पर प्रभाव डाल रही हैं जिसका अध्ययन निम्न मद्दों में रखकर कर सकते हैं : (I) उदारीकरण (Liberalisation), (II) निजीकरण (Privatization), (III) भूमण्डलीकरण (Globalisation), (IV) आधुनिकीकरण (Modernisation)।

(I) **उदारीकरण (Liberalisation)**—उदारीकरण का अर्थ नियमों व प्रतिबन्धों में ढील देने या उनमें उदारता बरतने से है।

उदारीकरण नीति के अन्तर्गत सरकार ने 20 अगस्त, 1994 से चालू खाते को पूर्ण परिवर्तनीय बना दिया है। इस नीति के कारण आयातों में कमी होने की सम्भावना है, क्योंकि आयात का मूल्य चुकाने के लिए आयातकर्ता को विदेशी मुद्रा खुले बाजार से क्रय करनी पड़ती है जो सीमित मात्रा में है। इसका कारण हमारे निर्यातों का आयातों से कम होना है।

(II) **निजीकरण (Privatization)**—निजीकरण उदारीकरण का एक पूरक पहलू है। सार्वजनिक उपक्रमों की कार्यकुशलता में कमी तथा भारी घाटे को ध्यान में रखकर सरकार ने ऐसे उपक्रमों का निजीकरण करने की नीति अपनाई है जिसके अन्तर्गत उनका अपनिवेश (Disinvestment) किया जा रहा है अर्थात् उनकी पूँजी या स्वामित्व निजी व्यक्तियों को बेचा जा रहा है। सरकार की नीति सार्वजनिक उपक्रमों की गतिविधियों को सीमित कर उस क्षेत्र में निजी उद्योगपतियों को बढ़ावा देने की है। साथ ही सरकार निजी निगमों व बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को आकर्षक सुविधाएं देकर उनको बढ़ाने का कार्य कर रही है। सरकार का मानना है कि सार्वजनिक उपक्रमों की कमियों को दूर करने का निजीकरण ही एक ठोस कदम है। इस प्रकार सार्वजनिक उपक्रमों को पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से निजी उद्योगपतियों को बेचना निजीकरण कहलाता है।

(III) **भूमण्डलीकरण (Globalisation)**—भूमण्डलीकरण से अर्थ व्यापार का विस्तार भूमण्डल के अधिकांश देशों में होने से है। यह भूमण्डलीकरण बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा किया जाता है। “एक बहुराष्ट्रीय निगम वह है जो अनेक देशों में कार्य करता है; उन देशों में अनुसन्धान, विकास व निर्माण का कार्य करता है; जिसका बहुराष्ट्रीय प्रबन्ध होता है व स्कंध स्वामित्व बहुराष्ट्रीय होता है।” संक्षेप में, बहुराष्ट्रीय निगम एक उद्यम होता है जिसकी क्रियाएं अपने देश से बाहर अनेक देशों तक फैली रहती हैं।

भारत में भूमण्डलीकरण होने से लोगों को भारी शंकाएँ हैं : (i) भारतीय उद्योगों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा। वे विदेशी कम्पनियों द्वारा निर्मित वस्तुओं की क्वालिटी में पीछे रह जायेंगे; (ii) जिससे उद्योग बन्द होने की स्थिति में आ जायेंगे; (iii) उद्योगों को घाटा होगा; (iv) श्रमिकों में बेरोजगारी फैल जायेगी; (v) आगे चलकर यह विदेशी कम्पनियां देश का शोषण करेंगी, आदि; (vi) इन सबसे देश की आत्म-निर्भरता प्रभावित होगी।

(IV) आधुनिकीकरण (Modernisation)—आर्थिक नीति में भारतीय उद्योगों को अधिक प्रतियोगी बनने पर जोर दिया गया है जिसके लिए उद्योगों का आधुनिकीकरण करना होगा, अर्थात् आधुनिक तकनीक को अपनाना होगा व नवीनतम् मशीनों को कारखानों में लाना होगा।

लेकिन भारतीय उद्योगों के लिए आधुनिकीकरण करना आसान नहीं है। इसके प्रमुख कारण हैं—(1) पूंजी का अभाव—यहां मालिकों के पास पूंजी का अभाव है और पूंजी को जुटा पाना उनके लिए आसान नहीं है। देश में वैसे ही पूंजी की कमी है, क्योंकि बचतें सीमित ही हैं। (2) श्रमिकों द्वारा विरोध—भारत में श्रमिक आधुनिकीकरण से बहुत ही डरते हैं। उनका मानना है कि आधुनिकतम् स्वचालित मशीनों के आने से कम श्रमिकों की आवश्यकता होगी। अतः उनके कारखाने में छंटनी होगी जिससे वे प्रभावित होंगे। (3) विदेशी मुद्रा का अभाव—आधुनिकीकरण के लिए मशीनों के आयात हेतु विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होगी। यहां पहले से ही विदेशी मुद्रा का अभाव है। आजकल तो उसे खुले बाजार से क्रय करना पड़ता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. भारत की वर्तमान आर्थिक सुधार कार्यक्रम की विस्तार से व्याख्या कीजिए।
[संकेत—इसमें नीति की विशेषताएँ व आलोचनाएँ देनी हैं।]
2. आर्थिक सुधार कार्यक्रम की आलोचनात्मक व्याख्या—उदारीकरण, निजीकरण एवं भूमण्डलीकरण के सन्दर्भ में कीजिए।
[संकेत—इसमें आर्थिक सुधार की आलोचना देनी है।]

कृषि : स्वभाव एवं महत्व, कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता तथा उत्पादकता निर्धारण के तत्व

[AGRICULTURE : NATURE AND IMPORTANCE, TRENDS IN AGRICULTURAL PRODUCTION AND PRODUCTIVITY AND FACTORS DETERMINING PRODUCTIVITY]

कृषि का महत्व

(IMPORTANCE OR ROLE OF AGRICULTURE)

भारत के आर्थिक विकास में कृषि का महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में, कृषि हमारे देश में केवल जीविकोपार्जन का साधन या उद्योग-धन्धा ही नहीं है, बल्कि अर्थव्यवस्था की रीढ़ की हड्डी है। देश के उद्योग-धन्धे, विदेशी व्यापार, मुद्रा अर्जन, विभिन्न योजनाओं की सफलता एवं राजनीतिक स्थायित्व भी कृषि पर ही निर्भर हैं। एक बार स्वर्गीय पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि “कृषि को सर्वाधिक प्राथमिकता देने की आवश्यकता है। यदि कृषि असफल रहती है तो सरकार एवं राष्ट्र दोनों ही असफल रहते हैं।” कृषि के महत्व को निम्नांकित तथ्यों से अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है :

(1) कृषि में सर्वाधिक रोजगार—भारतीय कृषि 54.6 प्रतिशत जनसंख्या को प्रत्यक्ष रूप से रोजगार देती है। इसके अतिरिक्त कृषि व्यवसाय में करोड़ों लोग लगे हुए हैं जो कृषि सम्बन्धी क्रियाओं में योगदान देते हैं।

(2) राष्ट्रीय आय का महत्वपूर्ण स्रोत—कृषि का राष्ट्रीय आय में महत्वपूर्ण योगदान रहता है। सरकारी आंकड़ों के अनुसार देश की सकल राष्ट्रीय आय में कृषि एवं उससे सम्बन्धित क्षेत्र का हिस्सा 17.6 प्रतिशत है।

(3) उद्योगों का आधार—अधिकांश महत्वपूर्ण भारतीय उद्योगों को कच्चा माल खेती से ही प्राप्त होता है, जैसे सूती वस्त्र, चीनी, चाय, कॉफी, रबड़, वनस्पति धी, तेल सभी उद्योग कच्चे माल के लिए खेती पर निर्भर हैं। लघु उद्योगों में चावल, आटा, तेल व दालें, आदि की मिलों को भी कच्चा माल कृषि से ही मिलता है।

(4) विदेशी व्यापार में महत्व—भारतीय कृषि का विदेशी व्यापार में भी महत्वपूर्ण स्थान है। यहां के कुल निर्यात का लगभग 13.7 प्रतिशत निर्यात कृषि पदार्थ तथा कृषि से सम्बन्धित कच्चे पदार्थों पर आधारित उद्योगों द्वारा किया जाता है।

(5) खाद्यान्नों की पूर्ति—वर्तमान खाद्यान्नों की आवश्यकताओं की लगभग शत-प्रतिशत पूर्ति भारतीय कृषि द्वारा ही की जाती है।

(6) भूमि का सर्वाधिक उपयोग कृषि के लिए—देश के भूमि क्षेत्रफल का सर्वाधिक भाग कृषि के काम आता है। वर्तमान में देश के 32.87 करोड़ हेक्टेअर भूमि के क्षेत्रफल में से 14 करोड़ हेक्टेयर भूमि पर कृषि की जाती है।

(7) राजस्व में योगदान—राजस्व में भी कृषि का अच्छा योगदान है। करोड़ों रुपए की आय प्रति वर्ष लगान व कृषि आय-कर से होती है। इसके अतिरिक्त, कृषि वस्तुओं के निर्यात से भी सरकार को राजस्व मिलता है।

(8) पशुओं का चारा—देश में 47 करोड़ पशु हैं। इनको चारा कृषि से ही प्राप्त होता है।

(9) परिवहन साधनों का मुख्य आधार—परिवहन साधनों—रेलों, मोटरों, बैलगाड़ियों, आदि के लिए खाद्यान्नों तथा अन्य कृषि उत्पादित वस्तुओं का लाना व ले जाना एक मुख्य आधार है। इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि इनके द्वारा जो ढुलाई की जाती है उसमें कृषि का महत्वपूर्ण योगदान है।

(10) अन्तर्राष्ट्रीय महत्व—अन्तर्राष्ट्रीय नवशे में भारत को महत्वपूर्ण स्थान दिलाने में कृषि का उल्लेखनीय स्थान है। भारत का विश्व उत्पादन में चाय व मूँगफली में प्रथम स्थान है जबकि चावल, कपास, गन्ने एवं जूट में दूसरा स्थान है। लाख के उत्पादन में तो भारत का एकाधिकार है।

भारतीय कृषि की प्रकृति एवं मुख्य विशेषताएं

(NATURE OR MAIN CHARACTERISTICS OF INDIAN AGRICULTURE)

भारतीय कृषि की प्रमुख विशेषताएं निम्न प्रकार हैं :

(1) अधिकांश जनसंख्या की आजीविका का साधन—भारत की अधिकांश जनसंख्या की आजीविका का साधन कृषि है। यहां की कार्यशील जनसंख्या का 54.6 प्रतिशत कृषि से आजीविका प्राप्त करता है जिसमें से 24.6 प्रतिशत कृषक के रूप में व शेष मजदूर के रूप में कार्य करते हैं। भारत की कुल जनसंख्या का 68.84 प्रतिशत भाग गांवों में रहता है जहां मुख्य व्यवसाय कृषि ही है।

(2) खाद्यान्न फसलों की प्रमुखता—भारतीय कृषि में दूसरी विशेषता यह है कि यहां पर खाद्यान्न फसलों की प्रचुरता है। यहां जितनी भूमि कृषि के काम में लायी जाती है उसका लगभग 73 प्रतिशत भाग खाद्यान्न फसलों में व शेष 27 प्रतिशत व्यापारिक फसलों के काम में लाया जाता है।

(3) छोटी जोतें—भारत में कृषि जोतों का आकार बहुत छोटा है। यहां की 85 प्रतिशत जोतें 2 हैक्टेयर या इससे छोटी हैं और कुल जोतों का औसत आकार 1.16 हैक्टेयर है, जबकि विदेशों में औसत आकार इससे कई गुना है; जैसे, ऑस्ट्रेलिया 1,993 हैक्टेयर, अर्जेण्टीना 270 हैक्टेयर, कनाडा 188 हैक्टेयर, अमरीका 158 हैक्टेयर तथा ब्रिटेन 55 हैक्टेयर।

(4) उत्पादन की परम्परागत तकनीक—आधुनिक तकनीक के उपलब्ध होने के बावजूद भारतीय कृषि की एक विशेषता यह है कि यहां पर अधिकांश उत्पादन पुरानी परम्परागत तकनीक से होता है जिसमें खुरपी और लकड़ी के हल की ही प्रमुखता है।

(5) निम्न कृषि उत्पादकता—भारतीय कृषि की उत्पादकता बहुत नीची है जो कि प्रति हैक्टेयर एवं प्रति श्रमिक दोनों ही दृष्टि से कम है। भारत में एक हैक्टेयर भूमि में 3,059 किलोग्राम गेहूं पैदा होता है जबकि ब्रिटेन में 7,770 किलोग्राम पैदा होता है। इसी प्रकार भारत में प्रति श्रमिक औसत उत्पादकता 395 डॉलर है, जबकि आस्ट्रेलिया में 31,432 डॉलर, ब्रिटेन में 34,730 डॉलर, जापान में 30,620 डॉलर है।

(6) मानसून पर निर्भरता—भारत में 64 वर्षों के नियोजन के बाद भी मानसून पर निर्भरता में कोई विशेष कमी नहीं हुई है। अभी भी कुल कृषि भूमि का 45 प्रतिशत ही सिंचित क्षेत्र है, 55 प्रतिशत क्षेत्र मानसून पर निर्भर है। यदि वर्षा अच्छी हो जाती है तो कृषि में समृद्धि दिखायी देती है, लेकिन इसके विपरीत यदि वर्षा होती है तो खाद्यान्नों की भारी कमी दिखायी देने लगती है। इसीलिए यह कहा जाता है कि भारतीय कृषि मानसून का जुआ है।

(7) रोजगार का अभाव—भारतीय कृषि की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह सभी कृषकों व कृषि श्रमिकों को पूरे वर्ष भर रोजगार सुविधाएं नहीं दे पाती है। देश के विभिन्न भागों के कृषक 150 व 270 दिन तक बेकार रहते हैं। इसी कारण कहा जाता है कि कृषि में अर्ध-बेरोजगारी की समस्या है।

(8) कम आधिक्य—जैसा कि ऊपर कहा गया है कि भारत में कृषि जोत बहुत छोटी है, अतः किसान उतना ही उत्पादन कर पाता है जितना कि उसको अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक है। इस प्रकार उसके पास विपणन आधिक्य पर्याप्त नहीं होता है। इसी कारण कहा जाता है कि भारतीय कृषि व्यवसाय नहीं बल्कि जीविकोपार्जन का साधन है।

(9) श्रम प्रधानता—भारतीय कृषि में पूँजी के अनुपात में श्रम की प्रधानता है। इसका अर्थ यह है कि भारतीय कृषि श्रम-प्रधान है। इसका कारण खेतों का छोटा होना है जिससे उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है और वह पूँजीगत साधनों और कृषि उपकरणों का उपयोग नहीं कर पाता है।

(10) राष्ट्रीय आय का महत्वपूर्ण स्रोत—राष्ट्रीय आय में कृषि एवं इससे सम्बन्धित क्षेत्र का योगदान 13.9 प्रतिशत है।

राष्ट्रीय कृषि नीति (NATIONAL AGRICULTURAL POLICY)

सर्वप्रथम 22 दिसम्बर, 1992 को कृषि नीति का प्रस्ताव संसद के समक्ष प्रस्तुत किया गया। इसमें इन बातों का उल्लेख किया गया : (1) कृषि को उद्योगों के समान सुविधा देना, (2) कृषि में सरकारी हस्तक्षेप को समाप्त करना, (3) केन्द्र की भूमिका, नीति और दिशा निर्देश को सीमित करना, (4) कृषि नीति का क्रियान्वयन राज्य सरकारों पर, (5) आधुनिक कृषि तकनीकों का व्यापक प्रयोग, (6) कृषि क्षेत्रों के आधारभूत ढांचे के लिए सरकारी एवं गैर-सरकारी संसाधनों का उपयोग करना, (7) कृषि के सहायक उद्योगों को बढ़ावा देना, (8) महंगे बिकने वाले कृषि पदार्थों के उत्पादन को प्रोत्साहन देना, (9) किसानों को कर वसूली एवं नियमों से बरी करना, (10) सिंचाई सुविधाओं का अधिक उपयोग करना, (11) कृषि विकास में गैर-सरकारी संस्थाओं की भूमिका बढ़ाना।

14 मई, 1993 में इसमें एक बात और जोड़ी गई—यदि किसानों की भूमि अनिवार्य रूप से अधिग्रहीत की जाती है तो उन्हें पूंजी लाभ कर से छूट होगी, साथ ही किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य देने का भी सरकारी आश्वासन दिया गया।

जुलाई, 2000 के अन्तिम सप्ताह में भारत सरकार ने अपनी राष्ट्रीय कृषि नीति घोषित की है। इस नीति दस्तावेज में कुल 48 अनुच्छेद हैं जो उद्देश्य, दीर्घकालीन कृषि, खाद्य एवं पोषण सुरक्षा, प्रौद्योगिकी सृजन एवं हस्तान्तरण, आदान प्रबन्ध, कृषि के लिए प्रोत्साहन, कृषि निवेश, संस्थागत संरचना, जोखिम प्रबन्ध, व प्रबन्ध सुधार नामक मर्दों में विभाजित है।

(1) उद्देश्य—राष्ट्रीय कृषि नीति में भारतीय कृषि की विशाल अदोहित क्षमता को वास्तविक रूप देने, तीव्रतर कृषि विकास को समर्थन देने के लिए ग्रामीण अवसंरचना को सुदृढ़ करने, मूल्य प्रवर्धन को बढ़ावा देने, कृषि व्यवसाय की वृद्धि को तीव्रता प्रदान करने, ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार का सृजन करने, किसानों, कृषि मजदूरों और उनके परिवारों का जीवन स्तर सुधारने, शहरी क्षेत्रों में प्रवास को हतोत्साहित करने तथा आर्थिक उदारीकरण और विश्वव्यापीकरण से उत्पन्न चुनौतियों का सामना करने की परिकल्पना है। अगले दो दशकों में इसके मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं :

(i) कृषि क्षेत्र में प्रतिवर्ष 4 प्रतिशत से अधिक वृद्धि दर प्राप्त करना, (ii) वृद्धि, जो संसाधनों के कुशल उपयोग पर आधारित है तथा अपनी मृदा, जल और जैव विविधता का संरक्षण करना, (iii) साम्य वृद्धि, अर्थात् वृद्धि जो क्षेत्र दर क्षेत्र तथा किसान दर किसान व्याप्त है, (iv) ऐसी वृद्धि जो मांग के अनुसार हो और स्वदेशी बाजारों की मांग को पूरा करे तथा आर्थिक उदारीकरण और विश्वव्यापीकरण से उत्पन्न चुनौतियों की स्थिति में कृषि उत्पादकों के निर्यात से अधिकतम लाभ मिल सके, (v) वृद्धि, जो प्रौद्योगिक, पर्यावरणीय तथा वित्तीय रूप से दीर्घकालीन हो।

(2) दीर्घकालीन कृषि—इस नीति में कृषि के दीर्घकालीन विकास को बढ़ावा देने के लिए तकनीकी रूप से ठोस, आर्थिक रूप से व्यवहार्य, पर्यावरण की दृष्टि से अपक्षयी तथा देश के प्राकृतिक संसाधन भूमि, जल और आनुवंशिक सम्पदा को बढ़ावा देने की परिकल्पना है। अप्रयुक्त बंजर भूमि को कृषि और वनरोपण के लिए प्रयोग किया जायेगा। बहुफसलन और फसल गहनता पर विशेष जोर दिया जायेगा।

अपरदित एवं परती भूमि के सुधार को उच्च प्राथमिकता दी जायेगी। मृदा संरक्षण और उर्वरता को बढ़ाने पर विशेष जोर दिया जायेगा। पनधारा आधार पर भूमि संसाधनों के प्रबन्ध पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। पशु आहार और चारा की उपलब्धता में वृद्धि करने के लिए चरागाह भूमि के प्रबन्ध पर अधिक ध्यान दिया जायेगा। भारत का दो-तिहाई फसली क्षेत्र, जो वर्षा पर निर्भर है, के लिए पनधारा दृष्टिकोण के जरिए स्थायी वर्षा सिंचित कृषि हेतु एक दीर्घकालीन योजना पर सक्रिय रूप से अनुसरण किया जायेगा। सिंचाई क्षमता का इष्टतम उपयोग के लिए जल संसाधनों का खेतों पर उचित प्रबन्ध किया जायेगा। जल के अधिक कुशल उपयोग और उत्पादकता में सुधार करने के लिए स्व-स्थाने नमी प्रबन्ध तकनीक जैसे मल्चिंग के उपयोग, टपका, छिड़काव और पादप घर प्रौद्योगिकी जैसी प्लास्टिक और माइक्रो ओवर हैड प्रेसर्ड सिंचाई प्रणालियों के उपयोग को बढ़ावा दिया जायेगा। जल संचार प्रणालियों के प्रबन्ध पर जोर दिया जायेगा। सहभागी सामुदायिक सिंचाई प्रबन्ध को बढ़ावा दिया जायेगा।

समेकित पोषक तत्वों तथा कृषि प्रबन्ध के जरिए बायोमास, कार्बनिक और अकार्बनिक उर्वरकों के सन्तुलित उपयोग तथा कृषि रसायनों के नियन्त्रित उपयोग को बढ़ावा दिया जायेगा।

कृषि वानिकी और सामाजिक वानिकी का विकास किया जायेगा।

(3) खाद्य एवं पोषण सुरक्षा—खाद्य की बढ़ती मांग तथा कृषि उद्योगों के विस्तार के लिए कच्चे माल की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए फसल उत्पादन एवं उत्पादकता बढ़ाने के विशेष प्रयास किए जायेंगे।

ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार सृजन एवं खाद्य आपूर्ति, निर्यात में वृद्धि के लिए वर्षा सिंचित एवं सिंचित बागवानी, पुष्ट कृषि, कन्द और मूल फसलों, बागवानी फसलों, सुगन्धित एवं चिकित्सीय फसलों, मधुमक्खी पालन एवं रेशम कृषि विकास पर मुख्य जोर दिया जायेगा। उन्नत किसों की रोगमुक्त रोपण सामग्री तथा संकर बीजों की उपलब्धता को प्रोत्साहन दिया जायेगा।

पशुपालन, कुकुट पालन, दुग्ध उद्योग तथा जल कृषि के विकास को उच्च प्राथमिकता दी जायेगी।

उत्पादन एवं उत्पादकता स्तर को बढ़ाने के लिए पशु उत्पादन के साथ-साथ स्वास्थ्य के क्षेत्र में उपयुक्त प्रौद्योगिकियों के सृजन एवं विस्तार पर अधिक ध्यान दिया जायेगा। चारा फसलों और चारा वृक्षों की खेती में वृद्धि की जायेगी। बूचड़खानों का आधुनिकीकरण किया जायेगा। पशुपालन, कुकुट पालन और दुग्ध विकास में सहकारिताओं तथा निजी क्षेत्र की भागीदारी को प्रोत्साहित किया जायेगा। समुद्री एवं अन्तर्रेशीय मत्स्यकी पर विशेष ध्यान दिया जायेगा।

(4) प्रौद्योगिकी सृजन एवं हस्तान्तरण—राष्ट्रीय अनुसन्धान प्रणाली के साथ-साथ मालिकाना अनुसन्धान के माध्यम से जैव प्रौद्योगिकी, दूर संवेदन प्रौद्योगिकी, कटाई पूर्व एवं कटाई उपरान्त प्रौद्योगिकी ऊर्जा संरक्षण प्रौद्योगिकी, पर्यावरण संरक्षण प्रौद्योगिकी जैसी उन्नत विज्ञानों के उपयोग को प्रोत्साहन दिया जायेगा। कृषि शिक्षा के सुधार एवं शिक्षा स्तर, महिला अधिकारिता, उपयोगकर्ता उन्मुखन, व्यवसायीकरण एवं श्रेष्ठता को प्रोत्साहन की तरफ इसका झुकाव नई नीति की मुख्य विशेषता होगी।

अनुसन्धान और विस्तार प्रणाली की गुणवत्ता और कुशलता में सुधार करने के लिए अनुसन्धान और विस्तार सम्पर्क को मजबूत किया जायेगा।

(5) आदान प्रबन्ध—सरकार का प्रयास उच्च गुणवत्ता वाले आदानों यानि, बीज, उर्वरक, पौध संरक्षण रसायन, जैव कृमिनाशी, कृषि मशीनरी एवं ऋण को उचित दरों पर तथा समय से एवं पर्याप्त मात्रा में किसानों तक पहुंचाया जायेगा। मिलावटी आदानों की पूर्ति पर रोक लगाई जायेगी। उर्वरकों के सन्तुलित एवं उचित उपयोग को प्रोत्साहित किया जायेगा।

प्राकृतिक आपदाओं से प्रभावित क्षेत्रों को बीज की आपूर्ति सुनिश्चित करने के लिए राष्ट्रीय बीज ग्रिड की स्थापना की जायेगी। निवेश व जनशक्ति के कुशल उपयोग के लिए राष्ट्रीय बीज निगम और भारतीय राज्य फार्म निगम का पुन संगठन किया जायेगा।

(6) कृषि के लिए प्रोत्साहन—सरकार कृषि क्षेत्र को निर्माण क्षेत्र के समान अधिकतम लाभ, यानि ऋण एवं अन्य आदानों की आसानी से उपलब्धता, कृषि वाणिज्य उद्योगों के विकास के लिए अवसंरचना सुविधाएं तथा प्रभावी वितरण प्रणाली का विकास एवं कृषि उत्पादों के गमन को बन्धनमुक्त करने का प्रयास करेगी।

कृषि पर विश्व व्यापार संगठन समझौते के अनुसार आयातों पर परिमाणात्मक प्रतिबन्धों को हटाये जाने के बाद निर्यात बढ़ाने के लिए विश्व बाजार में होने वाली मूल्य अस्थिरता के प्रतिकूल प्रभाव से उत्पादकों को संरक्षित करने के लिए सामग्रीवार रणनीतियों एवं व्यवस्थाओं का प्रतिपादन किया जायेगा। बागवानी उत्पादों और समुद्री उत्पादों के निर्यात पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। कृषि निर्यातों के प्रवर्धन के लिए एक अनुकूल आर्थिक वातावरण और सहायक सार्वजनिक प्रबन्ध प्रणाली तैयार की जायेगी।

घरेलू कृषि संगरोधात्मक प्रतिबन्धों को हटाने के सन्दर्भ में किसानों के हितों की रक्षा की जायेगी। कृषि में प्रयुक्त निर्मित वस्तुओं पर आयात शुल्क को तर्कसंगत बनाया जायेगा। मण्डी क्षेत्र को उदार बनाया जायेगा और कृषि आय वृद्धि में व्यवधान डालने वाले सभी नियन्त्रणों और शर्तों की समीक्षा की जायेगी और उन्हें समाप्त किया जायेगा। ऐसी सभी प्रणालियों तथा नीतियों को समाप्त किया जायेगा जो किसानों को उनके प्रयासों, निवेश तथा जोखिम के अनुपात में इन्हें मूल्य प्राप्त करने में बाधक हैं। पूरे देश में सभी कृषि जिन्सों के अवाधित आवागमन की अनुमति देने का प्रयास किया जायेगा।

(7) कृषि निवेश—कृषि क्षेत्र में पूंजी की कमी नहीं हो अतः क्षेत्रीय असन्तुलनों को कम करने के लिए, कृषि एवं ग्रामीण विकास की सहायक अवसंरचना के त्वरित विकास के लिए विशेष रूप से गांवों के सम्बन्ध में सार्वजनिक निवेश को बढ़ावा दिया जायेगा।

कृषि में निजी क्षेत्र के निवेश, विशेष कर कृषि अनुसन्धान, मानव संसाधन विकास, फसलोपरान्त प्रबन्धन व विपणन जैसे क्षेत्रों में निजी क्षेत्र के निवेश को प्रोत्साहित किया जायेगा।

ग्रामीण विकास के लिए प्रथम प्रयास के रूप में गांवों में विद्युतीकरण को उच्च प्राथमिकता दी जायेगी।

सिंचाई क्षमता के सृजन तथा उपयोग के बीच की खाई को पाटा जायेगा। सभी चालू परियोजनाओं को पूरा करने पर विशेष ध्यान दिया जायेगा ताकि सिंचाई जल की उपलब्धता व उसके उपयोग में वृद्धि की जा सके।

विपणन अवसंरचना, परिरक्षण, भण्डारण और परिवहन तकनीकों के विकास पर जोर दिया जायेगा। हाटों को उन्नयित और सुदृढ़ बनाया जायेगा। सीधे विपणन और रेहन वित्त पोषण का संवर्धन किया जायेगा। गांवों में भण्डारण सुविधाओं का सृजन किया जायेगा। शीत शृंखलाओं की स्थापना की जायेगी।

कृषि प्रसंस्करण इकाइयों की स्थापना की जायेगी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में आफ फार्म रोजगार सृजन को प्रोत्साहन दिया जायेगा। लघु कृषक कृषि व्यवसाय सहायता संघ में शक्ति संचार किया जायेगा।

(8) संस्थागत संरचना—ग्रामीण विकास तथा भूमि सुधार हेतु निम्नलिखित क्षेत्रों पर ध्यान केन्द्रित किया जायेगा :

(i) पूरे देश में जोतों का समेकन, (ii) निर्धारित सीमा से अधिक और परती भूमि का भूमिहीन किसानों, बेरोजगार युवकों में प्रारम्भिक पूंजी के साथ पुनः वितरण, (iii) पट्टेदारों तथा फसल पट्टेदारों के अधिकारों को मान्यता देने के लिए पट्टेदारी सुधार, (iv) खेती व कृषि व्यापार हेतु निजी भूमि पट्टे पर देने के वास्ते वैधानिक प्रावधान करके जोतों के आकार में वृद्धि करने की दृष्टि से पट्टा बाजारों का विकास, (v) भूमि अधिलेखों का अद्यतन सुधार, कम्प्यूटरीकरण तथा किसानों को भूमि पास-बुक जारी करना, (vi) भूमि में महिला अधिकारों को मान्यता।

बचतों, निवेशों तथा जोखिम प्रबन्धन के संवर्धन के लिए ग्रामीण ऋण संस्थाओं के कार्यों को और तेज किया जायेगा।

गरीबी उन्मूलन हेतु व्यष्टि ऋण को प्रभावी आय के रूप में प्रोत्साहित किया जायेगा।

उद्यम के सहभागी रूप को बढ़ावा देने के लिए सरकार सक्रिय सहायता देगी। इसके लिए अत्यधिक सरकारी नियन्त्रण एवं राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्ति दिलाई जायेगी।

(9) जोखिम प्रबन्ध—राष्ट्रीय कृषि बीमा स्कीम को अधिक किसान उन्मुखी एवं प्रभावी बनाया जायेगा। कृषि उत्पादों के मूल्यों में बाजारी उतार-चढ़ाव सहित बुवाई से फसल कटाई तक किसानों को बीमा पॉलिसी पैकेज उपलब्ध कराने का प्रयास किया जायेगा।

कृषि को सूखा और बाढ़ से बचाने के लिए आपातकालीन कृषि नियोजन, सूखा एवं बाढ़ प्रतिरोधी फसल किस्मों का विकास, पनधारा विकास कार्यक्रमों, बाढ़ प्रवण क्षेत्र एवं मरुस्थल विकास कार्यक्रमों एवं ग्रामीण अवसंरचना विकास कार्यक्रमों पर विशेष ध्यान दिया जायेगा।

कृषि जिन्सों हेतु न्यूनतम समर्थन मूल्य नीति जारी रहेगी तथा विपणन कार्यों में लगे सार्वजनिक एवं सहकारी अभिकरणों को सुदृढ़ किया जायेगा।

(10) प्रबन्ध सुधार—नीतिगत प्रयासों के प्रभावी क्रियान्वयन के लिए केन्द्र एवं राज्य सरकारों द्वारा कृषि प्रबन्धन में व्यापक सुधार किये जायेंगे। किसानों की आदान एवं अन्य समर्थन सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार किया जायेगा। निर्यात संवर्द्धन के लिए कृषि उत्पादों के श्रेणीकरण एवं मानकीकरण को प्रोत्साहन दिया जायेगा तथा कृषि में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के प्रयोग को प्रोत्साहित किया जायेगा।

अनुमान एवं भविष्यवाणी को अधिक विश्वसनीय बनाया जायेगा। जोखिम प्रबन्ध एवं विकास प्रक्रिया को तेज करने के लिए आंकड़ों का संग्रहण, मिलान, मूल्य संयोजन एवं समुचित स्थानों पर इसके वितरण हेतु, दूर-संवेदी एवं सूचना प्रौद्योगिकी के उपयोग एवं सुधार लाने के प्रयास किए जायेंगे।

राष्ट्रीय कृषि नीति की आलोचना (CRITICISM OF NATIONAL AGRICULTURAL POLICY)

राष्ट्रीय कृषि नीति की आलोचना निम्न आधारों पर की जा रही है :

(1) मांसाहार को प्रोत्साहन—इस नीति में मांसाहार को प्रोत्साहन दिया गया है जो भारतीय परम्परा से मेल नहीं खाती है। मांस के खाने से न तो सामाजिक न्याय होता है और न खाद्यान्न सुरक्षा।

(2) मांग-आधारित कृषि उत्पादन को बढ़ावा देना—यह उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि इससे वाणिज्यिक खेती को बढ़ावा मिलेगा और खाद्यान्नों का उत्पादन घटेगा जिससे देश में खाद्यान्नों की कमी हो जायेगी।

(3) स्प्रिंकलर तथा ड्रिप सिंचाई पद्धति को बढ़ावा—नीति में इस साधन को बढ़ाने की बात कही गई है। इन उपकरणों पर सरकार भारी अनुदान भी दे रही है जिससे भूमिगत जल के अति विदोहन को बढ़ावा मिल रहा है। आवश्यकता यह थी कि जल संग्रहण के लिए अनुदान दिया जाना चाहिए था। स्प्रिंकलर के स्थान पर चेक डैम और जोहड़ पर अनुदान दिया जाना चाहिए।

(4) निश्चित नीति कार्यक्रम का अभाव—नीति में कहा गया है कि अप्रयुक्त बंजर भूमि को कृषि और वनरोपण के लिए प्रयोग में लाया जायेगा। लेकिन इसके लिए कोई नीति कार्यक्रम का उल्लेख नीति में नहीं किया गया है। इसी प्रकार राष्ट्रीय बीज निगम व राज्य फार्म निगमों के पुनर्गठन की बात नीति में कही गई है लेकिन यह कैसे किया जायेगा इसका उल्लेख नीति में नहीं है।

भारत में भूमि उपयोग ढांचा या बनावट

(LAND-USE PATTERN IN INDIA)

भारत में भूमि का क्षेत्रफल 328.73 मि. हैक्टेयर है, लेकिन जिसमें से 305.61 मि. हैक्टेयर भूमि के आंकड़े ही उपलब्ध हैं, जिसका विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है :

विवरण	क्षेत्र (मि. हैक्टेयर)	सूचित क्षेत्र का %
1. वन	70.04	22.92
2. ऊसर तथा गैर कृषि उपयोग के अधीन	42.95	14.06
3. परती भूमि को छोड़कर अन्य गैर कृषि भूमि	26.36	8.62
4. परती भूमि	26.24	8.58
5. निवल बोया गया क्षेत्र (कृषि भूमि)	140.02	45.82
	305.61	100.00

स्रोत : भारतीय कृषि स्थिति 2012-13, पृ. 175

स्पष्ट है कि कुल भूमि के 45.82% क्षेत्र में कृषि की जा रही है। यह उल्लेखनीय है कि 52.18 मि. हैक्टेयर क्षेत्र का एक बार से अधिक बोया जाता है और इस प्रकार कुल फसलगत क्षेत्र 192.20 मि. हैक्टेयर है।

भूमि उपयोग ढांचे या बनावट में परिवर्तन (CHANGES IN LAND-USE PATTERN)

पिछले कुछ वर्षों में भूमि उपयोग बनावट में परिवर्तन आया है : (1) 1950-51 में गैर कृषि कार्यों के लिए भूमि का उपयोग 94 लाख हैक्टेयर था जो बढ़कर 2009-10 में 264 लाख हैक्टेयर हो गया है। (2) इसी प्रकार कृषि के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्रफल भी पिछले 68 वर्षों में बढ़ा है। उदाहरण के लिए, 1950-51 में 11.87 करोड़ हैक्टेयर भूमि पर कृषि होती थी लेकिन अब 14 करोड़ हैक्टेयर भूमि पर खेती होती है। (3) यही नहीं सिंचाई सुविधाओं में वृद्धि होने के कारण अब एक ही भूमि पर कई फसलें ली जा रही हैं, जैसे पहले 1.31 करोड़ हैक्टेयर भूमि पर एक से अधिक फसलें होती थीं अब यह बढ़कर 5.22 करोड़ हैक्टेयर भूमि हो गया है। (4) इस प्रकार बेकार पड़ी भूमि की मात्रा भी अब धीरे-धीरे कम होती जा रही है। इसके प्रमुख कारण हैं बढ़ती हुई जनसंख्या व औद्योगीकरण।

भविष्य में भूमि की मांग बराबर बढ़ेगी। अतः आवश्यकता इस बात की है कि भूमि उपयोग के सम्बन्ध में उचित नीति बनाई जाए व उसको कड़ई से लागू किया जाए। वर्तमान नीति अधिक समय तक न तो चल सकती है और न ही वह विकास के लिए सक्षम है। इससे पर्यावरण भी भारी मात्रा में प्रभावित होगा जो जीवन के प्रमाण को बदल देगा। अधिक बार कृषि करने से भूमि का क्षरण ही होगा अतः भूमि की उर्वरकता को भी बनाए रखना आवश्यक होगा।

कृषि उत्पादकता से अर्थ

(MEANING OF AGRICULTURAL PRODUCTIVITY)

कृषि उत्पादकता से अर्थ दो प्रकार से लगाया जाता है—एक तो प्रति हेक्टेएर कृषि उपज से व दूसरे प्रति व्यक्ति उपज के मूल्य से।

प्रति हेक्टेएर कृषि उपज से अर्थ है कि एक हेक्टेएर में कितना उत्पादन होता है। यही उस खेत की उत्पादकता है।

कृषि उत्पादकता का दूसरा अर्थ प्रति श्रमिक उपज के मूल्य से है अर्थात् एक खेत की कुल उपज के मूल्य में उसमें कार्य करने वाले श्रमिकों का भाग देकर जो फल आता है वह उस खेत की प्रति श्रमिक उत्पादकता है।

कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता की प्रवृत्ति

(TRENDS IN AGRICULTURAL PRODUCTION AND PRODUCTIVITY)

कृषि उत्पादन की प्रवृत्तियाँ

भारत में कृषि उत्पादन की प्रवृत्तियों को निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है :

(1) खाद्यान्न उत्पादन—सन् 1950-51 में देश में खाद्यान्नों का कुल उत्पादन 50.8 मि. टन था, जो 2014-15 में 252.7 मि. टन हो गया। इस प्रवृत्ति को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :

वर्ष	उत्पादन (मि. टन)	वर्ष	उत्पादन (मि. टन)
1950-51	50.8	1990-91	176.4
1960-61	82.0	2000-01	196.8
1970-71	108.4	2010-11	244.5
1980-81	129.6	2014-15	252.7

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि सन् 2014-15 के खाद्यान्न उत्पादन 252.7 मि. टन के उच्च स्तर पर पहुंच गया था। कुल मिलाकर योजनाकाल में खाद्यान्न उत्पादन लगभग 5 गुना से अधिक हो गया है।

खाद्यान्न उत्पादन में विभिन्न खाद्यान्नों के उत्पादन की प्रवृत्ति निम्न प्रकार रही है :

(उत्पादन मि. टन)

	1950-51		2014-15	
	उत्पादन	प्रतिशत	उत्पादन	प्रतिशत
चावल	20.6	40.6	104.8	41.5
गेहूं	6.4	12.6	88.9	35.1
मोटे अनाज	15.4	30.3	41.7	16.5
दालें	8.4	16.5	17.2	6.8
योग	50.8	100.0	252.7	100.0

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि

- (i) निरपेक्ष रूप से सभी अनाजों एवं दालों के उत्पादन में वृद्धि हुई है।
- (ii) चावल की महत्वपूर्ण रिथिति बनी रही है और कुल खाद्यान्नों में इसका कुल भाग लगभग समान बना रहा है।
- (iii) गेहूं के उत्पादन में सर्वाधिक वृद्धि हुई है और योजनाकाल में इसका उत्पादन 14 गुना हो गया है। कुल खाद्यान्नों के उत्पादन में गेहूं का भाग 1950-51 में 12.6% था, जो 2014-15 में 35.1% हो गया।
- (iv) मोटे अनाजों का उत्पादन योजनाकाल में 2.7 गुना हो गया है, लेकिन कुल खाद्यान्नों में इनका योग 30.3% से घटकर 16.5% रह गया है।

- (v) दालों के उत्पादन में तुलनात्मक रूप से सबसे कम वृद्धि हुई है और योजनाकाल में इनका उत्पादन 2 गुना हुआ है। कुल खाद्यान्सों में दालों का भाग 16.5% था, जो घटकर 2014-15 में 6.8% रह गया।

(2) वाणिज्यिक फसलें—वाणिज्यिक फसलों के उत्पादन की प्रवृत्ति का अध्ययन निम्न दो भागों में बांटकर किया जा सकता है :

(अ) तिलहन, कपास, जूट एवं गन्ना :

फसल	इकाई	1950-51	2014-15
तिलहन	लाख टन	62	267
कपास	लाख गांठें	30	355
जूट	लाख गांठें	33	109
गन्ना	लाख टन	571	3,593

(ब) बागान फसलें : (मि. टन)

वर्ष	चाय	कॉफी	रबड़
1960-61	0.3	नगण्य	नगण्य
1980-81	0.6	0.1	0.2
2000-01	0.8	0.3	0.6
2010-11	1.0	0.3	0.8
2014-15	1.0	0.3	0.9

कृषि उत्पादकता की प्रवृत्तियां

योजनाकाल में देश में कृषि क्षेत्र में दो क्रान्तियों ने जन्म लिया है—हरित क्रान्ति (Green Revolution) तथा पीत क्रान्ति (Yellow Revolution)। हरित क्रान्ति के फलस्वरूप 1960 और 1970 के दशक में गेहूं में और बाद में चावल के उत्पादन में भी तेजी से वृद्धि हुई। पीत क्रान्ति के फलस्वरूप तिलहनों के उत्पादन में तीव्र वृद्धि हुई। योजनाकाल में देश में कृषि उत्पादकता की प्रगति निम्न प्रकार है—

(1) खाद्यान्स फसलें—प्रमुख खाद्यान्स फसलों में उत्पादकता की प्रवृत्ति को निम्न तालिका में स्पष्ट किया गया है— (किग्रा. प्रति हेक्टेअर)

फसल	1950-51	2000-01	2014-15
चावल	668	1,901	2,390
गेहूं	655	2,708	2,872
ज्वार	353	764	953
बाजरा	288	688	1,272
मक्का	547	1,822	2,557
दालें	441	544	744

उपर्युक्त तालिका के विश्लेषण से स्पष्ट है कि,

- (i) योजनाकाल में सभी खाद्यान्स फसलों की उत्पादकता में वृद्धि हुई है।
- (ii) चावल की उत्पादकता 1950-51 में 668 किग्रा प्रति हेक्टेअर थी, जो सन् 2014-15 में 2,390 किग्रा हो गयी। इस तरह चावल की उत्पादकता 3.5 गुनी से अधिक हो गयी है।
- (iii) गेहूं की उत्पादकता में सर्वाधिक उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। यह सन् 1950-51 में 655 किग्रा थी, जो 2014-15 में 2,872 हो गयी। इस प्रकार गेहूं की उत्पादकता लगभग 4 गुना हो गयी है।
- (iv) ज्वार और बाजरा की उत्पादकता क्रमशः लगभग 2.6 और 4 गुनी तथा मक्का की उत्पादकता भी लगभग 4.7 गुनी हो गयी है।

(v) दालों की उत्पादकता में धीमी गति से प्रगति हुई है। सन् 1950-51 में यह 441 किग्रा थी, जो 2014-15 में 744 किग्रा हो गयी। इस तरह दालों की उत्पादकता लगभग 1.7 गुनी हो गयी है।

(2) वाणिज्यिक फसलें—वाणिज्यिक फसलों में उत्पादकता की प्रवृत्ति निम्न प्रकार रही है—

(किग्रा प्रति हेक्टेएर)

फसलें	1950-51	2000-01	2010-11	2014-15
तिलहन	481	810	1,193	1,037
गन्ना (टन/हेक्टेएर)	33	69	70.1	70
कपास	88	190	499	461
जूट	1,044	1,867	2,329	2,627
आलू (टन/हेक्टेएर)	7	18	18.6	22
चाय	876	1,673	1,695	2,170
काफी	NA	959	838	766
रबड़	NA	1,576	1,211	994

उपर्युक्त तालिका के विश्लेषण से स्पष्ट है कि—

- (i) योजनाकाल में सभी वाणिज्यिक फसलों की उत्पादकता में वृद्धि हुई है।
- (ii) सन् 1950-51 में तिलहन में उत्पादकता 481 किग्रा थी, जो 2014-15 में 1,037 किग्रा हो गयी।
- (iii) गन्ना की उत्पादकता सन् 1950-51 में 33 टन प्रति हेक्टेएर थी, जो 2014-15 में 70 टन प्रति हेक्टेएर हो गयी। इस तरह गन्ना की उत्पादकता दो गुनी से अधिक हो गयी है।
- (iv) कपास और जूट की उत्पादकता क्रमशः लगभग 5 गुनी एवं 2.6 गुनी तथा आलू की उत्पादकता लगभग 3 गुनी हो गयी है।
- (v) चाय की उत्पादकता 1950-51 में 876 किग्रा थी, जो सन् 2014-15 में 1,730 किग्रा हो गई।

कृषि वृद्धि एवं उत्पादकता को प्रभावित करने वाले कारक

(FACTORS INFLUENCING PRODUCTIVITY AND GROWTH)

अथवा

भारत में निम्न कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता के कारण

(CAUSES OF LOW AGRICULTURAL PRODUCTION AND PRODUCTIVITY IN INDIA)

भारतीय कृषि में निम्न उत्पादकता या पिछड़ेपन होने के कई कारण हैं जिनको पांच भागों में विभाजित किया जा सकता है—(I) प्राकृतिक कारण, (II) तकनीकी कारण, (III) आर्थिक कारण, (IV) संस्थागत कारण, (V) अन्य कारण। इन्हीं कारणों को उत्पादकता निर्धारण के तत्व भी कहते हैं।

(I) प्राकृतिक कारण

भारत की कृषि प्रकृति पर निर्भर है जिसमें विशेष रूप से वर्षा पर। वर्षा निश्चित नहीं है कभी अधिक व कभी न्यून हो जाती है। इसी कारण भारतीय कृषि को 'मानसून का जुआ' कहा जाता है।

(1) मिट्टी में दोष—भारतीय मिट्टी में भी कुछ दोष पाया जाता है जिससे उसकी उत्पादकता कम हो जाती है; जैसे यहां की मिट्टी में नाइट्रोजन की कमी, भूमि का कटाव, पानी का भरना, आदि पाया जाता है।

(II) तकनीकी कारण

तकनीकी कारणों में उत्पादन की पुरानी तकनीक, अच्छे बीजों व रासायनिक खादों के उचित प्रयोग का अभाव, अपर्याप्त सिंचाई सुविधाएं, फसलों की सुरक्षा का अभाव, आदि हैं जिनका विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है :

(2) उत्पादन की पुरानी तकनीक—आज भी अधिकांश किसान उत्पादन की पुरानी तकनीक लकड़ी का हल व खुरपी को ही काम में ला रहे हैं, जबकि बाजार में आधुनिक इस्पात के हल, ट्रैक्टर, थ्रेसिंग मशीन, पानी के लिए डॉगल पम्प, आदि उपलब्ध हैं।

(3) अच्छे बीजों व रासायनिक खादों के उचित प्रयोग का अभाव—भारत में कृषि उत्पादन के कम होने का एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि भारतीय किसान अच्छे उन्नत बीजों का उपयोग नहीं करता है। वह अपनी भूमि पर उत्पादित फसल को ही बीज के लिए काम में लाता है जो अधिकांशतः अच्छे बीज नहीं होते हैं। साथ ही वह परम्परावादी होने के कारण अच्छी रासायनिक खादों का प्रयोग भी नहीं करता है। भारत में रासायनिक खादों का प्रयोग प्रति हेक्टेएर में 144 किलोग्राम है जो कि बहुत ही कम है, जबकि अन्य देशों में खादों का प्रयोग बहुत अधिक है; जैसे—जापान 365 किलोग्राम, बेल्जियम 276 किलोग्राम, संयुक्त अरब गणराज्य 400 किलोग्राम।

(4) अपर्याप्त सिंचाई सुविधाएं—भारत में सिंचाई सुविधाएं पर्याप्त मात्रा में न होने के कारण भी कृषि उत्पादन कम ही होता है। भारत में केवल 45 प्रतिशत भूमि को ही सिंचाई सुविधाएं मिल पाती हैं। शेष मानसून पर निर्भर है।

(5) फसलों की सुरक्षा का अभाव—भारत में न्यून उत्पादकता का एक कारण फसलों की कीड़े-मकोड़े व रोगों से सुरक्षा न कर पाना भी है। राष्ट्रीय व्यावहारिक आर्थिक शोध संस्थान के अनुसार भारत में कुल खाद्यान्नों का 16 प्रतिशत इन कीड़ों व रोगों से नष्ट हो जाता है।

(III) आर्थिक कारण

(6) पर्याप्त वित्त का अभाव—भारतीय कृषकों के बारे में कहा जाता है कि वे सदा ही ऋणों से दबे रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वे अपने कृषि व्यवसाय में उत्पादन वृद्धि के लिए धन का विनियोजन करने में असमर्थ रहते हैं। जब कृषि में आधारभूत आदानों (inputs) की कमी रहती है तो उत्पादन भी कम ही होता है।

(7) साख ढांचे की अपर्याप्तता (Inadequacy of the Credit Structure)—देश में अभी भी कृषि साख की व्यवस्था दोषपूर्ण एवं अपर्याप्त है। अधिकांश अल्पविकसित देशों में अभी भी ग्रामीण साहूकार, महाजन, भूमिपति कृषि साख के प्रमुख स्रोत बने हुए हैं। कृषि वित्त के ये गैर-संस्थागत स्रोत कड़ी शर्तों तथा ऊंची ब्याज दर पर ऋण प्रदान करते हैं तथा कृषक का हर तरह से शोषण करते हैं। संस्थागत साख के अभाव में कृषकों को पूरी तरह से इन्हीं स्थानीय स्रोतों पर कृषि ऋण के लिए निर्भर रहना पड़ता है। इस प्रकार अपर्याप्त साख-व्यवस्था के फलस्वरूप कृषि का आधुनिकीकरण एवं यन्त्रीकरण नहीं हो पाता तथा भूमि-सुधार जैसे कार्यक्रम चलाने में कठिनाई आती है। इसका परिणाम यह होता है कि इन देशों में कृषि उत्पादन तथा उत्पादकता का स्तर निम्न बना रहता है।

(8) अनुपयुक्त कीमत नीति (Inappropriate Price Policy)—कृषि के पिछड़ेपन का एक प्रमुख कारण उपयुक्त एवं निश्चित कृषि नीति का न होना भी है। कृषि कीमतों का निर्धारण बाजार की स्वतन्त्र शक्तियों द्वारा होता है और कृषक को इन्हीं प्रचलित बाजार कीमतों पर अपनी उपज बेचनी पड़ती है। एक उपयुक्त नीति के अभाव में किसानों को पर्याप्त आय नहीं हो पाती जिससे उत्पादन बढ़ाने के लिए निवेश की प्रेरणा कम रहती है।

(IV) संस्थागत कारण

संस्थागत कारणों में दो कारण हैं—जोतों का आकार छोटा होना व भूमि व्यवस्था।

(9) जोतों का आकार छोटा होना—उत्पादन कम होने में एक कारण जोतों का छोटा होना है। यहां पर जोतों का औसत आकार 1.16 हेक्टेएर है, जबकि अन्य देशों में औसत आकार बहुत अधिक है, जैसे—ऑस्ट्रेलिया में 1,993, अर्जेण्टीना में 270, कनाडा में 188 व अमरीका में 158 हेक्टेएर है। इसके साथ-साथ हमारे देश की 67 प्रतिशत जोतें 1 हेक्टेएर से भी कम हैं तथा 28 प्रतिशत जोतें 1 हेक्टेएर से 4 हेक्टेएर तक के मध्य में हैं। इस प्रकार यहां 95 प्रतिशत जोतें 4 हेक्टेएर तक की हैं।

(10) भूमि व्यवस्था—भारत में यद्यपि जमींदारी प्रथा समाप्त हो चुकी है तथा भूमि-सुधार लागू हैं फिर भी अनेक क्षेत्रों में वास्तविक रूप में कृषकों को भूमि उपलब्ध नहीं हो पायी है। यहीं कृषि भूमि का वितरण असमानता लिए हुए है। देश में अधिकांश कृषक सीमांत एवं भूमिहीन हैं। जिन व्यक्तियों के पास बड़े-बड़े खेत हैं वे अपने खेतों को पट्टेदारी व आध-बंटाई पर दे देते हैं। इस प्रकार जो व्यक्ति खेतों की जुताई, आदि कार्य करते हैं वे भूमि के स्वामी न होने के कारण कृषि क्रियाओं पर उचित ध्यान नहीं देते हैं जिसके फलस्वरूप उत्पादन कम मात्रा में होता है।

(V) अन्य कारण

(11) कृषकों का परम्परावादी दृष्टिकोण—भारतीय कृषि उत्पादकता के कम होने में एक महत्वपूर्ण कारण कृषकों का परम्परावादी दृष्टिकोण है जिसके अनुसार वे आधुनिक तकनीक को अपनाने में सकुचाते हैं। इसके लिए कृषकों की अशिक्षा, अज्ञान तथा अन्धविश्वास उत्तरदायी हैं।

(12) कृषि पर जनसंख्या वृद्धि का बढ़ता हुआ भार—भारतीय कृषि पर जनसंख्या का दबाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। 1901 की जनगणना के अनुसार भारत में प्रति व्यक्ति क्षेत्रफल 1.11 हेक्टेअर था जो वर्तमान में घटकर 0.38 हेक्टेअर रह गया है। यह भी कृषि की न्यून उत्पादकता का एक कारण है।

(13) सामाजिक संगठन—कृषकों का सामाजिक संगठन भी न्यून उत्पादन के लिए उत्तरदायी है। इसमें संयुक्त परिवार प्रणाली का बोलबाला है जिसमें प्रेरणा का अभाव है। साथ ही जाति प्रथा के कारण समाज के द्वारा भी पूर्ण सहयोग नहीं दिया जाता है। इस प्रकार प्रेरणा व प्रलोभन के अभाव में प्रोत्साहन न मिलने के कारण उत्पादन कम ही होता है।

(14) कृषि अनुसन्धान की जानकारी का अभाव—यद्यपि भारत में कृषि अनुसन्धान पर काफी जोर दिया जा रहा है, लेकिन फिर भी कृषि अनुसन्धान के परिणाम कृषकों तक नहीं पहुंच पाते हैं और इस प्रकार वे अपने प्रयत्नों में उन अच्छी बातों को शामिल नहीं कर पाते हैं जिनसे उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है।

कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता को बढ़ाने के लिए सुझाव

(SUGGESTIONS FOR IMPROVEMENT OF AGRICULTURAL PRODUCTIVITY)

कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता को बढ़ाने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं :

(1) नवीन तकनीकों एवं उनके प्रयोग का व्यापक प्रचार—कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता को बढ़ाने के लिए आधारभूत आवश्यकता कृषि की नवीन तकनीकी के प्रयोग में वृद्धि करना है। इसका अर्थ यह है कि भारतीय किसान को आधुनिक स्टील के हल, ट्रैक्टर, थ्रेसिंग मशीन, डीजल पम्प, आदि को व्यापक रूप से काम में लाना चाहिए। इसके लिए खेतों पर इनकी तकनीक का प्रदर्शन किया जाना चाहिए और बताया जाना चाहिए कि उनका उपयोग किस प्रकार लाभकारी है जिससे कि किसानों में आत्मविश्वास पैदा हो सके और वे उनके प्रयोग के लिए उत्सुक हो सकें। यदि आवश्यक हो तो उनके शिक्षण एवं प्रशिक्षण दोनों की ही सुविधा प्रदान की जानी चाहिए।

(2) कृषि आदानों की उचित पूर्ति—कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए दूसरी आवश्यकता कृषि आदानों (Inputs) की उचित व्यवस्था करना है। इसके लिए (i) उन्नत बीज, (ii) खाद, व (iii) कीटनाशक औषधियां, आदि उचित मूल्य पर पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होनी चाहिए।

(3) सिंचाई सुविधाओं का विकास—मानसून पर कृषि की निर्भरता को कम करने एवं दोहरी फसलें उत्पन्न करने के लिए सिंचाई सुविधाओं का विकास किया जाना चाहिए।

(4) बाढ़ नियन्त्रण—सिंचाई साधनों के विकास के साथ-साथ बाढ़ नियन्त्रण की भी व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे कि कृषक निश्चिन्त होकर कृषि कार्यों में बराबर लगा रहे।

(5) साख-व्यवस्था का विस्तार एवं ऋणग्रस्तता की समाप्ति—कृषि क्षेत्र में नवीन तकनीक को प्रोत्साहन देने के लिए किसान को पर्याप्त साख-सुविधाएं उचित शर्तों पर उपलब्ध की जानी चाहिए जिससे कि वह आधुनिक औजार व रासायनिक खादें, आदि क्रय कर सके। इसके लिए ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामीण बैंकों एवं सरकारी बैंकों की संख्या में वृद्धि की जानी चाहिए। इसके साथ-साथ किसानों को पुराने पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलने वाले ऋणों से भी छुटकारा मिलना चाहिए जिससे कि वह उत्पादन एवं विक्रय में महाजन या साहूकार के निवेश की उपेक्षा कर स्वतन्त्र रूप से सोच-विचार कर सकें।

(6) भूमि सुधार कानूनों का प्रभावकारी क्रियान्वयन—कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए एक सुझाव यह दिया जाता है कि भूमि सुधार कानूनों को प्रभावकारी ढंग से लागू किया जाना चाहिए जिससे वास्तविक कृषक भूमि का मालिक बन सके तथा भूमि की जोत का आकार भी बहुत छोटा न हो सके। ऐसा होने से कृषक में उत्पादन कार्य करने के लिए प्रेरणा बनी रहेगी और वह नवीनतम तकनीकों का उचित प्रयोग करने के लिए वाध्य हो जाएगा।

(7) मूल्यों में स्थायित्व—कृषि में पर्यास विनियोग को प्रोत्साहित करने के लिए यह भी आवश्यक है कि कृषि मूल्यों में स्थायित्व बना रहे। इसके लिए बुवाई से पूर्व उन मूल्यों की घोषणा सरकार द्वारा कर दी जानी चाहिए जिन पर सरकार फसल आने पर क्रय करने को तैयार है।

(8) विपणन व्यवस्था में सुधार—किसान को अधिक उत्पादन करने को प्रेरित करने के लिए वर्तमान विपणन व्यवस्था में और अधिंक सुधार किया जाना चाहिए तथा इस सम्बन्ध में उसे आवश्यक सुविधाएं भी दी जानी चाहिए जिससे कि उसको उचित विक्रय मूल्य प्राप्त हो सके। इस सम्बन्ध में सहकारी प्रणाली व नियमित बाजार व्यवस्था को व्यापक रूप से अपनाया जा सकता है।

(9) कृषि अनुसन्धान—कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए कृषि अनुसन्धान पर अधिक व्यय किया जाना चाहिए जिससे कि नए-नए अनुसन्धान परिणाम सामने आ सकें। इन अनुसन्धान परिणामों को किसानों तक पहुंचाने की भी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे कि वे उन्हें अपना सकें और उत्पादन बढ़ा सकें।

(10) कृषि विकास कार्यक्रमों में उचित समन्वय एवं सहयोग—कृषि विकास के लिए जो कार्यक्रम सरकार व अन्य संस्थाओं द्वारा अपनाए जाते हैं उनमें उचित समन्वय एवं सहयोग होना चाहिए।

(11) जनसंख्या का कष दबाव—खेती की उन्नति के लिए कृषि पर जनसंख्या का दबाव कम किया जाना चाहिए। इसके लिए देश में उद्योग-धन्धों का विकास किया जाना चाहिए तथा गांवों में विद्युत् की व्यवस्था होनी चाहिए जिससे कि ग्रामीण क्षेत्रों में उद्योगों का विस्तार हो सके।

(12) यन्त्रीकरण—उत्पादकता बढ़ाने के लिए कृषि में यन्त्रीकरण किया जाना चाहिए अर्थात् अधिक-से-अधिक ट्रैक्टरों, पम्पों, आधुनिक हलों, थ्रेसरों, आदि का प्रयोग किया जाना चाहिए। इसके लिए सेवा संस्थाओं का विस्तार किया जाना चाहिए जो इन यन्त्रों को छोटे किसानों को किराए पर दे सकें व बड़े किसानों को किस्तों पर बेच सकें।

(13) वैज्ञानिक खेती—खेती वैज्ञानिक ढंग से की जानी चाहिए जिसके लिए किसानों को आधुनिक सरकारी फार्मों को समय-समय पर दिखाया जाना चाहिए और बताया जाना चाहिए कि वैज्ञानिक ढंग से खेती किस प्रकार की जाती है तथा उससे क्या लाभ है।

(14) मिश्रित खेती—भारतीय कृषकों को मिश्रित खेती का ढंग अपनाना चाहिए। इसके लिए पशुपालन, डेरी व्यवसाय, फलों और सब्जियों को उगाने, आदि जैसे कार्यों को बढ़ावा देकर मिश्रित खेती को अपनाया जाना चाहिए।

(15) अन्य सुझाव—(i) गहन कृषि एवं बहुफसली कार्यक्रमों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। (ii) भू-क्षरण एवं पौधों की रक्षा की जानी चाहिए। (iii) फसल बीमा योजना का विस्तार किया जाना चाहिए। (iv) सहकारी खेती को बढ़ावा दिया जाना चाहिए।

कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता को बढ़ाने के लिए सरकार द्वारा किए गए प्रयत्न

(EFFORTS MADE BY GOVERNMENT TO INCREASE AGRICULTURAL PRODUCTION AND PRODUCTIVITY)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता को बढ़ाने के लिए विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में निम्न प्रयत्न किए हैं :

(1) राष्ट्रीय बीज निगम व फार्मों की स्थापना—उन्नत बीज उपलब्ध कराने के लिए राष्ट्रीय बीज निगम व बड़े-बड़े फार्मों की स्थापना की गई है।

(2) रासायनिक खाद इकाइयों की स्थापना—भिन्न-भिन्न स्थानों पर रासायनिक खाद बनाने के कारखाने भारतीय खाद निगम व अन्य संस्थाओं ने स्थापित किए हैं।

(3) सिंचाई सुविधाओं का विस्तार—सिंचाई सुविधाओं को बढ़ाने के लिए लघु, मध्यम व बड़ी नदी-घाटी योजनाएं कार्यान्वित की गई हैं जिनमें भाखड़ा नंगल बांध जैसी योजनाएं भी शामिल हैं।

(4) फसलों को कीटाणुओं व रोगों से बचाना—फसलों को कीटाणुओं व रोगों से बचाने के लिए केन्द्रीय कृषि मन्त्रालय ने अलग से एक सैल की स्थापना की है जो आवश्यकता के समय हेलीकॉप्टर या हवाई जहाज से कीट या रोगनाशक दवाइयों को छिड़कता है।

(5) चकबन्दी—एक कृषक के छोटे-छोटे व बिखरे हुए खेतों को एक स्थान पर करने के लिए चकबन्दी कार्यक्रम लागू किए हैं और अब तक लगभग 1739.01 लाख एकड़ भूमि में चकबन्दी की जा चुकी है।

(6) प्रशिक्षण—कृषकों को नवीन तकनीकों को समझाने व उनको कार्य में लाने के लिए प्रशिक्षण सुविधाओं की व्यवस्था की है।

(7) कृषि लागत एवं मूल्य आयोग की स्थापना—कृषि मूल्यों में स्थायित्व लाने के लिए इस आयोग की स्थापना की गयी है जो इस सम्बन्ध में सरकार को समय-समय पर सुझाव देता है।

(8) ग्रामीण बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार—ग्रामीण साख-सुविधाओं में वृद्धि करने के लिए बैंकों को ग्रामीण शाखाएं खोलने के लिए विवश किया गया है।

(9) सहकारी कृषि को बढ़ावा—सहकारी खेती को भी बढ़ावा देने का प्रयत्न किया गया है।

(10) नियमित बाजारों की स्थापना—विपणन सुविधाएं देने के लिए अब तक 7,177 बाजारों को नियमित बाजारों में बदल दिया गया है।

(11) जोतों के आकार को छोटे होने से रोकने के लिए कानून—जोतों के अधिक छोटे होने से रोकने के लिए सम्बन्धित कानून में संशोधन किए गए हैं।

(12) कृषि अनुसन्धान एवं विकास—कृषि अनुसन्धान एवं विकास हेतु कई विश्वविद्यालय खोले गए हैं।

इस प्रकार कृषि उत्पादकता के प्रयासों से हम हरित क्रान्ति के युग में प्रवेश कर चुके हैं और आशा है कि निकट भविष्य के कुछ ही वर्षों में कृषि उत्पादकता में और तेज गति से वृद्धि होगी।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. कृषि के स्वभाव एवं महत्व पर प्रकाश डालिए तथा कृषि की मुख्य विशेषताएं बताइए।
2. कृषि उत्पादकता से क्या अर्थ है? भारत में न्यून कृषि उत्पादकता के कारणों पर प्रकाश डालिए।
3. भारत में कृषि उत्पादन एवं उसकी उत्पादकता बढ़ाने के लिए सरकार ने कौन-कौन से प्रयास किये हैं? व्याख्या कीजिए।
4. टिप्पणी लिखिए :
 (i) भूमि उपयोग ढांचा,
 (ii) राष्ट्रीय कृषि नीति,
 (iii) भारत में फसल प्रारूप।
5. भारत में योजनाकाल में कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता की प्रवृत्ति की व्याख्या कीजिए।

भूमि सुधार

[LAND REFORMS]

भूमि व्यवस्था का अर्थ

भूमि व्यवस्था से अर्थ (i) भूमि के स्वामी, (ii) भूमि को जोतने वाले का भूमि के प्रति कर्तव्य, अधिकार एवं दायित्व तथा (iii) मालगुजारी देने के लिए राज्य से सम्बन्ध की व्याख्या से है। दूसरे शब्दों में, यह भी कह सकते हैं कि भूमि पर स्थायी मालिकाना हक किस व्यक्ति का है? उस पर खेती वास्तव में कौन करता है? तथा उस भूमि पर लगान निर्धारित करने की रीति क्या है? यह तीनों बातें मिलकर भूमि व्यवस्था को बताती हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भूमि व्यवस्था से अर्थ उस व्यवस्था से है जिसके अनुसार भूमि का स्वामित्व, अधिकार एवं दायित्व निर्धारित किये जाते हैं।

एक आदर्श भूमि व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसमें यह गुण हों—(1) भूमि में जोतने वाले का स्वामित्व होना चाहिए। (2) लगान उचित मात्रा में लिया जाना चाहिए। (3) भूमि के हस्तान्तरण की स्वतन्त्र व्यवस्था होनी चाहिए। (4) जोतों की सीमा निर्धारित होनी चाहिए।

भारत में स्वतन्त्रता के समय भूमि व्यवस्था

स्वतन्त्रता के समय सन् 1947 में भारत में विभिन्न प्रकार की भूमि व्यवस्था पायी जाती थी जिनको तीन प्रमुख व्यवस्थाओं में बाँटा जा सकता है—(I) रैयतवारी, (II) महालवारी एवं (III) जर्मींदारी। ऐसा अनुमान है कि कुल कृषि क्षेत्र का 52 प्रतिशत भाग रैयतवारी में, 40 प्रतिशत भाग जर्मींदारी में व शेष महालवारी व अन्य व्यवस्थाओं में था।

(I) **रैयतवारी व्यवस्था (Ryotwari System)**—इस प्रणाली में भूमि पर स्वामित्व राज्य का होता था, किन्तु व्यवहार में प्रत्येक रजिस्टर्डधारी (रैयत) स्वामी होता था। जब तक वह भूमि पर राज्य को नियमित रूप से कर देता रहता था उसे बेदखल नहीं किया जा सकता था। उसको भूमि को काम में लेने, उसे बेचने या हस्तान्तरित करने या किसी अन्य प्रकार से उपयोग में लाने का अधिकार होता था। राज्य द्वारा भूमि पर मालगुजारी का निर्धारण 20-30 वर्ष के पश्चात् भूमि की उर्वरा शक्ति तथा उपज के अनुसार तय किया जाता था।

(II) **महालवारी व्यवस्था (Mahalwari System)**—इस प्रणाली में सरकार द्वारा पूरे वर्ष के लिए एक रकम मालगुजारी के रूप में तय कर दी जाती थी जिसको देने का उत्तरदायित्व गाँवों के सभी भूमि वाले स्वामियों का होता था जिन्हें सहभागी कहते थे और लाभ की भूमि को महाल कहते थे। जो भूमि गाँव में खाली होती थी उस पर ग्राम समाज का अधिकार होता था। गाँव का लम्बरदार मालगुजारी एकत्रित करता था जिसके लिए उसको कमीशन मिलता था। सहभागी को अपनी इच्छानुसार भूमि को प्रयोग में लाने का अधिकार होता था। उसकी भूमि उसके परिवार की निजी सम्पत्ति मानी जाती थी। यदि कोई सहभागी उस भूमि को छोड़ देता था तो उस पर ग्राम समाज का अधिकार माना जाता था।

(III) **जर्मींदारी व्यवस्था (Zamindari System)**—इस प्रणाली में जर्मींदार भूमि का स्वामी माना जाता था तथा भूमि सम्बन्धी सभी अधिकार उसी के हाथ में होते थे। सरकार से कृषक का सीधा सम्बन्ध नहीं होता था, बल्कि एक मध्यम वर्ग के माध्यम से होता था जिसे जर्मींदार कहते थे। इस प्रकार भूमि को जोतने वालों का भूमि में स्वामित्व नहीं होता था। जर्मींदार द्वारा उन कृषकों को हटा दिया जाता था जो कम लगान देते थे और

उनकी भूमि उन व्यक्तियों को दे दी जाती थी जो अधिक लगान देते थे। इससे किसान के मन में अस्थिरता रहती थी। इस प्रकार जर्मींदारी प्रथा में यह दोष पाये जाते थे :

(1) **लगान में वृद्धि**—जर्मींदार भूमि उन्हीं व्यक्तियों को देते थे जो अधिक लगान देने को तत्पर होते थे। इसका परिणाम यह होता था कि लगानों में बराबर वृद्धि ही होती जाती थी।

(2) **कृषि का पतन**—भूमि के सम्बन्ध में कृषक को स्थायी अधिकार न मिलने के कारण वह भूमि में उन्नति नहीं करता था जिसके परिणामस्वरूप कृषि का पतन होता था।

(3) **जर्मींदारों द्वारा शोषण**—अधिकांश जर्मींदार अपने कृषकों से अधिक लगान लेकर उनका शोषण करते थे, साथ ही नजराना, बेगार व उपहार भी लेते थे। कृषकों द्वारा इसका विरोध करने पर उनको भूमि से बेदखल कर दिया जाता था।

(4) **सरकारी आय में वृद्धि न होना**—सरकार की दृष्टि से जर्मींदारी प्रथा का सबसे बड़ा दोष यह था कि सरकार को तो केवल निर्धारित राशि ही मिलती थी, जबकि जर्मींदार अपने लिए मनमाने ढंग से खूब आय प्राप्त कर लेते थे।

(5) **मध्यस्थों की अधिक संख्या**—जर्मींदार भूमि को स्वयं नहीं जोतते थे। वे उसको कृषकों को उठाते थे। इसमें भी बड़े कृषक छोटे कृषकों को उठाते थे। इस प्रकार सरकार व कृषक इन दोनों के बीच कई मध्यस्थ पैदा हो गये थे।

(6) **भूमि के उप-विभाजन में वृद्धि**—एक ओर तो जनसंख्या बढ़ने से कृषि भूमि की माँग बढ़ गयी दूसरी ओर जर्मींदारों को एक कृषक के स्थान पर कई कृषकों को भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े देने से अधिक आय होती थी। अतः उन्होंने भूमि के उप-विभाजन में वृद्धि की जिससे कुल उत्पादन में कमी होने लगी।

(7) **समाज में असमानता**—जर्मींदारी प्रथा से जर्मींदार सम्पन्न से और अधिक सम्पन्न, जबकि कृषक दरिद्र से और अधिक दरिद्र होने लगे थे। इस प्रकार समाज में असन्तुलन पैदा हो गया था।

(8) **विवाद**—जर्मींदारों द्वारा कृषकों को बेदखल करने से जर्मींदारों व कृषकों में मुकदमेबाजी को प्रोत्साहन मिला जिससे विवादों की संख्या में वृद्धि हुई।

भूमि सुधार का अर्थ एवं उद्देश्य

भूमि सुधार (Land Reforms) का अर्थ दो प्रकार से लगाया जाता है : संकुचित व विस्तृत। संकुचित अर्थ में, “भूमि सुधार से अर्थ छोटे कृषक एवं कृषि श्रमिकों के लाभ के लिए भूमि स्वामित्व के पुनः वितरण से है।” लेकिन विस्तृत अर्थ में, “भूमि सुधार से अर्थ किसी संगठन या भूमि व्यवस्था (Land tenures) की संस्थागत व्यवस्था में होने वाले प्रत्येक परिवर्तन से है।” इस प्रकार भूमि सुधार में समस्त कार्य शामिल कर लिये जाते हैं जिनका सम्बन्ध भूमि स्वामित्व (Land Ownership) एवं भूमि जोत (Land holding) दोनों में होने वाले सुधारों से है। इसमें लगान कानून, लगान निर्धारण एवं उनकी वसूलयाबी, मध्यस्थों का उन्मूलन, जोतों की सुरक्षा, अधिकतम व न्यूनतम भूमि सीमा निर्धारण, सहकारी खेती, चकवन्दी, आदि सभी शामिल हैं। भूमि सुधार निम्न उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है :

(1) **उत्पादन में वृद्धि**—भूमि सुधार कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य कृषि उत्पादन को बढ़ाना है। यह उत्पादन वृद्धि सहकारी खेती, चकवन्दी, गहन खेती, आदि के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है।

(2) **सामाजिक न्याय**—भूमि सुधार का दूसरा उद्देश्य सामाजिक न्याय है जिससे कि भूमिहीनों एवं वास्तविक काश्तकारों को भूमि मिल सके तथा आय में समानता लायी जा सके।

(3) **राजनीतिक उद्देश्य**—भूमि सुधार का तीसरा उद्देश्य राजनीतिक है जिसके अन्तर्गत ग्रामीण जन समूह को अपने पक्ष में करने के लिए इस प्रकार की योजनाएँ बनायी जाती हैं और कार्यरूप में परिणत की जाती हैं।

भारत में भूमि सुधारों की आवश्यकता या महत्व या भूमिका

भारत में भूमि सुधार की आवश्यकता या महत्व को दर्शाने के लिए निम्न विचार व्यक्त कर सकते हैं :

(1) **कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए**—स्वतन्त्रता के समय एवं उसके पश्चात् भारत में कृषि पदार्थों की बड़ी कमी थी। अतः इस बात की आवश्यकता महसूस की गयी कि कृषि का उत्पादन बढ़ाने के लिए भूमि सुधार कार्यक्रम लागू किये जायें।

(2) नियोजित विकास के लिए—देश में नियोजित विकास को बढ़ावा देने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि भूमि सुधार किये जायं।

(3) सामाजिक न्याय एवं समानता के लिए—स्वतन्त्रता के पश्चात् सामाजिक न्याय दिलाने के लिए यह उचित समझा गया कि आधिकर्य भूमि को भूमिहीनों में वितरित कर दिया जाय।

(4) गैर-कृषि उद्योगों के विकास के लिए—भारत में भूमि सुधार की आवश्यकता इस कारण भी पड़ी कि उद्योगों के विकास के लिए धन एवं कच्चा माल कृषि से ही मिल सकता है।

भूमि सुधारों की आवश्यकता पर बल देते हुए डॉ. राधाकमल मुखर्जी ने अपनी पुस्तक 'Land Problems in India' में लिखा था कि "वैधानिक कृषि तथा सहकारिता को हम कितना ही अपना लें, पूर्ण सफलता हमें तब तक नहीं मिलेगी जब तक कि हम भूमि व्यवस्था में वांछित सुधार नहीं कर देते।" प्रो. सैम्युएल्सन (Samuelson) के अनुसार, "सफल भूमि सुधार के कार्यक्रमों ने अनेक देशों में (साहित्यिक भाषा में) मिठी को सोने में बदल दिया है।"

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में भूमि सुधार नीति (LAND REFORMS POLICY IN INDIA AFTER INDEPENDENCE)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय विभिन्न प्रकार की भूमि व्यवस्थाएँ थीं जिसके परिणामस्वरूप वास्तविक काश्तकार एवं भूमि स्वामी के बीच कई मध्यस्थ आ गये थे जो भूमि उपज का एक बड़ा भाग लगान के रूप में लेते थे, लेकिन फिर भी काश्तकार को प्रतिवर्ष जोतने की गारण्टी नहीं देते थे जिससे भूमि में स्थायी सुधार नहीं हो पाता था। साथ ही खेत के छोटे होने से उत्पादन भी कम होता था। अतः स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सरकार का ध्यान इस ओर गया।

प्रथम योजना में राज्यों द्वारा भूमि सुधार योजना की रूपरेखा बनाने के लिए कहा गया था, जबकि दूसरी योजना में मध्यस्थ किरायेदारों की समाप्ति, काश्तकारी व्यवस्था में सुधार, भूमि की उच्चतम सीमाओं का निर्धारण, चकबन्दी और कृषि व्यवस्था के पुनर्गठन की बात कही गयी, लेकिन तीसरी, चौथी व पाँचवीं योजना में भूमि सुधार कार्यक्रमों को तेजी से लागू करने पर जोर दिया गया। छठवीं योजना में यह व्यवस्था की गयी :

- (i) जिन राज्यों में भूमिहीन कृषकों को मालिकाना हक देने के नियम नहीं हैं वहाँ नियम बनाये जायेंगे।
- (ii) अधिकतम जोत कानून लागू होने से जो अतिरिक्त भूमि सरकार के अधिकार में आ गयी है उसे वितरित किया जायेगा।
- (iii) भूमि सम्बन्धी आँकड़ों को संकलित करने एवं उन्हें अद्यतन करने के लिए एक कार्यक्रम चलाया जायेगा।
- (iv) चकबन्दी का कार्यक्रम चलाया जायेगा।
- (v) भूमिहीन श्रमिकों के मकानों के लिए स्थान की व्यवस्था की जायेगी।

सातवीं योजना में वर्तमान भूमि कानूनों को कड़ाई से लागू करने की बात कही गयी यह सिद्धान्त थे—मध्यस्थों का अन्त, काश्तकारी सुधार, अतिरिक्त भूमि का पुनः वितरण, चकबन्दी व भूस्वामित्व रिकॉर्ड को अद्यतन करना। नौवीं योजना में भूमि सुधार कार्यक्रमों को उच्च प्राथमिकता मिलती रहेगी जिससे कि कृषि उत्पादन व रोजगार में वृद्धि होगी। दसवीं योजना में जोतों की चकबन्दी में तेजी व भूमि स्टिकार्ड के कम्प्यूटरीकरण करने की बात कही गई है। ग्यारहवीं तथा बारहवीं पंचवर्षीय योजनाओं में भी भूमि सुधारों में तेजी लाने तथा अतिरिक्त भूमि को भूमिहीन कृषि श्रमिकों एवं ग्रामीणों के बीच वितरित करने पर बल दिया गया।

भारत में भूमि सुधार कार्यक्रमों की प्रगति

अथवा

भारत में भूमि सुधार के लिए उठाये गए कदम

पिछले वर्षों में भूमि सुधार के काफी प्रयत्न किये गये हैं जिनके फलस्वरूप निम्न 4 कार्यक्रम लागू किये गये हैं :

(I) मध्यस्थों एवं जमींदारों का उन्मूलन (Abolition of Intermediaries and Zamindars)

भूमि सुधार प्रयत्नों में सबसे पहला प्रयत्न मध्यस्थों व जमींदारों की समाप्ति के लिए किया गया। इस सम्बन्ध में मंत्रालय में 1948 में; बम्बई व आन्ध्र प्रदेश में 1949-50 में; मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश व असम में 1951 में; पंजाब, राजस्थान व उड़ीसा (ओडिशा) में 1952 में तथा हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक व पश्चिम बंगाल

में 1954-55 में सम्बन्धित अधिनियम पारित किये गये। इन विभिन्न राज्य अधिनियमों के अन्तर्गत अब तक दो करोड़ से अधिक काश्तकारों का राज्य के साथ सीधा सम्बन्ध हो गया है और उनको मालिकाना हक दे दिये गये हैं।

विभिन्न राज्य सरकारों ने जर्मींदारी उन्मूलन के लिए जो अधिनियम बनाये थे उनमें निम्नलिखित विशेषताएं थीं :

(1) अधिकारों का उन्मूलन एवं क्षतिपूर्ति—जम्मू एवं कश्मीर राज्य को छोड़कर शेष सभी राज्यों में जर्मींदारों के अधिकारों का उन्मूलन कर दिया गया है और इसके बदले में उनको मुआवजा या क्षतिपूर्ति दे दी गयी है।

(2) क्षतिपूर्ति का आधार—जर्मींदारों को क्षतिपूर्ति का आधार अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग रखा गया, जैसे उत्तर प्रदेश में आधार शुद्ध सम्पत्ति रखा गया था जबकि असम, राजस्थान एवं मध्य प्रदेश में 'शुद्ध आय' था। कुछ राज्यों में बड़े जर्मींदारों को निम्न दर से व छोटे जर्मींदारों को ऊँची दर से क्षतिपूर्ति की गयी। कुछ राज्यों में क्षतिपूर्ति तो एक-सी दर से दी गयी, लेकिन छोटे जर्मींदारों को पुनर्वास हेतु अतिरिक्त अनुदान दिये गये।

(3) क्षतिपूर्ति का भुगतान—क्षतिपूर्ति का भुगतान कुछ राज्यों द्वारा पूर्णतः नकदी में किया गया, जबकि कुछ राज्यों द्वारा नकदी व बॉण्डों में। जिन राज्यों में बॉण्डों में भुगतान किया गया उन्होंने अपने राज्यों में 'जर्मींदारी उन्मूलन कोष' की स्थापना की। इस कोष में उस रकम को जमा किया गया जो कृषक ने भूमिधारी काश्तकार बनने के लिए सरकार को दी थी।

(4) वैयक्तिक कृषि के लिए भूमि रखने की छूट—विभिन्न अधिनियमों में यह व्यवस्था भी की गयी थी कि जो जर्मींदार जितनी भूमि को स्वयं जोतते थे उसे उनके पास ही छोड़ देने की छूट थी।

(5) सामान्य भूमि पर राज्य सरकारों का अधिकार—जर्मींदारी उन्मूलन के पश्चात् गाँव में जो सामान्य भूमि (जैसे बंजर भूमि, वन, हाट की भूमि, चरागाह की भूमि, आदि) बची उस पर राज्य सरकारों का अधिकार हो गया।

(6) लगान देने का दायित्व—इन अधिनियमों में यह व्यवस्था भी की गयी थी कि जर्मींदारी उन्मूलन के पश्चात् काश्तकार या आसामी अपनी भूमि पर लगान सीधा ही सरकार को देगा और लगान देने की उसकी स्वयं की जिम्मेदारी होगी।

(7) जर्मींदारी पुनः पनपने पर प्रतिबन्ध—इसके लिए अधिनियमों में यह व्यवस्था की गयी है कि प्रत्येक काश्तकार के लिए भूमि को स्वयं ही जोतना अनिवार्य होगा, लेकिन विधवा, फौज में कार्य करने वाले सेविवर्ग, बन्दी व रोग से पीड़ित व्यक्ति अपनी भूमि को लगान पर दूसरों को उठा सकते हैं।

उत्तर प्रदेश में जर्मींदारी उन्मूलन

उत्तर प्रदेश जर्मींदारी उन्मूलन में अग्रणी है। उत्तर प्रदेश की विधानसभा ने 8 अगस्त, 1947 को एक प्रस्ताव पास किया कि जर्मींदारी का उन्मूलन कर दिया जाय और इस कार्य के लिए एक समिति पं. गोविन्द बल्लभ पन्त की अध्यक्षता में बनायी गयी जिसने अपनी रिपोर्ट अगस्त 1948 में दे दी। इस समिति की सिफारिशों के आधार पर एक विधेयक 7 जुलाई, 1949 को प्रस्तुत किया गया जो 16 जनवरी, 1951 को पास हो गया, लेकिन उत्तर प्रदेश के कुछ जर्मींदारों ने न्यायालयों की शरण ले ली। अन्त में 5 मई, 1952 को सर्वोच्च न्यायालय ने इस अधिनियम को वैध घोषित कर दिया जिसके फलस्वरूप राज्य सरकार ने 1 जुलाई, 1952 से राज्य की कृषि जर्मींदारियों की भूमि का स्वामित्व अपने हाथ में ले लिया।

उत्तर प्रदेश में 30 जून, 1952 को जर्मींदारों के पास 4.13 करोड़ एकड़ भूमि थी जिसमें से 3.9 करोड़ एकड़ भूमि ही सरकार द्वारा लेने का निश्चय किया गया। क्षतिपूर्ति की मात्रा शुद्ध आय का 8 गुना रखी गयी। जर्मींदारों की कुल संख्या 30 लाख आँकी गयी जिसमें से 90 प्रतिशत जर्मींदार तो केवल नाममात्र के ही जर्मींदार थे जो 25 ₹ वार्षिक से भी कम लगान देते थे। केवल 30,000 जर्मींदार (अर्थात् कुल जर्मींदारों की संख्या का 1.5 प्रतिशत) ही 250 ₹ वार्षिक से अधिक लगान देते थे। इस 30,000 की संख्या में 5,000 जर्मींदार 1,000 ₹ तक लगान देते थे तथा 400 ऐसे थे जो 10,000 ₹ से अधिक लगान देते थे। कुल क्षतिपूर्ति 160 करोड़ ₹ आंकी गयी थी।

इस अधिनियम ने चार प्रकार के कृषकों को जन्म दिया—

(1) **भूमिधर**—वे काश्तकार जो अपने वर्तमान लगान का 10 गुना सरकारी खजाने में जमा कर देंगे उन्हें भूमिधर कहा जायेगा। भविष्य में उनको लगान नहीं देना होगा, लेकिन मालगुजारी देनी होगी जो वर्तमान लगान की आधी होगी।

(2) **सीरदार**—जो काश्तकार 10 गुना जमा न करना चाहें वे सीरदार कहलायेंगे और सरकार को वही लगान देते रहेंगे जो जर्मींदार को देते थे।

(3) **अधिवासी**—वे काश्तकार जो उप-किसान के रूप में कार्य करते थे अधिवासी कहलायेंगे। इनको अपनी खेती की जमीनों को पाँच वर्ष तक रखने का अधिकार दिया गया। इसके पश्चात् 15 गुना लगान जमा कराकर सीरदार बन सकते थे।

(4) **आसामी**—यह वे व्यक्ति थे जो वन भूमि, रहन भूमि, बगीचों की भूमि, आदि पर खेती करते थे। उनके अधिकार स्थायी नहीं होते थे।

मध्य प्रदेश में जर्मींदारी उन्मूलन

मध्य प्रदेश जर्मींदारी उन्मूलन अधिनियम, 1951 में लागू किया गया था जिसके अनुसार जर्मींदारों को उनकी शुद्ध आय का 8 से 20 गुना तक क्षतिपूर्ति के रूप में दिया गया, लेकिन छोटे जर्मींदारों को क्षतिपूर्ति पुनर्वास अनुदान भी दिया गया तथा जिसके लागू होने से जर्मींदारी, मालगुजार, जागीरदार, इजारिदार व पलमतदार सभी के अधिकार समाप्त कर दिए गए, लेकिन खुद काश्त को छोड़ दिया गया। 1956 में मध्य प्रदेश का पुनर्गठन होने पर पूरे राज्य में समान भूमि व्यवस्था स्थापित कर दी गयी है।

जर्मींदारी उन्मूलन ग्रामीण क्षेत्रों के लिए निम्न प्रकार से लाभकारी रहा है :

(1) **शोषण का अन्त**—जर्मींदारों द्वारा काश्तकारों का शोषण किया जाता था, उसका अन्त जर्मींदारी उन्मूलन से हो गया है और अब इनके द्वारा न बेगार ली जाती है और न उपहार।

(2) **उत्पादन में वृद्धि**—जर्मींदारी उन्मूलन से करोड़ों काश्तकारों को भूस्वामित्व के अधिकार मिल गये हैं जिससे वे अब कृषि भूमि में स्थायी सुधार करने लगे हैं और मन लगाकर काम करने से उत्पादन में भी वृद्धि हुई है।

(3) **सरकारी आय में वृद्धि**—जर्मींदारी उन्मूलन से सरकारी आय में भी वृद्धि हुई है। 1951-52 में सरकार को 48 करोड़ ₹ लगान के रूप में मिलते थे, लेकिन वर्तमान में यह आय 1,500 करोड़ ₹ हो गई है।

(4) **कृषकों का सरकार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध**—अब कृषकों का सरकार से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया है जिससे उनको सरकारी सहायता मिलने में आसानी हो गई है।

(5) **भूमि सुधार कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में सहायता**—जर्मींदारी उन्मूलन होने से भूमि सुधार के अन्य कार्यक्रमों का क्रियान्वयन आसान हो गया है। अब चकवन्दी, सहकारी खेती, अधिकतम जोत नियम, आदि को आसानी से लागू किया जा सका है।

(6) **सामन्तवाद का अन्त**—जर्मींदारी के अन्त से सामन्तवाद का अन्त हो गया है और अब कृषक स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर रहे हैं। इस प्रकार अब किसान लोकतन्त्र व समाजवाद में हिस्सेदार बन गये हैं।

(7) **पंचायतों की आय में वृद्धि**—जर्मींदारी उन्मूलन से ग्राम पंचायतों को बंजर भूमि व चरागाह, आदि का प्रबन्ध करने का उत्तरदायित्व मिल गया है जिससे उनकी आय में वृद्धि होने लगी है।

(8) **किसानों की उन्नति**—जर्मींदारी प्रथा की समाप्ति ने किसानों को अपनी उन्नति करने का अवसर प्रदान कर दिया है, क्योंकि अब न तो इनका शोषण होता है और न उन्हें उनकी भूमि से बेदखल किया जा सकता है। अब वे पैदावार बढ़ाकर अपनी उन्नति करने के लिए स्वतन्त्र हैं।

(9) **भूमिहीन कृषकों को भूमि**—जर्मींदारी उन्मूलन के कारण अब तक लगभग 60 लाख हेक्टेअर भूमि को इन भूमिहीन कृषकों में बाँटा जा चुका है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि जर्मींदारी उन्मूलन से भूमि व्यवस्था में सुधार हुआ है और जर्मींदारों का वर्ग जो काफी प्रवल था वह अब पूर्णतया निर्बल होकर समाप्त हो चुका है। इस कदम को हम समाजवादी समाज की दिशा में एक कदम कह सकते हैं।

(II) काश्तकारी व्यवस्था में सुधार (Reforms in Tenancy System)

विभिन्न जमींदारी उन्मूलन अधिनियमों के अन्तर्गत छूट दी गयी है कि विधवाएँ, अवयस्क, सैनिक या असमर्थ लोग अपनी भूमि को दूसरे को जोतने के लिए दे सकते हैं। इस प्रणाली या व्यवस्था को पट्टेदारी कहते हैं। पट्टेदारी व्यवस्था में भी सुधार की आवश्यकता को महसूस करते हुए यह आवश्यक समझा गया कि इस और भी कुछ प्रयत्न किये जायें। अतः इस ओर निर्मांकित सुधार किये गये हैं :

(1) लगान का नियमन—लगान-नियमन के कानून बनने के पूर्व पट्टेदार को सामान्यतः कुल उपज का आधा भाग भूमि के मालिक को लगान के रूप में देना पड़ता था। अतः प्रथम योजना में इस बात की सिफारिश की गयी कि ऐसा लगान कुल उपज के 20 से 25 प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए। बाद में विभिन्न राज्यों ने इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न अधिनियम बनाये जिनके अनुसार लगान की उचित दर पंजाब व हरियाणा में 33.5 प्रतिशत, तमिलनाडु में सिंचित भूमि का 40 प्रतिशत तथा शुष्क भूमि का 25 प्रतिशत, आन्ध्र में सिंचित भूमि का 30 प्रतिशत व सूखी भूमि का 25 प्रतिशत निर्धारित की गयी। जम्मू व कश्मीर में लगान की दर 25 प्रतिशत से 50 प्रतिशत तक है। शेष सभी राज्यों में यह दर 25 प्रतिशत से अधिक नहीं है।

(2) पट्टे की सुरक्षा—राज्यों ने पट्टे की सुरक्षा के सम्बन्ध में अधिनियम पारित किये हैं। इन अधिनियमों को बनाते समय इस बात का ध्यान रखा गया है कि (i) बड़े पैमाने पर पट्टेदारों की बेदखली न हो; (ii) भूमि के मालिकों को केवल स्वयं काश्त के लिए ही भूमि पुनः प्राप्त करने की अनुमति हो; (iii) भूमि को पुनः प्राप्त करने पर पट्टेदार के पास निश्चित न्यूनतम भूमि अवश्य रहने दी जाय। इस प्रकार बिहार, गुजरात, केरल, मध्य प्रदेश, कर्नाटक, ओडिशा, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश व महाराष्ट्र के अधिनियमों में यह व्यवस्था है कि भूमिपति को पट्टेदार के पास पट्टे वापस लेते समय कुछ भूमि अवश्य छोड़नी होगी। आन्ध्र प्रदेश व तमिलनाडु में सीमा निर्धारण के स्तर तक भूमि का पुनः ग्रहण करने का अधिकार भूमि के मालिक को दिया गया है। पंजाब व असम के अधिनियमों में राज्य ने पट्टेदार को अन्यत्र भूमि दिलाने का उत्तरदायित्व लिया है।

(3) पट्टेदारों को स्वामित्व अधिकार—कई राज्यों में पट्टेदारों को स्वामित्व अधिकार दिलाने के लिए वैधानिक व्यवस्था की गयी है जिसके अन्तर्गत पट्टेदार निर्धारित क्षतिपूर्ति के बाद भूमि पर स्वामित्व अधिकार प्राप्त कर सकता है। इस सम्बन्ध में अभी आन्ध्र प्रदेश, बिहार, असम, हरियाणा, जम्मू एवं कश्मीर, पंजाब व असम में ऐसे अधिनियम नहीं हैं।

(4) पट्टेदारी व्यवस्था में सुधार का प्रभाव—पट्टेदारी व्यवस्थाओं में सुधार के अच्छे परिणाम निकले हैं जिससे 124.2 लाख काश्तकारों को लाभ हुआ है जिन्हें स्वामित्व अधिकार दिये गये हैं।

(III) जोतों की अधिकतम सीमाओं का निर्धारण (Ceiling of Holdings)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भूमि सुधार कार्यक्रमों के अन्तर्गत जोतों की अधिकतम सीमा का निर्धारण किया गया है। ऐसा करने के चार उद्देश्य हैं—

(1) बड़े भूखण्डों को उचित आकार के खण्डों में बदलना जिससे कि उनका प्रबन्ध उचित प्रकार से हो सके तथा उत्पादन बढ़ाया जा सके;

(2) अधिशेष (Surplus) भूमि को भूमिहीनों में बाँटकर सामाजिक न्याय करना;

(3) अधिक व्यक्तियों को रोजगार सुविधाएँ उपलब्ध कराना; एवं

(4) अधिशेष बंजर भूमि पर कृषकों, कारीगरों व शिल्पकारों को घर बनाने की सुविधा देना। लेकिन अभी हाल ही में केन्द्रीय सरकार ने राज्यों को सलाह दी है कि वे अधिकतम सीमाओं का पुनः निर्धारण करें। केन्द्रीय सरकार ने सुझाव दिया है कि अधिकतम सीमा इस प्रकार रखें—सिंचित क्षेत्र जिसमें दो फसलें होती हैं 5 हेक्टेअर, सिंचित क्षेत्र जिसमें एक फसल होती है 7.5 हेक्टेअर, व असिंचित क्षेत्र 12 हेक्टेअर।

कार्यक्रम की प्रगति—अधिकतम जोत सीमा सम्बन्धी कानूनों के फलस्वरूप अब तक 73.7 लाख हेक्टेअर भूमि को फालतू घोषित किया गया है। इसमें से 53.8 लाख हेक्टेअर भूमि को वितरित किया जा चुका है। लेकिन “जो भूमि अधिशेष (Surplus) घोषित की गई है वह कुल खेती योग्य भूमि का केवल 2 प्रतिशत” बैठता है। इस प्रकार यह कार्यक्रम सफल नहीं हो पाया है।

अधिकतम जोत सीमा-निर्धारण के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं जिन्हें अधिकतम जोत सीमा-निर्धारण के लाभ भी कहते हैं :

(1) असमान वितरण में कमी—अधिकतम जोत निर्धारण से भूमि के असमान वितरण में कमी होती है।

(2) समाजवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना में सहायक—यह नियम केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को हतोत्साहित करते हैं और समाजवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना में सहायता देते हैं तथा राजनीतिक जागृति की आकांक्षाओं को पूरा करते हैं।

(3) सहकारी कृषि को प्रोत्साहन—बड़ी-बड़ी जोतें समाप्त होने से समानता का वातावरण पैदा होता है जिसमें कृषकों में पारस्परिक सहयोग का विकास होता है जो अन्त में सहकारी कृषि को प्रोत्साहन देता है।

(4) रोजगार में वृद्धि—अधिकतम जोत नियमों के लागू होने से जोत लघु व मध्यम प्रकार की हो जाती है जिसमें यन्त्रीकरण से कृषि करने की सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं जिसका परिणाम यह होता है कि श्रम-प्रधान तकनीकों का प्रयोग बढ़ जाता है जिससे रोजगार सम्भावनाओं में वृद्धि हो जाती है।

(5) गहन खेती—अधिकतम जोत नियम एक व्यक्ति के पास भूमि की मात्रा को कम करते हैं जिसके फलस्वरूप एक कृषक आय बढ़ाने के लिए गहन खेती करने को प्रोत्साहित होता है।

(6) चकबन्दी को प्रोत्साहन—अधिकतम जोत निर्धारण नियमों के कारण जोतों का आकार छोटा हो जाता है जिससे चकबन्दी कार्यक्रम को प्रोत्साहन मिलता है।

(7) कृषि आय का समान वितरण—अधिकतम जोत नियम कृषि आय में समानता लाते हैं।

(8) अधिक उत्पादन—अधिकतम जोत सीमा-निर्धारण से कृषि उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। गहन खेती की मात्रा बढ़ती है। इससे कृषि उत्पादन बढ़ता है।

(9) वर्ग संघर्ष में कमी—भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित करने से वर्ग संघर्ष में कमी होती है जिससे ग्रामीण जनता में एक-दूसरे के प्रति द्वेष के स्थान पर सहकारी भावना का विकास होता है।

(10) भूमिहीन कृषकों को लाभ—भूमि की सीमा के निर्धारण के फलस्वरूप सरकार को जो भूमि बड़े किसानों से मिलती है उसे वह भूमिहीन कृषकों में बाँट देती है। इससे उनको लाभ होता है।

अधिकतम जोत सीमा-निर्धारण के विपक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं जिन्हें अधिकतम जोत सीमा-निर्धारण नियमों की हानियाँ या अवगुण भी कहते हैं :

(1) बड़े पैमाने पर कृषि करने के लाभों से वंचित—सबसे प्रमुख तर्क यह दिया जाता है कि अधिकतम जोत निर्धारण कानून बड़े खेतों को छोटे-छोटे खेतों में बदल देता है जिसके परिणामस्वरूप समाज बड़े पैमाने पर कृषि करने के लाभों से वंचित रह जाता है। [खेत प्रबन्ध (Farm Management) के अध्ययनों से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि छोटे खेतों की उत्पादकता बड़े खेतों की तुलना में अधिक होती है। साथ ही बड़े पैमाने पर कृषि करने से प्राप्त होने वाले लाभों को तो चकबन्दी व सहकारी खेती जैसे उपायों को अपनाकर प्राप्त किया जा सकता है।]

(2) एक-सी सीमा-निर्धारण में कठिनाई—भूमियों की उर्वरा शक्ति तथा उन पर सिंचाई सुविधाएँ भिन्न-भिन्न हैं। साथ ही भूमियों की विभिन्न श्रेणियाँ भी हैं। अतः एक व्यावहारिक कठिनाई सामने आती है कि सभी क्षेत्रों में कृषि भूमि की एक-सी अधिकतम सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती है। [यह आपत्ति उचित है। विभिन्न क्षेत्रों की भूमियों की उर्वरा शक्ति एवं सिंचाई सुविधाओं को ध्यान में रखकर सीमाएँ निश्चित की जा सकती हैं जो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के लिए भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। भारत में इसी बात को ध्यान में रखा गया है।]

(3) कृषि एवं गैर-कृषि आयों में विषमताएँ—अधिकतम जोत सीमा अधिनियमों के सम्बन्ध में एक तर्क यह दिया जाता है कि यदि भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित की जाती है तथा गैर-कृषि भूमि जैसी भूमि की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जाती है तो इससे आयों में विषमताएँ पैदा हो जाती हैं जो उचित नहीं हैं। [इस सम्बन्ध में शहरी भूमि सम्पत्ति अधिनियम कुछ राज्यों में लागू है, जबकि कुछ राज्य इस ओर कदम उठा रहे हैं। इस प्रकार यह आपत्ति भी निर्धक हो जाती है।]

(4) भूमिहीन कृषकों की समस्या का समाधान न होना—सरकारी औंकड़ों के अनुसार भारत में 7.5 करोड़ भूमिहीन कृषक हैं जिन्हें अधिकतम जोत सीमा अधिनियमों के लागू होने से 98.5 लाख एकड़ भूमि प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार भूमिहीन कृषकों की बड़ी संख्या होने के कारण उनकी समस्या का उचित समाधान नहीं हो सकता है। [यह आपत्ति उचित है कि इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता है, लेकिन अधिकतम जोत सीमा अधिनियमों से कुछ भूमिहीन कृषकों की समस्या तो हल हो ही जायेगी जिससे आर्थिक विषमता कम करने में मदद मिलेगी। इस प्रकार यह आपत्ति निर्धक हो जाती है।]

(5) विपणन योग्य अधिशेष की कमी—अधिकतम जोत सीमा अधिनियम लागू होने से खेत छोटे-छोटे हो जाते हैं जिससे कृषक के पास विपणन योग्य अधिशेष कम रह जाता है। [यह तर्क उचित प्रतीत होता है। नियमों के लागू होने से पहले जितनी भूमि जोती जाती है उतनी ही नियमों के लागू होने के बाद भी जोती जायेगी। अतः उत्पादन में कोई कमी नहीं होगी, लेकिन पहले जो कृषक बाजार में क्रय करके खाद्य पदार्थ खाते थे वे अब स्वयं उत्पादित करके अपने पास रख लेंगे। इससे विपणन योग्य अधिशेष में कमी होगी।]

(6) क्षतिपूर्ति की रकम—अधिकतम जोत सीमा के निर्धारण के फलस्वरूप यदि किसान से अतिरिक्त (Surplus) भूमि ली जायेगी तो उसे क्षतिपूर्ति देनी होगी जिसकी रकम करोड़ों व अरबों रुपयों में होगी जिसे राज्य सरकारें देने में कठिनाई महसूस करेंगी। [इस तर्क में कोई वजन नहीं है। सरकार का काम जनहित में कार्य करना है।]

(7) असन्तोष में वृद्धि—यदि अधिकतम सीमा निर्धारित की जाती है तो इससे बड़े किसानों में असन्तोष होता है जो इस प्रजातान्त्रिक युग में उचित नहीं है। साथ ही एक गाँव में एक से भूमि लेकर दूसरे को देने में भी बैर व असन्तोष में वृद्धि होती है। [इसमें कुछ वजन है, लेकिन यह काम किसान के कहने पर नहीं हुआ। अतः इसका प्रश्न नहीं उठता।]

(8) अन्य तर्क—इस सम्बन्ध में कुछ अन्य तर्क भी प्रस्तुत किये जाते हैं, जैसे (i) भारत में भूमि का अभाव है। अतः इस प्रकार के नियमों से कोई विशेष लाभ नहीं होगा। (ii) बड़ी जोतों को छोटे-छोटे जोतों में बाँटने का कार्य सरल नहीं है। (iii) जोत की अधिकतम सीमा निम्न स्तर पर रखने से बहुत छोटे खेत हो सकते हैं जो आधुनिक प्रकार से खेती करने में कठिनाई प्रस्तुत कर सकते हैं। [यह सभी तर्क ऐसे हैं जिनमें कोई विशेष वजन नहीं है।]

अधिकतम जोत सीमा-निर्धारण कार्यक्रम का मूल्यांकन

कृषि जोतों पर अधिकतम सीमा लागू करने हेतु प्रावधान पहली पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से ही किये गये हैं जिसके अनुसार अनेक राज्यों ने कानून बनाये, लेकिन इनमें एकरूपता नहीं थी। अतः 1972 में राज्यों के परामर्श से भारत सरकार द्वारा इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय मार्गदर्शी सिद्धान्त जारी किये गये जिससे राज्यों के कानूनों में कुछ हद तक एकरूपता आयी है। इस समय नगालैण्ड, मेघालय, अरुणाचल प्रदेश व मिजोरम, अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह तथा गोवा, दमन और दीव को छोड़कर सभी राज्यों व केन्द्र-शासित प्रदेशों में अधिकतम जोत सीमा नियम लागू हैं।

अधिकतम जोत की सीमा लागू करने के पश्चात् अतिरिक्त भूमि की प्राप्ति और उसके वितरण के सम्बन्ध में ग्रामीण विकास मन्त्रालय ने जो वार्षिक रिपोर्ट (2004-05) प्रस्तुत की थी, उसके अनुसार कृषि जोतों पर अधिकतम सीमा के कानूनों के प्रारम्भ होने से लेकर मार्च, 2004 तक समस्त देश में कुल 73.36 लाख एकड़ भूमि अतिरिक्त घोषित की गई और इसमें से 57.46 लाख लाभार्थियों को 54.03 लाख एकड़ भूमि वितरित की गई है। लाभार्थियों में 36 प्रतिशत अनुसूचित जातियों तथा लगभग 15 प्रतिशत अनुसूचित जनजातियों से सम्बन्धित हैं। परन्तु जैसा कि तथ्यों से ज्ञात है, अतिरिक्त भूमि के वितरण की गति अत्यन्त धीमी है।

(IV) कृषि का पुनर्गठन (Reorganisation of Agriculture)

भूमि सुधार कार्यक्रमों के अन्तर्गत भूमि का पुनर्गठन भी किया गया है जिसके लिए तीन उपायों को काम में लिया गया है : (1) चकबन्दी, (2) सहकारी खेती, (3) भूदान, व (4) भूस्वामित्व का रिकॉर्ड।

(1) चकबन्दी—चकबन्दी वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा “स्वामित्वधारी कृषकों को उनके इधर-उधर बिखरे हुए खेतों के बदले में इसी किस्म के कुल उतने ही आकार के एक या दो खेत लेने के लिए राजी किया जाता है।” इसमें एक कृषक के बिखरे हुए खेतों को एक स्थान पर दे दिया जाता है। यह चकबन्दी दो प्रकार से की जा सकती है—(i) ऐच्छिक चकबन्दी व (ii) अनिवार्य चकबन्दी। इस समय ऐच्छिक चकबन्दी गुजरात, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल में लागू है। आन्ध्र प्रदेश, अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम, मेघालय, त्रिपुरा, नगालैण्ड, तमिलनाडु व केरल में चकबन्दी सम्बन्धी कानून नहीं हैं, लेकिन शेष सभी राज्यों में अनिवार्य चकबन्दी सम्बन्धी कानून लागू हैं।

उपर्युक्त नौ राज्यों को छोड़कर शेष सभी राज्यों में चकवन्दी कानून लागू हैं जिनके अन्तर्गत चकवन्दी की जा रही है। पंजाब व हरियाणा में चकवन्दी कार्य पूरा किया जा चुका है। उत्तर प्रदेश में चकवन्दी का लगभग 90 प्रतिशत कार्य पूरा हो चुका है। “अब तक देश भर में 1,633.47 लाख एकड़ भूमि की चकवन्दी की जा चुकी है।”

(2) सहकारी खेती—सहकारी खेती से अर्थ कृषकों के द्वारा सहकारिता के सिद्धान्तों के आधार पर संयुक्त रूप से कृषि करने से है। भारत में सभी भूमि सुधारों का अन्तिम लक्ष्य सहकारी ग्रामीण अर्थव्यवस्था की स्थापना करना है। इसलिए पंचवर्षीय योजनाओं में सहकारी खेती पर काफी जोर दिया गया है। इस समय देश में लगभग 5.28 लाख सहकारी समितियाँ कार्य कर रही हैं जिनके पास 5.7 लाख हेक्टेएर भूमि है।

(3) भूदान—भूदान से आशय—यह भूमि सुधार कार्यक्रम ऐच्छिक है और इसके जन्मदाता आचार्य विनोबा भावे थे। “यहाँ भूदान से अर्थ स्वेच्छा से भूमि के दान से है।” इसके उद्देश्य बताते हुए आचार्य भावे ने एक बार कहा था कि यह “न्याय तथा समानता पर आधारित है कि भूमि में सभी का अधिकार है। इसलिए हम भेंट में भूमि की भीख नहीं माँगते हैं, बल्कि उस भाग की माँग करते हैं जिनमें निर्धनों का न्यायपूर्ण हक है।” इस भूदान आन्दोलन की शुरुआत 18 अप्रैल, 1951 को तेलंगाना (आन्ध्र प्रदेश) के पोचमपल्ली नामक गाँव में हुई थी जहाँ आचार्य भावे के समक्ष एक हरिजन ने यह समस्या रखी कि उसके साथियों के पास खेती करने के लिए भूमि नहीं है। इसी अवसर पर आचार्य भावे के सुझाव पर एक कृषक श्री रामचन्द्र रेही ने 70 एकड़ भूमि इस प्रकार के हरिजनों को देने की घोषणा की। तभी से यह आन्दोलन चलाया गया। आचार्य भावे ने अगले पाँच वर्षों में 5 करोड़ एकड़ भूमि इस प्रकार एकत्रित करने का लक्ष्य पूरा करने का संकल्प किया था, लेकिन अभी तक कुल 42 लाख एकड़ भूमि ही प्राप्त की जा सकी इसमें से 8.8 लाख एकड़ भूमि ही वितरित की जा सकी है। आन्दोलन के सूत्रधार आचार्य भावे की मृत्यु हो जाने के कारण अब इस आन्दोलन में कोई प्रगति होने की सम्भावना प्रतीत नहीं होती है।

(4) भूस्वामित्व का रिकॉर्ड—भूमि सुधार कार्यक्रम के अन्तर्गत भूस्वामित्व के रिकॉर्ड को अद्यतन (up-to-date) करने व उसको उचित प्रकार से रखने के लिए भी प्रयास किये गये हैं। आन्ध्र प्रदेश, हरियाणा, जम्मू एवं कश्मीर, गुजरात, पंजाब, राजस्थान, केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र व पश्चिम बंगाल के रिकॉर्ड अद्यतन हैं, जबकि शेष राज्यों में भी इन्हें अद्यतन किया जा रहा है। इस सन्दर्भ में राष्ट्रीय भूमि अभिलेख आधुनिकीकरण कार्यक्रम भी संचालित किया जा रहा है।

भूमि सुधार कार्यक्रमों का मूल्यांकन या समीक्षा

भारत में पिछले 65 वर्षों में भूमि सुधार के कई कार्यक्रम बड़े उत्साह से प्रारम्भ किये गये हैं जिनके अन्तर्गत जर्मांदारी उन्मूलन, अधिकतम जोत सीमा-निर्धारण, चकवन्दी, सहकारी खेती, लगान नियम एवं पट्टे की सुरक्षा की व्यवस्था की गयी है। इससे भूमि सुधार की ओर प्रशंसनीय प्रगति हुई है। संयुक्त राष्ट्र की भूमि सम्बन्धी एक रिपोर्ट में उल्लेख किया गया है कि “भारत में भूमि सुधार से हाल के अधिनियम संख्यात्मक दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। इतने अधिनियम कहीं भी नहीं बनाये गये हैं। यह अधिनियम लाखों, करोड़ों कृषकों पर प्रभाव डालते हैं और भूमि के विशाल क्षेत्रों को अपने दायरों में समिलित करते हैं, लेकिन ऐसा होने पर भी भूमि सुधार कार्यक्रमों की प्रगति धीमी रही है।” इसलिए प्रो. दान्तवाला का मत है कि “अब तक भारत में जो भूमि सुधार हुए हैं या निकट भविष्य में होने वाले हैं वे सभी सही दिशा में हैं, लेकिन क्रियान्वयन के अभाव में इनके परिणाम सन्तोषजनक नहीं रहे।” भारत के भूमि सुधार कार्यक्रमों को लागू करने में कुछ कमियाँ रही हैं जिनको इसकी आलोचनाएँ या धीमी गति के कारण भी कहा गया है।

भूमि सुधार कार्यक्रमों की कमियाँ या आलोचनाएँ या धीमी गति के कारण निम्नवत् हैं :

(1) भूमि सुधार कार्यक्रमों में भिन्नता—भूमि सुधार कार्यक्रमों की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि विभिन्न राज्यों में भूमि सुधार सम्बन्धी अधिनियम भिन्न-भिन्न हैं जिससे राष्ट्रीय स्तर पर उनको एक साथ क्रियान्वित नहीं किया जा सका है।

(2) प्रभावशाली क्रियान्वयन का अभाव—भूमि सुधार कार्यक्रमों का प्रभावशाली ढंग से क्रियान्वयन नहीं किया गया है जिसके परिणामस्वरूप समाज व सरकार को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ है। इस सम्बन्ध में प्रो. गुज्जार मिर्डल ने अपनी पुस्तक ‘Asian Drama’ में लिखा है, “भूमि सुधार कानून जिस ढंग से क्रियान्वित

किये गये हैं उससे सामान्यतः उनकी (कानूनों की) भावनाओं और अभिप्राय को हताश होना पड़ा है।” उन्होंने आगे लिखा है कि भूमि सम्बन्धी कानूनों के पास हो जाने से काश्तकारों में बेदखली की एक लहर-सी दौड़ गयी है और तथाकथित ‘खुदकाश्त’ के लिए भूमि का पुनर्ग्रहण किया गया है। खुदकाश्त की भूमि पर बॉटाईदार व कृषि श्रमिक कार्य करते हैं। सीमा निर्धारण से बचने हेतु अनियमित व अवैधानिक हस्तान्तरण किये गये हैं जिससे अतिरिक्त भूमि नगार्य मात्रा में ही मिल पायी है। इसके कारण (i) जमींदारों ने इन पेचीदे कानूनों में से कमियाँ निकालकर बचने के रास्ते अपना लिये हैं। (ii) राजनीतिक दबाव का इस्तेमाल भी कानून की अवहेलना के लिए किया गया प्रतीत होता है। (iii) भूमि सुधार कानूनों को क्रियान्वित करने वाले अधिकारियों द्वारा भूमि सम्बन्धी रिकॉर्ड में परिवर्तन किये गये हैं।

(3) जाली सहकारी कृषि समितियाँ—बड़े भूमि स्वामियों ने भूमि सुधार कार्यक्रम लागू होने से अपना बचाव करने के उद्देश्य से सहकारी कृषि समितियाँ बना ली हैं। इस प्रकार अधिकांश कृषि सहकारी समितियाँ जाली हैं। डॉ. के. एन. राज के शब्दों में, “सामान्यतया सहकारिताएँ सम्पन्न व्यक्तियों के द्वारा सस्ती दरों पर विकास कार्यक्रमों के लिए प्रदान की जाने वाली सुविधाओं को हथियाने का साधन बनी हुई हैं।”

(4) ऊँचे लगान—भूमि सुधारों के फलस्वरूप काश्तकारों पर लगान ऊँची दरों से लगाया गया है जिससे किसान को उत्पादकता बढ़ाने की प्रेरणा नहीं मिली है।

(5) भूमि सम्बन्धी प्रलेखों का अपूर्ण होना—भूमि सुधार कार्यक्रमों में दूसरी अड़चन भूमि सम्बन्धी प्रलेखों का अपूर्ण होना है जिससे स्वामित्व-निर्धारण में कठिनाई होती है।

(6) भूमि सुधार कानूनों का धीमा क्रियान्वयन—इन भूमि सुधार कानूनों का क्रियान्वयन तेज गति से न होने के कारण जमींदारों व अन्य निहित स्वार्थ वालों को इन कानूनों से बचने का पूरा-पूरा कानूनी समय या अवसर मिल जाता है और वे कानून के अनुसार अपनी-अपनी जोत कर लेते हैं।

(7) भूमि सुधारों के एकीकृत कार्य का अभाव—भूमि सुधार के कई कार्यक्रम हैं; जैसे—चकबन्दी, अधिकतम जोत कानून, सहकारी कृषि, आदि। इनमें तालमेल बैठाने की आवश्यकता है जिसकी कोई चेष्टा नहीं की गयी है। इसी प्रकार जब अतिरिक्त भूमि बॉटी जाती है तब साख या वित्त की सुविधा उन भूमिहीन कृषकों को दिलाने का कोई प्रबन्ध नहीं किया जाता जिनको वह भूमि मिलती है। भूमि सुधार कार्यक्रम कई चरणों में लागू किये गये हैं इससे भी सफलता कम मिलती है।

भूमि सुधार कार्यक्रमों की सफलता के लिए निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं :

(1) नवीन रिकॉर्ड तैयार किया जाए—भूमि के सम्बन्ध में नवीन रिकॉर्ड तैयार किया जाय जिससे कि स्वामित्व के प्रश्न पर मतभेद न हो सके।

(2) कुशल प्रशासनिक मशीनरी की स्थापना—राज्य, जिला व तहसील स्तर पर कुशल प्रशासनिक मशीनरी की स्थापना की जाय, लेकिन इसमें पटवारी को दूर रखा जाय।

(3) खेतिहर श्रमिकों के संघ की स्थापना—इन खेतिहर श्रमिकों व बॉटाई वालों के संगठन बनाये जायें तथा उनके प्रतिनिधियों को भूमि सुधार कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में शामिल किया जाय।

(4) वित्तीय संसाधनों का प्रबन्ध—जिन नये कृषकों को भूमि मिले इनके लिए वित्तीय संसाधनों का प्रबन्ध किया जाना चाहिए जिससे कि वे उस भूमि का समुचित उपयोग कर सकें।

(5) कानूनों का प्रचार—भूमि सुधार कानूनों का क्षेत्रीय भाषाओं के अखबारों, आकाशवाणी व टेलीविजन के माध्यम से प्रचार किया जाना चाहिए जिससे कि किसान इन कानूनों को समझकर अधिकाधिक लाभ प्राप्त कर सके।

(6) निर्धारित कार्यक्रमानुसार क्रियान्वयन—योजना आयोग ने सुझाव दिया है कि भूमि सुधार कानूनों को सफल बनाने के लिए निर्धारित कार्यक्रमानुसार (Time-bound programme) क्रियान्वित किया जाना चाहिए।

(7) लागू करने की विधियों को सरल बनाना (Making Implementation Easy)—भूमि सुधार कानूनों की कानूनी विधियों को सरल बनाया जाना चाहिए जिससे कि कानून बिना अड़चन ठीक प्रकार से कार्य कर सके।

आशा है, यदि इन विभिन्न उपायों को उचित रूप से कार्यान्वित कर दिया गया तो भूमि सुधार प्रभावशाली ढंग से किये जा सकेंगे जिससे समाज को लाभ होगा।

कृषि में भूमि सुधार का योगदान

अथवा

आधुनिक भूमि सुधार कार्यक्रमों का भारतीय कृषि पर प्रभाव

आधुनिक भूमि सुधार कार्यक्रमों (जर्मिंदारी उन्मूलन, काश्तकारी व्यवस्था में सुधार, जोतों की अधिकतम सीमा का निर्धारण व कृषि का पुनर्गठन—चकबन्दी, सहकारी खेती, भूदान व स्वामित्व का रिकॉर्ड) से कृषि पर अच्छा प्रभाव पड़ा है जिसका विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है :

(1) कृषि उत्पादन में वृद्धि—भूमि सुधार कार्यक्रमों के अपनाने से जोतों की चकबन्दी हुई है। भविष्य में उन्हें छोटा होने से रोका गया है तथा किसानों को स्वामित्व अधिकार मिले हैं। पट्टेदारों को बेदखल होने से बचाया है। इन सभी का प्रभाव यह पड़ा है कि किसान में आत्मविश्वास जागा है जिससे उसने कृषि उत्पादन बढ़ाने में कोई कमी नहीं छोड़ी है। इसका प्रभाव यह हुआ है कि कृषि उत्पादन में बराबर वृद्धि हो रही है।

(2) कृषि में यन्त्रीकरण को बढ़ावा—भूमि सुधार कार्यक्रमों के फलस्वरूप कृषि में यन्त्रीकरण को बढ़ावा मिला है क्योंकि किसान का खेत जब चकबन्दी व अन्य उपायों से एक स्थान पर हो गया और उसे स्वामित्व अधिकार मिल गया तो उसको खेतों में यन्त्रों का उपयोग करने का अवसर मिल गया। इससे यन्त्रीकरण को बढ़ावा मिला।

(3) भूमिहीन कृषकों को भूमि—भूमि सुधार कार्यक्रमों के कारण भूमिहीन कृषकों अर्थात् खेतिहार मजदूरों को खेती करने के लिए भूमि मिल गई है जिससे एक ओर तो आर्थिक समानता की ओर बढ़े हैं व दूसरी ओर कृषि उत्पादन करने में उनमें लगन जाग्रत हुई है जो कृषि उत्पादन बढ़ाने में सहायक हुई है।

(4) बहुफसली कार्यक्रम को बढ़ावा—पहले किसान एक या दो फसलें ही करता था लेकिन भूमि सुधार होने से उसे भूमि का स्वामित्व मिल गया जिससे वह उस भूमि का अधिकतम उपयोग करने के उद्देश्य से बहुफसली कार्यक्रम अपना रहा है। यहां बहुफसली कार्य से अर्थ है कि एक से अधिक फसलें उत्पादित करना।

(5) सहकारी कृषि को प्रोत्साहन—सहकारी कृषि से अर्थ खेती की उस प्रणाली से है जिसमें कृषक अपने छोटे-छोटे खेतों एवं साधनों को एकत्रित कर संयुक्त रूप से खेती करते हैं और उपज से प्राप्त आय का वितरण भूमि के अनुपात एवं श्रम के आधार पर कर लेते हैं। भूमि सुधार कार्यक्रमों ने इसको बढ़ावा दिया है जिससे यहां सहकारी संयुक्त कृषि व सहकारी सामूहिक कृषि के लिए कई हजार समितियां गठित की गई हैं जो कृषि उत्पादन बहुत ही अच्छे ढंग से कर रही हैं। इससे न केवल उत्पादन बढ़ रहा है बल्कि उन सहकारी समितियों के सदस्यों अर्थात् किसानों को आर्थिक लाभ भी हो रहा है जिससे उनकी आय में वृद्धि हो रही है।

(6) नगदी फसलों में वृद्धि—भूमि सुधार कार्यक्रमों के फलस्वरूप किसान को न केवल स्वामित्व के अधिकार मिले हैं बल्कि उनकी आय में भी वृद्धि हुई है जिससे वह अपनी आय और बढ़ाने के लिए नगदी फसलों (Cash crops) की खेती अधिक करने लगा है। इन फसलों में गन्ना, तिलहन, मुँगफली, नारियल, फल व सब्जियां, चाय, काफी, तम्बाकू, कपास, जूट, आदि आते हैं।

(7) कृषि से सरकारी आय में वृद्धि—भूमि सुधार से कृषकों का सीधा सम्बन्ध सरकार से हो गया है जिससे सरकार की लगान से आय में वृद्धि हुई है। 1951-52 में सरकार को केवल 48 करोड़ ₹ लगान के रूप में मिलते थे, लेकिन यह आय वर्तमान में बढ़कर 1,500 करोड़ ₹ प्रतिवर्ष हो गई है।

कृषि जोत से अर्थ

कृषि जोत का अर्थ दो प्रकार से लगाया जाता है—(1) भूस्वामी की जोत (Owner's Holding) व (2) कृषक की जोत (Cultivator's Holding)। भूस्वामी की जोत से अर्थ भूमि के उस आकार (Size) से है जिस पर किसी व्यक्ति का स्वामित्व है। यह स्वामित्व भूमिधर, काश्तकार या पट्टेदार के रूप में हो सकता है। इसी प्रकार कृषक की जोत से अर्थ भूमि के उस आकार (Size) से है जिसको कृषक के द्वारा वास्तव में जोता जाता है। भूस्वामी की जोत व कृषक की जोत दोनों एक ही हो सकती हैं, जबकि भूस्वामी अपनी समस्त भूमि पर खेती करता है। लेकिन, इसके विपरीत यदि भूस्वामी अपनी कुछ भूमि को लगान पर किसी अन्य को खेती करने के लिए उठा देता है और शेष भूमि को अपने खेती करने के लिए रख लेता है, तो भूस्वामी की जोत व कृषक की जोत अलग-अलग हो जाती हैं। हमारा यहां कृषि जोत से अर्थ कृषक जोत (Cultivator Holding) से है। इसी को कार्यशील जोत (Operational Holding) भी कहते हैं।

कृषि जोत की विभिन्न धारणाएँ

कृषि जोत की विभिन्न धारणाओं को पाँच भागों में रखा जा सकता है—(1) आर्थिक जोत, (2) पारिवारिक जोत, (3) अनुकूलतम जोत, (4) बुनियादी जोत व (5) अधिकतम जोत।

(1) **आर्थिक जोत**—आर्थिक जोत के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं :

(i) **कीटिंग (Keating)** के मत में, “आर्थिक जोत वह है जो एक व्यक्ति को आवश्यक व्यय घटाने के बाद उसे और उसके परिवार को उचित सुविधाएँ सहित पर्याप्त उत्पादन करने का अवसर देती है।”

(ii) **डॉ. मन (Mann)** के अनुसार, “आर्थिक जोत से अर्थ उस जोत से है जो कि किसी को न्यूनतम जीवन-स्तर पर रहने के लिए पर्याप्त उत्पादन करने का अवसर दे।”

(iii) **स्टेनले जेवन्स (Stanley Jevons)** के शब्दों में, “आर्थिक जोत वह है जो कृषक को एक समुचित अच्छा जीवन-स्तर रखने में समर्थ बनाती है।”

(iv) **कांग्रेस कृषि सुधार समिति (Agrarian Reforms Committee)** के अनुसार, “आर्थिक जोत वह है जो किसान को रहन-सहन का उचित स्तर प्रदान करती है, एक सामान्य आकार के परिवार को वर्ष भर रोजगार प्रदान करती है तथा सम्बन्धित प्रदेश की व्यवस्था को बल देती है।”

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि कृषि जोत की परिभाषाओं को कृषक के जीवन-स्तर से जोड़कर दिया गया है जिसमें न्यूनतम जीवन-स्तर या समुचित जीवन-स्तर या उचित सुविधाओं की बात कही गयी है, लेकिन जीवन-स्तर तो एक सापेक्षिक (relative) विचार है और साथ ही समय-समय पर बदलता रहता है। इसका अर्थ यह है कि आर्थिक जोत की परिभाषा भी समयानुसार बदलती रहती है। वर्तमान में आर्थिक जोत से अर्थ उस जोत से लगाते हैं, जो एक कृषक को उचित रहन-सहन का स्तर प्रदान करती है।

(2) **पारिवारिक जोत**—योजना आयोग के अनुसार, “पारिवारिक जोत वह जोत है जो स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार और कृषि की वर्तमान पद्धति के अन्तर्गत एक औसत आकार वाले परिवार के लिए, उस सहायता सहित काम करते हुए (जो कृषि में सामान्यतः उपलब्ध होती है) एक हल इकाई या एक कार्य इकाई के बराबर हो।” एक हल इकाई या कार्य इकाई से अर्थ उस क्षेत्रफल से है जिसको एक कृषक एक हल से अच्छी प्रकार से जोत सकता है व वो सकता है। इसको दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि जो न तो बहुत बड़ी ही और न बहुत छोटी ही।

(3) **अनुकूलतम जोत**—अनुकूलतम जोत से अर्थ उस जोत से लगाया जाता है जिसमें भूस्वामी स्वयं खेती करता है तथा उसके द्वारा उत्पादन के साधनों का इस प्रकार सर्वोत्तम ढंग से समन्वय किया जाता है कि जिससे उसको न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पत्ति या उपज मिलती है। अनुकूलतम जोत को आदर्श जोत भी कहते हैं। अनुकूलतम जोत का आकार आर्थिक जोत से बड़ा होता है।

(4) **बुनियादी जोत**—कांग्रेस कृषि सुधार समिति जिसको कुमारपाणी समिति के नाम से पुकारा जाता है, के अनुसार, “बुनियादी जोत से अर्थ लाभग्रद कृषि के लिए आवश्यक न्यूनतम क्षेत्र से है।” इसका स्पष्ट अर्थ है कि जोत का क्षेत्रफल उतना अवश्य ही होना चाहिए कि उससे जीवन-निर्वाह सम्बन्धी आवश्यकताएँ अवश्य पूरी हो सकें। यह बुनियादी जोत आर्थिक जोत से छोटी होती है।

(5) **अधिकतम जोत**—अधिकतम जोत रो अर्थ भूमि के उस क्षेत्रफल से है जिसको एक कृषक अपने स्वामित्व में कानूनी रूप से रख सकता है। कांग्रेस कृषि सुधार समिति के मत में, “अधिकतम जोत साधारणतया आर्थिक जोत के तिगुने से अधिक नहीं होनी चाहिए।” भारत में विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न कानून लागू हैं जिनके अन्तर्गत अधिकतम जोत का क्षेत्रफल भिन्न-भिन्न निश्चित किया गया है।

आर्थिक जोत के आकार को निर्धारित करने वाले घटक

आर्थिक जोत के आकार को निर्धारित करने वाले बहुत-से घटक हैं जिनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं :

(1) **कृषि पद्धति**—खेती करने का तरीका कृषि जोत के आकार को निर्धारित करता है। यदि खेती पुराने ढंग से की जाती है तो आर्थिक जोत का आकार छोटा होगा। इसके विपरीत, यदि खेती आधुनिक साधनों—ट्रैक्टरों, मशीनों, आदि से की जाती है तो आर्थिक जोत का आकार बड़ा होता है।

(2) **कृषि का स्वरूप**—विशेष खेती या विस्तृत खेती करने पर आर्थिक जोत का आकार बड़ा होता है। इसके विपरीत, गहन एवं मिश्रित खेती में आर्थिक जोत का आकार छोटा होता है।

(3) **कृषि का उद्देश्य**—कृषि का उद्देश्य भी आर्थिक आकार को प्रभावित करता है। यदि कृषि का उद्देश्य देश की आन्तरिक भाँग को पूरा करना है तो आर्थिक जोत का आकार छोटा होता है, लेकिन यदि कृषि का उद्देश्य निर्यात करना है तो आर्थिक जोत का आकार बड़ा होता है।

(4) **सिंचाई सुविधाएँ**—जिन स्थानों पर सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं। वहाँ आर्थिक जोत का आकार छोटा होता है। इसके विपरीत, जहाँ सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध नहीं होती हैं या वर्षा पर निर्भर रहना होता है तो वहाँ पर आर्थिक जोत का आकार बड़ा होता है।

(5) **भूमि की उर्वरा शक्ति**—भूमि की उर्वरा शक्ति आर्थिक जोत के आकार को निर्धारित करने वाले घटकों में सबसे महत्वपूर्ण घटक है। जिन स्थानों पर भूमि की उर्वरा शक्ति अधिक होती है वहाँ आर्थिक जोत छोटी होती है। इसके विपरीत, जहाँ भूमि की उर्वरा शक्ति कम होती है वहाँ आर्थिक जोत का आकार बड़ा होता है।

(6) **फसलों की प्रकृति**—आर्थिक जोत के आकार को फसलों की प्रकृति द्वारा भी प्रभावित किया जा सकता है। यदि फसलें जैसे सब्जी, फल, आदि की हैं तो आर्थिक जोत का आकार छोटा होता है, लेकिन चावल, गेहूं, आदि के लिए आर्थिक जोत का आकार बड़ा होता है।

(7) **मण्डियों की दूरी**—वे स्थान जो मण्डियों के पास हैं वहाँ पर आर्थिक जोत का आकार छोटा होता है, लेकिन वे स्थान जो मण्डियों से दूर हैं वहाँ पर आर्थिक जोत का आकार बड़ा होता है। इस प्रकार मण्डी की दूरी भी आर्थिक जोत के आकार प्रभावित करती है।

(8) **कृषि पदार्थों का मूल्य-स्तर**—कृषि पदार्थों का मूल्य-स्तर भी एक महत्वपूर्ण घटक है। यदि कृषि पदार्थों के मूल्य ऊँचे होते हैं तो आर्थिक जोत का आकार छोटा होता है, लेकिन यदि कृषि पदार्थों का मूल्य-स्तर नीचा होता है तो आर्थिक जोत का आकार बड़ा होता है।

(9) **वित्तीय सुविधाएँ**—आर्थिक जोत के आकार को निर्धारित करने वाले घटकों में वित्तीय सुविधाएँ भी आती हैं। यदि किसी स्थान पर कृषकों को पर्याप्त मात्रा में वित्तीय सुविधाएँ मिल जाती हैं, तो वहाँ पर आर्थिक जोत का आकार छोटा हो सकता है, लेकिन इसकी विपरीत स्थिति में आर्थिक जोत बड़ी होती है।

भारत में जोतों का आकार एवं वितरण

भारत में प्रथम कृषि संगणना (Agricultural Census) 1970-71, दूसरी 1976-77, तीसरी 1980-81 में, चौथी संगणना 1985-86 में, पांचवीं 1990-91, छठी 1995-96, सातवीं 2000-01 में, आठवीं 2005-06 में और नौवीं 2010-11 में हुई है। इन संगणनाओं की प्रमुख बातें निम्न प्रकार हैं :

(1) भारत में 1970-71 में 7.05 करोड़ कार्यशील जोतें (Operational Holdings) थीं जो 1980-81 में 8.94 करोड़, 1990-91 में 10.53 करोड़ तथा 2010-11 में 13.78 करोड़ हो गयी। इससे यह अर्थ निकलता है कि कार्यशील जोतों की संख्या बराबर बढ़ रही है।

(2) भारत में जोत का औसत आकार (Average Size of Holding) 1970-71 में 2.3 हेक्टेअर से कम होकर 1980-81 में 1.84 हेक्टेअर, 1990-91 में घटकर 1.55 हेक्टेअर, 2000-01 में 1.33 हेक्टेअर तथा 2010-11 में 1.16 हेक्टेअर रह गया। इस प्रकार भारत में औसत जोत आकार बराबर कम होता जा रहा है।

(3) 2010-11 की संगणना के कुछ तथ्य निम्न प्रकार हैं :

जोतों से अर्थ	जोतों की संख्या (लाखों में)	जोतों का प्रतिशत	जोतों का क्षेत्रफल (मिलियन हेक्टेअर में)	कुल क्षेत्रफल का प्रतिशत	प्रति जोत औसत क्षेत्रफल (हेक्टेअर में)
1. सीमान्त जोतें (Marginal Holdings) (1 हेक्टेअर तक की)	928	67.10	35.9	22.50	0.39
2. लघु जोतें (Small Holdings) (1 से 2 हेक्टेअर तक की)	248	17.91	35.2	22.08	1.42
3. अर्ध-मध्यम जोतें (Semi-medium Holdings) (2 से 4 हेक्टेअर तक की)	139	10.05	37.7	23.62	2.71
4. मध्यम जोतें (Medium Holdings) (4 से 10 हेक्टेअर तक की)	59	4.25	33.8	21.19	5.76
5. बहुत जोतें (Large Holdings) (10 हेक्टेअर या अधिक)	10	0.70	16.9	10.59	17.38
योग	1,384	100.0	159.6	100.0	1.15

इन आँकड़ों में 1 हेक्टेएर से कम वाली जोतों को सीमान्त जोत, 1 हेक्टेएर से 2 हेक्टेएर तक की जोतें लघु जोत, 2 हेक्टेएर से 4 हेक्टेएर तक अर्ध-मध्यम जोतें, 4 हेक्टेएर से 10 हेक्टेएर तक मध्यम जोतें तथा 10 हेक्टेएर या उससे अधिक को बहुत जोतें बताया गया है। लगभग आधे राज्यों में कृषि जोतों का औसत आकार देश के औसत आकार से कम है।

सीमान्त एवं लघु कृषक

(MARGINAL AND SMALL FARMER)

“1 हेक्टेएर से कम वाली जोतों को सीमान्त जोत कहते हैं” तथा इसके स्वामी को सीमान्त कृषक कहते हैं। इसी प्रकार कृषि संगणना में “1 हेक्टेएर से 2 हेक्टेएर तक की जोतों को लघु जोत बताया गया है।” अतः इनके स्वामियों को लघु कृषक कहते हैं।

भारत में इस समय सीमान्त जोतें कुल जोतों की 67.10 प्रतिशत हैं। इसका अर्थ हम यह लगाते हैं कि यहां कुल कृषकों की संख्या का 67.10 प्रतिशत कृषक सीमान्त कृषक (Marginal Farmers) हैं। इसी प्रकार यहां कुल जोतों की 17.91 प्रतिशत जोतें लघु जोतें हैं। इस प्रकार यहां कुल कृषकों की संख्या में 17.91 प्रतिशत लघु कृषक (Small Farmers) हैं। इस प्रकार यहां के 85 प्रतिशत कृषक सीमान्त व लघु कृषक हैं जिनके पास कुल क्षेत्रफल का केवल 44.58 प्रतिशत ही है।

उप-विभाजन एवं अपखण्डन का अर्थ

भूमि के उप-विभाजन (Sub-division) से अर्थ भूमि का किन्हीं कारणों से दो या अधिक व्यक्तियों में बाँटने से है। यह विभाजन उत्तराधिकार नियमों या अन्य किन्हीं कारणों से हो सकता है। अनेक पीढ़ियों से यह परम्परा चली आ रही है कि जब एक परिवार के मुखिया की मृत्यु हो जाती है तो उसकी भूमि उसके पुत्रों में बाँट जाती है। इस बाँटवारे को उप-विभाजन कहते हैं।

अपखण्डन का अर्थ है कृषक की उस समस्त भूमि से जो एक स्थान पर न होकर अनेक स्थानों पर छोटे-छोटे टुकड़ों के रूप में बिखरी होती है, उनमें से प्रत्येक में से हिस्सा पाना।

उप-विभाजन एवं अपखण्डन को एक उदाहरण से और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। यदि किसी कृषक के पास 10 हेक्टेएर भूमि और उसके दो पुत्र हैं तो प्रत्येक को 5-5 हेक्टेएर भूमि मिलेगी। इसको उप-विभाजन कहेंगे, लेकिन यदि कृषक की 10 हेक्टेएर भूमि दो स्थानों पर (5-5 हेक्टेएर) है तो दोनों पुत्रों को 2.5-2.5 हेक्टेएर भूमि दोनों स्थानों पर मिलेगी। इस प्रकार के विभाजन को अपखण्डन कहते हैं।

उप-विभाजन एवं अपखण्डन के कारण

अथवा

भारत में छोटे खेत या जोत का आकार छोटा होने के कारण

उप-विभाजन एवं अपखण्डन के बहुत-से कारण हैं। इन्हीं कारणों को भारत में खेत या जोत का आकार छोटा होने के कारण या लघु कृषक या सीमान्त कृषक बनने में सहायक घटक कहते हैं :

(1) उत्तराधिकार नियम—उप-विभाजन व अपखण्डन का सबसे प्रमुख भारतीय कारण उत्तराधिकार नियम है। इन नियमों में यह व्यवस्था है कि पिता की मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति का बाँटवारा उसके पुत्र एवं पुत्रियों में किया जाता है और प्रत्येक पुत्र एवं पुत्री को हिस्सा प्राप्त करने का कानूनी अधिकार है। इसका परिणाम यह होता है कि यदि उनके पिता की भूमियाँ कई स्थानों पर होती हैं तो वे प्रत्येक स्थान की भूमि में हिस्सा चाहते हैं और इस प्रकार दो या तीन पीढ़ियों में ही भूमि छोटे-छोटे खण्डों या उप-खण्डों में विभाजित हो जाती है।

(2) संयुक्त परिवार प्रणाली का हास—भारत में सैकड़ों वर्ष पूर्व संयुक्त परिवार प्रणाली बड़ी लोकप्रिय थी और घर के सभी सदस्य मिलकर कृषि क्रियाएँ करते थे, लेकिन पाश्चात्य संस्कृति एवं शिक्षा के प्रभाव से व्यक्तिवाद की भावना को बढ़ावा मिला है जिसके परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार प्रणाली का हास होता जा रहा है और भूमि के बाँटवारे की प्रवृत्ति बलवती होती जा रही है।

(3) जनसंख्या वृद्धि—भारत में जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ रही है और अनुमान है कि प्रतिवर्ष 1.60 करोड़ व्यक्ति बढ़ जाते हैं जिसमें से लगभग आधी वृद्धि कृषि भूमि पर होती है, लेकिन कृषि भूमि के क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण वृद्धि नहीं होती है। इसका परिणाम यह होता है कि कृषि पर जनसंख्या का भार बढ़ जाता है जिससे उप-विभाजन व अपखण्डन को प्रोत्साहन मिलता है।

(4) भूमि से मोह—भारतीय कृषकों में पैतृक भूमि के प्रति काफी मोह पाया जाता है जिसके कारण वे पैतृक भूमि से, चाहे भूमि का छोटा ही टुकड़ा क्यों न मिले, पाने के लिए बड़े उत्सुक होते हैं। साथ ही सामाजिक धारणाओं एवं रुद्धिवादिताओं ने इस मोह या लगाव के प्रति काफी आकर्षण पैदा कर दिया है। इस प्रकार भूमि के प्रति मोह होने के कारण भी उप-विभाजन व अपखण्डन हो जाता है।

(5) कृषकों की ऋणग्रस्तता—कृषकों की ऋणग्रस्तता भी उप-विभाजन व अपखण्डन का एक कारण है। प्रायः भारतीय कृषकों के बारे में कहा जाता है कि वे ऋण में ही जन्म लेते हैं और ऋणों का भार लेकर ही इस दुनिया से चले जाते हैं। कृषक को जब कभी भी ऋण की आवश्यकता होती है तो वह भूमि को ही गिरवी रखकर ऋण प्राप्त कर लेता है, लेकिन ऋण को न चुका पाने की स्थिति में भूमि का कुछ भाग बेचकर ऋण से मुक्ति पा लेता है। इस प्रकार यह प्रवृत्ति भूमि के उप-विभाजन व अपखण्डन को प्रोत्साहित करती है।

(6) ग्रामोद्योगों का पतन—भारत कुटीर एवं ग्रामोद्योगों के लिए काफी प्रसिद्ध रहा है, लेकिन मशीनों से बनी वस्तुओं की प्रतियोगिता के कारण इन उद्योगों का पतन हो रहा है। अतः ऐसे लोगों के पास बेरोजगारी से बचने के लिए सिवाय भूमि में हिस्सा पाने के कोई और चारा नहीं रहा है। इस प्रकार यहाँ भूमि का उप-विभाजन व अपखण्डन इस कारण भी होता है।

(7) कृषकों की अज्ञानता व अशिक्षा—कृषकों की अज्ञानता एवं अशिक्षा भी भूमि के उप-विभाजन व अपखण्डन के लिए उत्तरदायी है। वे अपनी अज्ञानता के कारण इससे उत्पन्न होने वाले गम्भीर दोषों से अनभिज्ञ रहते हैं और भूमि के विभाजन पर जोर देते हैं जिसके परिणामस्वरूप विभाजन करना पड़ जाता है।

खेत छोटा होने या उप-विभाजन एवं अपखण्डन से लाभ

(ADVANTAGES OF SMALL FARMS OR SUB-DIVISION AND FRAGMENTATION)

यद्यपि उप-विभाजन व अपखण्डन को कई दृष्टिकोणों से उचित नहीं माना जाता है, लेकिन फिर भी इसके कुछ लाभ अवश्य हैं जो कि निम्नलिखित हैं। इन्हीं लाभों को खेत छोटा होने के लाभ या लघु एवं सीमान्त कृषि के लाभ भी कहते हैं :

(1) सीमित साधनों का सर्वोत्तम उपयोग—उप-विभाजन व अपखण्डन से छोटा खेत मिलने के कारण कृषक अपने सीमित साधनों का सर्वोत्तम उपयोग करने का भरसक प्रयत्न करता है और कार्य के प्रति रुचि बनाये रखता है।

(2) आर्थिक समानता—देश में उत्तराधिकार कानूनों के कारण भी उप-विभाजन व अपखण्डन होता है जिससे आर्थिक समानता उत्पन्न होती है जो समाजवादी समाज की स्थापना में सहयोग देती है तथा सामन्तवादी प्रवृत्ति को हतोत्साहित करती है।

(3) क्षतिपूरक बीमा—एक कृषक के पास अनेक छोटे-छोटे खेत होने से क्षतिपूरक बीमे का लाभ मिल जाता है। यदि किन्हीं कारणों से एक खेत में क्रीटाणु लग जाते हैं या पाला पड़ जाता है या वहाँ वर्षा नहीं होती तो कृषक को अन्य खेत से तो आय हो ही जाती है। इस प्रकार कई खेत उसके लिए क्षतिपूरक बीमे का कार्य करते हैं।

(4) जीविकोपार्जन का साधन—उत्तराधिकार नियमों के कारण कृषक को भूमि का टुकड़ा अवश्य ही मिल जाता है जिससे वह अन्य साधनों के अभाव में जीविकोपार्जन कर सकता है।

(5) विभिन्न भूमियों के लाभ—सभी भूमियाँ समान गुण वाली नहीं होती हैं। कोई भूमि गेहूं की खेती के लिए उपयुक्त है तो कोई चावल की खेती के लिए। इस प्रकार कृषक इन विभिन्न प्रकार की भूमियों में विभिन्न प्रकार की खेती कर लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

(6) फसलों की अदला-बदली—कृषि विशेषज्ञों का कहना है कि एक भूमि पर बार-बार एक ही फसल करने से उस भूमि के तत्वों में कमी हो जाती है। अतः फसलों में अदला-बदली करते रहना चाहिए। इससे भूमि की उत्पादक शक्ति यथावत् बनी रहती है। छोटे-छोटे खेत होने से फसलों की अदला-बदली आसान हो जाती है और इस प्रकार इसका लाभ उठाया जा सकता है।

(7) विपणन में सुविधा—खेत छोटे-छोटे होने से उत्पादन भी थोड़ी ही मात्रा में होता है। अतः इसको आस-पास के बाजारों में ही बेचा जा सकता है। इस प्रकार उत्पादन का संग्रह करने व मण्डी तक ले जाने की आवश्यकता नहीं रहती है तथा विपणन व्ययों की बचत हो जाती है।

(8) गहरी खेती—छोटे खेत कृषक को गहरी खेती के लिए प्रोत्साहित करते हैं जिससे उत्पादन बढ़ता है और देश खाद्यान्नों में आत्म-निर्भरता की ओर अग्रसर होता है।

(9) अधिक रोजगार—खेतों का आकार छोटा होने के कारण अधिक व्यक्तियों को रोजगार मिल जाता है। यदि खेतों का आकार बड़ा होता है तो मशीनों व यन्त्रों से काम लेकर कम व्यक्तियों से काम चलाया जा सकता है।

(10) न्यायपूर्ण—उप-विभाजन व अपखण्डन न्यायपूर्ण है, क्योंकि सभी को सभी भूमियों में हिस्सा मिल जाता है। इससे आपस में प्रेम-भाव बढ़ता है।

उप-विभाजन एवं अपखण्डन की हानियाँ या दुष्परिणाम

अथवा

छोटे खेतों या जोतों के छोटे होने के परिणाम

उप-विभाजन एवं अपखण्डन के जो लाभ दिये गये हैं वे हानियों के आगे निरर्थक हो जाते हैं और एक विकसित समाज की दृष्टि से अधिक महत्व के नहीं रहते हैं। इनकी मुख्य हानियाँ निम्नलिखित हैं जिन्हें उप-विभाजन एवं अपखण्डन के दोष या जोतों के छोटे होने के परिणाम या लघु एवं सीमान्त कृषि के दुष्परिणाम या समस्याएं कहा जाता है :

(1) पूंजीगत साधनों का अपूर्ण उपयोग—उप-विभाजन एवं अपखण्डन का मुख्य दोष या हानि यह है कि खेतों का क्षेत्रफल छोटा होने के कारण बैलों व खेती के औजारों को पूरा काम नहीं मिलता है जिसका परिणाम यह होता है कि प्रति इकाई उत्पादन लागत अधिक बैठती है जिससे इनमें उत्पादन लाभप्रद नहीं होता है।

(2) कृषि के विकास में बाधक—डॉ. जैड. ए. अहमद के अनुसार, “छोटे खेत समृद्धिशाली कृषि के विकास में बाधा डालते हैं, क्योंकि वैज्ञानिक उपकरणों एवं उत्तम प्रकार के बीजों का इनमें उपयोग नहीं किया जा सकता है।”¹

(3) सिंचाई में कठिनाई—छोटे-छोटे खेतों में सिंचाई की व्यवस्था करने में बड़ी कठिनाई होती है और कृषक के लिए यह सम्भव नहीं होता है कि सभी छोटे खेतों में ट्यूबवैल का निर्माण करा सके। यदि एक बार को सभी खेतों पर सिंचाई की व्यवस्था कर भी दी जाय तो फिर ट्यूबवैलों का पूरा उपयोग नहीं हो सकता है।

(4) देखभाल में कठिनाई—छोटे-छोटे भू-खण्ड होने से सभी भू-खण्डों की उचित व्यवस्था नहीं हो पाती है और न सभी की उचित देखभाल हो पाती है जिसके परिणामस्वरूप फसल कम मात्रा में ही होती है।

(5) विवादों में वृद्धि—सामान्यतया प्रत्येक खेत की बाउण्डी मिट्टी की मेड़ की होती है जो पारस्परिक विवादों की जड़ होती है और यह पाया जाता है कि पड़ोसी द्वारा मेड़ काटकर अपने खेत में मिला लिया जाता है जिसके परिणामस्वरूप विवाद छिड़ जाते हैं जिसके कभी-कभी बड़े गम्भीर परिणाम होते हैं।

(6) भूमि का अपव्यय—उप-विभाजन व अपखण्डन की हानि यह है कि इसमें खेतों की बाउण्डी लगाने में बहुत-सी भूमि व्यर्थ ही बिना उपयोग के रह जाती है जिसे भूमि का अपव्यय कहा जाता है। ऐसा अनुमान है कि 10 प्रतिशत भूमि का इस प्रकार अपव्यय होता है।

(7) अर्द्ध-वेरोजगारी—कृषि जोतों के छोटे होने के कारण कृषक के पूरे परिवार को वर्ष भर काम नहीं मिल पाता है और इस प्रकार वे अर्द्ध-वेरोजगारी की स्थिति में रहते हैं। परिणामतः उनको जीवनयापन के लिए अन्यत्र काम पर जाना पड़ता है या उधार लेकर गुजारा करना पड़ता है।

(8) श्रम एवं अन्य साधनों का अपव्यय—भूमि के अपखण्डन एवं उप-विभाजन से श्रम एवं अन्य साधनों का अपव्यय होता है, क्योंकि कृषक के द्वारा इन सभी साधनों को एक खेत से दूसरे खेत व फिर तीसरे खेत पर ले जाना पड़ता है। इस प्रकार यह अपखण्डन एवं उप-विभाजन का एक दोष है।

(9) निम्न जीवन-स्तर—छोटी-छोटी जोतों के होने के कारण कृषक की खेती अनार्थिक रहती है और वह अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं कर पाता है जिससे उसका जीवन-स्तर निम्न बना रहता है।

(10) भूमि की उर्वरा शक्ति का हास—यदि भूमि को बिना जोते कभी-कभी छोड़ दिया जाय तो उसमें उर्वरा शक्ति बनी रहती है, लेकिन यदि उस पर बराबर खेती होती रहे तो उसमें हास होता है। उप-विभाजन एवं अपखण्डन के कारण खेत छोटे-छोटे हो जाते हैं जिससे जीवनयापन के लिए निरन्तर खेती करना आवश्यक हो जाता है इससे भूमि की उर्वरा शक्ति का हास होता है।

¹ Dr. Z. A. Ahmed, *The Agrarian Problem in India*, pp. 3-4.

(11) भूमि सुधार में बाधा—भूमि का उप-विभाजन व अपखण्डन भूमि सुधार में बाधा उत्पन्न करता है।

(12) हरित क्रान्ति में बाधा—भूमि का उप-विभाजन व अपखण्डन हरित क्रान्ति में एक बाधा बना हुआ है। छोटे किसान इस हरित क्रान्ति का लाभ नहीं उठा पा रहे हैं। सिंचाई, उन्नत बीज, रासायनिक खाद की व्यवस्था सभी खेतों पर नहीं कर पाते हैं और खेतों को भाग्य पर छोड़ दिया जाता है।

उप-विभाजन एवं अपखण्डन की समस्या का हल

अथवा

खेतों का आकार छोटा होने से रोकने के लिए सुझाव

यदि कृषि में विकास करना है तो उप-विभाजन व अपखण्डन की समस्या का हल दो दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर करना होगा। एक तो वर्तमान में जो छोटे-छोटे खेत हैं उन्हें एक स्थान पर करना होगा। दूसरे, भविष्य में उप-विभाजन व अपखण्डन न हो इसकी भी कोई कानूनी व्यवस्था करनी होगी। इन दृष्टियों से उप-विभाजन व अपखण्डन की समस्या को निम्न प्रकार हल किया जा सकता है। इन्हीं बातों को खेतों का आकार छोटा होने से रोकने के लिए सुझाव या लघु सीमान्त कृषकों की संख्या कम करने के सुझाव या दशा सुधारने के सुझाव भी कहते हैं।

(1) चकबन्दी—चकबन्दी का अर्थ एक कृषक के बिखरे हुए खेतों को एक चक कर देने से है। इसका आशय यह है कि खेतों के कुल मूल्य के बराबर एक स्थान पर एक बड़ा खेत प्रदान करना। यह चकबन्दी ऐचिक व कानूनी दोनों ही प्रकार से हो सकती है। अब तक मणिपुर, त्रिपुरा, तमिलनाडु, केरल, आन्ध्र प्रदेश, तेलंगाना, अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम, मेघालय व नगालैण्ड को छोड़कर सभी राज्यों ने चकबन्दी कानून बनाकर लागू कर दिये हैं। अब तक देश में 1,633.47 लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी की जा चुकी है, जो काश्त की जाने वाली भूमि का लगभग 40 प्रतिशत है। हरियाणा, पंजाब व पश्चिमी उत्तर प्रदेश में चकबन्दी का कार्य पूरा हो चुका है।

(2) भूमि की न्यूनतम सीमा का निर्धारण—भूमि के उप-विभाजन व अपखण्डन को रोकने के लिए जोतों की न्यूनतम सीमा भी निर्धारित की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में लगभग सभी राज्यों ने अधिनियम बना दिये हैं जिनमें जोत की न्यूनतम सीमा भी निर्धारित कर दी गयी है।

(3) भूमि की अधिकतम सीमा का निर्धारण—भूमि की अधिकतम सीमा का निर्धारण भी किया जाना चाहिए जिससे कि उन व्यक्तियों से, जिनके पास भूमि निश्चित मात्रा से अधिक है, सरकार द्वारा ली जा सके और उन कृषकों में वितरित की जा सके जिनके खेत अनार्थिक हैं। इस सम्बन्ध में लगभग सभी राज्यों ने अधिनियम बनाकर लागू कर दिये हैं।

(4) सहकारी कृषि—उप-विभाजन व अपखण्डन का बहुत ही महत्वपूर्ण हल सहकारी कृषि हो सकता है। यहाँ सहकारी कृषि से अर्थ ऐसी व्यवस्था से है जिसमें कृषक अपनी इच्छा से समानता के आधार पर मिलकर भूमि का संयुक्तीकरण कर लेते हैं और फिर उस पर खेती करते हैं तथा उत्पादन को आपस में निश्चित आधार पर बाँट लेते हैं।

(5) उत्तराधिकार नियमों में परिवर्तन—उप-विभाजन व अपखण्डन को भविष्य में रोकने के लिए उत्तराधिकार नियमों में परिवर्तन किया जाना चाहिए जिससे कि एक निश्चित मात्रा से कम भूमि होने पर उसका विभाजन न किया जा सके, लेकिन यदि विभाजन आवश्यक हो और खेत निश्चित आकार से छोटा हो रहा हो तो ऐसी स्थिति में उनकी सहकारी खेती करना अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए।

(6) ग्रामीण एवं लघु उद्योगों का विकास—जनसंख्या में वृद्धि होने से भूमि पर दबाव बहुत बढ़ गया है। अतः इस दबाव को कम करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामीण एवं लघु उद्योगों की स्थापना की जानी चाहिए जिससे कि परिवार के सदस्यों द्वारा विभाजन पर जोर न दिया जा सके और वे अपने जीवनयापन के लिए उद्योगों में लग सकें।

जोतों की चकबन्दी

स्ट्रिकलैण्ड (Strikland) के अनुसार, “चकबन्दी वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा स्वामित्वधारी कृषकों को उनके इधर-उधर बिखरे हुए खेतों के बदले में उसी किस्म के कुल उतने ही आकार के एक या दो खेत लेने के लिए राजी किया जाता है।” इस प्रकार चकबन्दी एक परिवार के बिखरे हुए खेतों को एक स्थान पर करने की प्रक्रिया है, लेकिन चकबन्दी करने में उसी प्रकार की भूमि मिले जिस प्रकार की कृषक की भूमि भिन्न-भिन्न

स्थानों पर है, ऐसा होना सदा सम्भव नहीं है। उसको पहले से अच्छी या घटिया भूमि मिल सकती है ऐसी स्थिति में भूमि का मूल्य लगाया जाता है। यदि उसको पहले से अच्छी भूमि मिलती है तो उसकी मात्रा कम होती है। इसके विपरीत, यदि भूमि पहले से घटिया मिलती है तो उसकी मात्रा अधिक होती है, लेकिन जब भूमि की कुल मात्रा को बढ़ाया नहीं जा सकता है तो फिर इसकी क्षतिपूर्ति रूपयों में आँकी जाती है जिसको लेकर या देकर हिसाब किया जाता है।

यह चकबन्दी दो प्रकार की होती है—(1) ऐच्छिक चकबन्दी, (2) अनिवार्य चकबन्दी।

(1) **ऐच्छिक चकबन्दी**—इससे अर्थ उस चकबन्दी से है जिसमें चकबन्दी कराना कृषक की इच्छा पर निर्भर करता है। उस पर चकबन्दी कराने के लिए दबाव नहीं डाला जाता है। अतः इस प्रकार की चकबन्दी से अच्छे परिणाम निकलते हैं और बाद में विवाद खड़ा नहीं होता है। इस प्रकार की चकबन्दी की शुरुआत भारत में सबसे पहले पंजाब राज्य में 1921 में हुई थी जहाँ पर सहकारी समितियों द्वारा यह कार्य किया गया था। पंजाब के समान ही अन्य राज्यों में भी इसी प्रकार के नियम बनाये गये जिनमें यह व्यवस्था थी कि यदि गाँव के 90 प्रतिशत किसान चकबन्दी के लिए सहमत हों तो उस गाँव में ऐच्छिक चकबन्दी की अनुमति दी जा सकती है। ऐसी स्थिति में शेष 10 प्रतिशत को यह व्यवस्था मानने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। अभी गुजरात, मध्य प्रदेश व पश्चिम बंगाल में ऐच्छिक चकबन्दी कानून हैं।

(2) **अनिवार्य चकबन्दी**—अनिवार्य चकबन्दी से अर्थ उस चकबन्दी से है जिसके अन्तर्गत कृषक को चकबन्दी अनिवार्य रूप से करानी पड़ती है। ऐसी चकबन्दी कानूनी चकबन्दी भी कहलाती है। ऐच्छिक चकबन्दी राज्य गुजरात, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल को छोड़कर तथा आन्ध्र प्रदेश, तेलंगाना, अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम, मणिपुर, मेघालय, नगालैण्ड, त्रिपुरा, तमिलनाडु और केरल हैं जहाँ चकबन्दी सम्बन्धी कोई कानून नहीं हैं, शेष सभी राज्यों में अनिवार्य चकबन्दी कानून लागू हैं।

चकबन्दी की प्रगति—भारत में 9 राज्यों को छोड़कर शेष सभी राज्यों में चकबन्दी सम्बन्धी कानून हैं जिनके अन्तर्गत चकबन्दी की जा रही है। पंजाब व हरियाणा में चकबन्दी का कार्य पूरा किया जा चुका है। उत्तर प्रदेश में भी 90 प्रतिशत कार्य पूरा हो चुका है। शेष राज्यों में अभी आवश्यक गति आना बाकी है। अब तक देशभर में 1,633.47 लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी कर दी गयी है।

भूमि की चकबन्दी करने में कई कठिनाइयाँ एवं बाधाएँ हैं जिनमें से प्रमुख निम्न प्रकार हैं :

(1) **भूमि के प्रति लगाव**—सामान्यतया यह पाया जाता है कि कृषक अपनी पैतृक भूमि को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता है, चाहे उसको उसकी भूमि से अच्छी भूमि ही क्यों न चकबन्दी में दी जाय। इसका मुख्य कारण भूमि के प्रति अत्यधिक स्नेह ही होता है। यह एक ऐसी कठिनाई है जिस पर पार पाना सम्भव नहीं होता है। अतः सुझाव दिया जाता है कि ऐसे परिवर्तन के लिए सामाजिक वातावरण बनाया जाना चाहिए जिसमें सामुदायिक विकास कर्मचारी एवं पंचायतें अपना अच्छा योगदान दे सकती हैं।

(2) **भूमि के मूल्यों में अन्तर**—चकबन्दी में दूसरी कठिनाई भूमि के मूल्यांकन की है। सभी भूमियों की उत्पादन क्षमता एक-सी नहीं होती है और न सभी भूमियों के मूल्य ही एक होते हैं। जो भूमि गाँव के पास होती है उसका मूल्य अधिक होता है, जबकि जो भूमि दूर होती है उसका मूल्य कुछ कम ही होता है। इस प्रकार विभिन्न भूमियों के विभिन्न मूल्य होते हैं। चकबन्दी में उन मूल्यों के उचित निर्धारण की कठिनाई है। यह मूल्य विभिन्न अधिकारियों द्वारा निर्धारित किये जा सकते हैं।

(3) **प्रशिक्षित कर्मचारियों की कमी**—चकबन्दी में तीसरी कठिनाई प्रशिक्षित कर्मचारियों की कमी है। विभिन्न भू-खण्डों का सर्वेक्षण, वर्गीकरण एवं मूल्यांकन करने के लिए प्रशिक्षित कर्मचारियों की आवश्यकता होती है जो सामान्यतया नहीं मिलते हैं जिससे चकबन्दी उचित प्रकार से नहीं हो पाती है।

(4) **एक चक न मिलना**—चकबन्दी में बाधा एक प्रकार की भूमि न मिलने की भी है जिसके परिणामस्वरूप कृषकों को दो या तीन प्रकार के खेत मिलते हैं जो चकबन्दी के उद्देश्यों को पूर्ण रूप से पूरा नहीं करते हैं।

(5) **पक्षपात**—चकबन्दी अधिकारी ईमानदारी से कार्य न करके पक्षपात नीति अपनाते हैं जिससे भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है।

(6) **किसानों द्वारा विरोध**—बड़े किसान इस चकबन्दी का विरोध करते हैं, क्योंकि उन्हें भय रहता है कि कहीं उनकी उपजाऊ भूमि उनके पास से न निकल जाए और उसके बदले में कम उपजाऊ भूमि न मिल जाय।

(7) व्यय—चकबन्दी में एक कठिनाई खर्चों की है। जब चकबन्दी की जाती है तो उसका व्यय कौन दे—सरकार या किसान। किसान खर्च देने का विरोध करता है। अतः ऐसी स्थिति में चकबन्दी के व्यय सरकार द्वारा ही सहन किये जाते हैं।

चकबन्दी होने से कृषकों को निम्नलिखित लाभ होते हैं :

(1) उत्पादन, आय तथा रहन-सहन में सुधार—उसका उत्पादन बढ़ता है जिससे उसकी आय में वृद्धि होती है और रहन-सहन के स्तर में भी उन्नति होती है।

(2) कृषि उन्नति—बड़े खेत होने से कृषि की उन्नति की जा सकती है जिसके लिए ट्यूबवैल, बिजली, ट्रैक्टर, आदि की व्यवस्था की जा सकती है।

(3) पूँजीगत साधनों का पूर्ण उपयोग—कृषक के द्वारा अपने पूँजीगत साधनों—हल-बैल, यन्त्र, आदि का पूरा-पूरा उपयोग किया जा सकता है।

(4) श्रम एवं अन्य साधनों की बचत—साधनों को एक खेत से दूसरे खेत पर लाने एवं ले जाने में जो समय नष्ट होता है उसकी बचत हो जाती है तथा एक ही स्थान पर खेती करने से कृषि इनपुट (inputs) कम लगते हैं। अतः उनकी भी बचत हो जाती है।

(5) भूमि अपव्यय की बचत—भिन्न-भिन्न स्थानों के खेतों में बाउण्डी लगानी पड़ती है जिसमें भूमि का अच्छा-खासा हिस्सा निकल जाता है, लेकिन सभी खेत एक चक होते हैं तो कम भूमि ही बाउण्डी में निकलती है। इस प्रकार भूमि अपव्यय की बचत हो जाती है।

(6) भूमि का उचित निरीक्षण—छोटे-छोटे खेत होने से सभी भूमियों की उचित देखभाल नहीं हो सकती है, लेकिन जब सभी खेत एक चक के रूप में होते हैं तो उनकी उचित देखभाल की जा सकती है।

(7) विवादों में कमी—चकबन्दी से पारस्परिक मेड सम्बन्धी विवादों में कमी हो जाती है जिससे कृषक शान्ति से अपनी उन्नति का मार्ग ढूँढ़कर आगे बढ़ सकता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. भारत में भूमि-जोत पर अधिकतम सीमा-निर्धारण के गुण और दोष की विवेचना कीजिए।
2. भारत में भू-सुधार की कमियों का उल्लेख कीजिए और इस सम्बन्ध में अपने सुझाव दीजिए।
3. भूमि सुधार से क्या अभिप्राय है? इस दिशा में भारत सरकार द्वारा क्या प्रयास किये गये हैं?
4. भारत में कृषि जोतों के उप-विभाजन एवं अपखण्डन के कारणों, प्रभावों एवं समाधानों का वर्णन कीजिए।
5. भारत में कृषि जोतों के उप-विभाजन और अपखण्डन के क्या कारण हैं? जोतों की चकबन्दी और सहकारी खेती इस समस्या को कहाँ तक हल कर सकती है?
6. खेती की चकबन्दी से आप क्या समझते हैं? इसके लाभों एवं कठिनाइयों का विवेचन कीजिए।
7. भारत में लघु एवं सीमान्त कृषकों की आर्थिक दशा की विवेचना कीजिए तथा उसमें सुधार के उपाय बताइए।

नवीन कृषि रणनीतियां एवं हरित क्रान्ति

[NEW AGRICULTURAL STRATEGIES & GREEN REVOLUTION]

भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है, लेकिन इसके बावजूद भी कृषि पिछड़ी अवस्था में रही है। कृषक भाग्यवादी, रुद्धिवादी और परम्परावादी रहा है, जिसके कारण प्रारम्भ में सुधरे बीजों, रासायनिक खाद और उन्नत तकनीकों का प्रयोग नाम मात्र को था। कृषि उत्पादन का मुख्य भाग मानसून पर निर्भर करता है, कृषक ऋणग्रस्तता के भार से दबे रहे हैं और दोषपूर्ण भूमि व्यवस्था के कारण जर्मांदारों द्वारा कृषकों का शोषण किया जाता था। ऐसी स्थिति में देश के आर्थिक विकास के लिये पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि नियोजन अर्थात् कृषि के विकास को महत्वपूर्ण प्राथमिकता दी गयी। 1960-70 के दशक के मध्य के पश्चात् कृषि क्षेत्र में अनेक नवीन रणनीतियां अपनायी गयी हैं।

योजनाकाल में कृषि विकास

(AGRICULTURAL DEVELOPMENT DURING PLAN PERIOD)

भारत में प्रथम योजना 1 अप्रैल, 1951 से लागू की गयी, जिसमें कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी और पूरी योजना पर होने वाले व्यय का 37% कृषि पर व्यय किया गया, लेकिन बाद वाली योजनाओं में यह प्रतिशत कम रहा जो इस प्रकार है—द्वितीय योजना में 20.9, तृतीय योजना में 12.7, चतुर्थ योजना में 14.7, पंचम योजना में 12.3, छठवीं योजना में 6.1, सातवीं योजना में 5.8 प्रतिशत, आठवीं योजना में 5.2 प्रतिशत, नौवीं योजना में 4.9 प्रतिशत, दसवीं योजना में 3.9 प्रतिशत और ग्यारहवीं योजना में 4.4 प्रतिशत व्यय किया गया। बारहवीं योजना में कृषि और सम्बद्ध कार्यकलाप पर कुल योजना व्यय का 4.7 प्रतिशत व्यय का प्रावधान किया गया है।

वास्तव में कृषि के लिए निर्धारित राशि के प्रतिशत में तो गिरावट आयी, लेकिन निर्धारित व्यय राशि में बराबर वृद्धि हुई। प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठम, सप्तम, अष्टम, नवम, दशम, ग्यारहवीं एवं बारहवीं पंचवर्षीय योजनाओं में व्यय राशि क्रमशः 724; 979; 1,089; 2,320; 4,865; 6,624; 12,792; 22,467; 42,462; 58,933; 1,63,106 और 3,63,273 करोड़ ₹ रही है।

विभिन्न फसलों के अन्तर्गत कृषि क्षेत्र का विस्तार—देश में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् नियोजन काल में कृषि योग्य भूमि का पर्याप्त विस्तार हुआ है। नई कृषि योग्य भूमि को खेती के अन्तर्गत लाया गया है एवं सिंचाई सुविधाओं का विकास किया गया है। नियोजन काल में लगभग सभी फसलों के अन्तर्गत कृषि क्षेत्रफल में वृद्धि हुई है। वर्ष 1951 में सभी खाद्यान्नों के अन्तर्गत कृषि क्षेत्रफल 97 मिलियन हेक्टेअर था जो बढ़कर 1960-61 में 115.6 मिलियन हेक्टेअर तथा 2014-15 में 122 मिलियन हेक्टेअर हो गया।

उल्लेखनीय है कि देश में हरित क्रान्ति (1966) से पूर्व की अवधि (1950-65) के दौरान बिना किसी अपवाद के कृषि अधीन क्षेत्रफल में वृद्धि हुई। बंजर एवं व्यर्थ पड़ी भूमियों, कुछ सीमा तक वन के अधीन भूमियों में भी खेती की जाने लगी। इस अवधि में गेहूं, गन्ना तथा आलू के अधीन क्षेत्रफल में पर्याप्त वृद्धि हुई।

1967-68 के पश्चात् कृषि क्षेत्र में विस्तार की गुंजाइश धीरे-धीरे कम होती गई। हरित क्रान्ति के बाद के काल (1968-2014) में, क्षेत्र में वार्षिक वृद्धि दर काफी कम रही। इस दौरान गहन कृषि का महत्व क्रमशः बढ़ता गया है।

सिंचाई क्षमता का विकास (Development of Irrigation Potential)—पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत देश में सिंचाई सुविधाओं का क्रमशः तीव्र गति से विकास किया गया है। प्रथम योजना के प्रारम्भ काल (1950-51) में देश में कुल सिंचाई क्षमता 22.3 मिलियन हेक्टेअर थी, जो ग्यारहवीं योजना के अन्त तक 113.24 मिलियन हेक्टेअर हो गई। सिंचाई व्यवस्था की दृष्टि से भारत का विश्व में प्रथम स्थान है।

उर्वरकों का उत्पादन तथा उपभोग (Production and Consumption of Fertilisers)—योजनाकाल में देश में रासायनिक उर्वरकों के उत्पादन एवं उपभोग में पर्याप्त वृद्धि हुई है। सन् 1960-61 में देश में घरेलू उर्वरकों का उत्पादन मात्र 150 हजार टन था जो बढ़कर 2014-15 में 16,269 हजार टन हो गया। इसी तरह देश में 1960-61 में कुल उर्वरकों का उपभोग केवल 292 हजार टन था, जो बढ़कर 2014-15 में 25,576 हजार टन हो गया।

इस तरह 1961-2015 के दौरान उर्वरकों के घरेलू उत्पादन में लगभग 109 गुना तथा उर्वरकों के उपभोग में लगभग 109 गुना वृद्धि हुई है। इसी तरह वर्ष 1960-61 में उर्वरकों का प्रति हेक्टेअर उपभोग 2 किग्रा था जो बढ़कर 2011-12 में 144 किग्रा हो गया। यह उल्लेखनीय है कि उर्वरकों का घरेलू उत्पादन उनकी मांग की तुलना में आज भी कम है जिससे देश को उर्वरकों का आयात करना पड़ता है।

प्रमाणित बीजों का उत्पादन एवं वितरण—कृषि में प्रति एकड़ उच्च उत्पादकता की प्राप्ति हेतु सरकार राष्ट्रीय बीज नीति के अन्तर्गत किसानों को बीज की श्रेष्ठ किस्में और पौधारोपण सामग्री उपलब्ध कराने की व्यवस्था करती है।

कृषि साख (Agricultural Credit)—आधुनिक प्रौद्योगिकी के आधार पर कृषि को विकसित करने के उद्देश्य से देश में बड़ी मात्रा में तथा उचित शर्तों पर कृषकों को संस्थागत साख की सुविधा प्रदान की गई है। 1951-52 तक देश में कुल कृषि ऋण आवश्यकताओं का लगभग 93% भाग गैर-संस्थागत स्रोतों (साहूकार, महाजन, व्यापारी आदि) तथा शेष 7% भाग संस्थागत स्रोतों (सहकारी समितियों, सरकार, व्यापारिक बैंकें आदि) द्वारा उपलब्ध कराया जाता था। परन्तु आज स्थितियां बदल गई हैं। देश में अब कृषकों को अधिकांश ऋण संस्थागत स्रोतों से ही प्राप्त होता है। गैर-संस्थागत स्रोतों का कृषि ऋण में अंशदान अब बहुत कम है।

देश में योजनाकाल में संस्थागत अभिकरणों द्वारा दिए गए कृषि-ऋणों की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि हुई है। 1960-61 में वित्तीय संस्थाओं द्वारा मात्र 214 करोड़ ₹ का ऋण वितरित किया गया था, जबकि वर्ष 2012-13 में यह ऋण बढ़कर 7,30,765 करोड़ ₹ हो गया। 2015-16 में कृषि ऋण प्रवाह 8.5 लाख करोड़ ₹ निर्धारित किया गया है। इस तरह, देश में कृषि को संस्थागत ऋण का प्रवाह सुधारने के लिए अनवरत प्रयास जारी हैं।

कृषि यन्त्रों का उपयोग—कृषि में मशीनों एवं यन्त्रों के उपयोग से कृषि कार्य उचित समय पर उचित दक्षता तथा न्यूनतम लागत पर कर पाना सम्भव हो गया है। कृषि क्षेत्र में मुख्यतया ट्रैक्टर, थ्रेसर, हार्वेस्टर, पॉवर टिलर, पम्पसेट, स्प्रेयर तथा डस्टर उपयोग में लाए जाते हैं।

कृषित भूमि के बढ़ते क्षेत्र को उचित गहराई तक जोतने में ट्रैक्टरों की प्रमुख भूमिका होती है। पूर्व में यह कार्य पशु (बैलों) की शक्ति से किए जाते थे जिससे समय और धन व्यय होता था। ट्रैक्टर भूमि को कृषित करने के अतिरिक्त, माल ढोने तथा अन्य मशीनों जैसे—थ्रेसर चलाने, कुट्टी काटने, स्प्रेयर चलाने तथा सिंचाई के लिए पम्पसेट चलाने आदि में भी काम आते हैं।

कृषिगत उत्पादन (Agricultural Production)

योजनाकाल के दौरान किए गए व्यापक प्रयासों के फलस्वरूप खाद्यान्नों के उत्पादन में लगभग 4.5 गुना वृद्धि हो गई है। 1950-51 में खाद्यान्नों का कुल उत्पादन 51 मिलियन टन था, जो बढ़कर 2015-16 के चौथे अग्रिम अनुमानों में 253.11 मिलियन टन हो गया।

पंचवर्षीय योजनाओं के प्रारम्भ से लेकर अब तक खाद्यान्नों की उपज में क्रमशः वृद्धि होती गई है। खाद्यान्नों में चावल और गेहूं की उपज में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। वर्ष 1950-51 में देश में गेहूं का उत्पादन 4.46 मिलियन टन था वह बढ़कर 2015-16 में 93.50 मिलियन टन हो गया। इसी तरह चावल का उत्पादन 20.58 मिलियन टन था वह बढ़कर 2015-16 में 104.32 मिलियन टन हो गया। जो वर्ष 1950-51 में तिलहनों की उपज में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। तिलहन का उत्पादन 1950-51 में 5.1 मिलियन दालों एवं तिलहनों की उपज में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है।

टन था जो क्रमशः बढ़ते हुए 2015-16 में 25.30 मिलियन टन हो गया। इसी तरह, गने का उत्पादन 1950-51 में 57 मिलियन टन था जो बढ़कर 2015-16 में 352.16 मिलियन टन तक पहुंच गया।

योजनावार कृषि-उत्पादन की वृद्धि दरें (Plan-Wise Growth Rates)—योजनाकाल में कृषि एवं पशु सम्पदा के क्षेत्र में औसत वार्षिक विकास दर निम्न प्रकार रही है :

पंचवर्षीय योजनाएं	औसत वार्षिक वृद्धि दर
प्रथम (1951-56)	3.2
द्वितीय (1956-61)	3.6
तृतीय (1961-66)	(-) 0.7
चतुर्थ (1969-74)	3.0
पांचवीं (1974-79)	4.0
छठवीं (1980-85)	6.3
सातवीं (1985-90)	3.1
आठवीं (1992-97)	4.9
नौवीं (1997-02)	2.5
दसवीं (2002-07)	2.5
ग्यारहवीं (2007-12)	3.8

स्रोत : भारतीय कृषि की स्थिति 2012-13

बारहवीं योजना में कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र हेतु 4% के वृद्धि लक्ष्य के मुकाबले प्रथम वर्ष में 1.2%, दूसरे वर्ष में 3.7%, तीसरे वर्ष में क्रणात्मक -0.2% रही। वर्ष 2015-16 के अग्रिम अनुमानों में यह दर 1.1% आकलित की गई है।

प्रति हेक्टेएर उत्पादन (Yield Per Hectare)—नियोजन काल में कृषि की नई विकास निधि के फलस्वरूप सभी फसलों की प्रति हेक्टेएर उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई है। यह वृद्धि कृषि उत्पादकता में सुधार के कारण हुई। देश में सभी खाद्यान्मों का प्रति हेक्टेएर उत्पादन 1950-51 में 522 किग्रा प्रति हेक्टेएर था, जो बढ़कर 2014-15 में 2,070 किग्रा प्रति हेक्टेएर हो गया। गेहूं का प्रति हेक्टेएर उत्पादन 1950-51 में 663 किग्रा था जो बढ़कर 2014-15 में 2,872 किग्रा हो गया। इसी तरह चावल का उत्पादन 1950-51 में 668 किग्रा से बढ़कर 2014-15 में 2,390 किग्रा प्रति हेक्टेएर हो गया। दालों का उत्पादन 1950-51 में 441 किग्रा प्रति हेक्टेएर से बढ़कर 2014-15 में 744 किग्रा प्रति हेक्टेएर हो गया। इसी तरह गने का उत्पादन 1950-51 में 33 टन प्रति हेक्टेएर से बढ़कर 2014-15 में 70 टन प्रति हेक्टेएर, आलू का उत्पादन 7 टन प्रति हेक्टेएर से बढ़कर 2014-15 में 22 टन प्रति हेक्टेएर हो गया। कपास का उत्पादन 1950-51 में 88 किग्रा प्रति हेक्टेएर से बढ़कर 2014-15 में 961 किग्रा प्रति हेक्टेएर हो गया।

हरित क्रान्ति : भारतीय कृषि में नवीन रणनीति

(GREEN REVOLUTION : NEW STRATEGY IN INDIAN AGRICULTURE)

अथवा

भारतीय कृषि का आधुनिकीकरण

(MODERNISATION OF INDIAN AGRICULTURE)

हरित क्रान्ति का अर्थ (Meaning of Green Revolution)

हरित क्रान्ति से आशय छठे दशक के मध्य में कृषि उत्पादन में हुई उस भारी वृद्धि से है जो कुछ थोड़े से समय में उन्नतशील बीजों, रासायनिक खाद्यों एवं नवीन तकनीकों के फलस्वरूप हुई। अन्य शब्दों में, हरित क्रान्ति भारतीय कृषि में लागू की गई उस विकास विधि का परिणाम है जो 1960 के दशक में पारम्परिक कृषि को आधुनिक तकनीक द्वारा प्रतिस्थापित किए जाने के रूप में सामने आई। चूंकि कृषि क्षेत्र में यह तकनीक एकाएक आई, तेजी से इसका विकास-विस्तार हुआ और थोड़े समय में ही इससे इतने आश्चर्यजनक परिणाम निकले कि देश के योजनाकारों, कृषि विशेषज्ञों तथा राजनीतिज्ञों ने इस अप्रत्याशित प्रगति को ही हरित क्रान्ति की संज्ञा प्रदान कर दी। हरित क्रान्ति की संज्ञा इसलिए भी दी गई कि क्योंकि इसके फलस्वरूप भारतीय कृषि निर्वाह स्तर से ऊपर उठकर आधिक्य स्तर पर आ चुकी है।

तृतीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से लेकर अब तक के वर्ष बहुत ही महत्वपूर्ण माने जाते हैं। 1960-70 के दशक के मध्य के पश्चात् भारत में पारम्परिक कृषि व्यवहारों का प्रतिस्थापन आधुनिक तकनीक खादों, साधारण हलों एवं अन्य पारम्परिक पुराने कृषि औजारों एवं बैलों का प्रयोग होता है। इसमें कार्बनिक खादों, साधारण हलों एवं अन्य पारम्परिक पुराने कृषि औजारों एवं बैलों का प्रयोग होता है। इसके विपरीत, आधुनिक कृषि तकनीक में रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशकों, उन्नतशील बीजों, कृषि मशीनरी, विस्तृत सिंचाई, डीजल एवं विद्युत् शक्ति आदि का प्रयोग सम्प्लित है। 1966 के पश्चात् देश में आधुनिक कृषि आगतों के प्रयोग में 10% की वार्षिक चक्रवृद्धि दर से वृद्धि हुई है। इसी दौरान पारम्परिक आगतों के प्रयोग में प्रतिवर्ष एक प्रतिशत की वृद्धि हुई है। यह सरकार की सुनिश्चित कृषि नीति का ही परिणाम है।

सरकार की कृषि के सम्बन्ध में नीति यह है कि उन्नतशील बीजों का उपयोग किया जाय, रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग को बढ़ाया जाय, आधुनिक मशीनों एवं कृषि यन्त्रों को अधिकाधिक प्रयोग में लाया जाय, सिंचाई की सुविधाएं बढ़ाई जाएं, बहुफसली कार्यक्रम अपनाए जाएं तथा कीट एवं खरपतवार नाशकों के उपयोग में वृद्धि की जाय। इसी क्रम में नई कृषि तकनीक के आगतों यथा—उर्वरकों, कीटनाशकों, कृषि मशीनरी से सम्बन्धित उद्योगों का तीव्र विकास हुआ है। फार्म यन्नीकरण और सिंचाई के बड़े कार्यक्रमों के फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में विद्युत् और डीजल के उपभोग में वृद्धि हुई है।

इस तरह, कृषि विकास के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण कदम चतुर्थ योजना के प्रारम्भ में हरित क्रान्ति के नाम से उठाया गया था जिसके परिणामस्वरूप खाद्यान्न उत्पादन आश्चर्यजनक गति से बढ़ा है और कृषि क्षेत्र में फैली निराशा का अन्त हुआ है तथा अनिश्चितता समाप्त हुई है।

हरित क्रान्ति रणनीति के प्रमुख अंग—इस कार्यक्रम अथवा नीति के प्रमुख अंग हैं—(i) रासायनिक खादों एवं कीटनाशक दवाओं का प्रयोग (ii) ऊंची उपज वाले (HYV) बीजों का प्रयोग, (iii) बहुफसली कार्यक्रम, (iv) आधुनिक कृषि यन्त्रों एवं उपकरणों का प्रयोग, (v) सिंचाई की व्यवस्था व जल निकास का उचित प्रबन्ध तथा सूखे क्षेत्रों का क्रमबद्ध विकास।

हरित क्रान्ति की उपलब्धियां

(ACHIEVEMENTS OF GREEN REVOLUTION)

हरित क्रान्ति के फलस्वरूप देश के कृषि क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति हुई है। कृषि आगतों में हुए गुणात्मक सुधार के फलस्वरूप देश में कृषि उत्पादन बढ़ा है। खाद्यान्नों में आत्म-निर्भरता आई है। व्यावसायिक कृषि को बढ़ावा मिला है। कृषकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है। कृषि आधिक्य में वृद्धि हुई है। हरित क्रान्ति की उपलब्धियों को कृषि में तकनीकी एवं संस्थागत परिवर्तन एवं उत्पादन में हुए सुधार के रूप में निम्नवत् देखा जा सकता है :

(अ) कृषि में तकनीकी एवं संस्थागत सुधार

(1) रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग—नवीन कृषि नीति के परिणामस्वरूप रासायनिक उर्वरकों के उपभोग की मात्रा में तेजी से वृद्धि हुई है। 1960-61 में रासायनिक उर्वरकों का उपयोग प्रति हेक्टेएर 2 किग्रा होता था जो 2011-12 में बढ़कर लगभग 144 किग्रा प्रति हेक्टेएर हो गया है। इसी प्रकार, 1960-61 में देश में रासायनिक खादों की कुल खपत 2.92 लाख टन थी जो बढ़कर 2014-15 में 255.76 लाख टन हो गई है।

(2) उन्नतशील बीजों के प्रयोग में वृद्धि—देश में अधिक उपज देने वाले उन्नतशील बीजों का प्रयोग बढ़ा है तथा बीजों की नई-नई किस्मों की खोज की गई है। अभी तक अधिक उपज देने वाला कार्यक्रम गेहूं, धान, बाजरा, मक्का व ज्वार जैसी फसलों पर लागू किया गया है परन्तु गेहूं में सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई है।

(3) सिंचाई सुविधाओं का विकास—नई विकास-विधि के अन्तर्गत देश में सिंचाई सुविधाओं का तेजी के साथ विस्तार किया गया है। 1951 में देश में कुल सिंचाई क्षमता 223 लाख हेक्टेएर थी जो बढ़कर 2009-10 में 1,082 लाख हेक्टेएर हो गई। देश में वर्ष 1951 में कुल सिंचित क्षेत्र 209 लाख हेक्टेएर था जो बढ़कर 2011-12 में 113.2 लाख हेक्टेएर हो गया। वर्तमान में निबल कृषि उपज क्षेत्र के 45% भाग की सिंचाई की जाती है।

(4) **पौध संरक्षण**—नवीन कृषि विकास-विधि के अन्तर्गत पौध संरक्षण पर भी ध्यान दिया जा रहा है। इसके अन्तर्गत खरपतवार एवं कीटों को नाश करने के लिए दवा छिड़कने का कार्य किया जाता है तथा टिंडी दल पर नियन्त्रण करने का प्रयास किया जाता है।

वर्तमान में समेकित कृषि प्रबन्ध के अन्तर्गत पारिस्थितिकी अनुकूल कृमि नियन्त्रण कार्यक्रम लागू किया जा रहा है।

(5) **बहुफसली कार्यक्रम**—बहुफसली कार्यक्रम का उद्देश्य एक ही भूमि पर वर्ष में एक से अधिक फसल उगाकर उत्पादन को बढ़ाना है। अन्य शब्दों में, भूमि की उर्वरता-शक्ति को नष्ट किए बिना, भूमि के एक इकाई क्षेत्र से अधिकतम उत्पादन प्राप्त करना ही बहु फसली कार्यक्रम कहलाता है।

(6) **आधुनिक कृषि यन्त्रों का प्रयोग**—नई कृषि विकास विधि एवं हरित क्रान्ति में आधुनिक कृषि उपकरणों; जैसे—ट्रैक्टर, थ्रेसर, हार्वेस्टर, बुलडोजर तथा डीजल एवं बिजली के पम्पसेटों आदि ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस प्रकार कृषि में पशुओं अथवा मानव शक्ति का प्रतिस्थापन संचालन शक्ति (power) द्वारा किया गया है जिससे कृषि क्षेत्र के उपयोग एवं उत्पादकता में वृद्धि हुई है।

(7) **कृषि सेवा केन्द्रों की स्थापना**—कृषकों में व्यावसायिक साहस की क्षमता को विकसित करने के उद्देश्य से देश में कृषि सेवा केन्द्र स्थापित करने की योजना लागू की गई है। इस योजना में पहले व्यक्तियों को तकनीकी प्रशिक्षण दिया जाता है फिर इनसे सेवा केन्द्र स्थापित करने को कहा जाता है। इसके लिए उन्हें राष्ट्रीयकृत बैंकों से सहायता दिलाई जाती है। अब तक देश में कुल 1,146 कृषि सेवा केन्द्र स्थापित किए जा चुके हैं।

(8) **कृषि उद्योग निगम**—सरकारी नीति के अन्तर्गत 17 राज्यों में कृषि उद्योग निगमों की स्थापना की गई है। इन निगमों का कार्य कृषि उपकरण व मशीनरी की पूर्ति तथा उपज के प्रसंस्करण एवं भण्डारण को प्रोत्साहन देना है। इसके लिए यह निगम किराया क्रय पद्धति के आधार पर ट्रैक्टर, पम्पसेट एवं अन्य मशीनरी को वितरित करता है।

(9) **कृषि विकास के लिए विभिन्न निगमों की स्थापना**—हरित क्रान्ति की प्रगति मुख्यतया अधिक उपज देने वाली किस्मों एवं उत्तम सुधरे हुए बीजों पर निर्भर करती है। इसके लिए देश में 400 कृषि फार्म स्थापित किए गए हैं। 1963 में राष्ट्रीय बीज निगम की स्थापना की गई है। 1963 में ही राष्ट्रीय सहकारी विकास निगम की स्थापना की गयी जिसका मुख्य उद्देश्य कृषि उपज का विपणन, प्रसंस्करण एवं भण्डारण करना है। विश्व बैंक की सहायता से राष्ट्रीय बीज परियोजना भी प्रारम्भ की गई जिसके अन्तर्गत कई बीज निगम बनाए गए हैं। भारतीय राष्ट्रीय कृषि सहकारिता विपणन संघ (नेफेड) एक शीर्ष विपणन संगठन है जो प्रबन्धन, वितरण एवं कृषि से सम्बन्धित चुनिन्दा वस्तुओं के आयात-निर्यात का कार्य करता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक की स्थापना कृषि वित्त के कार्य हेतु की गई है। कृषि के लिए ही खाद्य निगम, उर्वरक साख गारन्टी निगम, ग्रामीण विद्युतीकरण निगम आदि भी स्थापित किए गए हैं।

(10) **मृदा परीक्षण**—मृदा परीक्षण कार्यक्रम के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों की मिट्टी का परीक्षण सरकारी प्रयोगशालाओं में किया जाता है। इसका उद्देश्य भूमि की उर्वराशक्ति का पता लगाकर कृषकों को तदनुरूप रासायनिक खादों व उत्तम बीजों के प्रयोग की सलाह देना है। वर्तमान समय में इन सरकारी प्रयोगशालाओं में प्रतिवर्ष लगभग 7 लाख नमूनों का परीक्षण किया जाता है। कुछ चलती-फिरती प्रयोगशालाएं भी स्थापित की गई हैं जो गांव-गांव जाकर मौके पर मिट्टी का परीक्षण कर किसानों को सलाह देती हैं।

(11) **भूमि संरक्षण**—भूमि संरक्षण कार्यक्रम के अन्तर्गत कृषि योग्य भूमि को क्षरण से रोकने तथा ऊबड़-खाबड़ भूमि को समतल बनाकर कृषि योग्य बनाया जाता है। यह कार्यक्रम उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात तथा मध्य प्रदेश में तेजी से लागू है।

(12) **कृषि शिक्षा एवं अनुसन्धान**—सरकार की कृषि नीति के अन्तर्गत कृषि शिक्षा का विस्तार करने के लिए पन्तनगर (उत्तराखण्ड) में पहला कृषि विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। आज इनकी संख्या 61 है। जिनमें कृषि से सम्बन्धित शिक्षा प्रदान की जाती है। कृषि अनुसन्धान हेतु भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् है जिसके पास 45 अनुसन्धान केन्द्र एवं प्रयोगशालाएं हैं। इसके अतिरिक्त देश में 503 कृषि विज्ञान केन्द्र हैं जो शिक्षण एवं प्रशिक्षण का कार्य कर रहे हैं।

कृषि शिक्षा एवं प्रशिक्षण की गुणवत्ता बनाए रखने के लिए विभिन्न संस्थाओं के कम्प्यूटरीकरण और इन्टरनेट की सुविधा प्रदान की गई है।

(ब) कृषि उत्पादन में सुधार

(1) कृषि उत्पादन तथा उत्पादकता में वृद्धि—हरित क्रान्ति अथवा भारतीय कृषि में लागू की गई नयी विकास-विधि का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि देश में फसलों के अधीन क्षेत्रफल, कृषि उत्पादन तथा उत्पादकता में वृद्धि हो गयी। विशेषकर गेहूं, बाजरा, धान, मक्का तथा ज्वार के उत्पादन में आशांतीत वृद्धि हुई है जिसके परिणामस्वरूप खाद्यान्नों में भारत आत्मनिर्भर सा हो गया है।

(2) कृषि के परम्परागत स्वरूप में परिवर्तन—हरित क्रान्ति के फलस्वरूप खेती के परम्परागत स्वरूप में परिवर्तन हुआ है और खेती व्यावसायिक दृष्टि से की जाने लगी है जबकि पहले सिर्फ पेट भरने के लिए की जाती थी। देश में गना, रुई, पटसन, तिलहनों तथा बागवानी फसलों के उत्पादन में वृद्धि हुई है। इसी तरह, पटसन, गना, आलू तथा मूँगफली आदि व्यावसायिक फसलों के उत्पादन में भी वृद्धि हुई है।

वर्तमान समय में देश में बागवानी फसलों-फलों सभियों तथा फूलों की खेती को बढ़ावा दिया जा रहा है।

(3) कृषि बचतों में वृद्धि—उन्नतशील बीजों, रासायनिक खादों, उत्तम सिंचाई तथा मशीनों के प्रयोग से उत्पादन बढ़ा है जिससे कृषकों के पास बचतों की मात्रा में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है जिसको देश के विकास के काम में लाया जा सका है।

(4) अग्रगामी तथा प्रतिगामी सम्बन्धों में मजबूती—नवीन प्रौद्योगिकी तथा कृषि के आधुनिकीकरण ने कृषि तथा उद्योग के परस्पर सम्बन्ध को और भी अधिक सुदृढ़ बना दिया है। पारम्परिक रूप में यद्यपि कृषि और उद्योग का अग्रगामी सम्बन्ध (forward linkage) पहले से ही प्रगाढ़ था, क्योंकि कृषि-क्षेत्र द्वारा उद्योगों के लिए अनेक आगत उपलब्ध कराए जाते हैं। परन्तु इन दोनों में प्रतिगामी-सम्बन्ध (backward linkage) बहुत ही कमजोर था क्योंकि उद्योग निर्मित वस्तुओं का कृषि में बहुत कम प्रयोग होता था। परन्तु कृषि के आधुनिकीकरण के फलस्वरूप अब कृषि में उद्योग-निर्मित आगतों (जैसे—कृषि यन्त्र एवं रासायनिक उर्वरक आदि) की मांग में भारी वृद्धि हुई है जिससे कृषि का प्रतिगामी सम्बन्ध भी सुदृढ़ हुआ है। अन्य शब्दों में, कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्र के सम्बन्धों में अधिक मजबूती आई है।

इस तरह, हम देखते हैं कि हरित क्रान्ति के फलस्वरूप देश के कृषि आगतों एवं उत्पादन में पर्याप्त सुधार हुआ है। इसके फलस्वरूप कृषक, सरकार तथा जनता सभी में यह विश्वास जाग्रत हो गया है कि भारत कृषि पदार्थों के उत्पादन के क्षेत्र में आत्मनिर्भर ही नहीं हो सकता बल्कि निर्यात भी कर सकता है।

क्या अब तक प्राप्त कृषि विकास पर्याप्त है?

देश में योजनाकाल में कृषि के क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुआ है। कुल कृषि क्षेत्र बढ़ा है, फसल के स्वरूप में परिवर्तन हुआ है, सिंचित क्षेत्र बढ़ा है, रासायनिक खादों के उपयोग में वृद्धि हुई है तथा आधुनिक कृषि यन्त्रों का उपयोग होने लगा है। इन सब बातों के होते हुए भी अभी तक देश में कृषि का विकास उचित स्तर तक नहीं पहुंच पाया है क्योंकि यहां प्रति हेक्टेएर कृषि उत्पादन अन्य विकसित देशों की तुलना में कम है। अभी भी अनेक कृषि उत्पादों को आयात करना पड़ता है, क्योंकि उनका उत्पादन मांग की तुलना में कम है। कृषि क्षेत्र का एक बड़ा भाग अभी भी असिंचित है। कृषि में यन्त्रीकरण का स्तर अभी भी कम है जिससे उत्पादन लागत अधिक आती है। कृषकों को वित्तीय सुविधाएं पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलतीं जिससे कृषि विकास में बाधा उत्पन्न होती है। अतः इस बात की आवश्यकता है कि कृषि में तकनीकी एवं संस्थागत सुधारों को अधिक कारगर ढंग से लागू कर कृषि क्षेत्र का और अधिक विकास किया जाए।

हरित क्रान्ति की कमियां अथवा समस्याएं (LIMITATIONS OF GREEN REVOLUTIONS)

देश में हरित क्रान्ति के फलस्वरूप कुछ फसलों के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई है, खाद्यान्नों के आयात में कमी आई है, कृषि के परम्परागत स्वरूप में परिवर्तन आया है, फिर भी इस कार्यक्रम में कुछ कमियां परिलक्षित होती हैं। हरित क्रान्ति की प्रमुख कमियों एवं समस्याओं को अग्र रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

(1) हरित क्रान्ति का प्रभाव कुछ विशेष फसलों तक ही सीमित रहा—हरित क्रान्ति कुछ फसलों जैसे, गेहूं, ज्वार, बाजरा तक ही सीमित है अन्य फसलों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। यहां तक कि चावल भी इससे बहुत ही कम प्रभावित हुआ है। व्यापारिक फसलों भी इससे अप्रभावित ही हैं।

(2) पूंजीवादी कृषि को बढ़ावा—अधिक उपजाऊ किस्म के बीज एक पूंजी-गहन कार्यक्रम है जिसमें उर्वरकों, सिंचाई, कृषि यन्त्रों आदि आगतों पर भारी मात्रा में निवेश करना पड़ता है। भारी निवेश करना छोटे तथा मध्यम श्रेणी के किसानों की क्षमता से बाहर है। इस तरह, हरित क्रान्ति से लाभ उन्हीं किसानों को हो रहा है जिनके पास निजी पर्याप्त सेट, ट्रैक्टर, नलकूप तथा अन्य कृषि यन्त्र हैं। यह सुविधा देश के बड़े किसानों को ही उपलब्ध है। सामान्य किसान इन सुविधाओं से वंचित है। फलतः कृषि क्रान्ति का प्रसरण-प्रभाव (spread effect) कमजोर रहा है जिसके कारण भारतीय खेती का विकास कुछ सीमित आर्थिक घेरे में ही सिमट कर रह गया है। अन्य शब्दों में, हरित क्रान्ति का लाभ बड़े किसान ही उठा रहे हैं। इस प्रकार इससे पूंजीवादी खेती को प्रोत्साहन मिल रहा है।

(3) संस्थागत सुधारों की आवश्यकता पर बल नहीं—नई विकास विधि में संस्थागत सुधारों की आवश्यकता की सर्वथा अवहेलना की गयी है। संस्थागत परिवर्तनों के अन्तर्गत सबसे महत्वपूर्ण घटक भू-धारण की व्यवस्था है। इसकी सहायता से ही तकनीकी परिवर्तन द्वारा अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है। देश में भूमि सुधार कार्यक्रम सफल नहीं रहे हैं तथा लाखों कृषकों को आज भी भू-धारण की निश्चितता नहीं प्रदान की जा सकी है। भूमि-सुधार के नाम पर बड़े पैमाने पर काश्तकारों को बेदखल किया गया है जिसके फलस्वरूप उन्हें विवश होकर फसल सह-भाजक बनना पड़ गया है। इसी तरह उर्वरक के प्रयोग के विस्तार में काश्तकारी खेती ही एक प्रमुख बाधा है क्योंकि काश्तकारों की अपेक्षा भू-स्वामी ही उर्वरकों का अधिक मात्रा में उपयोग कर सकते हैं।

(4) श्रम-विस्थापन से बेरोजगारी की समस्या—हरित क्रान्ति के अन्तर्गत प्रयुक्त कृषि यन्त्रीकरण के फलस्वरूप श्रम-विस्थापन को बढ़ावा मिला है। कृषि में प्रयुक्त यन्त्रीकरण से श्रमिकों की मांग पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। अतः भारत जैसी श्रम-अतिरेक वाली अर्थव्यवस्थाओं में यन्त्रीकरण बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न कर सकता है। ग्रामीण जनसंख्या का रोजगार की तलाश में शहरों की ओर पलायन करने का यह भी एक कारण है।

(5) आय की बढ़ती असमानता—कृषि में तकनीकी परिवर्तनों का ग्रामीण क्षेत्रों में आय-वितरण पर विपरीत प्रभाव पड़ा है। डॉ. वी. के. आर. वी. राव के अनुसार, “यह बात अब सर्वविदित है कि तथाकथित हरित क्रान्ति जिसने देश में खाद्यान्तों का उत्पादन बढ़ाने में सहायता दी है, के साथ ग्रामीण आय में असमानता बढ़ी है, बहुत से छोटे किसानों को अपने काश्तकारी अधिकार छोड़ने पड़े हैं और ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक और आर्थिक तनाव बढ़े हैं।”

(6) आवश्यक सुविधाओं का अभाव—हरित क्रान्ति की सफलता के लिए आवश्यक सुविधाओं यथा—सिंचाई व्यवस्था, कृषि साख, आर्थिक जोत तथा सस्ते आगतों आदि के अभाव में कृषि-विकास के क्षेत्र में वांछित सफलता नहीं प्राप्त हो पा रही है।

(7) क्षेत्रीय असन्तुलन—हरित क्रान्ति का प्रभाव पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र तथा तमिलनाडु आदि राज्यों तक ही सीमित है। इसका प्रभाव सम्पूर्ण देश पर न फैल पाने के कारण देश का सन्तुलित रूप से विकास नहीं हो पाया। इस तरह, हरित क्रान्ति सीमित रूप से ही सफल रही है।

हरित क्रान्ति की सफलता के लिए सुझाव

(SUGGESTIONS FOR THE SUCCESS OF GREEN REVOLUTION)

हरित क्रान्ति की सफलता के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं :

(1) संस्थागत परिवर्तनों को प्रोत्साहन—हरित क्रान्ति की सफलता के लिए भूमि सुधार कार्यक्रमों को प्रभावी और विस्तृत रूप से लागू किया जाना चाहिए। बंटाईदारों को स्वामित्व का अधिकार दिलाया जाना चाहिए। सीमा निर्धारण से प्राप्त अतिरिक्त भूमि को भूमिहीन कृषकों में वितरित किया जाना चाहिए। चकबन्दी को प्रभावी बनाकर जोतों के विभाजन पर प्रभावी रोक लगायी जानी चाहिए।

(2) **कृषि वित्त की सुविधा**—कृषि वित्त की सुविधाएं बढ़ाते समय छोटे किसानों को रियायती दर पर साख की सुविधा उपलब्ध करायी जानी चाहिए, ताकि वे आवश्यक उन्नत बीज, रासायनिक खाद तथा कृषि उपकरण क्रय कर सकें।

(3) **रोजगार के अवसरों में वृद्धि**—श्रम प्रधान तकनीकों को अपनाया जाना चाहिए तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बेकारी की समस्या के समाधान के लिए कुटीर एवं ग्राम-उद्योगों का तेजी से विस्तार किया जाना चाहिए।

(4) **सिंचाई के साधनों का विकास**—देश में सिंचाई की सुविधाओं का पर्याप्त विकास किया जाना चाहिए ताकि कृषक अधिक उपज देने वाली किस्मों का पूरा लाभ उठा सकें। इस सन्दर्भ में लघु सिंचाई परियोजनाओं के विस्तार पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

(5) **अन्य संरचनात्मक सुधारों का विस्तार**—कृषि के विकास के लिए आवश्यक बिजली, परिवहन सहित अन्य संरचनात्मक सुविधाओं का विकास किया जाना चाहिए। तभी हरित क्रान्ति अन्य फसलों एवं क्षेत्रों तक फैल सकेगी।

(6) **हरित क्रान्ति का अन्य फसलों तक फैलाव**—हरित क्रान्ति की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि इसका विस्तार चावल तथा अन्य फसलों की खेती तक किया जाय। चावल के साथ दालें, कपास, गन्ना, तिलहन, जूट आदि व्यापारिक फसलों के सम्बन्ध में भी उत्पादन वृद्धि सन्तोषजनक नहीं रही है। अतः इन फसलों को भी हरित क्रान्ति के प्रभाव-क्षेत्र में शामिल किया जाना चाहिए।

(7) **छोटे खेत और छोटे किसानों को सम्बद्ध करना**—छोटे खेतों तथा छोटे किसानों को भी हरित क्रान्ति से सम्बद्ध करना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि (i) भूमि सुधार कार्यक्रमों को शीघ्रता और प्रभावी ढंग से लागू किया जाना चाहिए, (ii) छोटे-छोटे किसानों को उन्नत बीज, खाद आदि आवश्यक चीजों को खरीदने के लिए उंदार शर्तों एवं दरों पर साख सुविधाएं उपलब्ध करायी जानी चाहिए। (iii) साधारण कृषि उपकरणों की खरीद के सम्बन्ध में दी गयी सुविधाओं के अतिरिक्त बड़ी-बड़ी फार्म मशीनरी यथा—ट्रैक्टर, हार्वेस्टर आदि को सरकार की ओर से किराए पर दिया जाना चाहिए। (iv) बहुत छोटी-छोटी जोतों वाले किसानों को सहकारी खेती को अपनाने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए।

(8) **समन्वित फार्म नीति**—हरित क्रान्ति की सफलता के लिए समन्वित फार्म नीति अपनायी जानी चाहिए ताकि फार्म तकनीक व आगतों के मूल्यों के सम्बन्ध में एक उचित नीति अपनाई जा सके तथा कृषकों को उन्नतशील बीज, खाद, कीटनाशक तथा कृषि यन्त्र एवं उपकरण उचित मूल्य पर समय से उपलब्ध हो सकें। इसके अतिरिक्त सरकार को समस्त कृषि उपजों की विक्री का प्रबन्ध किया जाना चाहिए तथा उचित मूल्य पर कृषि उत्पादों को खरीदने की गारन्टी भी देनी चाहिए।

राष्ट्रीय कृषि नीति, 2007

(NATIONAL AGRICULTURE POLICY, 2007)

26 नवम्बर, 2007 को राष्ट्रीय कृषि नीति 2007 को केन्द्र सरकार द्वारा संसद में प्रस्तुत किया गया। राष्ट्रीय किसान आयोग ने अपनी सिफारिशों में नयी राष्ट्रीय कृषि नीति की घोषणा करने की अनुशंसा की थी। नयी राष्ट्रीय कृषि नीति 2007 में कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता में वृद्धि, कृषकों की आर्थिक स्थिति में सुधार, कृषि क्षेत्र में नयी तकनीक का प्रयोग तथा सिंचाई सुविधा का विकास एवं प्रसार के साथ-साथ कृषि उत्पादों के निर्यात पर फोकस किया गया है।

- (1) इस नीति में कृषि क्षेत्र को प्रतिस्पर्द्धी बनाने तथा लभदायक रोजगार जननी के रूप में विकसित किया जाएगा।
- (2) कृषि नीति 2007 के अन्तर्गत भूमि सुधारों के अधूरे एजेंडे को लागू करने तथा कृषि योग्य भूमि के गैर-कृषि उपयोग में कमी लाई जाएगी।
- (3) इस नीति में किसानों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए एक प्रणाली विकसित करने तथा किसान परिवारों को गैर-कृषि क्षेत्र में रोजगार अवसर उपलब्ध कराने की बात कही गयी है।
- (4) ग्रामीण क्षेत्रों में आजीविका के संसाधनों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए कृषि स्नातकों को उद्यमी बनाने की पहल करने अथवा रणनीति सृजित करने पर फोकस किया गया है।

- (5) नीति में फसलों के उचित मूल्य तथा किसानों की आय बढ़ाने के लिए व्यापार तन्त्र को मजबूत करने का लक्ष्य रखा गया है।
- (6) किसान को परिभाषित किया गया है, जिसमें कृषि तथा इससे संबद्ध क्षेत्र में काम करने वालों को भी सम्मिलित किया गया है।
- (7) जेनेटिकली मॉडीफाइड बीजों को बढ़ावा देने के साथ-साथ जैविक खेती को भी महत्व प्रदान किया जाएगा।
- (8) नयी राष्ट्रीय कृषि नीति में छोटी जोत वाले किसानों को लाभदायी व्यवसाय देने के लिए ठेके पर खेती तथा किसान कम्पनियां बनाने की बात कही गयी है।
- (9) इस नीति में कृषि साख को सुलभ, सुगम तथा सस्ता बनाने पर बल दिया गया है। इस नीति में किसानों की ऋणग्रस्तता पर सीधे तौर पर कुछ नहीं कहा गया है। परन्तु यह अवश्य कहा गया है कि कृषकों की ऋणग्रस्तता को लेकर सरकार भविष्य में गतिशील कार्यक्रम शुरू करेगी।
- (10) राष्ट्रीय कृषि नीति 2007 में कृषि क्षेत्र विशेषतः कृषि अनुसंधान में सार्वजनिक निवेश को बढ़ावा दिया जायेगा। मुदा परीक्षण केन्द्र तथा नये शोध बीज केन्द्र अधिक से अधिक खोले जायेंगे।
- (11) राष्ट्रीय कृषि नीति 2007 में कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र के विकास दर का लक्ष्य 4 प्रतिशत से 4.5 प्रतिशत के बीच रखा गया है।
- (12) नयी कृषि नीति में कृषकों को उचित कीमत पर उर्वरक तथा अन्य कृषि आगत उपलब्ध कराने की आवश्यकता पर बल दिया गया है।
- (13) सरकार वस्तु के मूल्य में व्यापक घट-बढ़ को कम करने तथा उनके जोखिमों से बचाव के लिए भी भावी बाजारों के सीमा क्षेत्र को बढ़ाएगी।
- (14) नयी राष्ट्रीय कृषि नीति में खाद्य सुरक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया है। इसमें अगस्त 2007 में गठित राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा मिशन को प्रभावी बनाने की बात कही गयी है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. कृषि में हरित क्रान्ति से आप क्या समझते हैं ? भारत के सन्दर्भ में इसके लाभ एवं हानियों का विवेचन कीजिए।
2. हरित क्रान्ति ने कृषि उत्पादन में वृद्धि की है किन्तु किसानों में असमानताओं की भी वृद्धि हुई है। टिप्पणी कीजिए।
3. कृषि विकास की नवीन रणनीति क्या है ? हरित क्रान्ति की उपलब्धियों एवं कठिनाइयों की विवेचना कीजिए।
4. योजनाकाल में भारत के कृषि विकास का परीक्षण कीजिए।
5. भारत में हरित क्रान्ति पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।
6. भारत में हरित क्रान्ति की प्रगति का मूल्यांकन कीजिए। इसकी सफलता के लिए सुझाव दीजिए।
7. भारतीय योजनाओं में हुए कृषि के विकास को स्पष्ट कीजिए। क्या अभी तक प्राप्त कृषि विकास को उपयुक्त समझा जा सकता है ?
8. भारतीय कृषि पर हरित क्रान्ति के प्रभावों का उल्लेख कीजिए।
9. अभी हाल के वर्षों में कृषि विकास के लिए जो प्रयास किए गए हैं उनका संक्षेप में वर्णन कीजिए।
10. योजना काल में कृषि उत्पादन में हुए विस्थापन की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

ग्रामीण साख

[RURAL CREDIT]

ग्रामीण साख या कृषि वित्त से अर्थ

(MEANING OF RURAL CREDIT OR AGRICULTURAL FINANCE)

ग्रामीण साख से अर्थ उस साख से है जिसकी आवश्यकता ग्रामीण क्षेत्रों में होती है। चूंकि ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकांश निवासी कृषि पर ही निर्भर होते हैं अतः ग्रामीण साख का सामान्य अर्थ कृषि साख से लगाया जाता है।

कृषि साख से अर्थ उस साख से है जिसकी आवश्यकता कृषि कार्य करने में होती है। यह आवश्यकता बीज, खाद व यन्त्र क्रय करने या मालगुजारी देने या कृषि सम्बन्धी अन्य कार्य करने के लिए हो सकती है। इस (कृषि वित्त) की पूर्ति साहूकार, सहकारी साख संस्थाएँ, भूमि विकास बैंक, भूमि बन्धक बैंक, व्यापारिक बैंक, सरकार व अन्य वित्तीय निगमों के द्वारा की जाती है।

ग्रामीण बैंकिंग से अर्थ ग्रामीण जनता को उपलब्ध बैंकिंग सुविधाओं से है।

भारत में कृषि वित्त या साख की आवश्यकता

(NEED OF AGRICULTURAL FINANCE OR CREDIT IN INDIA)

भारत में कृषि की वित्तीय आवश्यकताओं या ग्रामीण बैंक या साख की आवश्यकताओं को निम्न तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है :

(1) **अल्पकालीन साख**—भारत में कृषक को बीज, उर्वरक, चारा, श्रमिकों को मजदूरी तथा अन्य तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए अल्पकालीन साख या ऋण की आवश्यकता होती है। इस साख या ऋण की अवधि 15 माह तक होती है। जब फसल काट ली जाती है तो ऐसे ऋण को चुका दिया जाता है।

(2) **मध्यमकालीन साख**—कृषक को अपनी भूमि में सुधार के लिए कुछ साख ऋण की आवश्यकता होती है; जैसे कृषि उपकरण क्रय करने के लिए या सिंचाई व्यवस्था करने या पशु क्रय करने के लिए। ऐसे ऋण की अवधि 15 माह से लेकर 5 वर्ष तक की होती है।

(3) **दीर्घकालीन साख**—इस साख की आवश्यकता उस समय होती है, जबकि कृषक नयी भूमि क्रय करके अपने भू-खण्ड की मात्रा बढ़ाना, पुराने ऋण को चुकाना, भूमि में कोई स्थायी सुधार करना या कृषि के लिए मूल्यवान मशीनरी (जैसे ट्रैक्टर), आदि खरीदना चाहता है। इस प्रकार साख या ऋण की अवधि 5 वर्ष से अधिक 10 या 20 वर्ष तक हो सकती है।

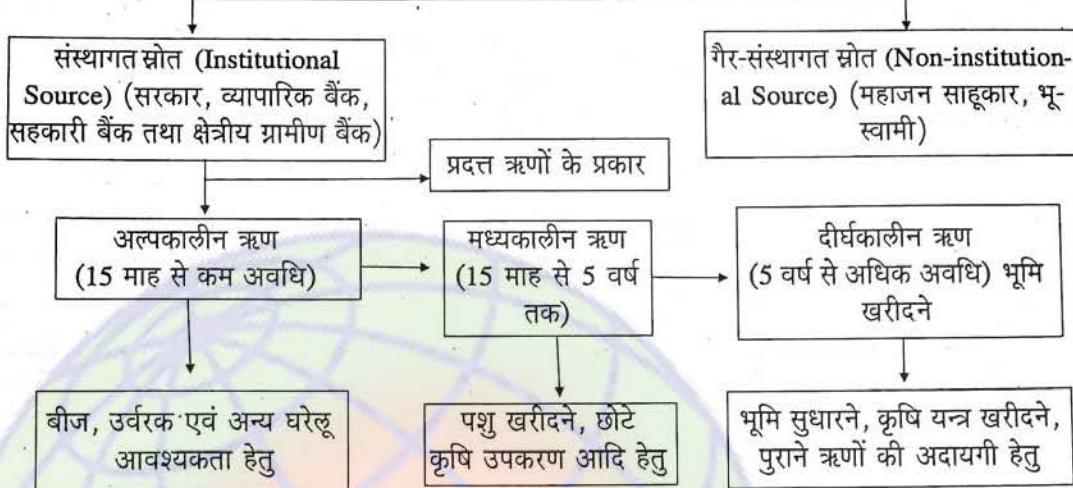
भारत में कृषि वित्त के साधन

(MEANS OF AGRICULTURAL FINANCE IN INDIA)

भारत में ग्रामीण या कृषि साख की अल्पकालीन, मध्यमकालीन एवं दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति निम्न संस्थाओं द्वारा की जाती है :

(I) साहूकार, (II) सहकारी संस्थाएँ, (III) व्यापारिक बैंकें, (IV) भारतीय स्टेट बैंक, (V) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकें, (VI) सरकार, (VII) अग्रणी बैंक योजना, (VIII) राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक, (IX) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया।

भारत में कृषि साख के स्रोत



(I) **साहूकार**—साहूकार या महाजन वह व्यक्ति है जो अपने ग्राहकों को समय-समय पर ऋण देता है। यह साहूकार या महाजन दो प्रकार के होते हैं : (i) कृषक साहूकार या महाजन एवं (ii) व्यावसायिक साहूकार। कृषक साहूकार या महाजन वे व्यक्ति होते हैं जो मुख्य रूप से कृषि करते हैं, लेकिन धनवान होने के कारण कृषि के साथ-साथ धन उधार देने का भी व्यवसाय सहायक व्यवसाय के रूप में करते हैं। व्यावसायिक साहूकार या महाजन वे व्यक्ति होते हैं जिनका धन उधार देने का कार्य मुख्य व्यवसाय होता है।

कार्य-प्रणाली—इन साहूकारों या महाजनों के कार्य करने के ढंग सरल होते हैं। यह अल्पकालीन, मध्यमकालीन व दीर्घकालीन तीनों प्रकार के ऋण देते हैं। यह ऋण उत्पादन व उपभोग दोनों प्रकार के होते हैं। ऋण जमानत लेकर तथा बिना जमानत दोनों प्रकार से दिये जाते हैं। इनकी विशेषता है कि ये बहुत शीघ्रता से तथा आवश्यकता के समय ऋण दे देते हैं।

साहूकार प्रणाली के गुण—साहूकार या महाजन अपने अपने क्षेत्रों में काफी लोकप्रिय रहते हैं। इनके लोकप्रिय होने के कारण इस प्रकार हैं जिन्हें साहूकार प्रणाली के गुण भी कहते हैं—(1) सरल पद्धति—इनकी ऋण देने की पद्धति बहुत सरल है और यह बहुत कम औपचारिकताएँ पूरी कराते हैं। (2) दोनों उद्देश्यों के लिए ऋण—यह उत्पादन व उपभोग दोनों ही उद्देश्यों के लिए ऋण देते हैं। (3) तीन श्रेणियों के ऋण—यह अल्पकालीन, मध्यमकालीन व दीर्घकालीन तीनों ही श्रेणियों के ऋण प्रदान करते हैं। (4) हर समय तत्पर—यह हर समय ऋण देने को तत्पर रहते हैं। (5) बिना जमानत—अनेक बार यह बिना जमानत के भी ऋण प्रदान कर देते हैं। (6) वापसी पर जोर नहीं—यदि इनको ब्याज समय पर मिलता रहता है तो यह मूलधन की वापसी पर अधिक जोर नहीं देते हैं। (7) सम्पर्क आसान—अशिक्षित कृषक साहूकारों व महाजन से आसानी से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। महाजन या साहूकार भी अपने ऋणी से आसानी से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के अनुसार इन साहूकारों व महाजनों का कृषि वित्त में महत्वपूर्ण स्थान रहा है, परन्तु अब इनके महत्व में कमी आ गई है। फिर भी आजकल यह कृषि वित्त की लगभग 26 प्रतिशत आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

साहूकार प्रणाली के दोष—भारत में साहूकार व महाजन लोकप्रिय होते हुए भी बदनाम हैं और इनकी आलोचनाएँ इस प्रकार हैं। इन्हीं आलोचनाओं को इनके दोष या बुराइयां भी कहते हैं : (1) अधिक ब्याज दर—इनके द्वारा बहुत अधिक दर से ब्याज ली जाती है जो सामान्यतः 18 प्रतिशत से लेकर 36 प्रतिशत तक होती है, लेकिन यदि ऋणी कृषि की रकम किस्तों में चुकाता है तो ब्याज की दर 40 प्रतिशत तक पहुँच जाती है और अधिक रकम पर ब्याज की दर कम होती है। (2) अग्रिम ब्याज—साहूकार ऋण देते समय पूरे एक वर्ष की ब्याज अग्रिम रूप में काट लेता है। (3) हिसाब में गड़बड़ी—यह ऋण वापस मिलने पर या ब्याज प्राप्त होने पर कोई प्राप्ति की रसीद नहीं देते हैं तथा हिसाब-किताब भी ईमानदारी से नहीं रखते हैं। उसमें हेर-फेर करते हैं। कभी-कभी कोरे कागज पर हस्ताक्षर या अंगूठा निशानी लगवा लेते हैं और फिर उसमें

वास्तविक ऋण की रकम से अधिक लिख लेते हैं। (4) कम मूल्य पर फसल का क्रय—साहूकार सदा इस बात का प्रयत्न करता है कि ऋण प्रदान करते समय आगे आने वाली फसल को कम मूल्य पर उसको बेचने का वचन ऋणी से प्राप्त कर ले। इससे ऋणी को हानि होती है। (5) अनुत्पादक कार्यों के लिए ऋण—यह अनुत्पादक कार्यों के लिए ऋण देकर अनावश्यक व्ययों में वृद्धि करा देते हैं जो राष्ट्र के लिए उचित प्रतीत नहीं होता है। (6) साहूकार द्वारा बेगार—साहूकार अपने ऋणी से बहुत-से कार्य मुफ्त करा लेते हैं; जैसे ऋणी के परिवहन के साधनों का निःशुल्क उपयोग, या ऋणी के स्त्री व बच्चों का साहूकार के घर मुफ्त में कार्य करना, आदि।

उपर्युक्त दोषों के आधार पर बम्बई बैंकिंग जॉन्च समिति ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि “साहूकारों के लेन-देन का ढंग इस प्रकार का है कि एक बार उनसे ऋण लेने पर छुटकारा पाना कठिन है।” अतः सरकार ने इन पर नियन्त्रण लगा दिये हैं जिनके अनुसार प्रत्येक साहूकार व महाजन को इस प्रकार का व्यवसाय करने पर रिजर्व बैंक से अनुमति-पत्र लेना पड़ता है। ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामीण बैंकों की स्थापना एवं सहकारी बैंकों का विकास होने से इनका महत्व दिन-प्रतिदिन घटता जा रहा है, लेकिन यह अभी भी महत्वपूर्ण है।

(II) सहकारी संस्थाएं (Co-operative Institutions)—भारत में सहकारी संस्थाएँ बीसवीं शताब्दी की देन हैं और आजकल यह ग्रामीण वित्त में अच्छा योगदान दे रही हैं। यहां यह संस्थाएं तीन स्तरों पर पायी जाती हैं : ग्रामीण स्तर पर प्राथमिक सहकारी समितियां, जिला स्तर पर राज्य सहकारी बैंक या जिला सहकारी बैंक तथा राज्य स्तर पर राज्य सहकारी बैंक। यह संस्थाएं अल्पकालीन व मध्यमकालीन ऋण सुविधाएं प्रदान करती हैं।

(1) प्राथमिक सहकारी समितियाँ—गांव के कोई भी 10 व्यक्ति मिलकर प्राथमिक सहकारी समिति की स्थापना कर सकते हैं। इनका कार्यक्षेत्र बहुत ही सीमित होता है और इनको कार्यशील पूँजी सदस्यों की सदस्यता शुल्क, जन-निक्षेप, केन्द्रीय सहकारी बैंक से ऋण, आदि के रूप में प्राप्त होती है। वर्तमान में इनकी संख्या लगभग 6 लाख¹ है। इन सहकारी समितियों द्वारा लगभग 100 प्रतिशत गांवों और 71 प्रतिशत ग्रामीण परिवारों को कवर किया जा रहा है।

(2) केन्द्रीय सहकारी बैंकें या जिला सहकारी बैंकें—भारत में यह बैंकें दो प्रकार की होती हैं। एक तो वे जिनकी सदस्यता केवल सहकारी प्राथमिक समितियों को ही मिल सकती है। दूसरी वे जिनके सदस्य अन्य व्यक्ति तथा सहकारी प्राथमिक समितियाँ दोनों हो सकते हैं। यह बैंकें शहरी क्षेत्र में होती हैं। अतः यह वे सभी कार्य करती हैं जो एक व्यापारिक बैंक द्वारा किये जाते हैं। वर्तमान में इनकी संख्या 371 है।

(3) राज्य सहकारी बैंक—यह बैंकें अपने-अपने राज्य के मुख्यालय पर स्थापित होती हैं। इनकी अंश पूँजी केन्द्रीय सहकारी बैंक, राज्य सरकार व जनता द्वारा मिलकर दी जाती है। इनका मुख्य कार्य केन्द्रीय सहकारी बैंक या जिला सहकारी बैंकों को ऋण सुविधाएं प्रदान करना है। वर्तमान में इनकी संख्या 31 है।¹

सहकारी समितियों द्वारा ऋण की व्यवस्था में जो कतिपय दुर्बलताएँ पहले रही थीं; जैसे ऋण देने में देरी, भाई-भतीजावाद और साख की अपर्याप्त मात्रा, उनका अब काफी सुधार हो गया है तथा सहकारी समितियों द्वारा ऋण देने के सम्बन्ध में इस नीति का पालन किया जाता है—(i) कृषकों को ऋण देने की कसौटी उनकी ऋण शोधन क्षमता के बजाय सम्भावित पैदावार होती है। (ii) वित्तीय साधन कम होने पर सर्वप्रथम छोटे कृषकों की आवश्यकता पूरी की जाती है। (iii) बड़े कृषक हिस्सा पूँजी में प्राप्त होने वाली साख के अनुपात से अधिक योगदान करते हैं। मध्यम अवधि के ऋण अपेक्षाकृत उदार शर्तों पर दिये जाने लगे हैं।

(4) सहकारी कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक—इस बैंक का पूर्व नाम भूमि विकास बैंक था। वर्तमान में दीर्घावधि निवेश तथा ऋण उपलब्धता को सहज बनाने की दृष्टि से भूमि विकास बैंकों को दो श्रेणियों में विभक्त कर दिया गया है—प्राथमिक स्तर पर प्राथमिक सहकारी कृषि तथा ग्रामीण विकास बैंक व राज्य स्तर पर राज्य सहकारी कृषि तथा ग्रामीण विकास बैंक।

¹ Annual Report of Ministry of Agriculture 2013-14, p. 107.

प्राथमिक सहकारी कृषि तथा ग्रामीण विकास बैंक (Primary Co-operative Agricultural and Rural Development Banks—PCARD) की संख्या वर्तमान समय में 697 है, जबकि राज्य सहकारी कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंकों की संख्या 20 है।

सहकारी समितियों द्वारा लगभग 16% ऋण वितरित किया जाता है।

(III) **व्यापारिक बैंक** (Commercial Banks)—पहले व्यापारिक बैंकों कृषि वित्त में कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं देती थीं, लेकिन 14 व्यापारिक बैंकों का 1969 को व 6 बैंकों का 15 अप्रैल, 1980 को राष्ट्रीयकरण हो जाने के पश्चात् इन बैंकों के द्वारा अब कृषि वित्त में महत्वपूर्ण योगदान दिया जाने लगा है। इनके अतिरिक्त अन्य व्यापारिक बैंकों भी इस सम्बन्ध में नरम नीति का अनुसरण कर कृषि वित्त सुलभ कर रही हैं। यह बैंकों अल्पकालीन व मध्यमकालीन दोनों प्रकार के ऋण प्रदान करती हैं।

30 जून, 2014 को सम्पूर्ण देश में व्यापारिक बैंकों की कुल शाखाओं की संख्या 1,21,535 थी जिसमें से 46,976 शाखाएं ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यरत थीं। इस प्रकार देश में कार्यरत व्यापारिक बैंकों की 38.7% शाखाएं ग्रामीण क्षेत्रों में थीं।

(IV) **भारतीय स्टेट बैंक** (State Bank of India)—भारतीय स्टेट बैंक ने अपनी स्थापना के समय से ही कृषि वित्त उपलब्ध कराने का प्रयास किया है जिसके परिणामस्वरूप यह इस प्रकार की सुविधाएँ देता है—(1) सहकारी समितियों को ऋण—जिन स्थानों पर केन्द्रीय सहकारी बैंक नहीं हैं या सहकारी समितियाँ सुविधा देने में असमर्थ हैं वहाँ यह बैंक सहकारी समितियों को प्रत्यक्ष ऋण देती है। (2) धनराशि भेजने के लिए निःशुल्क सेवा—यह बैंक सहकारी बैंकों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर धन भेजने की निःशुल्क सुविधा प्रदान करती है। (3) गोदामों के लिए ऋण—यह गोदामों को बनाने के लिए ऋण की सुविधा देती है। (4) भूबन्धक बैंक की सहायता—भारतीय स्टेट बैंक भूबन्धक बैंकों के ऋणपत्रों को खरीदकर उनकी सहायता करती है। (5) कृषकों को प्रत्यक्ष ऋण—कृषकों को ट्रैक्टर व अन्य मशीनें क्रय करने एवं सिंचाई के पर्याप्त सेट लगाने के लिए यह बैंक उनको सीधा ऋण प्रदान करती है। (6) भण्डार निगमों की रसीद पर ऋण—यह बैंक केन्द्रीय व राज्य भण्डार निगमों की रसीद पर भी ऋण प्रदान करती है। (7) शाखाओं का विस्तार—यह ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी शाखाएँ खोलकर कृषि वित्त को प्रत्यक्ष रूप से ऋण देने का प्रयास कर रही है। इस समय स्टेट बैंक व उसकी सहायक बैंकों की कुल 22,043 शाखाएं कार्यरत हैं जिसमें से लगभग 35.7 प्रतिशत शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रों में हैं।

भारतीय स्टेट बैंक ने कृषि वित्त के विस्तार के लिए 1972 में एक योजना बनाकर लागू की है जिसकी 508 कृषि विकास शाखाएँ खोली गयी हैं जिनका कार्य कृषि वित्त की आवश्यकता की पूर्ति करना है।

भारतीय स्टेट बैंक ने भी ‘गाँव अंगीकृत योजना’ (Village Adoption Scheme) आरम्भ की है। इस योजना का उद्देश्य गोद लिये गये अर्थात् अंगीकृत गाँव के सभी कार्यक्षम किसानों को वित्तीय सुविधा प्रदान करना है।

(V) **क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक** (Regional Rural Banks)—भारतीय साख की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु 26 सितम्बर, 1975 को एक अध्यादेश जारी किया गया जिसके अन्तर्गत 50 क्षेत्रीय बैंकों की स्थापना की जानी थी जिसके अनुसार 2 अक्टूबर, 1975 को उत्तर प्रदेश में 1, राजस्थान में 1, हरियाणा में 1, पश्चिम बंगाल में 1 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक स्थापित की गयीं। 30 जून, 2008 तक देश में 196 क्षेत्रीय बैंकों की स्थापना की जा चुकी थी लेकिन समामेलन के माध्यम से इन्हें घटाकर 67 कर दिया गया है जिनकी 19,082 शाखाएँ काम कर रही थीं। वर्तमान समय में इन बैंकों की लगभग 74.6% शाखाएं ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित हैं। इन बैंकों के ऋणों का 90 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्र के कमजोर वर्गों को दिया जाता है। देश के कुल कृषि ऋण प्रवाह में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों का हिस्सा लगभग 10 प्रतिशत है।

क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक की व्यापारिक बैंकों से भिन्नता—क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक बुनियादी रूप में व्यापारिक बैंक ही हैं, लेकिन फिर भी यह बैंक भिन्न है—(1) इनका कार्य सीमित है। प्रत्येक क्षेत्रीय बैंक का कार्यक्षेत्र एक जिले से पाँच जिलों तक ही सीमित है। (2) यह बैंक छोटे कृषकों, भूमिहीन कृषकों, देहाती दस्तकारों व सीमान्त कृषकों को ऋण सुविधा प्रदान करती है। (3) यह ऋण पर वही ब्याज दर लेती है जो सहकारी समितियाँ लेती हैं। (4) इस बैंक के कर्मचारियों के वेतन क्षेत्रीय राज्य कर्मचारियों और निकायों में कार्य करने वालों के समान ही होते हैं जिनका निर्धारण केन्द्रीय सरकार करती है। (5) इन बैंकों की पूँजी का 50

प्रतिशत केन्द्रीय सरकार के पास, 15 प्रतिशत सम्बन्धित राज्य सरकार के पास तथा शेष 35 प्रतिशत सम्बन्धित बैंक के पास होता है। (6) इन क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को विश्व बैंक से भी ऋण स्वीकृत होते हैं। (7) इन क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों का प्रबन्ध एक 9 सदस्यों का प्रबन्ध मण्डल करता है जिसका सभापति केन्द्रीय सरकार मनोनीत करती है। इसके अतिरिक्त 3 संचालक केन्द्रीय सरकार द्वारा और मनोनीत किये जाते हैं। 2 संचालक राज्य सरकार मनोनीत करती है तथा शेष 3 सम्बन्धित बैंक द्वारा। (8) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण समाज को ऋण भार से मुक्ति दिलाना तथा साहूकारों के चंगुल से छुड़ाना है। यह बैंक केवल उत्पादक कार्य के लिए ऋण दे सकती है, लेकिन विशेष परिस्थितियों में गैर-उत्पादक कार्यों के लिए भी ऋण दे सकती है जिसकी अधिकतम सीमा बैंक द्वारा दिये गये ऋणों के 10 प्रतिशत से अधिक नहीं होती है। (9) ऋण की जमानत में यह बैंक सोने-चाँदी के आभूषण भी स्वीकार कर लेती है।

क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की सफलता के लिए सुझाव—(1) स्वीकृत ऋणों के प्रयोग पर निरीक्षण व्यवस्था अपनायी जाए जिससे कि ऋण उसी कार्य में लगे जिसके लिए लिया गया है। (2) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक, सहकारी बैंक व व्यापारिक बैंक इन तीनों के कार्यों में समन्वय होना चाहिए। (3) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को चाहिए कि वे ग्रामीण दस्तकारों को सहकारी समिति बनाने के लिए प्रोत्साहित करें। (4) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की शाखाएँ ऐसे स्थानों पर स्थापित की जायें जहाँ छोटे कृषकों व दस्तकारों की अधिकता हो जिससे उनको लाभ मिल सके।

(VI) सरकार (Government)—राज्य सरकारों द्वारा भी कृषि के लिए वित्त व्यवस्था की जाती है। यह व्यवस्था सामान्यतया भूमि सुधार ऋण अधिनियम (Land Improvement Loans Act), 1883 व कृषक ऋण अधिनियम (Agriculturists Loan Act), 1884 के अन्तर्गत की जाती है। कृषक को जो ऋण दिये जाते हैं उन्हें तकावी (Taccavi) कहते हैं। यह ऋण या तकावी अंकाल, बाढ़ या इसी प्रकार के संकट के समय ही राज्य सरकारें देती हैं। ऋणों की वापसी किस्तों में होती है जिन्हें मालगुजारी के साथ चुकाना पड़ता है। आजकल यह ऋण अधिक लोकप्रिय नहीं रहे हैं।

(VII) अग्रणी बैंक योजना (Lead Bank Plan)—14 बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् रिजर्व बैंक ने श्री एफ. के. एफ. नरीमन की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की जिसने अपनी रिपोर्ट 15 नवम्बर, 1969 को प्रस्तुत की। इस समिति ने सुझाव दिया कि देश के सभी जिलों को बॉट दिया जाना चाहिए तथा प्रत्येक बैंक को अपने हिस्से में आये जिलों में बैंकों की शाखाओं के विस्तार, साख वितरण व सामान्य विकास के लिए उत्तरदायी बनाया जाना चाहिए। सरकार ने इस रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया है जिसके अनुसार भारत के 335 जिलों को 17 बैंकों में बॉटा गया है। वर्तमान में अग्रणी बैंक योजना 472 जिलों में लागू है जिसका उत्तरदायित्व राष्ट्रीयकृत बैंकों तथा गैर-राष्ट्रीयकृत बैंक, जम्मू एवं कश्मीर बैंक तथा बैंक ऑफ राजस्थान पर है।

इस प्रकार, “अग्रणी बैंक से अर्थ उस बैंक से है जिसे कुछ जिलों में बैंकिंग विकास का उत्तरदायित्व सौंपा गया है।” उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश में सिण्डीकेट बैंक को तीन जिले सौंपे गये हैं—मुरादाबाद, मेरठ व मधुरा। यह बैंक उन तीन जिलों के लिए अग्रणी बैंक कहलाती है। जब कभी भी राज्यों में नये जिले सृजित होते हैं तो रिजर्व बैंक उन जिलों को भी नयी अग्रणी बैंकों को दे देता है।

रिजर्व बैंक द्वारा अग्रणी बैंक के कार्य इस प्रकार निर्धारित किये गये हैं : (1) आवंटित जिले में बैंकिंग विकास की सम्भावनाओं का सर्वेक्षण करना; (2) उन औद्योगिक एवं व्यापारिक इकाइयों की जानकारी करना जो अपनी आर्थिक आवश्यकताएँ बैंक के माध्यम से पूरी नहीं करती हैं; (3) आवंटित जिले में कृषि उपज के संग्रह एवं बिक्री की स्थिति का अध्ययन करना; (4) अपने क्षेत्र में खाद व कृषि के काम आने वाली वस्तुओं के रखने तथा कृषि औजारों की मरम्मत की सुविधाओं का पता लगाना; (5) ऋण देने वाली प्राथमिक एजेन्सियों की सहायता करना; (6) सरकारी व अर्द्ध-सरकारी एजेन्सियों से सम्पर्क करना व (7) 2 अक्टूबर, 1975 से ग्रामीण बैंकों की स्थापना करने का कार्य भी इन्हीं बैंकों को सौंपा गया है।

अग्रणी बैंक योजना काफी सफल रही है—इसी योजना के फलस्वरूप (1) बैंकों की शाखाओं का विस्तार हुआ है। (2) बिना बैंक वाले स्थानों पर बैंक स्थापित हुई हैं। (3) सभी जिलों का गहन सर्वेक्षण किया गया है। (4) ग्रामीण बैंकों में 35 प्रतिशत पूँजी अग्रणी बैंकों ने लगायी है। (5) ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों का विकास हुआ है।

अग्रणी बैंक योजना की कार्य-प्रणाली की समीक्षा के लिए नवम्बर 1981 में एक कार्यकारी दल गठित किया गया था जिसने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी है और रिजर्व बैंक ने कुछ संशोधन करके इसकी सिफारिशें मान ली हैं।

(VIII) राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक—यह बैंक 12 जुलाई, 1982 को स्थापित की गयी है जिसका उद्देश्य कृषि साख को एक छाते के नीचे लाना है। इसका विस्तृत विवरण इसी अध्याय में आगे दिया गया है।

(IX) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया—रिजर्व बैंक कृषकों को प्रत्यक्ष रूप से कोई वित्तीय सहायता प्रदान नहीं करती है। यह राज्य सहकारी बैंकों के माध्यम से ही कृषकों तक सहायता पहुँचाती रही है। यह बैंक वित्तीय सहायता दो रूपों में देती थी—(i) बिलों की पुनर्कटौती (Rediscount) के रूप में व (ii) अग्रिम (Advance) के रूप में। अब रिजर्व बैंक के यह कार्य राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक को हस्तान्तरित कर दिये गये हैं।

मध्यमकालीन ऋण—रिजर्व बैंक ने 1956 में दो कोषों की स्थापना की—(i) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष व (ii) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायीकरण) कोष। रिजर्व बैंक इन कोषों में से सहकारी बैंकों को मध्यमकालीन ऋण प्रदान करती थी जो 15 महीने से 5 वर्ष तक की अवधि के लिए होते थे। अब यह कोष राष्ट्रीय कृषि एवं कृषि विकास बैंकों को हस्तान्तरित कर दिये गये हैं।

दीर्घकालीन ऋण—रिजर्व बैंक राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन क्रियाएँ) कोष से केन्द्रीय भूमि विकास बैंकों को ऋण देती थी जो 4 वर्ष से अधिक अवधि के लिए होते थे। यह कोष भी राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण बैंक को हस्तान्तरित कर दिया गया है।

किसान क्रेडिट कार्ड (KISAN CREDIT CARD OR KCC)

किसान क्रेडिट कार्ड की योजना वर्ष 1998-99 में प्रारम्भ की गई थी। यह योजना पूरे देश में लागू है और वाणिज्यिक बैंकों, सहकारी बैंकों और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों द्वारा लागू की जा रही है। मार्च, 2013 तक 12.03 करोड़ किसान क्रेडिट कार्ड जारी किए जा चुके थे। इस योजना का उद्देश्य कृषि क्रियाओं के लिए साख प्रवाह को बढ़ाना है। इन कार्डों द्वारा वित्त प्रदान करने का आधार बड़ा विस्तृत रहा है, जिसमें दीर्घकालीन आवश्यकताओं और उपभोग आवश्यकताओं दोनों के लिए वित्त प्राप्त होता है। इन कार्डों के साथ बीमा सुविधाएं भी उपलब्ध हैं। किसान क्रेडिट कार्ड के धारकों को मृत्यु पर 50,000 ₹ और स्थायी विकलांगता पर 25,000 ₹ की वैयक्तिक दुर्घटना बीमा की रक्षा दी गई है।

राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक

(NATIONAL BANK FOR AGRICULTURAL & RURAL DEVELOPMENT)

देश की कृषि एवं ग्रामीण आवश्यकताओं की पूर्ति में वृद्धि करने एवं विभिन्न संस्थाओं के कार्यों में समन्वय करने के लिए एक राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक स्थापित करने का निर्णय दिसम्बर 1979 में तत्कालीन प्रधानमन्त्री चौधरी चरणसिंह के मन्त्रिमण्डल द्वारा लिया गया था जिसको श्रीमती गांधी की सरकार द्वारा साकार रूप दिया गया।

(1) स्थापना—राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक 12 जुलाई, 1982 को स्थापित की गयी है जिसने 15 जुलाई, 1982 से कृषि एवं ग्रामीण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शीर्ष संस्था के रूप में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है।

(2) पूँजी—इस बैंक की अधिकृत पूँजी 500 करोड़ ₹ है जिसे अब बढ़ाकर 5,000 करोड़ ₹ कर दिया गया है। वर्तमान में इसकी पूँजी 330 करोड़ ₹ है जिसे रिजर्व बैंक व केन्द्रीय सरकार ने बराबर मात्रा में दिया है।

(3) प्रबन्ध—इस बैंक का प्रबन्ध करने के लिए एक बोर्ड बनाया जाता है : (i) सभापति, (ii) संचालक ग्रामीण अर्थशास्त्र व ग्रामीण विकास के विशेषज्ञों में से, (iii) 3 संचालक सहकारी व वाणिज्यिक बैंकों के अनुभवी व्यक्तियों में से, (iv) 7 संचालक रिजर्व बैंक के संचालकों में से, (v) 3 संचालक केन्द्रीय सरकार के अधिकारियों में से, (vi) 2 संचालक राज्य सरकार के अधिकारियों में से, (vii) एक प्रबन्ध संचालक,

(viii) एक या अधिक पूर्णकालिक संचालक केन्द्रीय सरकार द्वारा। सभापति व प्रवन्ध संचालक का कार्यकाल 5 वर्ष का होता है, लेकिन अन्य संचालकों का कार्यकाल 3 वर्ष का होता है। इस बैंक का संचालक मण्डल एक सलाहकार मण्डल बनायेगा जिसका कार्य समय-समय पर मामलों पर सलाह देना होगा जिसे बोर्ड द्वारा सौंपा जायेगा। इस समय इस बैंक का 15 सदस्यों का प्रवन्ध मण्डल है।

वर्तमान में इस बैंक के 27 क्षेत्रीय कार्यालय व 300 से अधिक जिला-स्तर कार्यालय हैं।

(4) कार्य—इस बैंक को वे सभी काम दिये गये हैं जो रिजर्व बैंक के कृषि साख विभाग द्वारा किये जाते थे। यह बैंक कृषि साख को एक छाते के नीचे लायेगी (It will bring farm credit under one umbrella) और अल्पकालीन, मध्यमकालीन व दीर्घकालीन ऋणों की व्यवस्था करेगी। जिस प्रकार औद्योगिक विकास के लिए औद्योगिक विकास बैंक हैं उसी प्रकार कृषि विकास के लिए यह बैंक सर्वोच्च बैंक होगी जो सभी एजेन्सियों के कार्य में समन्वय करते हुए कृषि साख का विस्तार करेगी।

इस बैंक को कृषि पुनर्वित्त विकास निगम (Agriculture Refinance and Development Corporation) के वे सभी कार्य सौंप दिये गये हैं जो यह निगम करता था। इसी प्रकार राष्ट्रीय कृषि दीर्घकालीन कोष व राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायीकरण) कोष भी रिजर्व बैंक ने इस बैंक को हस्तान्तरित कर दिये हैं।

यह बैंक अपनी आवश्यकताओं के लिए वॉण्ड या ऋणपत्र जारी कर सकती है। यह बैंक कृषि के सम्बन्ध में सभी प्रकार की साख की व्यवस्था करेगी, जैसे उत्पादन व विपणन ऋण, राज्य सरकारों को ऐसी ही संस्थाओं के पूँजी लाभ के लिए ऋण।

इस बैंक ने ग्रामीण भण्डारण योजना के अन्तर्गत एक योजना प्रारम्भ की है जिसका उद्देश्य किसानों की भण्डारण की आवश्यकता को पूरा करना है। इसके लिए साहसियों को भण्डारण बनाने के लिए यह बैंक कुल लागत का 75 प्रतिशत ऋण देगी व शेष 25 प्रतिशत केन्द्रीय सरकार Subsidy के रूप में प्रदान करेगी लेकिन शर्त यह है कि भण्डार नगर निगमों की सीमाओं से बाहर हों।

पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि साख

प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56)—प्रथम योजना में 125 करोड़ ₹ की कृषि साख उपलब्ध करने के लिए आयोजन किया गया था, लेकिन इसमें इस अवधि में केवल 43 करोड़ ₹ की साख ही प्रदान की गयी थी। **द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-61)**—द्वितीय योजना में इस कार्य के लिए 240 करोड़ ₹ की व्यवस्था की गयी थी। **तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961-66)**—इसमें 675 करोड़ ₹ का कृषि साख के लिए प्रावधान किया गया था जिसमें से 550 करोड़ ₹ की कृषि साख प्रदान की गयी थी। **चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969-74)**—इस योजना में 1,020 करोड़ ₹ इस कार्य के लिए रखे गये थे जिसमें से सहकारी संस्थाओं के लिए भी 700 करोड़ ₹ की व्यवस्था की गयी थी। **पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79)**—पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में 3,000 करोड़ ₹ ग्रामीण वित्त के लिए रखे गये। इसमें से 1,700 करोड़ ₹ व्यापारिक बैंकों, 600 करोड़ रुपये कृषि पुनर्वित्त एवं विकास कार्य के लिए तथा शेष अन्य संस्थाओं के लिए थे। **छठवीं योजना (1980-85)** में, ग्रामीण विद्युतीकरण, लघु सिंचाई और कृषि विकास के अन्य कार्यक्रमों के लिए अधिकाधिक वित्त उपलब्ध कराने की बात कही गई। अतः इस योजना में कृषि वित्त के लिए 1984-85 में 5,415 करोड़ ₹ के वित्त की आवश्यकता का अनुमान लगाया गया था। **सातवीं योजना (1985-90)** में कृषि साख के लिए 30,495 करोड़ ₹ का अनुमान लगाया गया—अल्पकालीन 8,695 करोड़ ₹, मध्यमकालीन 1,845 करोड़ ₹ व दीर्घकालीन 19,955 करोड़ ₹। **आठवीं योजना (1992-97)** में कृषि साख के लिए सहकारिता का लक्ष्य 9,285 करोड़ ₹ रखा गया। **नौवीं योजना** के अन्तिम वर्ष 2001-02 में कृषि साख का लक्ष्य 2,29,750 करोड़ ₹ रखा गया था—1,49,400 करोड़ ₹ कृषि उत्पादन के लिए व शेष 80,350 करोड़ ₹ विनियोग साख के लिए। **दसवीं योजना** में कृषि साख का लक्ष्य कृषि उत्पादन के लिए 3,59,701 करोड़ ₹ व निवेश के लिए 3,75,869 करोड़ ₹ रखा गया था।

ग्यारहवीं योजना (2007-12) के पांच वर्षों में कृषि क्षेत्र को प्रदत्त संस्थागत साख की राशि 19,20,400 करोड़ ₹ की राशि थी। यह राशि योजना के प्रथम वर्ष (2007-08) में मात्र 2,54,658 करोड़ ₹ थी, जो योजना के अन्तिम वर्ष 2011-12 में 5,11,029 करोड़ ₹ हो गई।

बारहवीं योजना (2012-17) में कृषि के संस्थागत वित्त की मांग 31,24,624 करोड़ ₹ से 42,08,454 करोड़ ₹ के मध्य अनुमानित की गई है, तो कृषि विकास की दर और तकनीक पर निर्भर करेगी। योजना के प्रथम वर्ष 2012-13 में 7,30,765 करोड़ ₹ तथा द्वितीय वर्ष 2013-14 में 7 लाख करोड़ ₹ का लक्ष्य रखा गया। योजना के तृतीय वर्ष 2014-15 में इसका लक्ष्य 8,00,000 करोड़ ₹ रखा गया था।¹

कृषि साख की उन्नति के लिए सुझाव

कृषि साख के आसानी से सुलभ करने एवं वर्तमान वित्त संस्थाओं की कार्य-प्रणाली में सुधार हेतु निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं :

(1) व्यापारिक बैंकों का ग्रामीण क्षेत्रों में विस्तार—सबसे प्रमुख सुझाव यह दिया जाता है कि व्यापारिक बैंकों को अपनी नयी-नयी शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रों में खोलनी चाहिए तथा ग्रामीण वित्त में अधिकाधिक योग देना चाहिए। ऐसा होने से एक ओर तो ग्रामीणों में बचतों को एकत्रित करने की आदत बनेगी व दूसरी ओर आवश्यकता के समय उनको अल्पकालिक वित्तीय सुविधाएँ भी मिल सकेंगी।

(2) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों का विस्तार—दूसरा सुझाव यह दिया जाता है कि क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों का विस्तार किया जाना चाहिए। 30 जून, 2014 तक इनकी 19,082 शाखाएँ खोली जा चुकी हैं।

(3) सहकारी वित्तीय संस्थाओं का विस्तार—सहकारी वित्तीय संस्थाओं जैसे सहकारी समितियों का विस्तार किया जाना चाहिए जिससे कि प्रत्येक गाँव का कृषक इनसे लाभ उठा सके। इस सम्बन्ध में यह भी सुझाव दिये जाते हैं कि (i) वित्तीय सहकारी समितियों के द्वारा कृषि विपणन कार्य भी किया जाना चाहिए जिससे कि साख व विपणन में समन्वय किया जा सके। (ii) समितियों का प्रबन्ध कुशल, कर्मठ, ईमानदार व्यक्तियों के हाथ में होना चाहिए। (iii) समितियों के पूँजीगत साधनों का विस्तार किया जाना चाहिए जिससे कि इनकी ऋण देने की क्षमता में वृद्धि हो सके। (iv) केन्द्रीय सहकारी बैंकों का पुनर्गठन किया जाना चाहिए जिससे कि प्रत्येक जिले में केवल एक ही बैंक हो जो अपने जिले की समितियों के कार्यों में उचित प्रकार से समन्वय कर सके। (v) सहकारी वित्तीय समितियों व जिला सहकारी बैंकों पर जमा बीमा योजना (Deposit Insurance Scheme) लागू की जानी चाहिए जिससे कि इनके फेल होने पर बचतों को जमा करने वालों को कोई हानि न हो और उन्हें जमा बीमा निगम से अपनी जमा राशि प्राप्त हो सके।

(4) सरकारी ऋणों का विस्तार—पिछले वर्षों में सरकार द्वारा जो ऋण दिये गये हैं उनमें काफी वृद्धि हुई है, लेकिन अभी उनमें और वृद्धि करने की आवश्यकता है। साथ ही इस बात की भी जरूरत है कि ऐसे ऋण देने का तरीका सरल बनाया जाय। इन ऋणों को देते समय सरकारी कर्मचारी उचित ईमानदारी का परिचय नहीं देते हैं। अतः इसमें सुधार की आवश्यकता है।

(5) जमानत पर जोर न देना—यह सुझाव भी दिया जाता है कि छोटे कृषकों को ऋण देते समय जमानत देने में अधिक जोर न दिया जाय बल्कि इस बात का ध्यान रखा जाय कि कृषकों की ऋण चुकाने की क्षमता कैसी है।

(6) विभिन्न वित्तीय संस्थाओं में समन्वय—विभिन्न वित्तीय संस्थाओं में आपस में प्रभावी समन्वय होना चाहिए जिससे कि वे उन्हीं स्थानों पर विस्तार कर सकें जहाँ विस्तार की आवश्यकता है।

कृषि वित्त की ऋण प्रणाली को सुदृढ़ करने के नीतिगत उपाय

(1) व्यापक कृषि ऋण पैकेज—कृषि और सम्बन्धित गतिविधियों के लिए ऋण का प्रवाह बढ़ाने के लिए सरकार ने जून, 2004 में ‘व्यापक कृषि ऋण पैकेज’ प्रारम्भ किया। इस पैकेज में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक सहित व्यावसायिक बैंकों के द्वारा प्रत्येक वर्ष 50 लाख नए किसानों को वित्तीय सुविधाएं उपलब्ध कराने पर भी बल दिया गया है। इस पैकेज में संकट में फंसे किसानों और अपना ऋण न चुका पाने वाले किसानों के लिए ऋण राहत के उपाय, छोटे और सीमान्त किसानों के लिए एकमुश्त निपटान योजना तथा कर्जदार किसानों को महाजनों से राहत दिलाने पर भी बल दिया गया है।

(2) ब्याज दर में कमी—किसानों को फसल ऋण पर 3 लाख ₹ तक की मूलधन राशि 7% ब्याज दर पर प्रदान की जा रही है। 2014-15 के दौरान उन किसानों के लिए प्रभावी ब्याज दर 4 प्रतिवर्ष है जो अपने ऋण की तत्परता से चुकौती कर रहे हैं।

¹ आर्थिक समीक्षा, 2014-15.

(3) प्रतिभूति मुक्त ऋण—एक लाख ₹ तक का कृषि ऋण कॉलेट्रल/प्रतिभूति मुक्त बनाया गया है।

(4) किसान क्रेडिट कार्ड—कृषि मन्त्रालय ने ऋण लेने वाले सभी इच्छुक किसानों को समय पर किसान क्रेडिट कार्ड उपलब्ध कराने के उपाय किए हैं।

(5) आपदा वाले क्षेत्रों में रहित—भारतीय रिजर्व बैंक ने बैंकों को प्राकृतिक आपदाओं वाले क्षेत्रों में राहत उपाय कर रहे बैंकों को विस्तृत दिशा-निर्देश जारी करने के लिए कहा है। इन दिशा-निर्देशों में वर्तमान ऋण की परिवर्तन, उपभोग ऋण की मंजूरी और नए ऋण का अनुदान आदि शामिल हैं।

(6) फसल कृषि उत्पाद ऋण—किसानों को अपनी उपज का बेहतर मूल्य प्राप्त होने तक उपज को रोकने में सक्षम बनाने के लिए 1 अप्रैल, 2005 को कॉरपोरेशन बैंक ने यह योजना प्रारम्भ की है। इस योजना के अन्तर्गत किसान अपनी उपज को केन्द्रीय भण्डारगृह निगम या राज्य भण्डारगृह निगम के किसी गोदाम में अथवा MCX द्वारा मान्यता प्राप्त किसी गोदाम में भण्डारण करके उसकी रसीद के आधार पर कॉरपोरेशन बैंक से ऋण प्राप्त कर सकते हैं।

(7) प्रपत्रों में सरलता—बैंकों को यह सलाह दी गई है कि कृषि ऋण देते समय प्रपत्रों एवं प्रक्रिया को सरल बनाए।

(8) गरीब कृषकों को राहत—गरीब कृषकों तक पहुंचने के लिए स्वयं सहायता समूह (SHG) तथा बैंकों के सहयोग कार्यक्रम को गहन किया गया है। बैंकों को यह सलाह भी दी गई है कि वे ‘संयुक्त दायित्व समूहों’ तथा ‘किराएदार किसान समूहों’ को भी वित्त प्रदान करें।

ग्रामीण या कृषक ऋणग्रस्तता की समस्या

(PROBLEM OF RURAL OR FARMERS INDEBTEDNESS)

भारत में ग्रामीण ऋणग्रस्तता की समस्या नई नहीं है। यह समस्या उतनी ही पुरानी है जितनी कृषि। कृषकों का ऋणग्रस्त होना भी एक सामान्य बात है। शाही कृषि आयोग के अनुसार, “भारतीय कृषक ऋण में जन्म लेता है, ऋण में पलता है और ऋण में ही मरता है।” (Indian farmer is born in debt, lives in debt and dies in debt)। इसका अर्थ यह है कि जब कृषक अपने परिवार में जन्म लेता है तो उस समय उसके पूर्वज ऋणग्रस्त होते हैं, जब वह पलता है तब भी उसके परिवार पर ऋण का भार बना रहता है और जब वह वृद्ध होकर मरता है तब भी ऋणों का भुगतान नहीं कर पाता है और वह उसको अपनी सन्तान के लिए छोड़कर चला जाता है।

समय-समय पर अनेक विद्वानों व समितियों ने भारतीय ऋणग्रस्तता का अनुमान लगाया है जिससे पता चलता है कि इनकी मात्रा में सदैव ही वृद्धि होती रही है। एडवर्ड मैक्लागन ने 1911 में ग्रामीण ऋणग्रस्तता का अनुमान 300 करोड़ ₹ लगाया था, जबकि प्रान्तीय बैंकिंग जाँच समिति ने 1929 में इसकी मात्रा 900 करोड़ ₹ बतायी थी। भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने 1951-52 में ऋणग्रस्तता का अनुमान 750 करोड़ ₹ लगाया था, जबकि अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण एवं विनियोग सर्वेक्षण, 1961-62 ने कुल ग्रामीण ऋणग्रस्तता का अनुमान 1,034 करोड़ ₹ बताया था। रिजर्व बैंक के आर्थिक विभाग द्वारा किये गये सर्वेक्षण के अनुसार, “वर्तमान ऋणग्रस्तता 3,848 करोड़ ₹ है जिसमें से 96 करोड़ ₹ वस्तुओं में व शेष नकदी में है। इस ऋण का 88 प्रतिशत तो कृषकों द्वारा लिया गया है शेष 12 प्रतिशत कृषि श्रमिकों, कारीगरों व अन्य दस्तकारों द्वारा लिया गया है।

ग्रामीण या कृषक ऋणग्रस्तता के कारण

ग्रामीण या कृषक ऋणग्रस्तता के निम्न कारण हैं:

(1) कम आय व निर्धनता—ग्रामीण ऋणग्रस्तता का सबसे प्रमुख एवं महत्वपूर्ण कारण ग्रामीण क्षेत्रों में आय का कम होना एवं उनके पास आपत्तिकाल के लिए कोई कोष न होना है। इसका परिणाम यह होता है कि असाधारण आपत्ति आने पर ऋण लेना पड़ता है जिसको वे अपनी कम आय होने के कारण लौटाने की व्यवस्था नहीं कर पाते हैं और सदा ही ऋणग्रस्त बने रहते हैं।

(2) पैतृक ऋण—यह ऋण ग्रामीणों को विरासत में मिलते हैं जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते हैं। ऐसा होने से वे ऋणों को लेना बुरी बात नहीं मानते हैं और उनकी यह मनोवृत्ति ऋण लेने के लिए प्रेरित करती है।

(3) **प्राकृतिक संकट**—भारतीय कृषि आज भी प्रकृति पर निर्भर है। जब कभी प्राकृतिक संकट जैसे बाढ़, फसलों में रोग, टिड़ी दल का आक्रमण, वर्षा का कम होना, आदि आ जाते हैं तो उत्पादन कम हो जाता है और इस प्रकार कृषक को अपने परिवार का पेट भरने के लिए ऋण लेने को बाध्य होना पड़ता है।

(4) **सामाजिक व्यय**—भारतीय कृषक सादा जीवन विताता है, लेकिन सामाजिक रुद्धियों में जकड़ा होने के कारण बेकार के व्ययों से बच नहीं पाता है अतः उसको जन्म, मृत्यु, शादी-विवाह, आदि पर अपनी प्रतिष्ठा के अनुसार व्यय करना ही पड़ता है जिसको पूरा करने के लिए ऋण का सहारा लेना पड़ता है।

(5) **पशुओं की मृत्यु**—भारतीय कृषि में पशुओं का उपयोग पर्याप्त रूप में किया जाता है, लेकिन जब कभी भी पशु की मृत्यु अचानक हो जाती है तो वह विना पशु के नहीं रह पाता है और उसे तुरन्त ही ऋण लेकर पशु की कमी को पूरा करना पड़ता है और इस प्रकार वह क्रही हो जाता है। इन ग्रामीणों की आय कम होने के कारण वे इन पशुओं की हानि की पूर्ति हेतु पहले से कोई व्यवस्था नहीं कर पाते हैं।

(6) **मुकदमेबाजी की प्रवृत्ति**—ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि सम्बन्धी मामलों को लेकर या अन्य व्यक्तिगत कारणों से मुकदमेबाजी करने की प्रवृत्ति पायी जाती है और उन्हें आय कम होने के कारण इस प्रकार के व्ययों के लिए ऋण लेने को बाध्य होना पड़ता है।

(7) **साहूकारों की कुरीतियाँ**—साहूकारों व महाजनों द्वारा ग्रामीणों को आसानी से ऋण दे दिया जाता है। इस कारण भी ग्रामीण ऋणग्रस्तता में वृद्धि होती है। अधिक ऊँची ब्याज दर या साहूकारों द्वारा ऋण के कागजों में हेरा-फेरी करने से भी ऋणग्रस्तता में वृद्धि होती है।

(8) **मूल्य-स्तर में वृद्धि**—पिछले कुछ वर्षों में सामान्य मूल्य-स्तरों में कई गुनी वृद्धि हुई है, लेकिन गैर-कृषि श्रमिकों की मजदूरी उस अनुपात में नहीं बढ़ी है जिस अनुपात में मूल्य-स्तरों में वृद्धि हुई है। इसका परिणाम यह हुआ है कि उनको व्ययों की पूर्ति हेतु ऋण लेने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

(9) **भूमि पर जनसंख्या के भार में वृद्धि**—भूमि पर जनसंख्या के भार में वृद्धि होने से खेत छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाता है जिससे पूरे परिवार के पेट भरने तक के लिए भी खाद्यान्नों का उत्पादन नहीं हो पाता है। इसका परिणाम यह होता है कि ऋण लेकर ही काम चलाया जाता है।

(10) **पूरक आय साधनों का अभाव**—ग्रामीण क्षेत्रों में ऋणग्रस्तता की वृद्धि का एक महत्वपूर्ण कारण पूरक आय साधनों का अभाव है। यदि ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि के अतिरिक्त अन्य कार्य करने के लिए अवसर हों तो इससे आय में वृद्धि होगी और ग्रामीण ऋण लेने के लिए बाध्य नहीं होगा।

(11) **अन्य कारण**—ग्रामीण क्षेत्रों में ऋणग्रस्तता के अन्य कारण भी हैं; जैसे (i) भूमि का मूल्य बढ़ने से कृषक की ऋण प्राप्त करने की क्षमता में वृद्धि; (ii) गाँवों में व्यवस्थित बाजार का अभाव जहाँ कृषक उचित मूल्य पर अपनी उपज बेच सके; (iii) भूमि के छोटे टुकड़ों पर कृषि का अनार्थिक होना; व (iv) ग्रामीण अर्थव्यवस्था में मुद्रा को उचित स्थान मिलना; आदि।

ग्रामीण या कृषक ऋणग्रस्तता का प्रभाव

ऋण अपने आप में बुरे नहीं होते हैं। उनका उपयोग ही उनको बुरा या अच्छा बना देता है। यदि ऋण उत्पादक कार्यों के काम में लाये जाते हैं तो वे अच्छे हैं। इससे उत्पादन बढ़ता है, रोजगार में वृद्धि होती है, आय में वृद्धि होती है। इसके विपरीत जब ऋणों का उपयोग अनुत्पादक कार्यों के लिए किया जाता है तो वे बुरे माने जाते हैं और उनका प्रभाव बुरा होता है। अधिकांश ग्रामीण ऋण अनुत्पादक कार्यों के लिए लेते हैं। इससे निम्न कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है :

- (1) **आय में कमी**—ऋणग्रस्तता एक व्यक्ति की आय में कमी करती है, क्योंकि उसको अपनी आय में से ब्याज व मूलधन का भुगतान करना पड़ता है। इससे उसका रहन-सहन का स्तर गिरता है। (2) **कम मूल्य पर उपज बेचने की मजबूरी**—फसल के आने पर ही उसे ब्याज व मूलधन के चुकाने हेतु तुरन्त ही बेच देना पड़ता है जिससे मूल्य कम मिलता है। कभी-कभी कृषक द्वारा ऋण लेते समय फसल बेचने का वायदा करने के कारण भी पहले से निर्धारित कम मूल्य पर ही साहूकारों को फसल बेचनी होती है। इस प्रकार दोनों ही परिस्थितियों में उसे कम मूल्य लेने के लिए बाध्य होना पड़ता है। (3) **भूमि पर सुधार करने में असमर्थ**—ऋण चुकाने के कारण कृषक भूमि सुधार में असमर्थ होता है। फलतः उसकी भूमि अनार्थिक होती जाती है। इससे उत्पादन में गिरावट आती है। (4) **आर्थिक विषमताओं में वृद्धि**—ऋणग्रस्तता ऋणी को दिन-प्रतिदिन निर्धन व

साहूकार को धनी बनाती है। इससे आर्थिक विषमताओं में वृद्धि होती है जो किसी भी देश के लिए हितकारी नहीं है। (5) भूमिहीन कृषकों की संख्या में वृद्धि—जब कृषक अपने को ऋण का भुगतान करने में असमर्थ पाता है तो साहूकार द्वारा उसकी भूमि को कानूनी रूप से अपने अधिकार में ले लिया जाता है। इससे कृषकों की भूमि अकृषकों पर पहुँच जाती है और भूमिहीनों की संख्या में वृद्धि हो जाती है। (6) कृषकों की कार्यकुशलता का हास—कृषक ऋण के भार से दबा होने के कारण सदा चिन्तित रहता है जिससे उसके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है जो उसकी कार्यकुशलता में कमी कर देता है। (7) निम्न सामाजिक स्तर—ऋणी का समाज में स्तर गिर जाता है जिसके परिणामस्वरूप उसका नैतिक पतन हो जाता है और आत्मबल गिर जाता है। (8) साहूकारों द्वारा बेगार—साहूकारों द्वारा ऋणी से ऋणग्रस्त होने के कारण बेगार ली जाती है। उसे कार्य के बदले पारिश्रमिक नहीं दिया जाता है।

ग्रामीण या कृषक ऋणग्रस्तता को दूर करने के उपाय

ग्रामीण ऋणग्रस्तता को दूर करने के लिए (1) सामाजिक वातावरण—सामाजिक वातावरण बनाने की आवश्यकता है कि शादी-विवाह, जन्म व मृत्यु, आदि पर व्यय करना उचित नहीं है। (2) वर्तमान ऋणों से छुटकारा—कृषक को वर्तमान ऋणों से छुटकारा दिलाया जाना चाहिए। (3) ऋण देने वाली संस्थाओं का विस्तार—ग्रामीण आँचल में सस्ती ब्याज दर पर ऋण देने वाली संस्थाओं का विस्तार होना चाहिए। (4) साहूकारों पर उचित नियन्त्रण—साहूकारों की क्रियाओं पर उचित कानूनी नियन्त्रण लगाया जाना चाहिए जिससे कि वे कोई अवैधानिक व अनियमित कार्य न कर सकें। (5) ग्रामीण उद्योग—ग्रामीण की आय में वृद्धि करने के लिए गाँवों में ग्रामीण उद्योग-धन्धे स्थापित किये जाने चाहिए जिससे कि उनकी आय में वृद्धि हो सके और वे ऋण के लिए तत्पर न हों।

इस ओर सरकार काफी सजग है और वह बराबर ध्यान दे रही है। सरकार ने इस सम्बन्ध में निम्न उपाय किये हैं :

(1) पुराने ऋणों की समाप्ति—प्रान्तीय सरकारों ने समय-समय पर पुराने ऋणों को समाप्त करने या उनमें कमी करने के उद्देश्य से कानून बनाये हैं। 1879 में दक्षिण कृषक राहत अधिनियम (The Decan Agriculturists Relief Act) पास किया गया। 1934 में ‘पंजाब ऋण समझौता अधिनियम’ पास किया गया जिसमें ऋणदाता व ऋणी की सहमति से ऋण कम करने और उसे किस्तों में देने की व्यवस्था थी। इसी प्रकार के अधिनियम असम, पश्चिम बंगाल व तमिलनाडु में भी पारित किये गये, लेकिन इस अधिनियम का लाभ ऋणियों को न मिल सका। इसका कारण ग्रामीण क्षेत्रों में अधिनियमों के विद्यमान होने की जानकारी न होना था। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक प्रभावी कदम 1975 में उठाये गये हैं जिनके अन्तर्गत ऋणों की अदायगी यथासम्भव समाप्त कर दी गयी है या स्थगित कर दी गयी है। ब्याज दर पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये तथा सरकारी समितियों व अन्य संस्थाओं के विस्तार के लिए भी कदम उठाये गये हैं जिससे कि ऋण आसानी से उपलब्ध हो सकें। कुछ परिस्थितियों में ऋण की वसूलयाबी के लिए मुकदमे नहीं चलाये जा सकते थे और यदि चल रहे थे तो स्थगित समझे गये। यदि डिक्री हो गयी थी तो उसको भी अमल में नहीं लाया जा सकता था। इस प्रकार के अधिनियम असम, आन्ध्र प्रदेश, हरियाणा, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, पंजाब, त्रिपुरा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, ओडिशा, पश्चिम बंगाल, आदि में बनाकर लागू कर दिये गये हैं। वर्ष 2008 में भी केन्द्रीय सरकार ने ‘कृषि ऋण त्याग एवं ऋण राहत योजना’ लागू की है। इस योजना में लगभग 3.69 करोड़ कृषकों को 65,318 करोड़ ₹ की राहत मिली।

(2) साहूकारों पर नियन्त्रण—विभिन्न राज्यों में साहूकारों व महाजनों पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं जिनकी शुरुआत 1930 के बाद हुई है। इन प्रतिबन्धों में ब्याज दर पर प्रतिबन्ध, उचित लेखे रखने की अनिवार्यता एवं साहूकार व महाजनों का अनिवार्य पंजीकरण शामिल हैं।

(3) सहकारी संस्थाओं का विस्तार—भारत में इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही सरकार का यह प्रयत्न रहा है कि सहकारी साख संस्थाओं का ग्रामीण क्षेत्रों में विस्तार किया जाय। इसके लिए सरकारें इनकी पूँजी के अंश क्रय करती हैं, ऋण देती हैं तथा मार्गदर्शन करती हैं।

(4) व्यावसायिक बैंकों का विस्तार—पिछले कुछ दशकों वर्षों में सरकार की यह नीति रही है कि बैंकें ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी अधिक शाखाएँ खोलें। इसी का परिणाम है कि अब 38.7% शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रों में हैं।

(5) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की स्थापना—26 सितम्बर, 1975 को एक अध्यादेश जारी कर 50 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की स्थापना की गयी थी, 30 जून, 2014 में इन बैंकों की 19,082 शाखाएं कार्य कर रही थीं। यह बैंकें छोटे कृषकों, भूमिहीन श्रमिकों, दस्तकारों, आदि के लिए खोली गयी हैं।

उपर्युक्त उपायों के फलस्वरूप ग्रामीण ऋणग्रस्तता में कुछ कमी आने की सम्भावना है। पुराने ऋणियों को राहत मिली है। ऋण देने वाली संस्थाओं का विस्तार हुआ है, लेकिन अभी भी इन प्रयत्नों में ढील देने के स्थान पर और द्रुतगामी गति से प्रयास करने की आवश्यकता है जिससे कि अनुत्पादक ऋणों में कमी हो और उत्पादक ऋण आसानी से कम ब्याज दर पर मिल सकें।

छोटे एवं सीमान्त किसानों की साख समस्याएँ

(CREDIT PROBLEMS OF SMALL AND MARGINAL FARMERS)

छोटे एवं सीमान्त किसानों की सबसे बड़ी समस्या उन्हें उधार न मिलने की है। इन्हें न तो साहूकार और न बैंक ही उधार देना चाहती हैं। इन्हें उधार न देने के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :

(1) गरीबी—इन लोगों की आय बहुत कम होती है। अतः यह गरीबी रेखा से नीचे ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं फलस्वरूप कोई भी व्यक्ति या संस्था इन्हें उधार देने को तैयार नहीं होती है। (2) चुकाने की क्षमता न होना—इन लोगों के पास ऋण लेकर उसको चुकाने की क्षमता नहीं होती है, क्योंकि आय इतनी कम होती है कि उसमें से बचाना तो दूर रहा दोनों समय पूरा पेट भरना भी कठिन होता है। (3) प्रतिभूति का अभाव—यह लोग गारण्टी या प्रतिभूति देने में असमर्थ रहते हैं। अतः इनको साख नहीं मिल पाती है। (4) सरकारी सहायता में उपेक्षा—इन्हें सरकारी सहायता भी उचित मात्रा में नहीं मिल पाती है, क्योंकि ये न तो पढ़े-लिखे होते हैं और न इन्हें व्यापारिक ज्ञान होता है। इसके परिणामस्वरूप बड़े किसान इस सहायता का लाभ उठा लेते हैं। (5) सामाजिक प्रतिष्ठा कम होना—इस सीमान्त व छोटे किसानों की समाज में प्रतिष्ठा निम्न स्तर पर होती है। इससे इन्हें उधार मिलने में कठिनाई रहती है।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि इनको बिना जमानत के ऋण सुविधाएँ दी जानी चाहिए। साथ ही ग्रामीण व अन्य बैंकों को स्वयं ही इनके पास पहुँचना चाहिए और उन्हें यह बताना चाहिए कि बैंकें उनकी सहायता करना चाहती हैं। अतः उनको इसका लाभ उठाना चाहिए।

इनकी प्रतिष्ठा भी बनी रहेगी तथा इन्हें आवश्यकतानुसार साख भी मिल जायेगी और ये महाजन व साहूकारों के चंगुल से भी बचे रहेंगे। साथ ही उत्पादन बढ़ाकर अपनी आय व रहन-सहन स्तर भी उठा सकेंगे।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. भारत में साहूकार प्रणाली आज भी जीवित है, क्यों? इसके दोषों की भी व्याख्या कीजिए।
2. ग्रामीण साख या कृषि वित्त से क्या अर्थ है? ग्रामीण साख के माध्यमों के बारे में बताइए।
3. ग्रामीण साख या कृषि वित्त के साधन कौन-कौन से हैं? सहकारी संस्थाओं के बारे में विस्तार से बताइए।
4. केन्द्रीय ग्रामीण बैंकों की व्यापारिक बैंकों से तुलना कीजिए तथा इनकी सफलता के लिए सुझाव दीजिए।
5. राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक के बारे में विस्तार से विवेचना कीजिए।
6. ग्रामीण साख की उन्नति के लिए सुझाव दीजिए।
7. भारत में कृषि वित्त के वर्तमान तन्त्र का परीक्षण कीजिए।
8. [संकेत—इसमें कृषि वित्त के साधन देने हैं] भारत में ग्रामीण ऋणग्रस्तता के कारणों का वर्णन कीजिए। इस समस्या के समाधान के लिए अपने सुझाव दीजिए।
9. भारत में कृषि वित्त के मुख्य स्रोत क्या हैं? इस क्षेत्र में सहकारी ऋणों की क्या भूमिका है?
10. भारत में कृषि साख के महत्व और स्रोतों की विवेचना कीजिए।

कृषि विपणन

[AGRICULTURAL MARKETING]

कृषि विपणन का अर्थ

“कृषि विपणन से अर्थ उन सभी क्रियाओं से लगाया जाता है जिनका सम्बन्ध कृषि उत्पादन का कृषक के यहाँ से अन्तिम उपभोक्ता तक पहुँचाने में किया जाता है।”¹ इन क्रियाओं में कृषि उपज को एकत्रित करना, उनका श्रेणीकरण एवं प्रमापीकरण करना, उन्हें बेचने के लिए मण्डयों व बाजारों तक ले जाना तथा उनकी बिक्री करना भी शामिल हैं।

भारत में कृषि विपणन की वर्तमान व्यवस्था

वर्तमान समय में कृषि उपज के विपणन के लिए निम्न व्यवस्था पायी जाती है :

(1) गाँवों में बिक्री—किसान अपनी उत्पत्ति का बहुत बड़ा भाग गाँवों में ही साहूकारों, महाजनों, बनियों, घूमते-फिरते व्यापारियों, पैठों व हाटों में ही बेच लेते हैं। किसान द्वारा गाँवों में ही बिक्री कई कारणों से की जाती है; जैसे (i) गाँवों के साहूकार या बनिये का ऋणी होना, (ii) पहले से ही विक्रय का सौदा कर लेना, (iii) धन की तुरन्त आवश्यकता होना, (iv) परिवहन साधनों का अभाव, (v) मण्डयों की कुरीतियों से बचना, लेकिन वर्तमान में परिवहन के साधनों के विकास, नियमित मण्डयों में वृद्धि, सहकारी विपणन की जानकारी, गाँव विकास एवं चेतना तथा साहूकारों के प्रभाव में कमी होने से कृषि वस्तुओं की गाँवों में बिक्री में कुछ कमी आ गयी है।

(2) मेलों में बिक्री—भारत मेलों के लिए सुप्रसिद्ध है। यहाँ लगभग 1,700 मेले कृषि प्रदार्थ व जानवरों के लगते हैं जिनमें लगभग 40 प्रतिशत मेले कृषि वस्तुओं के होते हैं, जो मुख्य रूप से बिहार व ओडिशा में पाये जाते हैं। मेलों के स्थानों के आस-पास के कृषक इन्हीं में अपनी उत्पत्ति को बेच लेते हैं।

(3) मण्डयों में बिक्री—मण्डयों से अर्थ उन स्थानों से है जहाँ थोक मात्रा में कृषि वस्तुओं का क्रय एवं विक्रय होता है। यह मण्डयाँ शहरी क्षेत्रों या कस्बों में होती हैं। इस समय यह मण्डयाँ दो प्रकार की हैं—(i) अनियमित मण्डी, (ii) नियमित मण्डी।

अनियमित मण्डयों के बिक्री के नियम निश्चित नहीं होते हैं तथा बिक्री आढ़तिया के माध्यम से होती है। किसान अपनी गाड़ी दुकानदार के यहाँ खड़ी करता है। इस दुकानदार को आढ़तिया कहते हैं। यह आढ़तिया दलालों के माध्यम से उत्पत्ति को बेच देता है जिसकी तुलाई तौला द्वारा की जाती है। यह आढ़तिया बिक्री मूल्य में से अपनी आढ़त व अन्य खर्च काटकर शेष राशि का भुगतान किसान को कर देता है। जब तक उत्पत्ति नहीं बिकती है तब तक वह आढ़तिया के यहाँ रखी रहती है। इस बीच यदि किसान को धन की आवश्यकता होती है, तो उसको आढ़तिया के द्वारा कुछ धन दे दिया जाता है जिसको अन्त में हिसाब करते समय काट लिया जाता है।

नियमित बाजारों की स्थापना राज्य सरकार के नियमों के अनुसार होती है जहाँ पर उत्पत्ति बेचने के निर्धारित नियम होते हैं। सामान्यतया यहाँ किसान से कुछ भी व्यय वसूल नहीं किया जाता है। सारे व्यय

¹ “Agricultural Marketing comprises all operations involved in the movement of farm produce from the producer to the ultimate consumer.”

क्रेता से ही वसूल किये जाते हैं। किसान यहाँ पर अपना उत्पादन लाकर टिन शेडों में रख देता है जहाँ उसकी बिक्री सामान्यतया नीलामी के आधार पर होती है तथा बिक्री मूल्य माल उठाते ही मिल जाता है।

(4) सहकारी समितियों के माध्यम से बिक्री—देश में इस प्रकार की समितियों में वृद्धि हो रही है। यह समितियाँ अपने सदस्यों से कृषि उत्पादन एकत्रित करती हैं और फिर उसको ले जाकर बड़ी-बड़ी मण्डियों में बेचती हैं। ऐसा करने से उनके सदस्यों को अपनी उत्पत्ति का अच्छा मूल्य मिल जाता है।

(5) सरकारी खरीद—पिछले कुछ वर्षों से सरकार द्वारा भी कृषि उत्पत्ति को क्रय किया जा रहा है। इसके लिए सरकार स्थान-स्थान पर कुछ क्रय केन्द्र स्थापित कर देती है जहाँ पर किसान अपनी उत्पत्ति लाकर निर्धारित मूल्य पर बेच सकते हैं। सरकार यह खरीद (i) स्वयं अपने कर्मचारियों के माध्यम से, (ii) सहकारी समितियों के माध्यम से व (iii) भारतीय खाद्य निगम के माध्यम से करती है।

(6) फुटकर विक्रेताओं के माध्यम से बिक्री—कृषि वस्तुओं के फुटकर विक्रेता शहरों के भिन्न-भिन्न भागों में फैले रहते हैं जिन्हें कभी-कभी सीधा विक्रय किसानों के द्वारा कर दिया जाता है।

अच्छी कृषि विपणन पद्धति की विशेषताएँ

एक अच्छी एवं सुव्यवस्थित कृषि विपणन पद्धति में यह मुख्य विशेषताएँ होनी चाहिए—(1) कम मध्यस्थ—मध्यस्थ विक्रेताओं की संख्या कम-से-कम होनी चाहिए। (2) कृषक व उपभोक्ता हितों की रक्षा—विपणन प्रणाली में कृषक व उपभोक्ता दोनों के हितों की रक्षा होनी चाहिए। (3) बाजार सूचनाएँ—बाजार सम्बन्धी सूचनाएँ कृषकों को अधिक-से-अधिक एवं उचित समय पर मिलनी चाहिए। (4) परिवहन साधन—कृषि उपज को मण्डियों तक लाने के लिए उपयुक्त परिवहन साधन एवं सड़कें होनी चाहिए जिससे कि कम-से-कम व्यय में शीघ्रतापूर्वक उपजों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाया जा सके। (5) भण्डार सुविधाएँ—कृषि उपज को रखने के लिए देश में पर्याप्त मात्रा में भण्डार सुविधाएँ होनी चाहिए। (6) किस्म सुधारने के लिए प्रोत्साहन—उपज की विभिन्न किस्मों के मूल्यों में अन्तर होना चाहिए जिससे कि कृषकों में किस्म को सुधारने के लिए प्रोत्साहन मिलता रहे। (7) आर्थिक सुविधाएँ—कृषक को पर्याप्त मात्रा में आर्थिक सुविधाएँ देने वाली संस्थाएँ होनी चाहिए जिससे कि वह साहूकार व महाजनों के चंगुल में न फँसे। (8) संग्रह क्षमता—कृषक के स्वयं के पास भी कृषि उपज को कुछ समय के लिए रखने की संग्रह क्षमता होनी चाहिए।

कृषि उपज के विपणन में दोष

अथवा

कृषि उपज बेचते समय कृषक की कठिनाइयाँ

भारत में कृषि विपणन के सम्बन्ध में बहुत से दोष दूर हो गये हैं, लेकिन फिर भी कुछ दोष अभी पाये जाते हैं जो निम्नलिखित हैं, इन्हीं को कृषि उपज बेचते समय कृषक की कठिनाइयाँ भी कहते हैं :

(1) मध्यस्थों की अधिकता—भारत में कृषि उपज के विपणन में कृषकों एवं उपभोक्ताओं के बीच मध्यस्थ की एक लम्बी शृंखला है जिसमें गाँव का साहूकार, महाजन, घूमता-फिरता व्यापारी, कच्चा आढ़तिया, पक्का आढ़तिया, थोक व्यापारी, मिल वाला, दलाल, निर्यातकर्ता, फुटकर व्यापारी, आदि शामिल हैं। इन सभी के द्वारा कुछ लाभ अवश्य लिया जाता है जिसका प्रभाव यह होता है कि उपभोक्ता द्वारा दिये जाने वाले मूल्य का एक महत्वपूर्ण भाग यह मध्यस्थ ले लेते हैं।

(2) मण्डियों की कुरीतियाँ—देश में अभी भी बहुत-सी मण्डियाँ नियमित नहीं हैं। इन अनियमित मण्डियों द्वारा बहुत-सी कपटपूर्ण कार्यवाहियाँ की जाती हैं जिससे किसान को एक प्रकार से लूटा जाता है : (i) यहाँ तराजू-बाट में गड़बड़ी की जाती है। (ii) उपज का एक अच्छा अंश नमूने या बानगी के रूप में निकाल लिया जाता है। (iii) मूल्य आढ़तिया व क्रेता का दलाल तय करता है। किसान को विश्वास में नहीं लिया जाता है। (iv) दलाल सदा ही क्रेता का पक्ष लेकर कार्य करता है। (v) विवाद की स्थिति में किसान के हितों की रक्षा करने वाला मण्डियों में कोई नहीं होता है। इस प्रकार यह कृषि विपणन का दोष है।

(3) बाजार व्ययों में बाहुल्य—अनियमित मण्डियों में किसानों से बहुत-से व्यय लिये जाते हैं; जैसे—आढ़त, तुलाई, दलाली, पल्लेदारी, आदि। इन व्ययों के अतिरिक्त और भी व्यय वसूल किये जाते हैं; जैसे—धर्मादान, गौशाला, रामलीला, धर्मशाला, महतर, मुनीम, करदा, आदि।

(4) श्रेणीकरण व प्रमाणीकरण का अभाव—भारतीय मण्डियों में जो कृषि पदार्थ बिकने के लिए आते हैं वे प्रायः अवर्गीकृत व अप्रमाणित होते हैं। बहुत-से किसान जान-बूझकर मिट्टी या अन्य ऐसी ही मिलावट

करके वस्तु को बेचने के लिए लाते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि किसान को अपनी उपज का मूल्य कम ही मिलता है। भारत में उन संस्थाओं की भी कमी है जो प्रमाणीकरण व श्रेणीकरण कर सकती हैं।

(5) **भण्डार सुविधाओं का अभाव**—भारत में ऐसे भण्डारों की भी कमी है जहाँ पर किसान अपनी उपज को कुछ समय के लिए रख सके और भाव अपने हित में आने तक प्रतीक्षा कर सके। गाँवों में किसान की जो अपनी निजी भण्डार सुविधाएँ हैं उनमें खत्ती, कोठे, मिट्टी व वाँस के बने बर्तन, आदि हैं जिनमें कीटाणुओं व सीलन, आदि से उत्पत्ति की सुरक्षा नहीं हो पाती है। ऐसी स्थिति में किसान को अपनी उत्पत्ति को शीघ्र ही बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

(6) **परिवहन सुविधाओं का अभाव**—कृषि वस्तुओं के विपणन में परिवहन सुविधाओं का अभाव भी एक महत्वपूर्ण घटक है। गाँव व शहर को जोड़ने वाली सड़कें कच्ची हैं जो वर्ष में कुछ महीने ही कार्य करती हैं। वर्षा के मौसम में तो यह सड़कें बिल्कुल ही बेकार हो जाती हैं। इसके साथ-साथ किसान के पास परिवहन साधन जैसे ऊँट, गधा, खच्चर, आदि की गाड़ी का भी अभाव है। यह साधन महँगे पड़ते हैं, समय भी अधिक लगता है तथा कृषि वस्तुओं का क्षय भी होता है।

(7) **मूल्य सम्बन्धी सूचनाओं का अभाव**—कृषि पदार्थों के विपणन में एक दोष मूल्य सम्बन्धी सूचनाओं का अभाव है। किसानों को कृषि पदार्थों के मूल्य की जानकारी नहीं हो पाती है, क्योंकि गाँवों में समाचार-पत्र बहुत ही कम पहुँच पाते हैं साथ ही अधिकांश कृषक अनपढ़ होने के कारण समाचार-पत्रों को पढ़ने में असमर्थ रहते हैं। प्रायः वे महाजन द्वारा बताये गये मूल्यों पर विश्वास कर लेते हैं जो शायद ही इनको उचित मूल्य बताते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि किसान गाँव में ही अपनी उपज को बेच लेता है।

(8) **वित्तीय सुविधाओं का अभाव**—कृषि पदार्थों के विपणन में दोष यह है कि किसान को वित्तीय सुविधाएँ देने वाली संस्थाओं का अभाव है जिसके परिणामस्वरूप इनको फसल कम मूल्यों पर फसल आने से पूर्व ही बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

(9) **उपज की घटिया किस्म**—खेतों के छोटे होने, उपज की परम्परागत पद्धति होने, अच्छे बीज एवं खाद व सिंचाई का अभाव होने से कृषक की उपज घटिया किस्म की होती है। साथ ही फसल को काटने में असावधानी करने से उपज में धूल व मिट्टी मिल जाती है। इन सबका सामूहिक परिणाम यह होता है कि उपज घटिया किस्म की होती है जिससे कृषक को उसका मूल्य कम ही मिल पाता है।

(10) **कृषि आधिक्य का कम होना** (Low Agricultural Surplus)—उत्पादन में से वर्ष भर खाने के लिए व आगामी कृषि हेतु बीज रखने के बाद जो बचता है उसे हम कृषि आधिक्य कहते हैं। यह कृषि आधिक्य छोटी जोतें होने के कारण बहुत ही थोड़ी मात्रा में होता है जिसे वह गाँव में ही इस कारण से बेच लेता है कि उसे बाजार में ले जाने में आनुपातिक दृष्टि से व्यय अधिक करना पड़ता है।

(11) **संगठन का अभाव**—भारतीय कृषक देश के दूर-दूर स्थानों तक फैले हुए हैं। साथ ही वे आर्थिक व सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। इन सबके परिणामस्वरूप वे किसी शक्तिशाली संगठन का निर्माण नहीं कर पाये हैं। इस प्रकार फसल बेचते समय व्यापारी उनको दबा लेते हैं और कम मूल्य पर बेचने के लिए विवश कर देते हैं।

कृषि विपणन में सुधार के लिए उपाय

अथवा

कृषि उपज को बेचने की कठिनाइयों को दूर करने के उपाय

कृषि विपणन में सुधार की आवश्यकता पर बल 1928 में शाही कृषि आयोग ने दिया था। इसके बाद 1931 में केन्द्रीय जाँच समिति ने भी कुछ सुझाव दिये थे। कांग्रेस द्वारा नियुक्त राष्ट्रीय नियोजन समिति ने भी उपयोगी सुझाव दिये थे। हम यहाँ पर कृषि विपणन के दोषों को दूर करने के उपायों की व्याख्या कर रहे हैं और साथ-साथ प्रयत्नों की भी विवेचना करेंगे जो इस सम्बन्ध में सरकार द्वारा उठाये गये हैं :

(1) **नियमित मण्डियों की स्थापना**—कृषकों को विपणन के दोषों से बचाने के लिए सबसे प्रमुख सुझाव नियमित मण्डियों की स्थापना है जहाँ पर किसान अपनी उत्पत्ति को उचित मूल्य पर बेच सके। नियमित मण्डी से अर्थ उस मण्डी से है जिस पर राज्य सरकार या स्वायत्त शासन सरकार का नियन्त्रण होता है तथा जिसकी कार्यविधि किसी विशेष विधान से नियमित होती है। यह मण्डियाँ राज्य सरकारों के विशेष विभागों के अन्तर्गत स्थापित होती हैं तथा इन विधानों में वर्णित नियमों के अनुसार इन मण्डियों में कार्य होता है। कभी-कभी इन

मण्डियों की स्थापना स्वायत्त सरकार जैसे—चुंगी, नगर महापालिका, जिला परिषद्, आदि के द्वारा भी कर दी जाती है या उनके द्वारा बनाये गये नियमों के अन्तर्गत यह मण्डियाँ कार्य करती हैं। इस प्रकार की मण्डियों में एक प्रबन्ध समिति होती है जिसमें किसानों, व्यापारियों, सरकारी प्रतिनिधि व नगरपालिका के प्रतिनिधि होते हैं, लेकिन बहुमत कृषकों का ही होता है। इस प्रकार की मण्डियों में दलाली, आढ़त, तुलाई, कार्य के घट्टे, भुगतान व्यवस्था, आदि निश्चित होते हैं तथा लाइसेंस प्राप्त व्यक्ति ही दलाल, आढ़तिया व तौला, आदि का कार्य कर सकता है। यहाँ पर किसानों के ठहरने व उत्पत्ति रखने की उचित व्यवस्था होती है।

इस समय देश में 7,566 नियमित मण्डियाँ कार्य कर रही हैं। खाद्यान्न फसलों के उत्पादन का लगभग 4/5 भाग इन बाजारों में विकने के लिए आता है।

(2) श्रेणी विभाजन एवं प्रमाणीकरण—कृषि वस्तुओं के श्रेणी विभाजन व प्रमाणीकरण हो जाने से अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में ख्याति बढ़ती है तथा किसान को उचित मूल्य मिल जाता है। बाजार का विस्तार होता है तथा उपज की किस्म में उन्नति होती है। अतः अधिकाधिक कृषि वस्तुओं के लिए प्रमाप स्थापित किये जाने चाहिए। भारत में इस सम्बन्ध में पहला प्रयत्न 1937 में किया गया था, जबकि कृषि उपज (वर्गीकरण एवं चिह्न) अधिनियम पास किया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत सरकार द्वारा प्रमाप स्थापित किये जाते हैं और वर्गीकरण का काम सरकार द्वारा नियुक्त संस्थाओं द्वारा किया जाता है जिसका समय-समय पर निरीक्षण सरकारी कर्मचारी करते हैं। इस प्रकार वर्गीकृत वस्तुओं पर 'AGMARK' की मुहर लगा दी जाती है। इस सम्बन्ध में प्रगति बहुत धीरी है। अभी तक 213 वस्तुओं को शामिल करते हुए 105 ग्रेडिंग एवं मार्किंग नियम बनाये गये हैं। नवीन वस्तुओं के वर्ग निर्धारण अथवा पुरानी वस्तुओं के स्तर को सुधारने के लिए नागपुर में एक केन्द्रीय प्रयोगशाला है। इसके अतिरिक्त 23 और प्रयोगशालाएँ कार्य कर रही हैं। इस समय 1,051 केन्द्रों पर कृषि पदार्थों के वर्गीकरण का कार्य होता है। नागपुर की प्रयोगशाला को ISO 17,025 प्राप्त है।

(3) प्रमाणित बाट एवं नाप-तौल—कृषि विपणन में सुधार के लिए यह आवश्यक है कि प्रमाणित बाट व नाप-तौल काम में लायी जाए, जिससे कि कृषक के साथ धोखा न किया जा सके।

इस सम्बन्ध में सबसे पहले 1939 में बाटों के प्रमाणीकरण के लिए अधिनियम बनाया गया था जिसमें 80 तोले का एक सेर वैधानिक बाट माना गया था। इसके बाद 1956 में पुरानी प्रणाली को छोड़कर मैट्रिक प्रणाली अपनायी गयी जिसको 1 अप्रैल, 1962 से अनिवार्य कर दिया गया है। इस प्रणाली के आने से कुछ सुधार हुआ है। मूल्यों की गणना आसान हुई है। नाप-तौल की गड़वड़ियों में कमी हुई है, लेकिन आज भी पुराने बाट ग्रामीण क्षेत्रों में काम में लाते हुए देखे जा सकते हैं। अतः इन क्षेत्रों में कार्यवाही करने की आवश्यकता है।

(4) विपणन सूचनाओं का प्रकाशन एवं प्रसारण—विपणन सूचनाओं का प्रकाशन एवं प्रसारण किया जाना चाहिए जिससे कि कृषक को कृषि पदार्थों के मूल्य व सम्बन्धित बातों की जानकारी हो सके और उसको धोखा न दिया जा सके।

इस सम्बन्ध में सरकार द्वारा सराहनीय प्रयत्न किये गये हैं। देहाती कार्यक्रम के अन्तर्गत मुख्य मण्डियों के भाव आकाशवाणी से प्रसारित किये जाते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में इन भावों को सुनने के लिए रेडियो सेट व टेलीविजन ग्राम पंचायतों को मुफ्त दिये गये हैं। अभी हाल ही में अखिल भारतीय बाजार समाचार सेवा का भी गठन किया गया है। भारत के लगभग सभी समाचार-पत्र कृषि सम्बन्धी बातों को अपने-अपने पत्रों में स्थान देते हैं।

(5) भण्डार-गृहों की सुविधा—कृषि उपज के उचित विपणन के लिए भण्डार-गृहों की सुविधा बहुत ही आवश्यक है जिससे कि बचत को उचित रूप से सुरक्षित रखा जा सके और कृषि उपज के मूल्यों में स्थायित्व लाया जा सके।

इस सम्बन्ध में केन्द्रीय व राज्य सरकारों ने अपने-अपने प्रयत्न कृषि उत्पत्ति विकास एवं भण्डार निगम अधिनियम, 1956 के पारित होने के बाद ही किये हैं जिसके अनुसार केन्द्र में केन्द्रीय भण्डार निगम व 16 राज्यों में राज्य भण्डार निगम बनाये गये हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय खाद्य निगम, सहकारी समितियों तथा प्राइवेट संस्थाओं के पास भी भण्डारण क्षमताएँ हैं, लेकिन यह सब मिलकर भी देश की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पा रहे हैं। अतः भारत की अन्न भण्डारण क्षमता को बढ़ाने की आवश्यकता है।

(6) विपणन अनुसन्धान एवं सर्वेक्षण—विपणन में सुधार हेतु विपणन अनुसन्धान एवं सर्वेक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे कि कमियों का पता लग सके तथा उन्हें दूर करने के प्रयत्न किये जा सकें।

भारत में केन्द्रीय सरकार के कृषि मन्त्रालय के अन्तर्गत एक निदेशालय 'विपणन एवं जाँच निदेशालय' है जो कृषि विपणन, कृषि, बागवानी एवं पशुपालन सम्बन्धी बातों के लिए सर्वेक्षण एवं अनुसन्धान करता है जिसकी सिफारिशों के आधार पर केन्द्रीय सरकार विभिन्न प्रकार के नियम बनाती है। इस निदेशालय की कार्य-पद्धति धीमी है। अतः उसमें तेजी लायी जानी चाहिए।

(7) परिवहन साधनों का विकास—कृषि पदार्थों के विपणन में सुधार के लिए सड़कों का विकास किया जाना चाहिए तथा सभी गाँवों को शहरी क्षेत्रों से सड़कों के द्वारा जोड़ दिया जाना चाहिए जिससे कि किसान अपनी उत्पत्ति को शहरी मण्डियों में बेचने के लिए प्रोत्साहित हों। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् इस सम्बन्ध में प्रगति अवश्य ही हुई है, लेकिन वह देश के विशाल क्षेत्रफल को देखते हुए कम है।

(8) विपणन कर्मचारियों को प्रशिक्षण सुविधाएँ—कृषि विपणन में बहुत-सी कमियाँ तो कृषि विपणन कर्मचारियों की होती हैं। अतः उनको प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। इसके लिए नागपुर, हैदराबाद व लखनऊ में प्रशिक्षण केन्द्र हैं जहाँ विपणन विभाग के वरिष्ठ अधिकारियों, विपणन सचिवों एवं वर्गीकरण अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया जाता है।

(9) वित्तीय सुविधाएँ—कृषि विपणन के सुधार हेतु वित्तीय सुविधाओं के विकास की बहुत अधिक आवश्यकता है जिससे कि कृषक को महाजन व साहूकारों के चंगुल से बचाया जा सके और वह अपनी उपज पहले से निर्धारित मूल्य पर न बेचकर फसल आने पर मण्डियों में बेच सके।

इस सम्बन्ध में ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों का विस्तार किया गया है तथा जिन स्थानों पर भण्डार-गृह एवं भारतीय स्टेट बैंक हैं वहाँ पर भण्डार-गृह की रसीद पर बैंक से धन उधार देने की व्यवस्था की गयी है, लेकिन इस प्रकार की बैंकों की संख्या बहुत कम है।

(10) सहकारी विपणन समितियाँ—विभिन्न प्रकार के मध्यस्थों की संख्या को कम करने एवं मण्डियों की चालों से बचने के लिए कृषकों को अपनी सहकारी समितियाँ बनानी चाहिए जिससे उनको उचित मूल्य मिल सके, वित्तीय सुविधा प्राप्त हो सके, अच्छी खाद्य व उत्प्रत बीजों की व्यवस्था हो सके तथा सामूहिक मोलभाव का लाभ उठा सकें। वर्तमान समय में 7,001 प्राथमिक सहकारी समितियाँ, जिला स्तर पर 160 केन्द्रीय विपणन समितियाँ, राज्य पर 27 शीर्ष समितियाँ (Apex Societies) और 25 राज्य सहकारी विपणन संघ तथा एक राष्ट्रीय कृषि सहकारी विपणन संघ कार्यरत हैं।

(11) मूल्य समर्थन—काफी समय से सरकार ने मूल्य समर्थन नीति अपना रखी है जिसके अन्तर्गत सरकार फसल उगने से पूर्व ही फसल को क्रय करने के मूल्य घोषित कर देती है और यदि फसल पर बाजार में मूल्य कम हो जाते हैं तो सरकार उस निर्धारित मूल्य पर क्रय करने लगती है। इससे किसानों में प्रेरणा बनी रहती है और वे उत्पादन कार्यों में ढील नहीं देते हैं। सरकार ने यह नीति कुछ ही वस्तुओं के सम्बन्ध में अपनायी है। अतः सरकार को इस नीति का विस्तार करना चाहिए।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि कृषि विपणन के सुधार हेतु काफी प्रयास किये गये हैं जिनके फलस्वरूप कृषि विपणन में निश्चित ही परिवर्तन आया है। कृषक का दृष्टिकोण भी बदला है। व्यापारी वर्ग भी कुछ सचेत हो गया है जिसके फलस्वरूप कृषि विपणन के दोषों में महत्वपूर्ण कमी हुई है, लेकिन यदि हम इसमें और अधिक सुधार चाहते हैं तो एक ही मूलमन्त्र है कि सहकारी विपणन का विकास द्रुतगामी गति से किया जाना चाहिए।

कृषि विपणन के लिए संरचनात्मक व्यवस्थाएँ

कृषि मन्त्रालय ने देश में कृषि विपणन के लिए संरचनात्मक दृष्टि से निम्न कदम उठाए हैं :

1. **ग्रामीण गोदामों का निर्माण—**कृषि उपजों के भण्डारण की दृष्टि से 1 अप्रैल, 2001 से यह योजना चल रही है, जिसमें ग्रामीण क्षेत्रों में गोदामों के निर्माण के लिए पूंजी विनियोग उपादान किया जाता है। यह उपादान कृषकों, कृषि स्नातकों, सहकारी समितियों तथा केन्द्रीय/राज्य भण्डारगृह निगमों की दशा में लागत का 25% तथा अन्य दशाओं में 15% है। यह योजना नाबाई तथा एनसीडीसी द्वारा चलाई जा रही है।

2. **विपणन शोध एवं सूचना नेटवर्क—**मूल्य एवं बाजार से सम्बन्धित सूचनाओं को एकत्रित करने तथा कृषकों को यथाशीघ्र उपलब्ध कराने की दृष्टि से राष्ट्रव्यापी सूचना तन्त्र विकसित किया गया है। इसके अन्तर्गत 3,026 बाजार केन्द्रों, 175 राज्य विपणन बोर्डों तथा विपणन एवं निरीक्षण निदेशालय के कार्यालय

को नेटवर्क में (<http://agmarknet.nic.in> से) जोड़ा गया है, 300 से अधिक वस्तुओं और लगभग 2000 किसां के दैनिक मूल्यों की रिपोर्टिंग होती है।

3. विपणन अवसंरचना विकास परियोजनाएं—कृषि मन्त्रालय की इस योजना के अन्तर्गत विपणन अवसंरचना विकास की परियोजनाओं के लिए विनियोग उपादान प्रदान किया जाता है। इसकी राशि सामान्यतः पूँजी लागत की 25%, लेकिन अधिकतम 50 लाख ₹ तक होगी, लेकिन उत्तर-पूर्वी राज्यों, पहाड़ी क्षेत्रों एवं अनुसूचित जाति या जनजाति के उद्यमियों की दशा में 33.33% लेकिन अधिकतम 60 लाख ₹ तक होती है।

4. फलों, सब्जियों इत्यादि के लिए आधुनिक बाजार—यह योजना हाल ही में प्रारम्भ की गई है। इसके अन्तर्गत शहरी केन्द्रों में फलों, सब्जियों एवं अन्य नाशावान जिन्सों के लिए 'आधुनिक टर्मिनल मार्केट' विकसित किए जाएंगे, जो निकटवर्ती संग्रह केन्द्रों (Spokes) से जुड़े होंगे, जिससे उत्पादकों को अपने उत्पादों का विक्रय करने में सुविधा हो।

5. चौथरी चरणसिंह राष्ट्रीय कृषि विपणन संस्थान—इस संस्थान की स्थापना जयपुर में 8 अगस्त, 1988 को की गई। पूर्व में इसका नाम कृषि विपणन केन्द्र था। इस संस्थान की स्थापना के मुख्य उद्देश्य हैं—
(i) शिक्षण, अनुसन्धान एवं परामर्श देकर देश के कृषि विपणन ढांचे को मजबूत बनाना। (ii) कृषि विपणन क्षेत्र में बेहतर प्रबन्ध तकनीक के प्रदर्शन एवं उनके प्रयोग हेतु अनुसन्धान कार्य करना। (iii) निवेश परियोजनाएं तैयार करना। (iv) समस्या समाधान सम्बन्धी परामर्श देना। (v) कृषि विपणन में वर्तमान सुविधाओं को सुदृढ़ बनाने के लिए शैक्षिक कार्यक्रमों की व्यवस्था करना।

6. कृषि उत्पाद विपणन समिति (APMC) अधिनियम—भारत सरका ने कृषि विपणन में सुधार लाने के लिए "राज्य कृषि उत्पाद विपणन (विकास एवं विनियमन) अधिनियम, 2003" नामक एक मॉडल विधान परिचालित किया है। अन्य बातों के अतिरिक्त संविदा खेती, प्रत्यक्ष विपणन, कृषि बाजारों का विकास तथा उसमें सार्वजनिक-निजी साझेदारी परिवर्तन के मुख्य पहलू हैं। 25 राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों ने पहले ही अपने एपीएमसी अधिनियमों में संशोधन कर लिया है, जबकि अन्य राज्य अपने एपीएमसी अधिनियमों में संशोधन प्रक्रिया में हैं।

7. नए विपणन माध्यमों का विकास—किसानों को उपभोक्ता मूल्यों की अधिक हिस्सेदारी उपलब्ध कराने के लिए वैकल्पिक विपणन माध्यम, विकसित कराके बिचौलियों के स्तरों को कम करने की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों में पहल की गई है। इस दृष्टि से पंजाब में 'अपनी मण्डी', राजस्थान में 'किसान मण्डी', पुणे में 'हृदसपुर सब्जी बाजार', आन्ध्र प्रदेश, तेलंगाना में 'राइथु बाजार', तमिलनाडु में 'उझावर संथाई' तथा ओडिशा में 'कृषक बाजार' विकसित किए गए हैं।

8. विपणन एवं निरीक्षण निदेशालय (DMI) फरीदाबाद—यह निदेशालय 11 क्षेत्रीय कार्यालयों, 26 उप-कार्यालयों तथा 11 क्षेत्रीय एगमार्क प्रयोगशालाओं के साथ कार्य कर रहा है। इस निदेशालय के मुख्य कार्य हैं—(अ) कृषि एवं सम्बद्ध उत्पादों के मानकीकरण एवं ग्रेडिंग को प्रोत्साहन, (ब) कृषि विपणन में सुधार एवं कृषि उपज बाजारों के विकास एवं प्रबन्धन के लिए राज्य सरकारों को सलाह, (स) कृषि विपणन अवसंरचना का सुदृढ़ीकरण, (द) कृषि विपणन से सम्बन्धित कर्मचारियों का प्रशिक्षण।

9. लघु किसान कृषि-व्यवसाय संघ, नई दिल्ली—इसकी स्थापना जनवरी 1994 में की गई थी और इसका उद्देश्य कृषि-व्यवसाय परियोजनाओं में निजी विनियोग को प्रोत्साहित करके ग्रामीण क्षेत्र में आय एवं रोजगार उत्पन्न करने के लिए नवीन विचारों का समर्थन करना है।

सहकारी विपणन से अर्थ

ओ. बी. जेसनेस के अनुसार, "सहकारी विपणन का अर्थ पारस्परिक लाभ प्राप्त करने व विपणन समस्याओं को हल करने के लिए मिलकर कार्य करना है।"¹ फिलिप्स एवं डन्कन के मत में, "वे संगठन जो सहकारिता के आधार पर किसानों के समूहों के द्वारा अपनी वस्तुओं को बेचने के और सामान तथा अन्य वस्तुएँ खरीदने के लिए स्थापित हुए हैं, सहकारी विपणन संघ कहलाते हैं।"²

¹ "Co-operative marketing means working together for mutual benefit in solving marketing problems." —O. B. Jesness : *Co-operative Marketing of Farm Products*.

² "The organisations which groups of farmers have established to market their products co-operatively and to purchase supplies and other goods are known as 'Marketing Co-operatives or Co-operative Marketing Association.'" —Philips & Duncan : *Marketing Principles and Methods*.

इन परिभाषाओं से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि (1) सहकारी विपणन संगठन स्वेच्छा से विपणन सम्बन्धी कार्यों को पूरा करने के लिए बनाये जाते हैं। (2) इसको किसानों द्वारा अपनी वस्तुओं को बेचने के लिए बनाया जाता है। (3) पारस्परिक लाभ कमाने के लिए बनाया जाता है। (4) यह एक प्रकार की व्यापारिक संस्थाएँ हैं।

इस प्रकार सहकारी विपणन स्वेच्छा से बनाया हुआ एक व्यापारिक उपक्रम है जिसका उद्देश्य पारस्परिक लाभ प्राप्त करना है।

सहकारी विपणन संस्थाओं के उद्देश्य—(1) अपने सदस्यों को उनकी वस्तु का उचित प्रतिफल दिलाना, (2) संग्रह की सुविधा प्रदान करना, (3) आवश्यकता के समय वित्तीय ऋण देना, (4) बाजार सम्बन्धी सूचनाओं को उनको बताना, (5) मूल्यों में स्थायित्व लाना एवं (6) अपने सदस्यों को कच्चा माल, बीज, खाद, आदि उपलब्ध कराना है।

भारत में सहकारी विपणन का संगठन

भारत में सहकारी विपणन का संगठन निम्न प्रकार का पाया जाता है :

(1) **प्राथमिक सहकारी विपणन समितियाँ**—यह समितियाँ गाँव स्तर पर कार्य करती हैं तथा अपने सदस्यों के लाभ के लिए कृषि सम्बन्धी पदार्थों का क्रय एवं विक्रय, एकीकरण, श्रेणीकरण, आवश्यक बीज, खाद व मशीन, आदि की पूर्ति करती हैं तथा वित्तीय सहायता प्रदान करती हैं। आजकल इस प्रकार की समितियाँ किसी खास उद्देश्य के लिए न बनाकर कई उद्देश्यों की पूर्ति हेतु बनायी जाती हैं। इस समय प्राथमिक सहकारी समितियों की संख्या 7,001 है।

(2) **केन्द्रीय सहकारी विपणन समितियाँ**—यह समितियाँ प्राथमिक सहकारी विपणन समितियों के ऊपर होती हैं, जो शहरी क्षेत्रों या कस्बों में पायी जाती हैं। इन समितियों का कार्य प्रारम्भिक समितियों व अपने सदस्यों की सहायता करना, क्रय-विक्रय करना व अपना सम्बन्ध प्रान्तीय सहकारी विपणन समिति या संघ से रखना है। इस समय इस प्रकार की समितियों की संख्या 160 है।

(3) **प्रान्तीय सहकारी विपणन समितियाँ**—यह समितियाँ राज्य स्तर पर सर्वोच्च संस्था (Apex Institution) के रूप में कार्य करती हैं तथा केन्द्रीय विपणन समितियों के माध्यम से प्राथमिक समितियों की सहायता करती हैं। यह समितियाँ साधारणतया प्रदेश या प्रान्त की राजधानी में पायी जाती हैं। इस समय राज्य स्तर पर 29 शीर्ष समितियाँ और 25 विपणन फेडरेशन कार्य कर रहे हैं।

(4) **राष्ट्रीय सहकारी कृषि विपणन संगठन (NAFED)**—यह सहकारी विपणन के लिए शीर्ष संस्था है जो राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करती है। इसका मुख्य उद्देश्य कृषि एवं अन्य वस्तुओं में अपने सदस्यों के विपणन एवं व्यापारिक क्रिया-कलापों में समन्वय लाना, उन्हें प्रोत्साहित करना, अन्तर्राष्ट्रीय एवं अन्तर्राज्यीय कृषि व्यापार को बढ़ावा देना तथा सदस्यों को कृषि से सम्बन्धित आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति करना है। यह संस्था 1958 में स्थापित हुई थी।

भारत में सहकारी विपणन की सफलताएँ

भारत में सहकारी विपणन आन्दोलन अभी बचपन की अवस्था में है, उसके विकास की काफी आवश्यकता है। सहकारी विपणन संगठन के कृषि उपज विपणन में जो कठिनाइयाँ आती हैं उन्हें एक सीमा तक दूर करने में सफलता प्राप्त कर ली है :

(1) **विपणन लागत में कमी**—सहकारी समितियाँ अपने सदस्यों से सीधी उपज खरीदती हैं तथा सीधी ही उसकी बिक्री मण्डियों में या सरकार को करती हैं। इससे उनके सदस्य मध्यस्थों द्वारा की जाने वाली गड़बड़ियों से बच जाते हैं। इससे कृषक की विपणन लागत में कमी आयी है।

(2) **साहूकारों व व्यापारियों के चंगुल से छुटकारा**—इन समितियों ने अपने सदस्यों को समय-समय पर ऋण की सुविधा देकर साहूकारों व व्यापारियों के चंगुल से बचाया है। यह समितियाँ कुछ सीमा तक उनकी बहुत-सी आवश्यकताओं की पूर्ति कर देती हैं। उनको उपज के बेचने की परेशानी से भी बचा देती हैं।

(3) **भण्डार सुविधाएँ**—सहकारी समितियों ने अपने सदस्यों को भण्डार सुविधाएँ देकर कृषक की भण्डार क्षमता में वृद्धि की है।

(4) अच्छी किस्म की वस्तुओं की पूर्ति—सहकारी समितियों ने अपने सदस्यों को उच्च कोटि का उत्पादन करने एवं उसमें मिलावट न करने की प्रवृत्ति में सहयोग दिया है जिससे अच्छी किस्म की वस्तुओं की पूर्ति में इनका योगदान सराहनीय है।

(5) उत्पादन में वृद्धि—सहकारी समितियों की एक सफलता यह है कि इनके सहयोग से कृषि उपज में वृद्धि हुई है। यह समय पर खाद, बीज व अन्य आवश्यक सामग्री अपने सदस्यों को उपलब्ध कराती हैं।

(6) कृषकों में सहकारी भावना का विकास—सहकारिता से कृषकों में सहकारी भावना को जन्म मिल है जो उनके एवं देश के हित में है।

(7) कृषि का विकास—सहकारी विपणन सदस्यों को कृषि का विकास करने के लिए उत्साहित करता है जिससे कृषि का विकास हुआ है।

सहकारी विपणन के लाभ

सहकारी विपणन से अनेक प्रकार के लाभ हैं, लेकिन इन सभी लाभों को एक बाक्य से प्रदर्शित किया जा सकता है कि “सहकारी विपणन कृषक की स्थिति को विक्रेता के रूप में सुदृढ़ बनाता है। उसकी उपज के नियमित रूप से विकने का विश्वास स्थापित करता है और उसको अच्छे मूल्य पर विकने के योग्य बनाता है। यही व्यवस्था कृषकों को यह भी सिखाती है कि कृषि एक प्रकार का व्यवसाय है”¹ जिसके लिए विभिन्न प्रकार की व्यवसाय नीति का पालन करना आवश्यक है। कृषकों को भी व्यावसायिक संगठनों की भाँति अपने आपको संगठित करना चाहिए। संक्षेप में, सहकारी विपणन के निम्नलिखित लाभ हैं :

(1) मध्यस्थों का अन्त—सहकारी विपणन में सबसे पहला लाभ यह है कि उपभोक्ता व उत्पादक के बीच मध्यस्थों की जो शृंखला बनी रही है उसका अन्त हो जाता है जिससे उपभोक्ता व उत्पादक दोनों को लाभ होता है। मध्यस्थों का अन्त होने से उपभोक्ता को वस्तु सस्ती मिल जाती है व उत्पादक को अपनी वस्तु का उचित मूल्य मिल जाता है।

(2) बाजार की बुराइयों से छुटकारा—सहकारी विपणन हो जाने से उत्पादक बाजार की विभिन्न प्रकार की बुराइयों जैसे—कर्दा काटना, धर्मादा काटना, आढ़त, तुलाई, गौशाला, चौकीदार, आदि से बच जाता है। सहकारी विपणन समिति में कुछ निश्चित खर्च ही निश्चित दर पर लिये जाते हैं।

(3) वर्गीकरण की सुविधा—पदार्थों को साफ करने और वर्गीकृत करने से उत्पादक को अच्छा मूल्य मिल जाता है। यह कार्य विपणन समितियों के द्वारा किया जाता है।

(4) उचित तौल की सुविधा—सहकारी विपणन का चौथा लाभ यह है कि नाप-तौल इन समितियों के द्वारा ठीक तरह की जाती है, जबकि इनके अभाव में तौल उचित नहीं होती है। यद्यपि सरकार ने इस सम्बन्ध में कानून बना रखे हैं, लेकिन फिर भी विभिन्न प्रकार के बाट पाये जाते हैं।

(5) संग्रह की सुविधा (Storage Facility)—सहकारी विपणन समितियाँ आधुनिक वैज्ञानिक भण्डार-गृह सुविधा अपने सदस्यों को उपलब्ध कराती हैं। इनके द्वारा माल को सुरक्षित रखने का व्यय भी बहुत कम लिया जाता है। भण्डार की सुविधा होने से माल खराब नहीं होता है और बाजार की परिस्थितियाँ अपने पक्ष में आने तक माल को रोककर रखा जा सकता है।

(6) आर्थिक सहायता—सहकारी विपणन समितियाँ अपने सदस्यों की आवश्यकता के समय आर्थिक सहायता करती हैं और साहूकारों के चंगुल में फँसने से बचाती हैं। इन समितियों की ब्याज की दर भी कम होती है।

(7) एकत्रीकरण की सुविधा—सहकारी विपणन समितियाँ सदस्यों की सुविधा के लिए गाँव में ही उपज को एकत्रित करने के लिए केन्द्र खोल देती हैं जिससे वे अपनी उत्पत्ति को बाजार में ले जाने की परेशानी से बच जाते हैं। यह सुविधा उन कृषकों के लिए बहुत ही लाभप्रद है जिनके पास उत्पत्ति ले जाने के साधन नहीं हैं।

(8) सामूहिक मोलभाव व अधिक मूल्य लाभ—सहकारी विपणन का यह बहुत ही महत्वपूर्ण लाभ है। व्यक्तिगत रूप से कृषक में मोलभाव करने की शक्ति नहीं होती है, लेकिन सहकारिता में संगठित होकर

1 “The operation of co-operative marketing teaches farmers that agriculture is primarily a form of business.” —The Co-operative Planning Committee (1959).

उसमें सामूहिक क्षमता आ जाती है जिसका यह प्रभाव पड़ता है कि उसको वस्तु का मूल्य कुछ अधिक मिल जाता है तथा वह खरीद व बिक्री के लाभ का भागी बन जाता है।

(9) **अन्य लाभ**—सहकारी विपणन के अन्य लाभ भी हैं; जैसे (i) उचित मूल्य पर रासायनिक खाद, उत्तम बीज व औजार समितियों द्वारा सदस्यों को बेचना; (ii) आवश्यक व लाभप्रद सूचनाएँ सदस्यों को देना जिससे उत्पत्ति में परिवर्तन किया जा सके; (iii) गाँवों में समितियों द्वारा अन्य सामाजिक उत्थान के कार्य करना जिससे जीवन-स्तर में उन्नति हो।

कृषि मूल्य से अर्थ

कृषि मूल्य से अर्थ कृषि पदार्थों के मूल्यों से लगाया जाता है। यह मूल्य सदा स्थिर नहीं रहते हैं, अर्थात् कृषि पदार्थों के मूल्य घटते-बढ़ते रहते हैं जिसे कृषि मूल्यों में उच्चावचन (Fluctuation) या परिवर्तन कहते हैं। यह परिवर्तन कई कारणों से होता है, जैसे कृषि उत्पादन कम होना, उपभोग की मात्रा बढ़ जाना, सड़ेबाजी की प्रवृत्ति, सामान्य मूल्य-स्तर में वृद्धि, व्यापार चक्र, मुद्रा-पूर्ति में वृद्धि, सरकार की नीति, आदि।

कृषि मूल्यों में उच्चावचन के कारण

कृषि मूल्यों में उच्चावचन के कारण निम्नलिखित हैं :

(1) **कृषि उत्पादन में उच्चावचन**—कृषि मूल्यों में परिवर्तन कृषि उत्पादन में हुए परिवर्तन के कारण होते हैं। जिस समय मानसून अच्छा व प्रकृति की कृपा होती है तो उत्पादन बढ़ जाता है जिससे कृषि पदार्थों के मूल्य गिर जाते हैं। इसके विपरीत, जब मानसून समय पर नहीं आता या फसल में कीड़ा लग जाता है तो उत्पादन कम हो जाता है जिससे कृषि पदार्थों के मूल्य बढ़ जाते हैं।

(2) **सरकार की साख नीति**—जब सरकार की साख नीति स्थिर रहती है और उस पर कड़ा नियन्त्रण रहता है तो मूल्य गिरने लगते हैं, लेकिन इसके विपरीत, यदि सरकार की साख नीति साख विस्तार करने की होती है तो मूल्य बढ़ने लगते हैं। इसी प्रकार सरकारी घाटे की वित्त-व्यवस्था व मुद्रा-पूर्ति भी कृषि मूल्यों पर प्रभाव डालती हैं।

(3) **सामान्य मूल्य-स्तर**—यदि देश के सामान्य मूल्य-स्तर में कोई परिवर्तन नहीं होता है तो कृषि मूल्य भी सामान्य रहते हैं, लेकिन जब देश का सामान्य मूल्य-स्तर बढ़ने लगता है तो कृषि मूल्य भी बढ़ने लगते हैं। इसके विपरीत होने पर मूल्य-स्तर गिरने लगते हैं।

(4) **संग्रह शक्तियों का प्रभाव**—कृषि वस्तुओं पर व्यापारियों व किसानों की संग्रह शक्तियों का भी प्रभाव पड़ता है। यदि यह शक्तियाँ प्रभावशाली होती हैं, तो वे अत्यधिक क्रय करके अपने पास पूर्ति बनाये रखती हैं और इस प्रकार कृत्रिम कमी उत्पन्न करके मूल्य वृद्धि कर देती हैं।

(5) **फसल पर बिक्री**—किसानों द्वारा लगान देने व अन्य आवश्यक व्ययों का भुगतान करने या भण्डार सुविधाएँ न होने के कारण फसल के आते ही बिक्री के लिए प्रस्तुत कर दिया जाता है। इससे फसल के समय पूर्ति बढ़ जाती है और मूल्य गिर जाते हैं लेकिन बाद में मूल्य बढ़ जाते हैं।

(6) **आयात व निर्यात**—कृषि पदार्थों के मूल्यों पर आयात व निर्यात का भी प्रभाव पड़ता है। जिस समय किसी पदार्थ को निर्यात करने की अनुमति दे दी जाती है तो उसका मूल्य देश में बढ़ जाता है, क्योंकि आन्तरिक उपभोग के लिए पूर्ति कम हो जाती है। इसके विपरीत, जब किसी वस्तु का आयात खोल दिया जाता है तो उसका मूल्य देश में गिर जाता है।

(7) **परिवहन साधन**—परिवहन साधन भी कृषि वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन ला देते हैं। जब किसी कृषि पदार्थ को ले जाने के लिए परिवहन साधन उपलब्ध नहीं होते हैं, तो उस पदार्थ का मूल्य बढ़ जाता है, लेकिन जब परिवहन साधन उपलब्ध हो जाते हैं तो उसका मूल्य गिर जाता है।

(8) **सरकारी व्यय**—सरकारी व्यय भी कृषि पदार्थों के मूल्यों पर प्रभाव डालते हैं। यदि सरकारी व्ययों में वृद्धि होती है तो सामान्य मूल्य-स्तर बढ़ता है जिसके परिणामस्वरूप कृषि पदार्थों के मूल्य बढ़ जाते हैं। इसकी विपरीत स्थिति में मूल्य गिर जाते हैं।

(9) **व्यापारिक चक्र**—व्यापारिक चक्रों के प्रभाव से भी कृषि पदार्थों के मूल्यों में परिवर्तन हो जाते हैं।

(10) **अन्य कारण**—कृषि पदार्थों के मूल्यों में उच्चावचन के अन्य कारण इस प्रकार हैं—(i) पूर्ति में परिवर्तन, (ii) उपभोग की मात्रा में वृद्धि, (iii) प्राकृतिक प्रकोप, (iv) पूँजीगत वस्तुओं में भारी विनियोग।

कृषि मूल्यों में उच्चावचन के परिणाम

अथवा

कृषि मूल्यों के स्थायित्व की आवश्यकता

कृषि मूल्यों में परिवर्तन होने से समाज के सभी वर्गों पर इसका प्रभाव पड़ता है। अतः इनमें स्थायित्व लाने की आवश्यकता है। यह प्रभाव इस प्रकार हैं :

(1) उपभोक्ताओं पर प्रभाव—कृषि मूल्यों में परिवर्तन होने से उपभोक्ताओं पर प्रभाव पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप वे अपने व्ययों को सन्तुलित नहीं कर पाते हैं। उनको उस समय बड़ी कठिनाई होती है जब कृषि मूल्य बढ़ जाते हैं।

(2) औद्योगिक उत्पादन पर प्रभाव—जब कभी भी कृषि मूल्य बढ़ते हैं तो औद्योगिक माल के उत्पादकों को अपने तैयार माल के मूल्य भी बढ़ाने पड़ते हैं जिससे उनकी मौँग पर प्रभाव पड़ता है।

(3) किसानों पर प्रभाव—सर रोजर थॉमस (Sir Roger Thomas) के अनुसार, “वर्षा के बाद कृषकों का सबसे बड़ा शत्रु मूल्य-परिवर्तन ही रहा है।” (Next to rainfall, price change has been the greatest enemy of farmers)। जब किसी पदार्थ के मूल्य बढ़ जाते हैं तो कृषक अगले वर्ष उसी की खेती करता है जिसका परिणाम यह होता है कि उस वर्ष उस पदार्थ की पूर्ति बढ़ जाने से मूल्य गिर जाते हैं। इसके विपरीत, जिन पदार्थों के मूल्य गिर जाते हैं उनका उत्पादन कृषक न करके उन पदार्थों का उत्पादन करता है जिनके मूल्य अधिक हैं। इससे अगले वर्ष उस पदार्थ की पूर्ति कम होने से मूल्य बढ़ जाते हैं। इस प्रकार कृषक बैडमिण्टन की चिड़िया के समान हो जाता है, जो कभी इस ओर तो कभी उस ओर, कभी किसी पदार्थ का उत्पादन करता है जो कभी किसी का। इस प्रकार उसके उत्पादन पदार्थों में अनिश्चितता रहती है।

(4) आयात-निर्यात पर प्रभाव—कृषि पदार्थों के मूल्यों में परिवर्तन आयात-निर्यात पर भी प्रभाव डालते हैं। जब कृषि पदार्थों के मूल्य अधिक होते हैं तो उनका आयात किया जाता है, लेकिन जब उनके मूल्य गिर जाते हैं तो उनका निर्यात किया जाता है। इस प्रकार आयात-निर्यात नीति भी परिवर्तित होती रहती है।

(5) उत्पादकों को हानि—कृषि पदार्थों के मूल्यों में परिवर्तन उत्पादकों को हानि पहुँचाते हैं। इस उत्पादक वर्ग में किसान व औद्योगिक उत्पादक दोनों ही आते हैं।

भारत में कृषि मूल्यों की प्रवृत्तियाँ

भारत में अधिकांश खेती मानसून पर निर्भर है जो कभी भी निश्चित नहीं है। ऐसी स्थिति में यहाँ सदा ही कृषि पदार्थों के उत्पादन घटते-बढ़ते रहते हैं जिनके परिणामस्वरूप कृषि मूल्य भी परिवर्तित होते रहे हैं। 1943 के बंगाल के अकाल का मुख्य कारण चावल के मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि थी।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् देश में नियोजन की नीति अपनायी गयी है, लेकिन फिर भी कृषि मूल्य स्थिर नहीं हैं। प्रथम योजना के समय मूल्य काफी ऊँचे थे, लेकिन योजना अवधि में कृषि उत्पादन के बढ़ने पर कृषि मूल्यों में लगभग 20 प्रतिशत की कमी आयी थी, जबकि द्वितीय योजना में आशा के अनुरूप कृषि उत्पादन न बढ़ने व मुद्रा-स्फीति के कारण कृषि मूल्यों में 27 प्रतिशत की वृद्धि हुई। यह वृद्धि की प्रवृत्ति द्वितीय योजना में भी जारी रही और आज भी आपात काल के कुछ समय को छोड़कर जारी है। “खाद्य पदार्थों का थोक मूल्य सूचकांक 1993-94 के आधार मानकर 2004-05 में 184 और 2004-05 को आधार मानकर 2014-15 में 271 और दिसम्बर 2015 में 273 था।¹

मूल्य स्थिरीकरण का अर्थ

मूल्य स्थिरीकरण के सम्बन्ध में खाद्यान्न जाँच समिति (जो अशोक मेहता की अध्यक्षता में बनायी गयी थी) ने परिभाषा इस प्रकार की है—“एक विकासशील अर्थव्यवस्था की कठिनाइयाँ विभिन्न प्रकार की मूल्य असमानताओं में प्रतिबिम्बित होती हैं। इन मूल्य असमानताओं को एक सीमा के भीतर रखना ही ‘मूल्य स्थिरीकरण’ कहलाता है।” अमरीका में कृषि व्यापार आयोग (Agricultural Business Commission) के अनुसार, “वास्तविक मूल्य स्थिरीकरण मूल्यों के उच्चावचनों को हल्का कर देते हैं। इससे अत्यधिक ऊँचे मूल्य व बहुत नीचे मूल्य दोनों ही समाप्त हो जाते हैं।”

¹ Economic Survey, 2015-16, p. A-74.

इस प्रकार मूल्य स्थिरीकरण से अर्थ मूल्य में होने वाले उतार-चढ़ाव को एक सीमा में रखने से है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मूल्य एक बिन्दु पर स्थिर रहें, बल्कि इसका अर्थ है कि मूल्य में परिवर्तन अर्थात् उतार-चढ़ाव नियन्त्रित रहें।

कृषि मूल्यों में स्थिरीकरण के उद्देश्य

कृषि मूल्यों में स्थिरीकरण करने के बहुत से उद्देश्य होते हैं, लेकिन उनमें से प्रमुख निम्न प्रकार हैं :

(1) कृषकों के हितों की सुरक्षा—कृषि मूल्यों में स्थिरीकरण करने का सबसे प्रमुख उद्देश्य कृषकों के हितों की सुरक्षा करना है जिससे कि (i) उनको उचित मूल्य मिल सके, (ii) कृषि कार्य करने के लिए प्रोत्साहन मिलता रहे व (iii) वे अपना उचित रहन-सहन का स्तर बनाये रखें।

(2) उपभोक्ताओं के हितों की सुरक्षा—कृषि मूल्य में स्थिरीकरण का दूसरा उद्देश्य उपभोक्ताओं के हितों की सुरक्षा करना है जिससे कि उनको उचित मूल्य पर कृषि पदार्थ मिलते रहें और उनको व्यय बजट सन्तुलित करने में कठिनाई न हो।

(3) निर्मित वस्तुओं के मूल्यों में स्थिरता लाना—कृषि मूल्यों में स्थिरता लाने का तीसरा उद्देश्य उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं के मूल्य में स्थिरता लाना है जिससे कि औद्योगिक शान्ति बनी रहे तथा उत्पादन निर्धारित क्रम के अनुसार होता रहे।

(4) सरकारी कठिनाइयों को कम करना—जब कृषि वस्तुओं के मूल्यों में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं तो सरकार के लिए बहुत-सी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं; जैसे—औद्योगिक अशान्ति, खाद्य-पदार्थों का आयात-निर्यात, मूल्य नियन्त्रण एवं राशनिंग, आदि।

कृषि मूल्यों में स्थिरीकरण का महत्व

भारत कृषि प्रधान देश है। अतः यह आवश्यक है कि यहाँ कृषि मूल्यों पर नियन्त्रण रखा जाय और वे एक सीमा में ही घटते-बढ़ते रहें। इसके कारण बहुत से हो सकते हैं जिन्हें निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :

मूल्यों में अत्यधिक कमी से हानियाँ—कृषि मूल्यों में अत्यधिक कमी बहुत अधिक हानिकारक होती है। (1) इससे किसान की आय में कमी हो जाती है। (2) उनमें नवीन उपकरणों, उन्नत बीजों व रासायनिक खादों को भरपूर काम में लाने के लिए उत्साह नहीं रहता है। (3) किसानों का रहन-सहन स्तर जो पहले से ही निम्न है उसमें और गिरावट आ जाती है। (4) सरकार की आय कम हो जाती है तथा (5) उद्योग में भी सुस्ती आ जाती है। अतः यह उचित ही है कि कृषि पदार्थों के मूल्यों में अत्यधिक कमी न होने देने के लिए प्रयत्न किये जाने चाहिए।

मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि से हानियाँ—कृषि पदार्थों के मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि भी हानिकारक है। इससे सामान्य जनता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। (1) उसको अपना जीवन-स्तर बनाये रखने में कठिनाई होती है; (2) औद्योगिक वस्तुओं के मूल्य इनकी लागत बढ़ जाने से अधिक हो जाते हैं; (3) श्रमिक अशान्ति पैदा हो जाती है और उनके द्वारा वेतन की माँग की जाने लगती है; (4) इन सभी का अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है और (5) देश में मुद्रा-स्फीति की स्थिति पैदा हो जाती है।

कृषि मूल्यों में वृद्धि से बड़े किसानों को कुछ लाभ मिल जाता है, लेकिन सामान्य किसान व छोटे किसानों को इससे कोई लाभ नहीं होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कृषि मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि या कमी दोनों ही उचित नहीं हैं। अतः इस बात की आवश्यकता है कि कृषि मूल्यों में स्थायित्व लाया जाय। इसका अर्थ है कि कृषि मूल्यों में परिवर्तन तो हों, लेकिन वे एक सीमा में हों जिससे कि कृषक की उत्पादन कार्य में रुचि ही न बनी रहे, बल्कि प्रोत्साहन भी मिलता रहे और वह एक अच्छा जीवन-स्तर बनाये रखे। ऐसा होने से कृषि उत्पादन में वृद्धि होगी, औद्योगिक प्रगति होगी व व्यापारिक चक्र नियन्त्रण में रहेंगे।

कृषि मूल्यों के स्थिरीकरण के सम्बन्ध में सरकार द्वारा उठाये गये कदम

कृषि मूल्यों में स्थिरीकरण लाने का सरकार द्वारा बराबर प्रयत्न किया जा रहा है। सरकार की नीति के दो उद्देश्य रहे हैं। एक तो किसानों को अधिक उत्पादन के लिए प्रोत्साहित करना जिससे कि वे अधिकाधिक प्रयत्न करें। दूसरे उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर कृषि पदार्थ उपलब्ध कराना। गत वर्षों में सरकार ने कृषि मूल्यों के स्थिरीकरण के सम्बन्ध में निम्न उपाय किये हैं :

(1) **कृषि उत्पादन में वृद्धि का प्रयास**—कृषि मूल्यों में स्थायित्व लाने के लिए सरकार ने कृषि उत्पादन में वृद्धि करने का हर सम्भव प्रयास किया है और आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध कराने की चेष्टा की है। इसके लिए विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत (i) भूमि सुधार किये गये हैं जिससे कि कृषकों को भूमि स्वामित्व अधिकार मिल सके और उनकी बिखरी हुई भूमि एक स्थान पर हो सके। (ii) वैज्ञानिक तरीकों से खेती करने को प्रोत्साहित किया गया है और उससे सम्बन्धित आदानों (inputs) को उपलब्ध कराया गया है। (iii) सरकारी फार्मों में उन्नत बीजों का विकास किया गया है जिनसे उत्पादन अधिक होता है। (iv) सिंचाई सुविधाओं में वृद्धि की गई है जिसके लिए नयी-नयी नहरें व बांध बनाये गये हैं। (v) बेकार व ऊसर भूमि को एक-सा करके खेती करने योग्य बनाया गया है।

(2) **कृषि पदार्थों का आयात**—कृषि मूल्यों में स्थायित्व लाने के लिए कृषि पदार्थों का आयात किया गया है। यह आयात खाद्य पदार्थों जैसे गेहूँ व चावल के अतिरिक्त अन्य कृषि पदार्थों—कपास व जूट, आदि का भी किया गया है।

(3) **सरकारी खरीद**—बफर स्टॉक (Buffer Stock) बनाने एवं राशनिंग व्यवस्था को चालू रखने के लिए खाद्यान्नों को उपलब्ध कराने के उद्देश्य से सरकार द्वारा उन राज्यों में खाद्यान्नों की खरीद की जाती है जहाँ उत्पादन अधिक होता है। इस खरीद को सरकारी खरीद कहते हैं। यह खरीद (i) स्वेच्छा से (Voluntary), व (ii) वसूली (Levy) के रूप में की जाती है। स्वेच्छा से खरीद उस समय होती है जबकि मूल्य या तो सामान्य होते हैं या उनके गिरने की सम्भावना होती है। जो कृषक अपनी उत्पत्ति बेचना चाहें वे निर्धारित मूल्य पर सरकार को बेच सकते हैं। जिस समय मूल्य बढ़ जाते हैं उस समय वसूली (Levy) के आधार पर खरीद की जाती है। यदि कोई व्यापारी या किसान ऐसी खरीद का प्रतिरोध करता है तो उसके विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की जाती है।

(4) **खाद्यान्नों का वितरण**—उपभोक्ता को उचित मूल्य पर खाद्यान्नों को उपलब्ध कराने के लिए सरकार ने खाद्यान्नों के वितरण की व्यवस्था कर रखी है। इसको राशनिंग कहते हैं। इस समय देश में 4.63 लाख से अधिक सरकार द्वारा निर्धारित दुकानें हैं, जो खाद्यान्नों का विक्रय करती हैं। इन दुकानों को उचित मूल्य की दुकानें (Fair Price Shops) कहते हैं। इन दुकानों से शहरी व ग्रामीण क्षेत्र की जनता को उचित मूल्य पर खाद्यान्न मिलते रहते हैं। इससे मूल्यों में स्थायित्व बना रहता है।

(5) **भारतीय खाद्य निगम की स्थापना**—खाद्यान्नों के न्यायपूर्ण वितरण एवं मूल्यों में स्थायित्व लाने के लिए केन्द्रीय सरकार ने 1 जनवरी, 1965 को इस भारतीय खाद्य निगम की स्थापना की है। यह निगम खाद्यान्नों की खरीद कर सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अन्तर्गत वितरण करता है।

(6) **कृषि लागत एवं मूल्य आयोग का गठन**—जनवरी 1965 में कृषि मूल्य आयोग का गठन किया गया। बाद में इस आयोग का नाम बदलकर कृषि लागत एवं मूल्य आयोग कर दिया गया। इसका कार्य कृषि मूल्य नीति के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देना है। यह उन मूल्यों की भी सलाह देता है जिस पर सरकारी खरीद व विक्रय किया जाना चाहिए।

(7) **मौद्रिक उपाय**—सरकार ने कृषि मूल्यों में स्थायित्व लाने के लिए समय-समय पर कुछ मौद्रिक उपाय भी किये हैं; जैसे खाद्यान्नों पर बैंकों द्वारा अग्रिम ऋण देने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा निर्देश देना या चयनात्मक साख नियन्त्रण नीति को अपनाना। इन दोनों से जमाखोरी की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन नहीं मिलता है और इस प्रकार मूल्य नियन्त्रण में रहते हैं।

(8) **न्यूनतम व अधिकतम मूल्यों का निर्माण**—मूल्य स्थिरीकरण के लिए सरकार द्वारा कुछ कृषि पदार्थों के सम्बन्ध में न्यूनतम मूल्यों की घोषणा की जाती है जिस पर सरकार उन कृषि पदार्थों को क्रय करने के लिए तैयार रहती है और जब कभी उन पदार्थों के मूल्य गिरने की सम्भावना होती है तो उनके क्रय करने

का प्रबन्ध करती है। यह नीति कपास, जूट, गेहूँ, चावल, चना, बाजरा, तिलहन व अन्य कई पदार्थों के लिए अपनायी जा रही है। इसी प्रकार उपभोक्ता के हितों की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए अधिकतम मूल्य भी निर्धारित कर दिये जाते हैं जिनसे अधिक मूल्य वसूल नहीं किये जा सकते हैं और यदि कोई व्यापारी ऐसा करता है तो उसके विरुद्ध भारत सुरक्षा नियम व आवश्यक वस्तु पूर्ति अधिनियम, आदि के अन्तर्गत कार्यवाही की जाती है।

(9) **अन्य उपाय**—कृषि मूल्यों में स्थायित्व लाने के लिए सरकार ने कुछ अन्य उपाय भी किये हैं जो परोक्ष रूप से कृषि मूल्यों में स्थायित्व लाते हैं—(i) जनसंख्या नियन्त्रण, (ii) विक्रेताओं के लिए मूल्य सूची टाँगना आवश्यक, (iii) प्रतिदिन स्टॉक सूची प्रदर्शित करना, (iv) जमाखोरी के विरुद्ध कठोर कार्यवाही करना, (v) व्यापारियों को आज्ञा-पत्र लेना अनिवार्य करना, (vi) खाद्य पदार्थों के आगमन पर क्षेत्रीय प्रतिबन्ध लगाना, आदि।

सरकार की कृषि मूल्य नीति एवं उसकी समीक्षा

सरकार की कृषि मूल्य नीति के तीन उद्देश्य हैं : (1) उत्पादक को उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित करना, जिसके लिए उसे इस बात का आश्वासन दिया जाता है कि उसकी वस्तु का मूल्य एक निश्चित मूल्य से नीचे नहीं जायेगा। (2) उपभोक्ता के हितों की रक्षा करना, इसके लिए सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुदृढ़ किया गया है जिससे कि उपभोक्ता को कुछ वस्तुएँ बाजार मूल्य से कम पर मिल सकें। (3) मूल्यों में स्थिरता लाना।

सरकार ने उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए चार प्रकार के कार्य किये हैं : (1) किसानों को न्यूनतम मूल्य की गारंटी (Minimum Support Guarantee) दी जाती है जिस पर पूर्ति बढ़ने पर सरकार, मूल्यों के गिरने की स्थिति में स्वयं खरीदना प्रारम्भ कर देती है। (2) सरकार प्रमुख खाद्य वस्तुओं को क्रय करने के लिए मूल्य निर्धारित कर देती है (Fixation of Procurement Prices)। (3) उचित मूल्य की दुकानों पर बिकने वाले खाद्य पदार्थों का विक्रय मूल्य निर्धारित कर देती है (Fixation of Issue Prices) जिससे कि उपभोक्ता व कम आय वाले व्यक्तियों के हितों की रक्षा की जा सके। (4) मूल्यों को एक सीमा में बनाये रखने (Maintenance of prices within limits) के लिए बफर स्टॉक की नीति अपनायी जाती है।

सफलताएँ—सरकार द्वारा जो कृषि मूल्य नीति अपनायी गयी है उसके बारे में विद्वानों में एक रूपता नहीं है। कुछ विद्वानों का कहना है कि कृषि मूल्य नीति सफल रही है और वे इसके पक्ष में यह तर्क प्रस्तुत करते हैं : (1) इस नीति से कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई है। (2) कृषि पदार्थों के मूल्य न तो अत्यधिक बढ़े हैं और न गिरे हैं। उनमें एक सीमा तक स्थायित्व आया है। (3) उपभोक्ता को भी उचित मूल्य की दुकानों से उचित मूल्य पर कृषि पदार्थ मिलते रहे हैं। यदि यह नीति नहीं अपनायी जाती तो मूल्यों में काफी उच्चावचन होते। (4) उद्योगों को भी कृषि पदार्थ उचित मूल्य पर उपलब्ध कराये गये हैं जिससे उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं के मूल्य में भी स्थायित्व रहा है तथा औद्योगिक शान्ति रही है। (5) खाद्यान्नों के उत्पादन कम होने की स्थिति में खाद्यान्नों का आयात कर देश को अकाल से बचाया है। (6) कृषक को आवश्यक आदान (inputs) उपलब्ध किये हैं। उन्नत बीज दिये गये हैं। सिंचाई सुविधाओं में विस्तार किया गया है। भूमि सुधार कार्यक्रम चलाकर कृषक को स्वामित्व दिलाया गया है, आदि।

विफलताएँ—लेकिन कुछ विद्वानों का कहना है कि सरकार की कृषि मूल्य नीति असफल रही है और वे इसके पक्ष में यह तर्क प्रस्तुत करते हैं—(1) कृषि उत्पादन में वृद्धि सरकार के प्रयत्नों से नहीं, बल्कि कृषकों के प्रयत्नों व प्राकृतिक सहयोग से हुई है। (2) कृषि मूल्य कभी भी स्थिर नहीं रहे हैं, कभी अत्यधिक तो कभी बहुत कम। (3) उपभोक्ता को तो सदा ही कष्ट रहा है। राशन की दुकानों से पूरा राशन नहीं मिल पाता है, क्योंकि वहाँ सदा ही राशन कार्डों की माँग से कम ही स्टॉक रहता है। (4) खुले बाजार में कृषि पदार्थों की उपलब्धि सदा ही रहती है चाहे मूल्य कितना ही अधिक क्यों न हो, लेकिन सरकार मूल्य वृद्धि के समय पूरा-पूरा खाद्यान्न देने में असफल रही है।

निष्कर्ष—यदि हम निष्पक्ष होकर इस विषय पर विचार करें तो हम इस निष्कर्ष पर आयेंगे कि सरकार की कृषि मूल्य नीति से कृषि पदार्थों के मूल्यों में स्थायित्व तो आया है, लेकिन जिस स्तर तक हम चाहते थे वैसा नहीं हो पाया है। सरकार की (i) राशन व्यवस्था, (ii) न्यूनतम समर्थित मूल्य नीति, (iii) सरकारी खरीद व वितरण नीति, (iv) बफर स्टॉक नीति, (v) क्षेत्रीय प्रतिवर्ष नीति, आदि सभी एक सीमा तक प्रभावकारी रही हैं जिन्होंने कृषि मूल्यों के उत्तर-चढ़ाव को एक सीमा में रखने का प्रयत्न किया है, लेकिन आवश्यकता इस बात की है कि इन सभी को और प्रभावकारी बनाया जाय जिससे कि कृषि मूल्य स्थिर रह सकें और कृषक, सरकार व उपभोक्ता तीनों को कठिनाई कम-से-कम हो।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. भारत में कृषि उपज विपणन की प्रमुख समस्याओं की व्याख्या कीजिए। इनको हल करने में सहकारी विपणन समितियों को कहाँ तक सफलता मिली है?
2. भारत में कृषि विपणन की मुख्य समस्याओं की विवेचना कीजिए। इनको हल करने के लिए क्या उपाय किये गये हैं?
3. भारत में कृषि मूल्यों के स्थिरता के महत्व को स्पष्ट कीजिए। इस स्थिरता को प्राप्त करने के लिए आपके क्या सुझाव हैं?
4. कृषि मूल्यों के उच्चावचन के कारणों की व्याख्या कीजिए। देश में कृषि मूल्यों को स्थिर करने के लिए क्या प्रयास किये गये हैं?

20

नियोजन काल में औद्योगिक विकास

[INDUSTRIAL DEVELOPMENT DURING PLANNING PERIOD]

औद्योगिक विकास से अर्थ उद्योगों के नियमित एवं क्रमिक विकास से लगाया जाता है जिसमें उद्योगों में धीरे-धीरे नवीनता एवं आधुनिकता का समावेश होता रहता है। मशीनों का उपयोग क्रमिक रूप में बढ़ने लगता है तथा उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं में समयानुसार एवं आवश्यकतानुसार परिवर्तन होते रहते हैं। सामान्यतया औद्योगिक विकास में स्थिरता न रहकर गतिशीलता रहती है जो एक देश के विकास को दर्शाती है। जिस देश में जितनी अधिक तीव्र गति से उद्योगों का विकास होता है वह देश उतनी ही तीव्र गति से उन्नति की ओर अग्रसर होता है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय भारत की औद्योगिक संरचना की तस्वीर इतनी अच्छी नहीं थी जितनी कि आज है। वर्तमान में भारत में घड़ियाँ, दवाइयाँ, विद्युत् से चलने वाले टाइपराइटर्स, वैटरी सेल, मशीनी औजार, रेल के इंजन, वायुयान, पानी के जहाज, टेलीविजन, टेलीफोन, सिन्थेटिक कपड़ा, आदि सभी कुछ बनाने के कारखाने हैं जिनकी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय तक भारत में बनाने की बात सोची तक नहीं जाती थी।

नियोजन काल में औद्योगिक विकास

(INDUSTRIAL DEVELOPMENT DURING PLANNING PERIOD)

भारत में आर्थिक नियोजन 1 अप्रैल, 1951 से प्रारम्भ किया गया है। अब तक ग्यरहवीं पंचवर्षीय योजनाएँ, तीन वार्षिक योजनाएँ, तीन वर्ष का अन्तरकाल व वारहवीं योजना का भी एक वर्ष पूरा हो चुका है। इस प्रकार आर्थिक नियोजन के 63 वर्ष हो चुके हैं जिसमें नये-नये एवं आधुनिक उद्योग स्थापित हुए हैं। पुराने उद्योगों का विकास किया गया है। औद्योगिक उत्पादन बढ़ाया गया है। श्रमिकों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। उद्योगों में भारी मात्रा में पूँजी का विनियोजन किया गया है। विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत औद्योगिक विकास निम्न प्रकार हुआ है :

प्रथम योजना (1951-56)—प्रथम योजना में औद्योगिक विकास कार्यक्रम को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान नहीं किया गया, क्योंकि प्रथम योजना मूलतः कृषि विकास पर आधारित थी, लेकिन फिर भी उद्योग एवं खनिज विकास पर 55 करोड़ ₹ सार्वजनिक व्यय के रूप में किये गये। निजी क्षेत्र द्वारा भी अपने उद्योगों के विकास पर 229 करोड़ ₹ व्यय किये गये। इस प्रथम योजनाकाल में अनेक आधारभूत उद्योग जैसे सिन्दरी उर्वरक, हिन्दुस्तान शिपयार्ड, हिन्दुस्तान केविल्स, हिन्दुस्तान मशीन टूल्स (HMT), हिन्दुस्तान एन्सेक्टीसाइड्स, पिम्परी पेन्सीलिन प्लाण्ट, हिन्दुस्तान एण्टिवायोटिक्स, इण्टीग्रल कोच फैक्टरी, नैपा न्यूज़ प्रिण्ट, आदि स्थापित किये गये। निजी क्षेत्र में भी साईकिल, टाइपराइटर्स, डीजल पम्प एवं इंजिन, मशीनरी औजार, आदि के उत्पादन में काफी वृद्धि हुई।

द्वितीय योजना (1956-61)—द्वितीय योजना में उद्योगों के विकास के लिए व्यापक कार्यक्रम बनाया गया और दृढ़ औद्योगिक प्रगति की नींव रखी गयी। द्वितीय योजना में बृहत् उद्योग एवं खनिज विकास पर 938 करोड़ रुपये व्यय किये गये। इस योजना में विकास की दर 6.6% रही। इस काल में तीन इस्पात कारखानों—राऊरकेला, भिलाई और दुर्गापुर की नींव रखी गयी। मैसूर इस्पात, चितरंजन रेल कारखाना, पैराम्बूर इण्टीग्रल कोच फैक्टरी, सिन्दरी कारखाना का विस्तार किया गया। जूट, सूती वस्त्र, चीनी, सीमेण्ट, कागज के कारखानों में काम आने वाली मशीनों के निर्माण की व्यवस्था की गयी। इस द्वितीय योजना काल में औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक भी काफी बढ़ा।

तृतीय योजना (1961-66)—इस योजना में तीव्र औद्योगीकरण पर जोर दिया गया जिसके परिणामस्वरूप भिलाई, राउरकेला एवं डुर्गापुर के इस्पात कारखानों की उत्पादन क्षमता में वृद्धि कर एवं नवीन चौथा कारखाना—बोकारो की स्थापना का कार्य प्रारम्भ किया गया। कोयला खानों की मशीनों के उत्पादन का कारखाना, राँची में भारी मशीन का कारखाना, हिन्दुस्तान मशीन टूल्स की नयी उत्पादन इकाइयों की स्थापना, भारी विद्युत् संयन्त्रों की स्थापना, आदि कार्य भी इसी काल में किये गये। सार्वजनिक क्षेत्र की इण्डियन इंडस एवं फार्मस्यूटिकल्स लि. की तीन नवीन इकाइयों की स्थापना भी इसी काल में की गयी। इस योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में 1,726 करोड़ ₹ उद्योग एवं खनिज के विकास पर व्यय किये गये। इस योजना में औद्योगिक उत्पादन लक्ष्य 11% वार्षिक रखा गया था, लेकिन वास्तविक उपलब्धि 9% वार्षिक ही रही।

तीन वार्षिक योजनाएँ (1966-69)—तीन योजनाओं के बाद तीन वार्षिक योजनाएँ अपनायी गयीं जिनमें कुल मिलाकर 1,510 करोड़ ₹ सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग एवं खनिज पर व्यय किये गये तथा औद्योगिक उत्पादन दर 2 प्रतिशत रही। इस काल में आधारभूत एवं उत्पादक उद्योगों की विद्यमान क्षमताओं का पूर्ण उपयोग करने एवं नवीन क्षमताओं का सुजन करने का प्रयास किया गया।

चतुर्थ योजना (1969-74)—चतुर्थ योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योग एवं खनिज के विकास पर 2,864 करोड़ ₹ व्यय किये गये। औद्योगिक लाइसेंस नीति में 1970 व 1973 में कुछ सुधार किये गये। बैंकों व कोयला उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया गया। इस योजनाकाल में औद्योगिक उत्पादन का लक्ष्य 8 से 10 प्रतिशत तक रखा गया था, लेकिन औसत वृद्धि 4.7 प्रतिशत की रही।

पाँचवीं योजना (1974-79)—इस योजना में उद्योग एवं खनिज विकास पर 8,989 करोड़ ₹ व्यय किये गये। इस योजना का उद्देश्य 8.1 प्रतिशत वार्षिक दर से औद्योगिक विकास करना था, लेकिन वास्तविक दर 5.9% ही रही।

छठवीं योजना (1980-85)—इस योजना में उद्योगों पर 16,736 करोड़ ₹ सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय किये गये जिससे इस योजना की विकास दर 5.2 प्रतिशत रही।

सातवीं योजना (1985-90) में औद्योगिक विकास के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में 19,708 करोड़ ₹ व्यय करने का प्रावधान किया गया था, लेकिन वास्तविक व्यय 25,971 करोड़ ₹ का हुआ है।

आठवीं योजना में उद्योगों पर 40,693 करोड़ ₹ व्यय हुए जो कुल योजना का 9.7 प्रतिशत बैठता है।

नौवीं योजना में उद्योगों पर 40,341 करोड़ ₹ व्यय करने का प्रावधान किया गया, परन्तु वास्तविक व्यय 32,252 करोड़ रुपए रहा और औद्योगिक विकास दर 8.2 प्रतिशत निर्धारित की गई थी।

जहां तक औद्योगिक उत्पादन में वास्तविक वृद्धि का प्रश्न है यह वृद्धि निराशाजनक रही। योजना के पांच वर्षों में औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि क्रमशः 4.3%, 3.7%, 4.8%, 6.6% तथा 3.3% रही।

दसवीं योजना (2002-07) में उद्योग एवं खनिज पर सार्वजनिक क्षेत्र में कुल 58,939 करोड़ ₹ व्यय किया गया। इस योजना में औद्योगिक विकास की दर निम्न प्रकार रही :

वर्ष	2002-03	2003-04	2004-05	2005-06	2006-07
वृद्धि दर(%)	5.7	6.9	8.4	8.2	11.6

यह उल्लेखनीय है कि दसवीं योजना में औद्योगिक क्षेत्र में वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य 8.9% रखा गया था।

ग्राहकीय योजना (2007-12) में सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योग एवं खनिज पर क्रमशः 1,85,633 करोड़ ₹ का परिव्यय हुआ योजना में उद्योगों में वार्षिक वृद्धि का औसत लक्ष्य 10.5% निर्धारित किया गया था लेकिन वास्तविक वृद्धि औसत 6.9% रहा।

बारहवीं योजना (2012-17) में उद्योग तथा खनन पर कुल व्यय 3,77,302 करोड़ ₹ किया जाने का प्रावधान है, इस क्षेत्र में 10% वृद्धि का लक्ष्य रखा गया है।

योजना काल (1950-51 से 2011-12) में उद्योगों ने काफी प्रगति की है। इस प्रगति को उद्योगों के उत्पादन आँकड़ों से आंक सकते हैं। यह आँकड़े अग्र प्रकार हैं :

उत्पाद	औद्योगिक उत्पादन		
	1950-51	2011-12	
1. तैयार इस्पात	(लाख टनों में)	10	734
2. सीमेण्ट	(लाख टनों में)	27	2,235
3. चीनी	(लाख टनों में)	11	274
4. मशीनी औजार	(करोड़ ₹ में)	0.3	2,364
5. सूती वस्त्र	(करोड़ मीटरों में)	421	3,057
6. नाइट्रोजन उर्वरक	(हजार टनों में)	9	12,259
7. वनस्पति	(हजार टनों में)	155	1,235
8. कागज व गत्ता	(हजार टनों में)	116	7,500
9. ऐलुमिनियम्	(हजार टनों में)	4	963

नियोजन काल में औद्योगिक संरचनात्मक परिवर्तन एवं आर्थिक विकास

(INDUSTRIAL STRUCTURAL CHANGE & ECONOMIC DEVELOPMENT
DURING PLANNING PERIOD)

देश में आर्थिक नियोजन होने से औद्योगिक विकास हुआ है जिसे योजना अवधि में औद्योगिक विकास की विशेषताएँ कहते हैं। इसी को आर्थिक नियोजन अवधि में औद्योगिक संरचनात्मक परिवर्तन एवं आर्थिक विकास भी कहा जाता है। पिछले योजना काल में उद्योगों की संरचना में भारी परिवर्तन हुए हैं। नियोजन प्रारम्भ करते समय औद्योगिक उत्पादन में उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन 47.6 प्रतिशत व मध्यवर्ती वस्तुओं का 29 प्रतिशत था। तीसरा स्थान आधारभूत वस्तुओं का था जो 19.8 प्रतिशत था। चौथा स्थान पूँजीगत का था जो केवल 3.6 प्रतिशत था, लेकिन अब यह सभी प्रतिशत बदल गए हैं। इस समय आधारभूत वस्तुओं का प्रतिशत 35.5, पूँजीगत वस्तुओं का 9.3, उपभोक्ता वस्तुओं का 28.7, व मध्यवर्ती वस्तुओं का 26.5 है। इन विशेषताओं एवं परिवर्तनों को निम्न मदों में रखकर स्पष्ट किया जा सकता है :

(1) सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार—नियोजन काल की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों का विकास एवं विस्तार है। 1950-51 में केन्द्र सरकार के सार्वजनिक क्षेत्र में केवल 5 उद्योग थे और इनमें 29 करोड़ ₹ की पूँजी विनियोजित थी। 31 मार्च, 2014 तक इस प्रकार के उद्योगों की संख्या 290 है जिनमें 9,92,971 करोड़ ₹ की पूँजी विनियोजित है।

(2) संरचनात्मक आधार—नियोजनकाल में आधारभूत संरचना के निर्माण के लिए एक आधार तैयार किया गया है जिसमें जल-विद्युत, परिवहन एवं संचार सेवाओं का विस्तार किया गया है जिससे औद्योगिक विकास में बाधा उत्पन्न न हो। 1950-51 में विद्युत् उत्पादन क्षमता 2.3 हजार MW की थी जो अब बढ़कर 1,166 बिलियन KWH हो गयी है।¹ इस काल में जल एवं वायु परिवहन, डाक-तार सेवा, टेलीफोन सेवा, आदि का काफी विस्तार किया गया है। खनिज तेल एवं कोयले के उत्पादन में काफी वृद्धि की गयी है।

(3) सन्तुलित औद्योगिक विकास—नियोजन से पूर्व देश में उपभोक्ता उद्योगों की प्रधानता थी जिनमें सूती वस्त्र, जूट, चीनी, कपड़ा, आदि मुख्य थे, लेकिन नियोजन काल में आधारभूत उद्योगों की स्थापना को प्रधानता दी गयी जिसके अनुसार लोहा एवं इस्पात, सीमेण्ट, भारी मशीनें एवं औजार, विद्युत् मशीनें, उर्वरक, पेट्रो-रसायन, इलेक्ट्रोनिक्स, जलयान एवं वायुयान निर्माण, मोटर, स्कूटर, आदि उद्योगों को स्थापित किया गया। इससे देश का औद्योगिक विकास सन्तुलित हो गया है।

(4) विदेशी सहायता से स्थापित उपक्रम—इस काल की एक विशेषता यह रही है कि इसमें विदेशी सहायता से स्थापित उपक्रमों की संख्या में भारी वृद्धि हुई है। 1957 में भारत में 81 विदेशी उपक्रम थे, लेकिन आज इनकी संख्या 6,000 के लगभग है। राउरकेला, दुर्गापुर, भिलाई, बोकारो, आदि इस्पात कारखानों की स्थापना विदेशी सहायता का ही परिणाम है।

¹ आर्थिक समीक्षा, 2014-15.

(5) विदेशी तकनीकी सहयोग—भारत के औद्योगिक विकास में विदेशी तकनीकी संस्थाओं का भारी योगदान रहा है। प्रस्तावित योजनाओं की जाँच-पड़ताल, साध्यता प्रतिवेदनों, संयन्त्रों एवं मशीनों की पूर्ति, भारतीय तकनीकी विशेषज्ञों को प्रशिक्षण, आदि में इन विदेशी संस्थाओं ने भारी सहयोग किया है।

(6) औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि—नियोजन काल में औद्योगिक उत्पादन कई गुना बढ़ा है। जैसे 1950-51 से 2011-12 के बीच में उत्पादन तैयार इस्पात का 73 गुना, सीमेण्ट का 83 गुना, मशीनी औजारों का 7,880 गुना व नाइट्रोजन खाद का 1,362 गुना हो गया है।

(7) औद्योगिक वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि—औद्योगीकरण होने से निर्यात व्यापार में वृद्धि हुई है और भारत ऐसी मशीनों व इन्जीनियरिंग सामान का निर्यात करने लगा है जो वह पहले कभी नहीं करता था। 1951 में इन्जीनियरिंग सामान का निर्यात बिल्कुल नगण्य था, लेकिन यह वर्ष 2011-12 में 2,79,202 करोड़ ₹ तक पहुंच गया। भारत सिलाई मशीनों, बिजली के पंखे, स्कूटर, साइकिलें, इलेक्ट्रोनिक्स उपकरण व विद्युत् उपकरणों का निर्यात करने लगा है।

(8) आयात प्रतिस्थापन—निर्यात से पूर्व भारत को अनेक प्रकार की मशीनरी व कई प्रकार की वस्तुओं का आयात करना पड़ता था जिसमें विदेशी मुद्रा कोष पर भारी दबाव बना रहता था। नियोजन काल में आयात प्रतिस्थापन की नीति अपनाने के कारण आयातों पर निर्भरता बहुत कम हो गयी है या उन वस्तुओं के आयात समाप्त कर दिये गये हैं। भारत साइकिलें पहले आयात करता था, लेकिन अब इनका निर्यात करता है। इसी प्रकार चीनी मिल व टेक्सटाइल मशीनरी, ऐलुमिनियम, सोडा एश, कॉस्टिक सोडा, आदि का आयात नाममात्र का रह गया है।

(9) उद्योगों का क्षेत्रीय सन्तुलन—आर्थिक नियोजन होने से उद्योगों का क्षेत्रीय सन्तुलन करने में भारी मदद मिलती है। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग उन स्थानों पर स्थापित किये गये हैं जो पहले उपेक्षित थे, जैसे इस्पात के कारखाने राउरकेला, दुर्गापुर व भिलाई में इसी उद्देश्य को लेकर स्थापित किये गये हैं। हिन्दुस्तान मशीन टूल्स की 5 इकाइयाँ पाँच राज्यों में स्थापित की गयी हैं। रासायनिक उर्वरक के लिए भी यही नीति अपनायी गयी है।

(10) वित्तीय संस्थाओं की स्थापना—आर्थिक नियोजन के काल में अनेक विशिष्ट वित्तीय संस्थाएँ स्थापित की गयी हैं जो उद्योगों की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए भारी मात्रा में मध्यमकालीन एवं दीर्घकालीन ऋण देने की सुविधा प्रदान करती हैं।

भारत में औद्योगिक पिछड़ेपन के कारण

(CAUSES OF INDUSTRIAL BACKWARDNESS IN INDIA)

भारत औद्योगिक दृष्टि से उतना उन्नत देश नहीं है जितने अन्य देश हैं, इसलिए इसको तुलनात्मक दृष्टि से एक पिछड़ा देश माना जाता है। इसके पिछड़ेपन के लिए निम्न कारण उत्तरदायी हैं, इन्हीं कारणों को भारत में उद्योगों के धीमे विकास के कारण भी कहते हैं :

(1) विदेशी शासन—भारत के औद्योगिक दृष्टि में पिछड़े होने का मुख्य कारण विदेशी शासन का लम्बे काल तक बना रहना है जिसका उद्देश्य भारत को कच्चे माल का निर्यात एवं पक्के माल का आयात करने वाले देश के रूप में विकसित करना था। 1923 से जो विभेदात्मक संरक्षण नीति (Discriminating Protection Policy) अपनायी गयी थी उसको भी कठोर शर्तों के होने के कारण उचित रूप से लागू नहीं किया जा सका। साम्राज्य अधिमान (Imperial Preferences) की नीति भी भारतीय उद्योगों के विकास में एक रोड़ा थी जिसके अन्तर्गत ब्रिटिश साम्राज्य से बिना आयात कर लगे वस्तुओं के आने की अनुमति थी।

(2) औद्योगिक पूँजी का अभाव—आधुनिक औद्योगीकरण में भारी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होती है जिसका भारत में सदा ही अभाव रहा है। यहाँ प्रति व्यक्ति आय कम ही रही है, जिससे बचत एवं पूँजी-निवेश की मात्रा भी कम रही है। अतः औद्योगिक पूँजी के अभाव में भारत में अधिक औद्योगीकरण नहीं हो पाया है।

(3) प्रतिकूल सामाजिक वातावरण—भारत में औद्योगिक पिछड़ेपन का एक कारण प्रतिकूल सामाजिक वातावरण है। यहाँ जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली तथा धार्मिक अन्धविश्वास जो कि सामाजिक वातावरण के अंग हैं, औद्योगिक विकास में सदा ही बाधक रहे हैं। संयुक्त परिवार प्रणाली ने व्यक्तिगत प्रेरणा को सदा ही हतोत्साहित किया है और आगे बढ़ने से रोका है। इसी प्रकार जाति-प्रथा एवं संयुक्त परिवार प्रणाली ने श्रम की गतिशीलता में बाधाएँ डाली हैं। उत्तराधिकार नियमों के अन्तर्गत बँटवारे की प्रथा ने पूँजी साधनों को छोटे-छोटे खण्डों में बाँटकर पूँजी को एकत्रित करने में कठिनाई पैदा की है।

(4) शक्ति साधनों की कमी—भारत के पिछड़े होने का एक महत्वपूर्ण कारण यहाँ पर शक्ति के साधनों का अभाव रहा है और यह अभाव आज भी है। शक्ति के तीन मुख्य साधन माने जाते हैं—कोयला, जल व पेट्रोलियम। भारत में उच्च कोटि के कोयले का अभी भी अभाव है। अतः इस्पात कारखानों के लिए उच्च कोटि का कोयला आयात किया जाता है। यहाँ जल साधनों का भी उचित उपयोग नहीं हो पाया है यद्यपि स्वतन्त्रता के बाद इस सम्बन्ध में कुछ प्रगति हुई। पेट्रोलियम पदार्थ तो आज भी विदेशों से आयात किये जाते हैं यद्यपि भारत में कुछ कुओं के मिल जाने से पेट्रोलियम पदार्थ निकाले जा रहे हैं।

(5) आधुनिक मशीनों एवं निपुण तकनीकी विशेषज्ञों का अभाव—भारत में आधुनिक प्रकार की मशीनों का अभाव है। साथ ही निपुण तकनीकी विशेषज्ञ भी उपलब्ध नहीं हैं। ऐसी स्थिति में औद्योगिक विकास पर्याप्त मात्रा में नहीं हो पाया है। यहाँ अभी भी पर्याप्त प्रशिक्षण सुविधाएँ नहीं हैं। अतः प्रशिक्षण के लिए तकनीकी विशेषज्ञों को विदेशों में भेजा जाता है।

(6) योग्य साहसियों का अभाव—भारत में औद्योगिक विकास की धीमी गति का कारण योग्य साहसियों का अभाव भी रहा है। इस देश में साहसियों का कार्य विदेशी व्यक्तियों एवं देश के कुछ धनवान व्यक्तियों द्वारा किया गया था जिन्होंने आगे चलकर अपने आप को प्रबन्ध अभिकर्ता के रूप में बदल लिया था जिन्हें उनके प्रति बढ़ते हुए अविश्वास के कारण समाप्त कर दिया गया है और इस प्रकार आज भी देश में योग्य साहसियों का अभाव है जो उद्योगों की स्थापना कर सकें।

(7) परिवहन एवं संदेशवाहन साधनों का अभाव—किसी भी देश में औद्योगिक विकास के लिए परिवहन एवं संदेशवाहन साधनों का विकास होना अनिवार्य है। भारत में इन साधनों का अभाव ही रहा है। आज भी भारत में सड़कें कम हैं। रेलों के पास वैगनों की कमी है। डाक-तार व टेलीफोन की सुविधाएँ भी पर्याप्त नहीं हैं। इस कारण से भी भारत पिछड़ा हुआ है।

औद्योगिक पिछड़ेपन को दूर करने के उपाय

(MEASURES FOR REMOVAL OF INDUSTRIAL BACKWARDNESS)

भारत में औद्योगीकरण के विकास के लिए या दूसरे शब्दों में औद्योगिक पिछड़ेपन को दूर करने के लिए निम्न सुझाव दिये जाते हैं :

(1) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों का व्यापारिक आधार पर विकास—भारत में औद्योगिक क्षेत्र के विकास के लिए सुझाव दिया जाता है कि सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योगों की स्थापना की जाय। भारत ने यह नीति पहले से ही अपना रखी है जिसके अन्तर्गत वर्तमान में 9,92,971 करोड़ ₹ से भी अधिक पूँजी केन्द्रीय सरकार ने लगा रखी है, लेकिन इन उद्योगों में से अनेक की कार्यकुशलता बहुत ही निम्न स्तर पर है जिसके कारण इनमें लाभ के स्थान पर हानि हो रही है। अतः इनको व्यापारिक आधार पर चलाकर सुधार लाने की आवश्यकता है।

(2) निजी क्षेत्र को सुविधाएँ—सरकार को निजी क्षेत्र को पर्याप्त सुविधाएँ देनी चाहिए जिससे कि निजी क्षेत्र के उद्योगपति नये-नये उद्योगों की स्थापना एवं पुराने उद्योगों के विकास की ओर अग्रसर हों। साथ ही सरकार को यह आश्वासन भी देना चाहिए कि उनके हितों का पूरा-पूरा ध्यान रखा जायेगा।

(3) विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन—देश में पूँजी का अभाव है। अतः विदेशी पूँजी को निश्चित अनुकूल शर्तों पर देश में प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, इससे औद्योगिक विकास होगा, नवीन उद्योग स्थापित होंगे तथा बेरोजगारी को कम करने में मदद मिलेगी।

(4) पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहन—औद्योगीकरण के लिए अधिकाधिक पूँजी आमन्त्रित करने के लिए पूँजी-निर्माण में प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से कुछ सुविधाएँ दी जा सकती हैं; जैसे करों में छूट। वर्तमान में जो छूटें दी जा रही हैं उनका सरलीकरण कर अधिक छूट देने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(5) शक्ति साधनों में वृद्धि—उद्योगों को पर्याप्त मात्रा में शक्ति उपलब्ध कराने के लिए वर्तमान शक्ति साधनों का विस्तार कर नवीन शक्ति इकाइयों की स्थापना की जानी चाहिए तथा सरकार को अपने साधनों को इस ओर लगाना चाहिए, इससे उद्योगों का उत्पादन बढ़ेगा, वस्तुओं की कमी दूर होगी, बेरोजगारी कम होगी और अन्त में सरकार की आय में वृद्धि होगी।

(6) आधुनिक मशीनों का आयात—यदि देश में किसी उद्योग के लिए आधुनिक मशीनों का निर्माण नहीं होता या उनकी देश में कमी है तो उन मशीनों, यन्त्रों एवं उपकरणों का आयात किया जाना चाहिए। बैंक व वित्तीय संस्थानों को इन मशीनों के क्रय करने व लम्बी अवधि के लिए ऋण देने में मदद करनी चाहिए।

(7) प्राकृतिक साधनों का समुचित विदेहन—औद्योगिक विकास के लिए प्राकृतिक साधनों का उचित विदेहन किया जाना चाहिए। विद्वानों की राय है कि भारत में प्राकृतिक साधन भारी मात्रा में उपलब्ध हैं, लेकिन उनका उचित विदेहन नहीं हो पा रहा है। इसके लिए सर्वेक्षण करके उन क्षेत्रों का पता लगाया जाना चाहिए जिनमें औद्योगीकरण किया जा सकता है।

(8) कृषि उद्योगों का विकास—अधिकांश उद्योगों को कच्चा माल कृषि से ही मिलता है। अतः कृषि उद्योग का पूर्ण विकास किया जाना चाहिए। इसके लिए कृषि उद्योग को विजली, पानी, खाद, कीटनाशक दवाइयाँ, आदि पर्याप्त मात्रा में मिलने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

जुलाई 1991 से भारत की औद्योगिक नीति में संशोधन किए गये हैं जिसके अनुसार (1) कुछ उद्योगों को छोड़ कर शेष सभी उद्योगों के लिए लाइसेन्स प्रणाली समाप्त कर दी गई है। (2) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों की कार्यकुशलता बढ़ाने का प्रयास किया जा रहा है। (3) विदेशी पूँजी को बढ़ावा दिया जा रहा है। (4) उद्योगों को अपने शक्ति साधन स्थापित करने की अनुमति दी जा रही है। (5) विदेशी पूँजीगत मशीनरी व यन्त्र, आदि के आयात की भी अनुमति दी जा रही है। इन सभी प्रयत्नों से औद्योगीकरण को बढ़ावा मिलने की आशा है जिससे औद्योगिक पिछड़ेपन दूर हो जाने की आशा बंध चली है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

- नियोजन काल में भारतीय औद्योगिक विकास की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

(बिलासपुर वी. ए. प्रथम वर्ष रेगुलर, 2010)

- भारत ने नियोजन काल में काफी औद्योगिक उन्नति की है। व्याख्या कीजिए।

- भारत में औद्योगिक पिछड़ेपन के कारणों को समझाइए।

(रायपुर, 2012)

औद्योगिक नीति 1948, 1956, 1977 एवं 1991

[INDUSTRIAL POLICY 1948, 1956, 1977 AND 1991]

औद्योगिक नीति से अर्थ

औद्योगिक नीति से अर्थ सरकार के उस चिन्तन (Philosophy) से है जिसके अन्तर्गत औद्योगिक विकास का स्वरूप निश्चित किया जाता है तथा जिसको प्राप्त करने के लिए नियम व सिद्धान्तों को लागू किया जाता है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार भी कह सकते हैं कि औद्योगिक नीति से अर्थ सरकार की उस औपचारिक घोषणा से है जिसमें उद्योगों के प्रति अपनायी जाने वाली नीतियों का उल्लेख होता है।

इस नीति में उन सभी सिद्धान्तों, नियमों व रीतियों का विवरण होता है जिन्हें उद्योगों के विकास के लिए अपनाया जाना है। यह नीति विशेष रूप से भावी उद्योगों के विकास, प्रवन्ध व स्थापना से सम्बन्धित होती है। इस नीति को बनाते समय देश का आर्थिक ढाँचा, सामाजिक व्यवस्था, उपलब्ध प्राकृतिक साधन व सरकारी चिन्तन का विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है।

औद्योगिक नीति का महत्व

प्रत्येक राष्ट्र के लिए औद्योगिक नीति महत्वपूर्ण होती है क्योंकि—(1) वह देश के औद्योगिक विकास को सुनियोजित कर देश व अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करती है; (2) राष्ट्र को मार्गदर्शन व निर्देशन देती है; (3) सरकार को निश्चित कार्यक्रम बनाने में मदद करती है तथा (4) जनसाधारण को अपनी निश्चित जीविका का साधन बनाने में सहायता करती है।

भारत जैसे देशों में तो औद्योगिक नीति अनेक कारणों से महत्वपूर्ण है। यहाँ नियोजित अर्थव्यवस्था के माध्यम से औद्योगिक विकास हो रहा है। देश में प्राकृतिक साधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं, लेकिन उनका उचित विदोहन नहीं हो रहा है। यहाँ प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण पूँजी-निर्माण की दर भी कम है तथा उपलब्ध पूँजी सीमित मात्रा में है। अतः यह महत्वपूर्ण है कि औद्योगिक नीति इन बातों में मदद करे। वे क्षेत्र जहाँ व्यक्तिगत उद्यमी पहुंचने में समर्थ नहीं हैं, सार्वजनिक क्षेत्र में रखे जायें और सरकार उनका उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले। साथ ही यह भी आवश्यक है कि निजी क्षेत्र पर उचित नियन्त्रण भी होना चाहिए जिससे कि विकास योजनाएँ ठीक प्रकार से चलती रहें तथा अति आवश्यक उद्योगों का विकास सबसे पहले हो सके। यह बात भी औद्योगिक नीति के महत्व को दर्शाती है। घरेलू व विदेशी व्यापार उचित प्रकार से चलें इसके लिए भी औद्योगिक नीति महत्वपूर्ण है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् अब तक 6 बार औद्योगिक नीतियों की घोषणा हो चुकी है जिन्हें (1) औद्योगिक नीति, 1948; (2) औद्योगिक नीति, 1956; (3) औद्योगिक नीति, 1977; (4) औद्योगिक नीति, 1980; (5) औद्योगिक नीति, 1990 व (6) औद्योगिक नीति, 1991 के नाम से पुकारते हैं, लेकिन प्रथम दो 1948 व 1956 तथा अन्तिम 1991 की तो वास्तव में नीतियाँ हैं, जबकि 1977, 1980 व 1990 की नीतियाँ न होकर विस्तृत दिशा-निदेशक हैं। इन सभी का विस्तृत विवरण इस अध्याय में दिया गया है।

औद्योगिक नीति, 1948

औद्योगिक नीति, 1948 की व्याख्या करने से पूर्व यह आवश्यक है कि इसकी पृष्ठभूमि को बताया जाय। 1923 से पूर्व भारत की नीति स्वतन्त्र नीति (*Laissez faire*) थी जिसके अन्तर्गत कोई भी माल विदेशों से आ सकता था और भारतीय माल से प्रतियोगिता कर सकता था, लेकिन 1923 में संरक्षण की

नीति अपनायी गयी और कुछ देशी उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिए प्रयत्न किये गये, लेकिन यह प्रयत्न औद्योगिक विकास के लिए पर्याप्त नहीं थे। ब्रिटेन की सरकार भारत को अपनी वस्तुओं के लिए एक बाजार मानकर इस प्रकार की नीतियाँ अपनाती थीं जो उनके लिए हितकर हों। इसके फलस्वरूप देश का औद्योगिक ढाँचा उचित नहीं था। पूँजी विनियोजन की गति मन्द थी। देश में औद्योगिक वातावरण अनिश्चित था। अतः 6 अप्रैल, 1948 को तत्कालीन उद्योग एवं पूर्ति मन्त्री डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने प्रथम औद्योगिक नीति की घोषणा की जिसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं :

(1) **उद्योगों का वर्गीकरण**—इस प्रथम औद्योगिक नीति में उद्योगों को चार भागों में विभाजित किया गया : (i) प्रथम वर्ग में सैनिक एवं राष्ट्रीय महत्व के उद्योगों को रखा गया जिनकी स्थापना एवं विकास का उत्तरदायित्व पूर्णरूप से सरकार के एकाधिकार में होगा। (ii) द्वितीय वर्ग में छह उद्योग रखे गये—लोहा एवं इस्पात, कोयला, हवाई जहाज निर्माण, खनिज तेल, टेलीफोन, टेलीग्राफ, बेतार के उपकरणों का निर्माण। इन उद्योगों की विद्यमान इकाइयों को तो निजी क्षेत्र में रखा गया, लेकिन नवीन इकाइयों की स्थापना के लिए यह क्षेत्र राज्य के लिए सुरक्षित छोड़ दिये गये। (iii) तृतीय वर्ग में राष्ट्रीय महत्व के कुछ आधारभूत उद्योग एवं कुछ उपभोक्ता उद्योगों को शामिल किया गया जिनकी संख्या 18 थी; जिनके बारे में नियमन एवं नियन्त्रण की व्यवस्था करने को उचित बताया गया। (iv) चतुर्थ वर्ग में शेष सब उद्योग सम्मिलित किये गये जिनके बारे में कहा गया कि ये निजी एवं सरकारी क्षेत्रों के लिए सुरक्षित रहेंगे, इस प्रकार इस नीति में सर्वप्रथम मिश्रित अर्थव्यवस्था (सरकारी क्षेत्र व निजी क्षेत्र) की बात को माना गया।

(2) **कुटीर एवं लघु उद्योगों का विकास**—इस नीति में विशेष रूप से कुटीर एवं लघु उद्योगों का उल्लेख किया गया तथा जिनके विकास का उत्तरदायित्व राज्य सरकारों को सौंपा गया और जिनकी सहायता के लिए विभिन्न स्तरों पर विशेष संस्थाओं के निर्माण पर जोर दिया गया।

(3) **विदेशी पूँजी**—इस नीति में विदेशी पूँजी व तकनीकी ज्ञान को देश में आने की अनुमति दी गई।

(4) **श्रमिकों के हितों की सुरक्षा**—इस नीति में यह स्वीकार किया गया कि श्रम व प्रबन्ध के बीच मधुर सम्बन्ध होने चाहिए। इसके लिए श्रमिकों को उनके कार्य के लिए उचित मजदूरी, उनके कल्याण के लिए योजनाएँ एवं लाभ तथा प्रबन्ध में श्रमिकों को हिस्सा दिलाने का आश्वासन दिया गया।

(5) **प्रशुल्क एवं कर नीति**—सरकार की प्रशुल्क नीति आवश्यक विदेशी स्पर्धा को रोकने की है जिससे कि उपभोक्ता पर अनुचित भार डाले बिना विदेशी साधनों का उपयोग किया जा सके। पूँजीगत विनियोजन करने, बचत में बढ़िया करने एवं कुछ व्यक्तियों के हाथों में सम्पत्ति का केन्द्रीकरण रोकने के लिए कर-प्रणाली में आवश्यक सुधार किया जायेगा।

इस नीति की प्रक्रिया मिश्रित थी। कुछ व्यक्तियों ने इसका स्वागत किया तो कुछ ने कटु आलोचना की। समाजवादी विचारधारा वाले व्यक्तियों ने इसको देश के हित में बताया और उनके अनुसार देश में मिश्रित एवं नियन्त्रित अर्थव्यवस्था (mixed and controlled economy) की नींव रखी गयी। कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास एवं श्रमिकों के हितों की सुरक्षा के आश्वासन ने जनसाधारण को अत्यन्त प्रभावित किया।

उद्योगपतियों व पूँजीपतियों ने इसको दोषपूर्ण बताया और उनके अनुसार (1) यह नीति निजी क्षेत्र के हितों के विरुद्ध थी। (2) इस नीति में उद्योगों के विकास की प्राथमिकता को भी निश्चित नहीं किया गया।

औद्योगिक नीति, 1956

भारत की नवीन औद्योगिक नीति 30 अप्रैल, 1956 को घोषित की गयी। इस नवीन नीति को घोषित करने के कारणों का उल्लेख करते हुए तत्कालीन प्रधानमन्त्री पं. जवाहर लाल नेहरू ने संसद में कहा था कि “आठ वर्षों में भारत में काफी विकास तथा परिवर्तन हुए हैं। नवीन संविधान बना है। मौलिक अधिकार एवं राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्त घोषित किये गये हैं। इसलिए इस बात की आवश्यकता है कि इन सभी बातों तथा आदर्शों को प्रतिबिम्बित करते हुए एक नवीन औद्योगिक नीति घोषित की जाय।”

इस नीति के मुख्य उद्देश्य थे : (1) औद्योगीकरण की गति में तीव्र बढ़िया करना, (2) भारी उद्योगों का विकास करना, (3) सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करना, (4) कुटीर, ग्राम व लघु उद्योगों का विस्तार करना, (5) सन्तुलित औद्योगिक विकास करना, (6) एकाधिकार एवं आर्थिक केन्द्रीकरण को रोकना, (7) आयतथा

धन के वितरण की असमानता को कम करना, (8) रोजगार अवसरों में वृद्धि तथा श्रमिकों की कार्य करने एवं रहने की दशा में सुधार।

इस नीति की मुख्य विशेषताएँ निम्न प्रकार थीं :

(1) उद्योगों का वर्गीकरण—इस नीति में उद्योगों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया : (i) वर्ग 'अ' में 17 उद्योग रखे गये जिनके विकास का पूर्ण उत्तरदायित्व राज्य पर होगा, लेकिन वर्तमान निजी क्षेत्र की इकाइयों को विकास करने की छूट दे दी गयी। (ii) द्वितीय वर्ग 'ब' में वे 12 उद्योग रखे गये जिनके विकास में सरकार उत्तरोत्तर अधिक भाग लेगी। अतः सरकार इनकी स्थापना स्वयं करेगी, लेकिन निजी क्षेत्र से भी आशा की गयी कि वह भी इसमें योग देगा। (iii) तृतीय वर्ग 'स' में शेष उद्योगों को रखा गया तथा जिनके विकास व स्थापना का कार्य निजी क्षेत्र पर छोड़ दिया गया, लेकिन सरकार को भी यह अधिकार दिया गया कि वह चाहे तो इस श्रेणी के उद्योगों की भी स्थापना कर सकती है।

(2) लघु एवं कुटीर उद्योगों का विकास—इस नीति में लघु एवं कुटीर उद्योगों को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया तथा यह स्पष्ट रूप से कहा गया कि लघु एवं कुटीर उद्योगों को सरकार प्रोत्साहित करेगी जिसके लिए बड़े पैमाने के उद्योगों का उत्पादन सीमित किया जायेगा। विभेदात्मक कर लगाये जायेंगे व प्रत्यक्ष सहायता दी जायेगी।

(3) क्षेत्रीय असमानताओं को कम करना—सन्तुलित क्षेत्रीय विकास के आदर्श को अपनाया जायेगा जिससे औद्योगीकरण का लाभ पूरी अर्थव्यवस्था को हो सके। पिछड़े इलाकों को पानी, बिजली व परिवहन की सुविधाएँ दी जायेंगी।

(4) तकनीकी एवं प्रबन्धकीय सेवाएँ—देश में औद्योगिक विकास का कार्यक्रम चलाने में तकनीकी एवं प्रबन्धकीय कर्मचारियों की माँग बढ़ेगी जिसके लिए सरकारी एवं निजी दोनों प्रकार के उद्योगों में प्रशिक्षण सुविधाएँ देने की व्यवस्था की जायेगी तथा व्यावसायिक प्रबन्ध प्रशिक्षण सुविधाओं का विश्वविद्यालयों व अन्य संस्थाओं में विस्तार किया जायेगा। देश में प्रबन्धकीय व तकनीकी कैडर (cadre) की स्थापना की जायेगी।

(5) औद्योगिक सम्बन्ध एवं श्रम कल्याण—औद्योगिक सम्बन्धों को अच्छे बनाये रखने, श्रमिकों को आवश्यक सुविधाएँ एवं प्रोत्साहन देने, कार्य-दशाओं में सुधार तथा उत्पादकता बढ़ाने पर भी जोर दिया गया।

(6) विदेशी पूँजी—सरकार देशी व विदेशी प्रतिष्ठानों में कोई भेदभाव नहीं बरतेगी। लाभ को बाहर ले जाने या पूँजी को वापस ले जाने की छूट होगी। यदि राष्ट्रीयकरण किया गया तो उचित और न्यायपूर्ण मुआवजा दिया जायेगा।

(7) निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्रों में पारस्परिक सहयोग—इस नीति में यह स्पष्ट किया गया है कि उद्योगों का वर्गीकरण पूर्णतः पृथक्-पृथक् नहीं है। विशेष परिस्थितियों में उपर्युक्त विभाजन में परिवर्तन किया जा सकता है। कुछ उद्योगों को दो या दो से अधिक श्रेणियों में रखा जा सकता है। कुछ निजी इकाइयाँ भी प्रथम वर्ग में वर्गित वस्तुओं का उत्पादन कर सकती हैं। इसी प्रकार सरकारी क्षेत्र के अधीन भारी उद्योग निजी क्षेत्र पर निर्भर रह सकते हैं।

औद्योगिक नीति, 1977 (INDUSTRIAL POLICY, 1977)

केन्द्र में तीस वर्षों के कांग्रेसी प्रशासन के पश्चात जनता पार्टी की सरकार 24 मार्च, 1977 को बनी तभी से इस बात की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा कि नवीन सरकार उद्योगों के सम्बन्ध में अपनी नीति को स्पष्ट करे। इस सन्दर्भ में केन्द्रीय उद्योग मन्त्री जार्ज फर्नाण्डीज ने 8 जुलाई, 1977 को संसद में एक वक्तव्य दिया जिसमें उन्होंने कहा कि औद्योगिक नीति, 1956 में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं किया जाएगा, लेकिन औद्योगिक नीति में कुछ परिवर्तन या संशोधन किए जा सकते हैं जिनसे लघु उद्योगों, कृषि उद्योगों एवं ग्रामीण उद्योगों को अपना अधिकतम विकास करने का अवसर मिल सके। इस वक्तव्य के फलस्वरूप 23 दिसम्बर, 1977 को नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा संसद में की गई, जिसमें कहा गया कि गत बीस वर्षों में औद्योगिक विकास आशा के अनुरूप नहीं हुआ है। प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय गत दस वर्षों में 1.5 प्रतिशत के लगभग बढ़ी जो अपर्याप्त है। बेकारी बढ़ी है। ग्रामीण व शहरी अन्तर में भी वृद्धि हुई है। वास्तविक विनयोग की दर लगभग स्थायी रही है। औद्योगिक विकास गत 10 वर्षों में औसतन 3 से 4 प्रतिशत तक ही बढ़ा है। अतः नवीन औद्योगिक नीति का उद्देश्य गत कमियों को दूर करना है।

जिसमें कि लोगों की भावनाओं के अनुरूप निश्चित समय सीमा में आर्थिक विकास किया जा सके। इस नीति औद्योगिक नीति, 1977 की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :

(1) कुटीर एवं लघु उद्योगों का प्रभावी विकास—कुटीर एवं लघु उद्योगों द्वारा जो कुछ भी उत्पादित किया जा सकता है उसको उत्पादित करने की अनुमति दी जाएगी। (i) सुरक्षित वस्तुएं—इस उद्देश्य से इस क्षेत्र के लिए सुरक्षित वस्तु की संख्या को 180 से बढ़ाकर 504 कर दिया गया है। (ii) बहुत छोटे उद्योगों की ओर विशेष ध्यान—इस नीति में लघु उद्योगों की परिभाषा में तो कोई अन्तर नहीं किया गया है, लेकिन बहुत छोटी इकाइयों (Tiny units) को सहायता देने का आश्वासन दिया गया है जिनका मशीनरी व उपकरण में विनियोग एक लाख रुपए तक है और जो ऐसे क्षेत्रों में हैं जहां 1971 की जनगणना के अनुसार आबादी 50 हजार से कम है। (iii) कुटीर एवं गृह उद्योग क्षेत्र के लिए विशेष कानून—कुटीर एवं गृह उद्योग की सुरक्षा के लिए एक विशेष कानून बनाया जाएगा जिससे कि अधिक संख्या में व्यक्तियों को स्वयं रोजगार व औद्योगिक विकास में उचित स्थान मिल सके। (iv) जिला उद्योग केन्द्रों की स्थापना—लघु एवं कुटीर उद्योगों की प्रत्येक प्रकार की सहायता एवं सेवा के लिए प्रत्येक जिले में जिला उद्योग केन्द्र खोले जायेंगे। इन केन्द्रों का काम कच्चे माल एवं मशीनों की पूर्ति, साख सुविधाएं उपलब्ध कराना एवं विपणन में सहायता के लिए क्वालिटी नियन्त्रण करना होगा। (v) औद्योगिक विकास बैंक एवं अन्य वित्तीय संस्थाओं में विशेष विभाग—लघु एवं कुटीर उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए औद्योगिक विकास बैंक व अन्य वित्तीय संस्थाओं में अलग से विभाग स्थापित किए जायेंगे जिससे इस क्षेत्र की आवश्यकताओं की अनदेखी न की जा सकेगी। (vi) खादी एवं ग्राम उद्योग के कार्यों का विस्तार—22 ग्राम उद्योग इसके क्षेत्र में आते हैं। यह आयोग इसके विकास के लिए योजनाएं बनाएगा एवं उनका विकास करेगा। (vii) हथकरघा उद्योग का विकास—इस उद्योग का विकास किया जाएगा तथा उचित मात्रा में सूत देने की व्यवस्था की जाएगी।

(2) बहुत उद्योग के क्षेत्र—बहुत उद्योग के क्षेत्र में चार प्रकार के उद्योगों को रखा गया है : (i) आधारभूत उद्योग जैसे स्टील, नोन फेरस धातु, सीमेण्ट, तेलशोधक कारखाने, (ii) पूंजीगत माल उद्योग, (iii) उच्च तकनीक उद्योग, जैसे कीटनाशक दवाइयों व पेट्रोकेमीकल्स आदि, (iv) अन्य उद्योग जो लघु उद्योग क्षेत्र के लिए सुरक्षित सूची में नहीं आते हैं।

(3) बड़े घराने—बड़े घराने के उद्योगों का विस्तार तीन सिद्धान्तों पर आधारित होगा : (i) एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यवहार अधिनियम के अनुसार ही पुराने एवं नए उद्योगों के विकास करने की अनुमति दी जाएगी। इस अधिनियम के प्रावधान प्रभावी उपक्रम (dominant undertaking) से सम्बन्धित बातें प्रभावी ढंग से लागू की जायेंगी। (ii) वर्तमान इकाइयों को नवीन पंक्तियों में विकास करने की अनुमति विशेष रूप से लेनी होगी। (iii) बड़े घराने के उद्योगों को अपने विकास के लिए अपने आर्थिक साधनों पर ही निर्भर रहना होगा, लेकिन कुछ उद्योगों में ऋण व पूंजी के अनुपात (debt equity ratio) की अनुमति दे दी जाएगी।

वे उद्योग जो अब लघु एवं कुटीर उद्योगों के लिए सुरक्षित सूची में जोड़ दिए गए हैं उन्हें अपने विस्तार की अनुमति नहीं दी जाएगी चाहे वे बड़े घराने से सम्बद्ध हों अथवा नहीं।

(4) सार्वजनिक क्षेत्र—इस क्षेत्र का विकास किया जाएगा। यह क्षेत्र उपभोक्ता को आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति के लिए एक स्थिरीकरण शक्ति के रूप में काम में लाया जाएगा। सार्वजनिक क्षेत्रों के उद्योगों को इस प्रकार चलाया जाएगा कि वे समाज को उपयुक्त पारितोषण दे सकें। इस क्षेत्र के लिए प्रबन्धकों का पेशेवर कैडर (Professional Cadre of Managers) बनाया जाएगा।

(5) देशी एवं विदेशी तकनीक—तकनीक के क्षेत्र में आत्मनिर्भर होने के लिए किसी तकनीक को भारत में आने की वर्तमान नीति को इन क्षेत्रों में जारी रखा जाएगा जहां भारतीय तकनीक अभी विकसित नहीं हो पाई है। जो संस्थाएं विदेशी तकनीक को आयात करेंगी उन्हें अनुसन्धान एवं विकास को बढ़ावा देना होगा जिससे कि देशी तकनीक का विकास किया जा सके।

(6) विदेशी विनियोग—वर्तमान विदेशी कम्पनियों पर विदेशी विनियम नियन्त्रण कानून कड़ाई से लागू किया जाएगा और जब विदेशी कम्पनियों की ईक्विटी अंश पूंजी (विदेशियों के पास) 40 प्रतिशत से अधिक नहीं होगी तो इन कम्पनियों को भारतीय कम्पनियों के समान माना जाएगा। विदेशी विनियोग व तकनीक की अनुमति उन शर्तों पर दी जाएगी जिन्हें सरकार राष्ट्र हित में समझती है।

(7) संयुक्त साहस—भारत से बाहर जो संयुक्त साहस स्थापित किए जायेंगे वे मुख्य रूप से मशीनरी, उपकरण, तकनीकी ज्ञान व प्रबन्धकीय अनुभव पर आधारित होंगे। यदि इसके लिए कुछ नकद विनियोग की आवश्यकता होगी तो सरकार इसके लिए एक अधिकतम सीमा तक अनुमति देगी जिसको अभी सरकार द्वारा निर्धारित किया जाना है।

(8) आयात स्वतन्त्रता एवं निर्यात—यदि वर्तमान आयात नियन्त्रण से उद्योगों को हानि हो रही है तो ऐसे प्रतिबन्धों में छूट दी जा सकती है।

वे उद्योग जो पूर्ण निर्यात पर आधारित हैं उन्हें सरकार करों में छूट दे सकती है बशर्ते कि उसके निर्यात की एक अच्छी रकम मिलती हो तथा वह प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से अतिरिक्त रोजगार देता हो। जिन उद्योगों को लाइसेंस देते समय निर्यात करने की शर्त लगाई जाती है उन उद्योगों पर उचित नियन्त्रण व्यवस्था अपनाई जाएगी जिससे कि वे अपने दायित्व (obligation) से पीछे न रहें।

(9) पिछड़े क्षेत्रों का विकास—जिन शहरों की आबादी 1971 की जनगणना के अनुसार 10 लाख से अधिक है या वे शहर जिनकी आबादी 5 लाख से अधिक है, उन शहरों की सीमाओं में नए उद्योग स्थापित करने के लिए नवीन लाइसेंस नहीं दिए जाएंगे।

(10) विनियोग पर उचित प्रतिफल—जिन वस्तुओं पर मूल्य नियन्त्रण लागू है उन वस्तुओं में सरकार की नीति विनियोग पर उचित प्रतिफल देने की है बशर्ते कि उद्योग अपनी क्षमता का उच्च उपयोग कर रहा है तथा उसमें उचित तकनीकी मान अपनाया गया है।

(11) श्रमिक भागीदारी—उद्योगों में परिवार-नियन्त्रण का होना अराजकता है। इस सम्बन्ध में सरकार की नीति पेशेवर प्रबन्ध पर जोर देने की होगी।

(12) बीमार उद्योग—बीमार उद्योगों को उचित देखभाल के बाद ही सरकारी नियन्त्रण में लिया जाएगा। सरकार ने रिजर्व बैंक के सहयोग से यह व्यवस्था की है कि बीमार उद्योगों का पता शीघ्र ही लगाया जा सके और उनको ठीक करने की व्यवस्था की जा सके।

(13) लाइसेंसिंग तरीकों को सुलभ करना—सरकार उद्योगों को लाइसेंस देने का कार्य सरल बनाएगी।

इस नीति में अन्त में कहा गया है, कि यदि नवीन औद्योगिक नीति के उद्देश्य : (i) औद्योगिक विकास की गति तेज करना, (ii) रोजगार स्तरों में तीव्र वृद्धि करना, (iii) उत्पादकता एवं औद्योगिक श्रमिकों की आय में वृद्धि करना, (iv) लघु एवं ग्राम उद्योग का स्थान-स्थान पर विकास को प्राप्त करना है तो औद्योगिक श्रमिक, ट्रेड यूनियन, प्रबन्धक, साहसी, आर्थिक संस्थाएं, सरकारी अधिकारियों आदि की इच्छा एवं सहयोग की आवश्यकता होगी, लेकिन इन सब में श्रमिकों व प्रबन्धकों का योगदान महत्वपूर्ण होगा।

औद्योगिक नीति 1991

(INDUSTRIAL POLICY 1991)

भारत में अभी तक 1956 की औद्योगिक नीति लागू थी जिसके अन्तर्गत 1977, 1980 व 1990 में कुछ स्पष्टीकरण किये गये, परन्तु कांग्रेस सरकार ने केवल में सत्ता में आने पर 24 जुलाई, 1991 को विल्कुल नवीन औद्योगिक नीति की संसद में घोषणा की। इस नीति की प्रमुख विशेषताएं या उद्देश्य निम्न प्रकार हैं :

1. उत्पादकता में निरन्तर वृद्धि बनाए रखना, 2. लाभकारी रोजगार के अवसरों का विकास करना,
3. मानव संसाधनों का अधिकतम उपयोग करना, 4. अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धात्मकता को प्राप्त करना, तथा
5. विश्व स्तर पर भारत को एक प्रमुख भागीदार और प्रतियोगी के रूप में स्थापित करना।

इस नीति की मुख्य निम्नलिखित तीन बातें हैं—

1. भारतीय उद्योगों को विनियमों (Regulations) से मुक्त करना। 2. बाजार की शक्तियों के अनुसर उद्योग को पूरी स्वतन्त्रता देना जिससे कि उसमें लोच आ सके। 3. भारतीय उद्योग के विकास में सहायता करना तथा उसमें तीव्रता लाना। इसके लिए नीतिगत व्यवस्था उपलब्ध कराना।

उपरोक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सरकार ने कुछ नीतिगत उपाय किए हैं जो निम्न प्रकार हैं—

- (1) औद्योगिक लाइसेंस नीति का उदारीकरण—इस समय केवल 5 उद्योगों (सिगरेट, औषधि, खतरनाक रासायनिक उत्पाद, शराब, एरोस्पेश व औद्योगिक विस्फोटक) के लिए ही लाइसेंस लेना अनिवार्य है। इसी प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र के लिए केवल तीन उद्योग (परमाणु शक्ति, खनिज जो परमाणु शक्ति में कार्य आते हैं व रेल परिवहन) ही आरक्षित हैं।

(2) स्थान सम्बन्धी नीति का उदारीकरण—दस लाख से अधिक आबादी वाले शहरों को छोड़कर अन्य किसी जगह पर लाइसेंस नीति से मुक्त उद्योग लगाने के लिए भारत सरकार की अनुमति आवश्यक नहीं होगी। दस लाख से अधिक आबादी वाले नगरों में इलेक्ट्रॉनिक, कम्प्यूटर तथा छापेखाने जैसे प्रदूषणमुक्त उद्योग लगाये जा सकेंगे, बाकी सभी उद्योगों को ऐसी बस्तियों की सीमाओं से 20 किलोमीटर दूर स्थापित करना होगा, परन्तु पहले से स्थापित औद्योगिक क्षेत्र इससे मुक्त रहेंगे।

(3) लघु उद्योगों से सम्बन्धित नीति—लघु उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना औद्योगिक नीति का एक महत्वपूर्ण अंग है। 24 सितम्बर, 1999 से ऐसे औद्योगिक उपक्रम लघु एवं सहायक क्षेत्र में आते हैं जिनमें किया गया निवेश 1 करोड़ ₹ तक है। 9 अक्टूबर, 2001 से 41 आरक्षित मदों के लिए एक विभेदीय निवेश (Differential Investment) सीमा अपनायी गई है जिसके अन्तर्गत लघु उद्योग इकाई का दर्जा प्राप्त करने के लिए 5 करोड़ ₹ तक की निवेश सीमा रखी गई है। अति लघु इकाइयों के लिए निवेश सीमा 25 लाख ₹ है।

लघु क्षेत्र में विनिर्माण के लिए 748 मदें आरक्षित की गई थीं (लेकिन वर्तमान में यह संख्या केवल 20 रह गई हैं)। ऐसी सभी इकाइयों को जो लघु उद्योग उपक्रम में न हो लेकिन लघु क्षेत्र के लिए आरक्षित मदों के विनिर्माण में लगी हों, तो उन्हें औद्योगिक लाइसेन्स लेना पड़ता है और साथ ही उन्हें वार्षिक उत्पादन के 50 प्रतिशत भाग को निर्यात करना पड़ता है। परन्तु 100 प्रतिशत निर्यातोन्मुखी स्कीम, निर्यात प्रसंस्करण क्षेत्रों (Export Processing Zones) या विशेष आर्थिक क्षेत्र की स्कीमों के अन्तर्गत चल रहे उपक्रमों को लाइसेन्स लेना अनिवार्य नहीं है।

(4) विदेशी प्रत्यक्ष निवेश सम्बन्धी नीति—भारत की आर्थिक नीति है कि विदेशी प्रत्यक्ष निवेश को बढ़ावा दिया जाए। इसके अन्तर्गत विदेशी स्वामित्व की कोई सीमा नहीं रखी गई है। फेरा कम्पनियों में विदेशी पूँजी अनुपात अब 40 प्रतिशत के स्थान पर 51 प्रतिशत तक हो सकेगा। (अभी हाल ही में केन्द्रीय सरकार ने कुछ उद्योगों में शतप्रतिशत विदेशी पूँजी लगाने की अनुमति दे दी है।) अब भारत में विदेशी पूँजी-निवेश की स्वीकृति प्राप्त करने में कोई अड़चन नहीं होगी। विदेशी निवेश वाली कम्पनियों द्वारा विदेश भेजा गया मुनाफा एक विशेष अवधि में निर्यात आमदनी से चुकाया जायेगा।

विदेशी प्रत्यक्ष निवेश की व्यवस्था को और उदार बनाने के लिए हाल ही में की गई कुछ पहल इस प्रकार हैं—निजी क्षेत्र बैंकिंग में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश की सीमा बढ़ाना, विशेष आर्थिक क्षेत्रों में अधिकांश विनिर्माण कार्यकलापों के लिए स्वतः मार्ग के अन्तर्गत 100 प्रतिशत तक विदेशी प्रत्यक्ष निवेश की अनुमति प्रदान करना, 100 प्रतिशत विदेशी निवेश के लिए B-2B₁ E-Commerce. बिना गेटवे वाले इंटरनेट सेवादाताओं, इलेक्ट्रॉनिक मेल और वॉयस मिल को मिलना आदि।

(5) शतप्रतिशत निर्यातोन्मुखी योजना—इस योजना की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं :

- (A) (i) शतप्रतिशत निर्यातोन्मुखी इकाइयों को अर्थात् शुल्क के बिना मशीनरी, कच्चा माल, पुर्जे, उपभोग्य सामग्री प्राप्त करने की छूट होती है। (ii) लघु क्षेत्र के लिए आरक्षित की गई मदों के विनिर्माण हेतु अलग से औद्योगिक लाइसेन्स लेने की आवश्यकता नहीं है (iii) निर्यातों के F.O.B. माल के 50 प्रतिशत भाग की बिक्री देश के अन्दर की जा सकती है।
- (B) इलेक्ट्रॉनिक हार्डवेयर टेक्नोलॉजी पार्क (E.H.T.P.)/सफ्टवेयर टेक्नोलॉजी पार्क (S.T.P.) योजना लागू की गई है। इसके अन्तर्गत स्थापित इकाइयों को अपने निविष्टियों (Inputs) को बिना शुल्कों को प्राप्त करने का अधिकार है।

(6) सार्वजनिक क्षेत्र—सार्वजनिक क्षेत्र की जिन इकाइयों का काम-काज ठीक नहीं चल रहा है उन्हें औद्योगिक और वित्त पुनर्निर्माण बोर्ड को सौंपा जायेगा। भविष्य में सार्वजनिक क्षेत्र के विकास को इस प्रकार प्राथमिकता होगी—आवश्यक आधारभूत वस्तुएँ व सेवाएँ, खनिज व तेल संसाधनों का विकास, वे क्षेत्र जो देश के दीर्घकालीन विकास के लिए आवश्यक हैं तथा जहाँ निजी क्षेत्र का विनियोग कम है तथा उन वस्तुओं का निर्माण जो सामरिक महत्व की हैं। सरकार उन उद्योगों को मजबूत करेगी जो उच्च प्राथमिकता वाले हैं या जो अच्छा या उचित लाभ कमा रहे हैं या जो आरक्षित क्षेत्र में हैं।

(7) एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम में संशोधन—इस अधिनियम में संशोधन किया जायेगा जिससे कि नयी कम्पनियों को स्थापित करने, एक कम्पनी का दूसरी में विलय करने, दो कम्पनियों का आपसी मिलान, एक कम्पनी द्वारा दूसरी को खरीदने तथा कुछ परिस्थितियों में कम्पनी निदेशकों

की नियुक्ति करने के लिए केन्द्र सरकार की पूर्व अनुमति की आवश्यकता नहीं होगी, लेकिन नयी शक्तियों वाले एम. आर. टी. पी. आयोग को अधिकार होगा कि वह एकाधिकार वाली प्रतिबन्धित तथा गैर-वाजिब व्यापारिक गतिविधियों की अपने आप जाँच करे या उपभोक्ताओं की शिकायतों पर जाँच करे। अब एम. आर. टी. पी. कम्पनियों की सम्पत्तियों की कोई अधिकतम सीमा नहीं होगी।

(8) अन्य बातें—देश के पिछड़े भागों में भी औद्योगीकरण का विस्तार करने की दृष्टि से केन्द्र सरकार की विभिन्न योजनाएं हैं जो राज्य सरकार के सहयोग से चल रही हैं जैसे परिवहन राज सहायता योजना, पूँजी निवेश राज सहायता योजना, व्याज राज सहायता योजना, विकास केन्द्र योजना व बीमा योजना।

नई औद्योगिक नीति, 1991 अब तक अपनायी गयी नीतियों से भिन्न है। पिछली औद्योगिक नीति, 1948 व 1956 का उद्देश्य औद्योगिक विकास तीव्र गति से करना था, परन्तु सातवीं योजना में यह महसूस किया गया कि अब आवश्यकता विदेशी प्रतिस्पर्द्धा के सामने टिकने व नियन्त्रणों को ढीला करने की है जिससे कि औद्योगिक उत्पादन तीव्र गति से सभी दिशाओं में बढ़ सके व निर्यातों में बढ़ि हो सके। इसी पृष्ठभूमि में इस नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा की गयी है, परन्तु इसकी आलोचना निम्न आधारों पर की जा रही है :

(1) विदेशी पूँजी से खतरा—विदेशी पूँजी से सबसे बड़ा खतरा देशी उद्योगपतियों को है। यदि वे उनके साथ प्रतिस्पर्द्धा में अक्षम साबित हुए तो पिट जायेंगे और देश पर विदेशी कम्पनियों का आर्थिक साम्राज्य छा जायेगा।

(2) भ्रष्टाचार की गुंजाइश—सरकार ने अभी भी कुछ वस्तुओं के उत्पादन को लाइसेंस मुक्त नहीं किया है। इससे प्रतीत होता है कि अभी भी भ्रष्टाचार की गुंजाइश है।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के समक्ष आत्म-समर्पण—कुछ लोगों का कहना है कि नई औद्योगिक नीति अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक के सामने आत्म-समर्पण है जिसने भारत की आर्थिक स्वायत्तता पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया है।

(4) नेहरू-महलनोबीस मॉडल को विदाई—नवीन नीति ने नेहरू-महलनोबीस मॉडल को अलविदा कह दिया है। नवीन नीति से आर्थिक शक्तियों का केन्द्रीकरण होगा तथा उत्पादन की प्राथमिकताएँ बदल सकती हैं जो समाजवादी समाज के अनुरूप नहीं हो सकती हैं। इससे आर्थिक विषमताएँ बढ़ सकती हैं।

(5) लघु उद्योगों को खतरा—बहुराष्ट्रीय निगमों के देश में आने से छोटे-छोटे उद्योगों को खतरा पैदा हो गया है। यह उद्योग उनके सामने अपनी वस्तु की क्वालिटी के सम्बन्ध में पीछे रह जाएंगे।

(6) बेरोजगारी बढ़ने की सम्भावना—जब देशी उद्योग बड़े-बड़े बहुराष्ट्रीय निगमों के आगे टिक नहीं पायेंगे तो वे अन्त में फेल होकर बन्द हो जायेंगे जिससे बेरोजगारी बढ़ने की सम्भावना है।

भारत की औद्योगिक नीति का मूल्यांकन

(EVALUATION OF INDUSTRIAL POLICY OF INDIA)

सरकार की औद्योगिक नीति कहाँ तक सफल रही है इस सम्बन्ध में विद्वानों में एक राय नहीं है। कुछ का कहना है कि भारत की औद्योगिक नीति सफल रही है जिसके सन्दर्भ में वे निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं :

(1) औद्योगिक विकास—औद्योगिक नीति के अन्तर्गत देश में औद्योगिक विकास हुआ है। नये बड़े व विविध प्रकार के उद्योग स्थापित हुए हैं जिसके फलस्वरूप उत्पादन बढ़ा है और भारत अब औद्योगिक वस्तुओं के आयात के स्थान पर निर्यात करने लगा है।

(2) लघु एवं कुटीर उद्योगों का विकास—भारत की औद्योगिक नीति के फलस्वरूप लघु एवं कुटीर उद्योगों का काफी विकास हुआ है और वर्तमान में भारतीय अर्थव्यवस्था में उन्होंने अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

(3) सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार—1950 के बाद सार्वजनिक क्षेत्र का काफी विस्तार हुआ है। 1960-61 में भारत के केन्द्रीय सरकार के 48 उपक्रम थे जिनमें 953 करोड़ ₹ लगा हुआ था, जबकि 2011-12 में 277 उपक्रम थे जिनमें 8,50,599 करोड़ ₹ की राशि पूर्णदत्त (Paid up Capital) थी।

(4) क्षेत्रीय असमानताओं में कमी—औद्योगिक नीति के फलस्वरूप क्षेत्रीय असन्तुलन कम करने में मदद मिली है। सार्वजनिक व निजी क्षेत्र के उद्योग उन स्थानों पर स्थापित किये गये हैं जो औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे। उदाहरण के लिए, इस्पात के कारखाने राउरकेला, दुर्गापुर व भिलाई में इसी उद्देश्य को लेकर स्थापित किये गये हैं। मशीन टूल्स की पाँच इकाइयाँ पाँच राज्यों में स्थापित की गयी हैं। रासायनिक खाद के लिए भी यही नीति अपनायी गयी है।

(5) विदेशी उपक्रमों की स्थापना—भारत में अनेक उपक्रम विदेशियों की सहायता से स्थापित किये गये हैं। 1951 में यहाँ केवल 81 विदेशी उपक्रम थे, लेकिन आज उनकी संख्या 6 हजार के लगभग है। इससे देश के औद्योगिक विकास में सहायता मिली है।

लेकिन कुछ विद्वानों का कहना है कि औद्योगिक नीति सफल नहीं है और वे इस सम्बन्ध में निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं :

(1) सार्वजनिक क्षेत्र की असफलता—भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के अकेले केन्द्रीय सरकार के उपक्रमों में खरबों रुपये की पूँजी विनियोजित है, लेकिन वे सामान्य औसत लाभ तक देने में असमर्थ रहे हैं। उनमें प्रशासनिक अकुशलता, भ्रष्टाचार व वेईमानी का बोलबाला है और सरकारी सम्पत्ति व धन का दुरुपयोग हो रहा है।

(2) बड़े घरानों को लाभ—इस नीति से बड़े घरानों को लाभ हो रहा है। उनका आर्थिक केन्द्रीकरण बढ़ रहा है। उनकी सम्पत्तियाँ बराबर बढ़ रही हैं। उनके उद्योगों का विकास हो रहा है, जबकि एकाधिकारी व केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के बढ़ने से जनता का शोषण बढ़ रहा है।

(3) विदेशी पूँजी से हानि—औद्योगिक नीति में विदेशी पूँजी को आमन्त्रित करने की बात कही गयी है जिससे अनेक उपक्रम विदेशी सहयोग से स्थापित हो गये हैं, लेकिन यह उपक्रम देश के हित में कार्य नहीं कर रहे हैं। साथ ही करोड़ों रुपये प्रति वर्ष विदेशों को लाभ के रूप में भेजने की अनुमति देनी पड़ती है जिसका प्रभाव विदेशी मुद्रा कोष पर पड़ता है।

(4) क्षेत्रीय असमानता में कोई खास परिवर्तन न होना—औद्योगिक नीति के फलस्वरूप कुछ उद्योग ऐसे स्थानों पर भी स्थापित किये गये हैं जहाँ पहले से कोई उद्योग नहीं थे, लेकिन इससे क्षेत्रीय असमानताओं में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं आया है।

औद्योगिक नीति की उपर्युक्त असफलताएँ केवल आलोचना की दृष्टि से ही की गयी हैं। वास्तविकता यह है कि इस नीति से देश को लाभ हुआ है। जहाँ तक सार्वजनिक क्षेत्र की असफलता का प्रश्न है, यह तो सरकार की असफलता है। यदि उनको उचित प्रकार से व्यावसायिक नीतियों के अनुसार चलाया जाय तो वे भी लाभदायक फल दे सकते हैं वैसे उनसे सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार तो हुआ है और अब निजी क्षेत्र अनेक उद्योगों में एकाधिकारी न होकर प्रतियोगी व पूरक है।

बड़े घरानों के उद्योगों का विस्तार भी उचित ही है। इससे माँग पूरी करने में सहायता मिली है। औद्योगीकरण का विस्तार हुआ है। विदेशी पूँजी ने भी औद्योगीकरण में सहयोग किया है। अतः लाभों का ले जाना भी उचित है।

इस प्रकार औद्योगिक नीति यदि पूर्ण रूप से सफल न रही तो इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि यह आंशिक रूप से तो अवश्य ही सफल रही है।

राष्ट्रीय विनिर्माण नीति, 2011

(NATIONAL MANUFACTURING POLICY, 2011)

विनिर्माण क्षेत्र में वृद्धि सुनिश्चित करने के लिए उपायों की देख-रेख हेतु प्रधानमन्त्री समूह को गठित किया गया था, जिसने वर्ष 2008 में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में यह सुझाव दिया था कि इस क्षेत्र में 12 से 14 प्रतिशत की वृद्धि प्राप्त करने के लिए सुसंरचनाबद्ध विनिर्माण क्षेत्र नीति अपनाई जाए। इस आधार पर 4 नवम्बर, 2011 को केन्द्रीय सरकार ने राष्ट्रीय विनिर्माण नीति जारी की। इस नीति के मुख्य उद्देश्य एवं लक्ष्य निम्न प्रकार हैं :

(1) विनिर्माण क्षेत्र में मध्यम अवधि में 12 से 14 प्रतिशत तक की वृद्धि।

(2) वर्ष 2022 तक विनिर्माण क्षेत्र को सकल घरेलू उत्पाद का कम-से-कम 25% का योगदान देने के लिए सक्षम करना।

(3) वर्ष 2022 तक विनिर्माण क्षेत्र द्वारा 100 मिलियन अतिरिक्त नौकरियाँ सृजित करना।

(4) विनिर्माण में आसानी से समायोजन के लिए ग्रामीण प्रवासी और शहरी गरीबों के मध्य उपयुक्त कौशल सैटों का सृजन करना।

(5) विनिर्माण में घरेलू मूल्यवर्धन तथा तकनीकी सम्बन्धी गहनता बढ़ाना।

(6) भारतीय विनिर्माण में वैश्विक प्रतियोगी शक्ति बढ़ाने के उद्देश्यों के साथ मात्रात्मक एवं गुणात्मक परिवर्तन लाना।

राष्ट्रीय विनिर्माण नीति को हित धारकों तथा उद्योग, राज्य सरकारों और विनिर्माण तकनीकी विकास और व्यवसाय पर्यावरण के क्षेत्रों के विशेषज्ञों के साथ व्यापक विचार-विमर्श के पश्चात् अन्तिम रूप दिया गया है। इस नीति में :

(1) व्यवसाय सम्बन्धी विनियमों के आशय को कम किए बिना उनके सरलीकरण की परिकल्पना की गई है।

(2) देश की अर्थव्यवस्था में लघु और मध्यम उद्योगों को मान्यता प्रदान की गई है।

(3) विनिर्माण उद्योगों के क्षेत्र में जिन हस्तक्षेपों का समावेश किया गया है वे मुख्य रूप से तकनीकी उन्नति, पर्यावरण अनुकूल तकनीक को अपनाने तथा समता पूँजी निर्देशों से सम्बन्धित हैं।

(4) निजी क्षेत्र के लिए राजकीय प्रोत्साहनों तथा सरकारी योजनाओं के द्वारा युवा लोगों को रोजगार योग्य बनाने के लिए कौशल विकास को नीति में प्राथमिकता दी गई है।

(5) उस भूमि के लिए, जो बेकार है और कृषि योग्य नहीं है, राष्ट्रीय निवेश और विनिर्माण क्षेत्र भी उपलब्ध कराए गए हैं। “राष्ट्रीय निवेश और विनिर्माण क्षेत्र” विश्वस्तरीय भौतिक और सामाजिक अवसंरचना सहित एक समेकित (Consolidated) औद्योगिक टाउनशिप के रूप में परिकल्पित किए गए हैं।

राष्ट्रीय विनिर्माण नीति के प्रभावी कार्यान्वयन को सुनिश्चित करने के लिए विनिर्माण नीति समीक्षा कार्यप्रणाली संस्थापित की जाएगी राष्ट्रीय विनिर्माण नीति केन्द्रीय मन्त्रालयों तथा राज्य सरकारों के मध्य समन्वय सुनिश्चित करने के लिए उच्च स्तरीय ‘विनिर्माण उद्योग संवर्धन बोर्ड’ गठित करने की व्यवस्था भी करती है।

राष्ट्रीय विनिर्माण नीति देश के विनिर्माण क्षेत्र के लिए प्रथम समर्पित नीतिगत उपाय है। आशा है कि यह नीति बढ़ते हुए पूँजी निर्माण, विश्व स्तर की औद्योगिक अवसंरचना, तकनीक उन्नति, नवीन तथा व्यावसायिक कौशल विकास अवसंरचना सृजन तथा उद्योग, कर्मचारी और पर्यावरण के अनुकूल विनियमों के द्वारा भारतीय अर्थव्यवस्था के विनिर्माण परिदृश्य को ही परिवर्तित कर देगी।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. औद्योगिक नीति से आप क्या समझते हैं? वर्ष 1991 की औद्योगिक नीति की प्रमुख विशेषताओं की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए। (बिलासपुर बी. ए. प्रथम वर्ष प्राइवेट, 2010)
2. टिप्पणी लिखिए : (i) नयी औद्योगिक नीति 1991 (रायपुर बी. ए. प्रथम वर्ष, 2010)
3. भारत की 1991 की औद्योगिक नीति का मूल्यांकन कीजिए। (रायपुर बी. ए. प्रथम वर्ष, 2009, 2011)
4. भारत की वर्तमान औद्योगिक नीति 1991 की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
5. भारत की औद्योगिक नीति का मूल्यांकन कीजिए।
6. भारत की 1991 की औद्योगिक नीति की चर्चा कीजिये। अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में यह कहां तक सफल रही है? (बिलासपुर, 2011)

औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति : एम.आर.टी.पी. अधिनियम, फेरा एवं फेमा

[INDUSTRIAL LICENSING POLICY : MRTP ACT,
FERA & FEMA]

औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति (INDUSTRIAL LICENSING POLICY)

औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति एक प्रकार की वह नीति है जिसमें उद्योगों की स्थापना की अनुमति आज्ञापत्र के आधार पर दी जाती है। सामान्यतया इसमें उद्योगों की धमता, स्थापना का स्थान, वस्तु का नाम व किस्म, आदि का विवरण दिया रहता है।

“लाइसेंसिंग नीति के अपनाने का एक उद्देश्य आर्थिक योजनाओं की प्राथमिकताओं के अनुसार निजी औद्योगिक इकाइयों की स्थापना, विस्तार व प्रभुत्व पर सरकारी नियन्त्रण रखना है।” भारत में औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति को अपनाने का एक और उद्देश्य है और वह है क्षेत्रीय असमानताएँ कम करना व आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण व एकाधिकारी प्रवृत्ति को रोकना। संक्षेप में, लाइसेंसिंग नीति अपनाने के मुख्यतया पाँच उद्देश्य हैं : (1) उपलब्ध साधनों का उचित विदोहन करना; (2) औद्योगिक विकास आर्थिक नियोजन की प्राथमिकताओं के अनुरूप करना; (3) औद्योगिक इकाइयों की स्थापना, विस्तार व प्रभुत्व पर सरकारी नियन्त्रण रखना; (4) आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण व एकाधिकारी प्रवृत्ति को रोकना तथा (5) क्षेत्रीय औद्योगिक असमानताओं को कम करना।

भारत में इस कार्य के लिए मुख्यतया तीन अधिनियम हैं—(I) औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम (Industries Development and Regulation Act), 1951 व (II) एकाधिकारी एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम (Monopolies and Restrictive Trade Practices Act), 1969, एवं (III) विदेशी विनियम नियमन अधिनियम (FERA) व विदेशी विनियम प्रबन्ध अधिनियम (FEMA)।

(I) औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951

औद्योगिक नीति, 1948 को व्यावहारिक रूप देने के लिए 1951 में औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम पारित किया गया तथा जिसे 8 मई, 1952 से लागू किया गया। इस अधिनियम के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं : (1) औद्योगिक विकास का नियमन करना एवं योजना-प्राथमिकताओं तथा तथ्यों के अनुसार साधनों के प्रभाव को मोड़ देना; (2) एकाधिकार को दूर रखना एवं धन के केन्द्रीकरण को रोकना; (3) वृहत्-स्तरीय उद्योगों की अनुचित प्रतिष्पद्धा से लघु-स्तरीय उद्योग को संरक्षण देना; (4) नये उद्यमियों को उद्योग स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित करना तथा (5) आर्थिक इकाइयों की स्थापना करना एवं आधुनिक विधियों के प्रयोग में तकनीकी एवं आर्थिक सुधार का प्रयत्न करना।

औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 की मुख्य बातों को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं : (1) प्रतिबन्धात्मक, (2) सुधारात्मक व (3) रचनात्मक।

(1) **प्रतिबन्धात्मक**—वर्तमान में केवल 6 उद्योगों के लिए ही यह प्रतिबन्ध लागू है। इन उद्योगों को बिना केन्द्रीय सरकार से लाइसेंस प्राप्त किये स्थापित नहीं किया जा सकता है और न वर्तमान इकाइयों द्वारा अपना विस्तार किया जा सकता है।

(2) **सुधारात्मक**—इस अधिनियम की तीन बातें सुधारात्मक मानी जा सकती हैं : (i) केन्द्रीय सरकार को किसी भी उद्योग की जाँच करने का अधिकार है, जबकि उत्पादन कम हो रहा है, वस्तु की क्वालिटी गिर रही है, वस्तुओं के मूल्य बढ़ रहे हैं या राष्ट्रीय साधन की रक्षा की आवश्यकता है। (ii) यदि किसी औद्योगिक इकाई का प्रबन्ध सन्तोषजनक नहीं है या वह इकाई सरकारी आदेशों व निर्देशों का पालन करती है तो सरकार ऐसी इकाई का नियन्त्रण एवं प्रबन्ध 17 वर्षों तक के लिए अपने हाथ में ले सकती है। पहले प्रबन्ध 5 वर्ष के लिए लिया जायेगा जिसमें प्रति दो वर्ष के लिए वृद्धि की जायगी। इसके लिए संसद की स्वीकृति लेना आवश्यक होगा। (iii) केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह वस्तुओं के उचित वितरण एवं मूल्यों को उचित स्तर पर बनाये रखने के लिए उनकी बिक्री को नियमित एवं निर्गमित कर सकती है।

(3) **रचनात्मक**—इस अधिनियम में उद्योगों के विकास के लिए यह व्यवस्था की गयी है कि (i) केन्द्रीय परामर्श समिति (Central Advisory Council) का गठन किया जायेगा। (ii) विकास परिषदें स्थापित की जायेंगी। (iii) औद्योगिक पैनल्स बनाये जायेंगे। (iv) औद्योगिक आँकड़े एकत्रित किये जायेंगे।

इस अधिनियम के अन्तर्गत प्राप्त अधिकारों का उपयोग करते हुए केन्द्रीय सरकार ने इस समय कई इकाइयों का नियन्त्रण एवं प्रबन्ध अपने हाथ में ले रखा है।

इस अधिनियम के अन्तर्गत (i) केन्द्रीय सलाहकार परिषद् बनायी गयी है जिसका कार्य तथ्यों एवं आँकड़ों का संकलन करना है। इसमें उद्योग, श्रमिक व उपभोक्ता सभी का प्रतिनिधित्व है। (ii) इस परिषद् ने एक पुनरावलोकन उप-समिति बना रखी है जिसका कार्य लाइसेंसों के बारे में आवश्यक तथ्यों का पर्यवेक्षण करना है। (iii) केन्द्रीय सलाहकार परिषद् ने ही एक स्थायी समिति बना रखी है जिसके 16 सदस्य हैं। इसका कार्य किसी उद्योग की स्थिति का पुनरावलोकन करना है। (iv) अब तक 24 उद्योगों के लिए विकास परिषदें बनायी गयी हैं। (v) औद्योगिक पैनल भी बनाये गये हैं जिनका काम उद्योग की विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करना है। यह औद्योगिक पैनल उन्हीं के बारे में बनाये जाते हैं जिनके लिए विकास परिषदें नहीं हैं।

औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 के अन्तर्गत जो लाइसेंसिंग देने की प्रणाली अपनायी गयी उसकी देश में कटु आलोचना की गयी और यह बताया गया कि लाइसेंसिंग प्रणालियाँ दोषपूर्ण हैं जिसके कारण पक्षपात व भ्रात्याचार को प्रोत्साहन मिलता है। एकाधिकार जाँच आयोग, 1965 ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि “इस नीति ने बड़े उद्योगों को लाभ पहुँचाया है।” अतः 1966 में डॉ. आर. के. हजारी की अध्यक्षता में लाइसेंसिंग प्रणाली की जाँच के लिए एक समिति बनायी गयी जिसने अपनी रिपोर्ट 1967 में दी जिसमें कहा गया कि बिड़ला समूह को उदारतापूर्वक लाइसेंस दिये गये। इस रिपोर्ट से प्रभावित होकर 1967 में ही केन्द्रीय सरकार ने औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति जाँच समिति नियुक्त की जिसके अध्यक्ष एस. दत्त थे। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट 1969 में सरकार को दी जिसमें कहा गया कि इस नीति से लाभ विशाल औद्योगिक प्रतिष्ठानों को ही हुआ है तथा इसमें कुछ क्षेत्रों में एकाधिकार को प्रोत्साहन मिला है।

अतः हजारी समिति एवं दत्त समिति के प्रतिवेदनों के आधार पर 18 फरवरी, 1970 को नवीन लाइसेंसिंग नीति की घोषणा की गयी। इस नीति के प्रमुख उद्देश्य (Main Objectives) इस प्रकार थे : (1) नवीन उद्यमियों एवं साहसियों को औद्योगिक क्षेत्र में प्रवेश के लिए प्रोत्साहित करना; (2) बड़े व्यावसायिक गृहों के हाथों में आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर रोक लगाना; (3) सार्वजनिक क्षेत्र का विकास करना एवं उसका महत्व बढ़ाना; (4) लाइसेंसिंग नीति की जटिल प्रक्रिया को सरल बनाना; (5) लघु उद्योग क्षेत्र के विकास के लिए समस्त सुविधाओं की पूर्ति करना।

इसके बाद समय-समय पर औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति बदलती रही है। उद्योगों की संख्या जिनके लिए लाइसेंस लेना आवश्यक था, घटती गयी है। वर्तमान में केवल 5 उद्योगों के लिए ही लाइसेंस लेना आवश्यक है; वे हैं—सिगरेट, खतरनाक रासायनिक उत्पाद, शराब, ऐरोस्पेश, औद्योगिक विस्फोटक।

अब विदेशी कम्पनियाँ भी उद्योग स्थापित कर सकती हैं, लेकिन पूँजी में उनका हिस्सा 51 प्रतिशत से अधिक नहीं होगा।

(II) एकाधिकारी एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम, 1969

एकाधिकारी जाँच आयोग ने अपनी सिफारिशें अक्टूबर 1965 में सरकार को प्रस्तुत कर दीं। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट के साथ प्रस्तावित कानून के लिए एक प्रारूप भी प्रेषित किया था। अतः सरकार ने इस प्रारूप में संशोधन करके एक विधेयक 'एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापारिक व्यवहार विधेयक' के नाम से अगस्त 1966 में संसद के समक्ष प्रस्तुत किया जो 17 दिसम्बर, 1969 को पास हो गया और जिस पर राष्ट्रपति ने 27 दिसम्बर, 1969 को अपनी स्वीकृति दे दी और इस प्रकार एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम, 1969 बनकर तैयार हो गया। इस अधिनियम को 1 जून, 1970 से पूरे देश में लागू कर दिया गया है। इस अधिनियम की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :

(1) एकाधिकारी एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापारिक व्यवहार आयोग की स्थापना—इस अधिनियम में एक आयोग की स्थापना की व्यवस्था की गयी है जिसके सदस्य कम-से-कम 2 व अधिक-से-अधिक 8 हो सकते हैं, लेकिन अध्यक्ष इनसे अतिरिक्त होगा। आयोग के सदस्यों का कार्यकाल 5 वर्ष का होगा, लेकिन उनका कार्यकाल 6 वर्ष और बढ़ाया जा सकता है, लेकिन कोई भी सदस्य 65 वर्ष की उम्र तक ही आयोग का सदस्य बन सकता है। इस आयोग की स्थापना की जांच करना तथा नियन्त्रण करना, व (2) आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण के मामलों में सरकार द्वारा सलाह माँगने पर अपनी सलाह देना।

(2) एकाधिकारी व्यापारिक प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण—यदि कोई एकाधिकारी व्यापारिक प्रवृत्ति (i) प्रतिस्पर्द्धा को कम करती है, या (ii) बाजार में वस्तुओं का अभाव पैदा करती है या (iii) वस्तुओं के गुण में गिरावट लाती है या (iv) वस्तुओं के मूल्यों में अभिवृद्धि लाती है तो एकाधिकार आयोग (MRTPC) की सिफारिश पर सरकार इन प्रवृत्तियों पर रोक लगा सकती है।

(3) प्रतिबन्धात्मक व्यापारिक व्यवहारों सम्बन्धी समझौतों का पंजीकरण—उन समझौतों जो व्यापार की प्रतियोगिता को कम करते हैं, का पंजीकरण करना अनिवार्य है। यह समझौते, निश्चित मूल्य पर बेचने के लिए बाध्य करने, एक क्षेत्र में केवल एक विक्रेता नियुक्त करने, भिन्न-भिन्न क्रेताओं को भिन्न-भिन्न रूपों में बड़ा देने, विक्रेता को प्रतियोगी वस्तु को दुकानों पर रखने के लिए बाध्य करने आदि से सम्बन्धित होते हैं।

(4) आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण को रोकना—यदि कोई उद्योग जिसकी सम्पत्ति 100 करोड़ ₹ या इससे अधिक है या वह संस्था अपने व्यवसाय में 1/3 भाग से अधिक को नियन्त्रित करती है, अपना विस्तार करना चाहती है और विस्तार से उद्योग की सम्पत्ति या उत्पादन क्षमता में 25 प्रतिशत की अभिवृद्धि होती है तो वह अपना विस्तार तब तक नहीं कर सकती है जब तक कि केन्द्रीय सरकार इसके लिए अनुमति न दे दे। ऐसी अनुमति तभी दी जायेगी जबकि विस्तार कार्य के परिणामस्वरूप आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण का भय नहीं होगा। उदारीकरण के फलस्वरूप अब यह प्रावधान समाप्त कर दिया गया है।

(5) पुनः विक्रय-मूल्य अनुरक्षण पर रोक—कोई भी व्यक्ति या संस्था ऐसा समझौता अपने थोक या फुटकर विक्रेताओं के साथ नहीं कर सकती है जिसमें न्यूनतम मूल्य पर पुनः विक्री करने को कहा गया है। ऐसा समझौता व्यर्थ होगा।

सरकार एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापारिक अधिनियम 1969 को समाप्त कर इस अधिनियम के स्थान पर प्रतिस्पर्द्धा अधिनियम बना लिया है जिससे कि प्रतियोगिता न्यायोचित ढंग से हो सके।

प्रतिस्पर्द्धा कानून—20 दिसम्बर, 2002 को राज्य सभा ने प्रतिस्पर्द्धा विधेयक को मंजूरी दे दी है। संसद ने इसे पहले ही पारित कर रखा है। इस प्रकार अब प्रतिस्पर्द्धा अधिनियम बनकर लागू हो गया है। इस अधिनियम की प्रमुख बातें निम्न प्रकार हैं :

(1) इस कानून का उद्देश्य प्रतिस्पर्द्धा विरोधी व्यवहारों पर प्रतिबन्ध लगाना है, जिससे कि भारतीय उद्योग जगत में प्रतिस्पर्द्धा को प्रोत्साहन मिल सके।

(2) प्रतिस्पर्द्धा अधिनियम के लागू होने की तारीख से एक वर्ष बाद एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापारिक व्यवहार आयोग समाप्त हो जायेगा।

(3) इस कानून के अन्तर्गत प्रतिस्पर्द्धा आयोग स्थापित कर दिया गया है जिसमें अर्थशास्त्री, लेखाकार, न्यायाधीश शामिल हैं।

(4) इस प्रतिस्पर्धा आयोग का दर्जा अर्द्ध न्यायिक निकाय जैसा है।

(5) यह कानून केवल उन कम्पनियों पर लागू होगा जिनकी सम्पत्तियां 1,000 करोड़ ₹ से अधिक हैं या उनकी बिक्री 3,000 करोड़ ₹ से अधिक है तथा जो विलय करने जा रही हैं या अंशों को प्राप्त करने जा रही हैं जिससे कि प्रतिस्पर्धा में कमी आवे या प्रतिस्पर्धा बिल्कुल समाप्त हो जाय।

(III) विदेशी विनियम नियमन अधिनियम एवं विदेशी विनियम प्रबन्ध अधिनियम

विदेशी विनियम नियमन अधिनियम (FERA), 1973 विदेशी विनियम सौदों के नियन्त्रण के लिए बनाया गया था लेकिन 1991 में आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया अपनाने से यह महसूस किया गया कि इस अधिनियम में आवश्यक संशोधन किए जाएं। अतः पहले 1993 में इसमें संशोधन किए गए, लेकिन बाद में यह विचार आया कि इस अधिनियम को रद्द कर नया कानून बनाया जाए। अतः 4 अगस्त 1998 को एक विधेयक संसद में प्रस्तुत किया गया जो बाद में स्थायी समिति को सुपुर्द कर दिया गया। इस समिति के सुझावों के आधार पर 23 दिसम्बर 1998 को लोकसभा में एक विधेयक प्रस्तुत किया गया। लेकिन लोकसभा (बारहवीं) समाप्त हो जाने के कारण यह विधेयक भी समाप्त हो गया।

जब नवीन लोकसभा (तेरहवीं) बनी तो केन्द्रीय सरकार ने विदेशी विनियम प्रबन्ध विधेयक (Foreign Exchange Management Bill) प्रस्तुत कर लोकसभा में पारित कराया और इस प्रकार FERA के स्थान पर फेमा विदेशी विनियम प्रबन्ध अधिनियम (FEMA), 1999 बन गया। इस अधिनियम की प्रस्तावना में कहा गया है कि “यह अधिनियम विदेशी विनियम से सम्बन्धित कानून को संघटित और संशोधित करे ताकि विदेशी व्यापार का सरलीकरण हो और भारत का विदेशी विनियम बाजार ठीक से चले तथा उसका व्यवस्थित विकास हो।”

FEMA सारे देश में लागू होता है। यह भारत के किसी नागरिक के स्वामित्व में या उसके द्वारा नियन्त्रित सभी शाखाओं, कार्यालयों या ऐजेन्सियों पर लागू होता है। जिस व्यक्ति पर यह अधिनियम लागू होता है यदि उसके द्वारा भारत से बाहर इस अधिनियम के प्रावधानों का उल्लंघन होता है तो भी यह अधिनियम उस पर लागू होगा।

विदेशी विनियम प्रबन्ध अधिनियम (FEMA), 1999 की प्रमुख बातें :

विदेशी विनियम प्रबन्ध अधिनियम, 1999 का अध्ययन निम्न मर्दों में रखकर कर सकते हैं :

(A) विदेशी विनियम का नियमन एवं प्रबन्ध, (B) अधिकृत व्यक्ति, (Authorised Person), (C) नियमों का उल्लंघन एवं दण्ड, (D) निर्णय एवं अपील, (E) विविध।

(A) विदेशी विनियम का नियमन एवं प्रबन्ध—(1) विदेशी विनियम आदि में व्यवहार करना—धारा 3 के अनुसार, कोई भी व्यक्ति बिना रिजर्व बैंक की आज्ञा के या इस अधिनियम के नियमों के विशिष्ट प्रावधानों के अभाव में निम्न कार्य नहीं कर सकता है :

(i) कोई भी व्यक्ति विदेशी विनियम या विदेशी प्रतिभूति में किसी से न तो व्यवहार कर सकता है और न उसे हस्तान्तरित कर सकता है जब तक कि वह अधिकृत व्यक्ति न हो।

(ii) कोई व्यक्ति किसी भी ढंग से भारत के बाहर के किसी निवासी को न तो धन की अदायगी कर सकता है और न उसके खाते में कोई व्यय डाल सकता है।

(iii) अधिकृत व्यक्ति के माध्यम के अतिरिक्त भारत से बाहर के निवासी के लिए किसी के द्वारा किसी प्रकार से धन प्राप्त नहीं कर सकता है। यदि कोई व्यक्ति ऐसा धन प्राप्त करता है और उतना ही धन विदेश से भारत में आ जाता है तो यह अदायगी मान्य हो सकती है।

(iv) भारत से बाहर कोई सम्पत्ति प्राप्त करने, निर्मित करने या हस्तान्तरित करने के उद्देश्य से भारत में कोई व्यक्ति किसी वित्तीय सौदे में शामिल नहीं हो सकता है।

(2) विदेशी विनियम आदि को अधिकार में रखना (Holding of Foreign Exchange)—धारा 4 के अनुसार, कोई भी व्यक्ति जो भारत का निवासी है, भारत से बाहर स्थित विदेशी विनियम, विदेशी प्रतिभूति, या अचल सम्पत्ति को न प्राप्त करेगा, न धारक होगा, न कबजे में रखेगा या हस्तान्तरित करेगा।

(3) चालू खाता व्यवहार (Current Account Transactions)—धारा 5 के अनुसार, कोई व्यक्ति विदेशी विनियम अधिकृत व्यक्ति (Authorised Person) को बेच सकता है या उससे प्राप्त कर सकता है,

यदि ऐसा विक्रय या प्राप्ति चालू खाता व्यवहार है। लेकिन फिर भी जनहित में रिजर्व बैंक की राय से केन्द्रीय सरकार चालू खाता व्यवहार में तर्कसंगत प्रतिबन्ध लगा सकती है।

(4) **पूँजी खाता व्यवहार (Current Account Transactions)**—धारा 6 के अनुसार, पूँजी खाता व्यवहार के लिए कोई भी व्यक्ति विदेशी विनिमय अधिकृत व्यक्ति को बेच सकता है या उससे प्राप्त कर सकता है लेकिन फिर भी रिजर्व बैंक केन्द्रीय सरकार की राय से पूँजी खाता व्यवहार के किसी वर्ग या किन्हीं वर्गों को अनुमेय (Permissible) घोषित कर सकता है तथा इसकी सीमा का भी निर्धारण कर सकता है। रिजर्व बैंक सम्बन्धित कार्यवाहियों के सम्बन्ध में इन्हें रोकने, प्रतिबन्धित करने तथा नियमित करने के विषय बना सकता है।

(5) **माल एवं सेवाओं का निर्यात (Export of goods and services)**—धारा 7 के अनुसार माल के प्रत्येक निर्यातक को निम्नलिखित कार्यों को पूरा करना होगा :

(i) वह रिजर्व बैंक या किसी निर्देशित अधिकारी को निर्धारित फार्म पर निर्दिष्ट ढंग से एक घोषणा करेगा जिसमें माल का सच्चा व सही विवरण व मूल्य होगा। यदि मूल्य का सही अनुमान नहीं है तो भारत से बाहर मिलने वाले मूल्य का अनुमान।

(ii) वह रिजर्व बैंक को वे सभी सूचनाएं देगा जिन्हें रिजर्व बैंक चाहेगा।

(6) **विदेशी विनिमय की वसूली व उसे स्वदेश लाना (Realisation and Repatriation of Foreign Exchange)**—धारा 8 के अनुसार, यदि इस अधिनियम में कोई अन्य प्रावधान नहीं है तो रिजर्व बैंक द्वारा निर्धारित समय में व रीति से भारत का निवासी वे सभी उचित कदम उठाएगा जिससे कि विदेशी विनिमय की वसूली हो और उसे भारत में लाया जा सके।

(7) कुछ मामलों में धन की वसूली और भारत भेजने से छूट (Exemption from Realisation and Repatriation in Certain Cases)—इस अधिनियम की धारा 4 व 8 निम्न मामलों में लागू नहीं होगी :

(i) रिजर्व बैंक द्वारा निर्धारित सीमा के भीतर किसी व्यक्ति द्वारा विदेशी करेन्सी व मुद्रा का रखना, (ii) रिजर्व बैंक द्वारा निर्धारित सीमा के भीतर किसी व्यक्ति या व्यक्तियों द्वारा विदेशी करेन्सी खाता रखना एवं उसका परिचालन करना, (iii) रिजर्व बैंक की सामान्य या विशेष आज्ञा के अधीन किसी व्यक्ति द्वारा 8 जुलाई, 1947 से पहले विदेशी विनिमय की प्राप्ति या उससे किसी आय का होना, (iv) रिजर्व बैंक द्वारा निर्धारित सीमा के भीतर भारत के किसी निवासी द्वारा विदेशी विनिमय का रखना यदि उसे ऐसा विदेशी विनिमय विरासत में या भेंट में मिला हो, (v) नौकरी, व्यवसाय, व्यापार, पेशा, मानदेय, भेंट, वसीयत व विधिसम्मत साधनों द्वारा प्राप्त विदेशी विनिमय जो रिजर्व बैंक द्वारा निर्धारित सीमा के भीतर हो। (vi) किसी अन्य विदेशी विनिमय की प्राप्ति जो रिजर्व बैंक द्वारा विशेष रूप से स्पष्ट की गई हो।

(B) **अधिकृत व्यक्ति (Authorised Person)**—धारा 2 के अनुसार, अधिकृत व्यक्ति से आशय है अधिकृत व्यवसायी, मुद्रा परिवर्तनकर्ता, समुद्री किनारे की बैंकिंग इकाई या अन्य कोई ऐसा व्यक्ति जो उस समय के लिए विदेशी मुद्रा या विदेशी प्रतिभूतियों में व्यवहार करने के लिए अधिकृत किया गया हो।

ऐसे अधिकृत व्यक्ति के कर्तव्य हैं (i) रिजर्व बैंक निर्देशों का पालन करना (ii) अधिकृतीकरण की शर्तों के विरुद्ध कार्य न करना।

यदि अधिकृत व्यक्ति रिजर्व बैंक के निर्देशों का पालन नहीं करता है तो उसे स्पष्टीकरण का अवसर देने के बाद, 10,000 हजार ₹ तक का अर्थ दण्ड लगाया जा सकता है। यदि उसकी ओर से अवहेलना जारी रही तो अतिरिक्त दण्ड 2,000 ₹ प्रतिदिन के हिसाब से लगाया जा सकता है।

रिजर्व बैंक को अधिकृत व्यक्ति के व्यवसाय की जांच करने का अधिकार है।

(C) **नियमों का उल्लंघन एवं दण्ड**—धारा 13 के अनुसार, यदि कोई व्यक्ति इस अधिनियम, किसी नियम, आदेश या निर्देश का उल्लंघन करता है तो उसे, ऐसे उल्लंघन से जितना धन प्राप्त होता है, उससे तीन गुना धन दण्ड के रूप में लगाया जा सकता है। यदि ऐसे धन का निर्धारण सम्भव न हो तो 2 लाख ₹ तक दण्ड लगाया जा सकता है। यदि ऐसा उल्लंघन जारी रहता है तो प्रति दिन 5,000 ₹ तक का दण्ड और लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त ऐसे उल्लंघन से सम्बन्धित कोई करेन्सी, प्रतिभूति, कोई और धन या सम्पत्ति केन्द्रीय सरकार जब्त कर सकती है। ऐसे व्यक्ति की विदेशी सम्पत्ति या धन या तो भारत लाया जाएगा या निर्देशानुसार विदेश में रोक लिया जाएगा।

यदि निर्णयकर्ता अधिकारी (Adjudicating Authority) के आदेश का पालन नहीं किया जाता है तो धारा 14 के अनुसार ऐसे व्यक्ति को नागरिक कैद हो सकती है। यदि दण्ड की मांग 1 करोड़ ₹ से अधिक है तो दोषी व्यक्ति तीन वर्ष तक नागरिक कैद में रह सकता है। अन्य मामलों में वह व्यक्ति छः माह तक की कैद में रखा जा सकता है।

धारा 15 के अनुसार दोषी व्यक्ति एक आवेदन पत्र दे सकता है। ऐसा आवेदन पत्र पाने के 180 दिन के भीतर केन्द्र सरकार द्वारा निर्देशित डाइरेक्टर एनफोर्समेंट और रिजर्व बैंक के अन्य अधिकारी सन्तुष्ट होने पर मामले को समाप्त कर सकते हैं।

(D) निर्णय एवं अपील—धारा 16 के अनुसार किसी भी व्यक्ति द्वारा उल्लंघन होने पर केन्द्रीय सरकार अपने अधिकारियों में से जितने वह उचित समझे; मामले की जांच के लिए निर्णयकर्ता अधिकारी (Adjudicating Authority) नियुक्त कर सकती है। केन्द्रीय सरकार नियुक्त अधिकारियों के क्षेत्र का भी निर्धारण कर सकती है। जांच लिखित शिकायत के बिना नहीं की जा सकती है।

प्रत्येक निर्णयकर्ता अधिकारी को नागरिक न्यायालय (Civil Court) का अधिकार प्राप्त होगा। ऐसा निर्णयकर्ता अधिकारी एक वर्ष में मामले को निपटाएगा। यदि वह ऐसा नहीं कर पाता है तो समय-समय पर ऐसा न कर पाने के कारणों का उल्लेख करेगा।

निर्णयकर्ता अधिकारी के निर्णय के विरुद्ध अपील विशेष डाइरेक्टर (अपील) के यहां 45 दिन के भीतर कर सकता है। विशेष डाइरेक्टर (अपील) समय सीमा के बाद भी अपील स्वीकार कर सकता है यदि वह देरी के कारणों से सन्तुष्ट है। ऐसे विशेष डाइरेक्टर (अपील) को नागरिक न्यायालय के समान अधिकार प्राप्त हैं।

निर्णयकर्ता अधिकारी व विशेष डाइरेक्टर (अपील) के निर्णयों के विरुद्ध अपील अपील न्यायाधिकरण (Appellate Tribunal) में निर्णय प्राप्त होने के 45 दिन में की जा सकती है। इस न्यायाधिकरण को जैसा वह चाहे निर्णय देने का अधिकार है। यह निर्णय अपील प्राप्त होने के 180 दिन में दिया जावेगा। यदि ऐसा नहीं हो सकता तो न्यायाधिकरण को इसके लिए कारणों का उल्लेख करना होगा।

न्यायाधिकरण के लिए अध्यक्ष वही व्यक्ति हो सकता है जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की योग्यता रखता हो। सदस्य के लिए जिला जज की योग्यता होनी चाहिए। विशेष डाइरेक्टर (अपील) के लिए भारतीय कानून सेवा (Indian Legal Service) का व्यक्ति होना चाहिए वह भी प्रथम श्रेणी का या फिर भारतीय आगम सेवा (Indian Revenue Services) का व्यक्ति होना चाहिए और जो कम से कम 15 वर्ष तक संयुक्त सचिव रहा हो।

(E) विविध—केन्द्रीय सरकार रिजर्व बैंक को अधिनियम के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समय-समय पर निर्देश दे सकती है। यदि निर्देश या आदेश की अवहेलना किसी कम्पनी ने की है तो ऐसा व्यक्ति जो उल्लंघन के समय व्यवसाय चलाने के लिए जिम्मेदार था, दोषी माना जावेगा। यदि उल्लंघन के दोषी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है या वह दिवालिया हो जाता है तो मामला समाप्त नहीं होगा बल्कि मुकदमा उसके कानूनी प्रतिनिधि पर चलाया जावेगा।

केन्द्रीय सरकार को FEMA के प्रावधानों को ठीक प्रकार से लागू करने के लिए विषय बनाने का अधिकार है जो संसद से ही परित किया जाना चाहिए।

फेरा और फेमा में अन्तर

विदेशी विनियम नियमन अधिनियम (FERA), 1973 व विदेशी विनियम प्रबन्ध अधिनियम (FEMA) 1999, में निम्न अन्तर पाया जाता है :

(1) **प्रस्तावना**—‘फेरा’ अधिनियम का उद्देश्य विदेशी विनियम को सुरक्षित रखना और उसका उचित प्रयोग करना था। लेकिन ‘फेमा’ का उद्देश्य विदेशी व्यापार, धन की अदायगी प्रथा तथा भारत में विदेशी विनियम बाजार को सुविधाजनक बनाना तथा उसका व्यवस्थित विकास करना है।

(2) **धाराएं**—‘फेरा’ अधिनियम में 81 धारायें थीं लेकिन अब ‘फेमा’ अधिनियम में केवल 49 धाराएं हैं।

(3) **शब्दों का प्रयोग**—‘फेरा’ अधिनियम में नियमों के उल्लंघन को अपराध (offence) कहा गया है जबकि ‘फेमा’ के नियम तोड़ने पर उल्लंघन (Contravention) कहा गया है।

(4) त्रुटि की प्रवृत्ति—‘फेरा’ के अन्तर्गत अपराध (offence) आपराधिक प्रवृत्ति को प्रकट करता है। जबकि ‘फेमा’ में उल्लंघन (Contravention) एक भूल या त्रुटि माना जाता है।

(5) गिरफ्तारी—फेरा अधिनियम का पालन न करने पर किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार किया जा सकता है परन्तु ‘फेमा’ में नागरिक को जेल में रोका जा सकता है।

(6) उल्लंघन के दोष को समाप्त करने का अधिकार—‘फेरा’ में उल्लंघन समाप्त करने का अधिकार नहीं था परन्तु ‘फेमा’ में ऐसा करने का अधिकार है।

(7) अर्थ दण्ड—‘फेरा’ अधिनियम में यह व्यवस्था थी कि यदि किसी नियम का उल्लंघन होने पर प्रभावित धन का पांच गुना या ₹ 5,000 रु जो भी अधिक हो, दण्ड दिया जा सकता है। लेकिन ‘फेमा’ में इस प्रकार प्रभावित धन का तीन गुना दण्ड तक ही दिया जा सकता है या ऐसा निश्चित न किए जाने की दशा में 2 लाख ₹। साथ ही यदि ऐसा उल्लंघन जारी रहता है तो ₹ 5,000 रु प्रति दिन के हिसाब से अर्थ दण्ड और दिया जा सकता है।

(8) निवास की स्थिति—‘फेरा’ में भारत के निवासी से अर्थ भारत के नागरिक से है जबकि ‘फेमा’ में नागरिकता का कोई प्रश्न ही नहीं है। इसमें नागरिक से अर्थ भारत में रहने वाले से है।

(9) नवीन परिभाषाएं—‘फेमा’ में कुछ नवीन परिभाषाएं जोड़ी गई हैं जैसे ‘पूंजी खाता व्यवहार’, ‘चालू खाता व्यवहार’, ‘निर्यात सेवाएं’ आदि। यह परिभाषाएं ‘फेरा’ में नहीं थीं।

(10) अभियोग से मुक्ति का अधिकार—‘फेरा’ में यह व्यवस्था की कि यदि पूर्ण व सत्य विवरण प्रस्तुत किया जाता है तो सन्तुष्ट होने पर केन्द्रीय सरकार अभियोग चलाने एवं अर्थदण्ड से मुक्ति दे सकती है लेकिन ‘फेमा’ में इस प्रकार का अधिकार नहीं है।

(11) पीढ़ी का अन्तर—‘फेरा’ विदेशी सौदों के नियन्त्रण के लिए पहला अधिनियम था। लेकिन देश में वित्तीय एवं आर्थिक सुधारों के होने से ‘फेमा’ पिछले अधिनियम ‘फेरा’ का विकसित रूप है। इसीलिए इसे अगली पीढ़ी का माना जाता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति से आप क्या समझते हैं? इस सम्बन्ध में एम.आर.टी.पी. अधिनियम के बारे में बताइए।
2. फेमा अधिनियम के प्रावधानों को समझाइए तथा ‘फेमा’ व ‘फेरा’ के अन्तरों की व्याख्या कीजिए।
3. टिप्पणी लिखिए :
 - (i) औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति
 - (ii) विदेशी विनियम प्रबन्धन अधिनियम (फेमा)
4. फेरा और फेमा के बारे में बताइए।
5. प्रतिस्पर्धा अधिनियम के बारे में बताइए।

(रायपुर बी.ए. प्रथम वर्ष, 2010)

23

लघु उद्योगों का विकास एवं समस्याएं

[GROWTH AND PROBLEMS OF SMALL SCALE INDUSTRIES]

भारत की औद्योगिक संरचना को मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—
 (1) विशालस्तरीय उद्योग तथा (2) सूक्ष्म (या छोटे) लघु एवं मध्यम उद्योग

लघु एवं कुटीर उद्योगों की परिभाषाएं

(DEFINITIONS OF SMALL-SCALE AND COTTAGE INDUSTRIES)

भारत में औद्योगिक मानचित्र लगातार परिवर्तित हो रहा है। परिचालन स्तर, प्रयुक्त तकनीक, आदि की दृष्टि से इन उद्योगों के विभिन्न वर्गों में भी बराबर फेरबदल हो रहा है। अतः यहाँ उद्योगों के वर्ग विभाजन का आधार भी समय-समय पर बदलता रहा है। यही कारण है कि लघु उद्योगों को देश में समय-समय पर विभिन्न आधारों पर परिभाषित किया जाता रहा है।

छोटे, लघु एवं मध्यम उद्योग (MSME) की परिभाषा

छोटे, लघु एवं मझोले उद्यम विकास अधिनियम, 2006 के अन्तर्गत उद्योगों को मुख्य रूप से दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है—(i) विनिर्माण एवं (ii) सेवाएं उपलब्ध/प्रदान करना। इन दोनों श्रेणियों को इसके अतिरिक्त संयन्त्र एवं मशीनों में निवेश (विनिर्माण उद्यमों के लिए) अथवा उपस्कारों (उन मामलों में जहाँ उद्यम सेवाएं उपलब्ध करा रहा है अथवा प्रदान कर रहा है) के आधार पर छोटे, लघु एवं मझोले उद्यमों के रूप में वर्गीकृत किया गया है जो निम्नलिखित है :

विनिर्माण उद्यम : छोटे उद्यम 25 लाख ₹ तक का निवेश। लघु उद्यम—25 लाख ₹ से अधिक एवं 5 करोड़ ₹ तक का निवेश। मझोले उद्यम—5 करोड़ ₹ से अधिक एवं 10 करोड़ ₹ तक का निवेश।

सेवा उद्यम : छोटे उद्यम—10 लाख ₹ तक का निवेश। लघु उद्यम—10 लाख ₹ से अधिक और 2 करोड़ ₹ तक का निवेश। मझोले उद्यम—2 करोड़ ₹ से अधिक एवं 5 करोड़ ₹ तक का निवेश।

कुटीर उद्योग

कुटीर उद्योग से आशय ऐसे उद्योग से है, जो पूर्णतया या मुख्यतया परिवार के सदस्यों की सहायता से पूर्णकालिक या अंशकालिक व्यवसाय के रूप में चलाया जाता है। इसमें पूंजी निवेश नाममात्र का ही होता है तथा उत्पादन प्रायः हाथ से ही किया जाता है।

प्रशुल्क आयोग 1949-50 के अनुसार, “कुटीर उद्योग-धन्धे वे धन्धे हैं जो अंशतः परिवार के सदस्यों की सहायता से आंशिक या पूर्णकालिक कार्य के रूप में किए जाते हैं।”

पी. एन. धर तथा एच. एफ. लिडल (P. N. Dhar and H. F. Lydall) के अनुसार, “कुटीर उद्योग लगभग पूरी तरह घरेलू उद्योग होते हैं। इसमें किराये के मजदूरों का बहुत कम या बिल्कुल ही प्रयोग नहीं किया जाता। ये उद्योग कच्चा माल स्थानीय बाजारों से प्राप्त करते हैं और अपना अधिकांश उत्पादन स्थानीय बाजारों में ही बेचते हैं। यह लघु आकार के ग्रामीण, स्थानीय एवं पिछड़ी तकनीक वाले उद्योग होते हैं।”

लघु एवं कुटीर उद्योगों में अन्तर

(DIFFERENCE BETWEEN SMALL-SCALE AND COTTAGE INDUSTRIES)

लघु एवं कुटीर उद्योगों में प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं :

1. कुटीर उद्योगों में हस्त क्रियाओं की प्रधानता रहती है, जबकि लघु उद्योगों के लिए यह आवश्यक नहीं है।

2. कुटीर उद्योगों में प्रायः परम्परागत विधियों से परम्परागत वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है और प्रायः स्थानीय बाजार की मांग की पूर्ति की जाती है जबकि लघु उद्योगों में यान्त्रिक प्रक्रियाओं द्वारा अपेक्षाकृत व्यापक बाजार की मांग की पूर्ति की जाती है।
3. कुटीर उद्योगों में मजदूरी या वेतन पर कम लोग लगाए जाते हैं और अधिकतर कार्य परिवार के सदस्यों द्वारा ही किया जाता है, जबकि लघु उद्योगों में मजदूरी या वेतन पर पर्याप्त व्यक्ति लगाए जाते हैं।
4. कुटीर उद्योगों में पूंजी का विनियोग नाममात्र का होता है, जबकि लघु उद्योगों में अपेक्षाकृत अधिक पूंजी लगाई जाती है।
5. कुटीर उद्योगों में स्थानीय कच्चे माल एवं कुशलता का प्रयोग होता है, जबकि लघु उद्योगों में कच्चा माल तथा तकनीकी कुशलता बाहर से भी प्राप्त की जा सकती है।

कुटीर उद्योगों का वर्गीकरण

(CLASSIFICATION OF COTTAGE INDUSTRIES)

कुटीर उद्योगों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—1. ग्रामीण कुटीर उद्योग तथा 2. शहरी कुटीर उद्योग।

1. **ग्रामीण कुटीर उद्योग (Rural Cottage Industries)**—ये उद्योग ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित किए जाते हैं। ग्रामीण कुटीर उद्योग भी दो श्रेणियों में उप-विभाजित किए जा सकते हैं—एक वे हैं जो कृषकों द्वारा सहायक धन्धे के रूप में चलाए जाते हैं, जैसे—मुर्गीपालन, करघों पर बुनाई, गाय-भैंस पालना, सूअर व भेड़-बकरी पालना, टोकरियां बनाना, रेशम के कीड़े पालना, रसी बनाना, मधुमक्खियां पालना, मछली पालन आदि। दूसरे वे हैं जो ग्रामीण कौशल से सम्बन्धित होते हैं, जैसे मिट्टी के बर्तन बनाना, चमड़े के जूते बनाना, धानी से तेल निकालना, आदि।

2. **शहरी कुटीर उद्योग (Urban Cottage Industries)**—वे हैं जो शहरी क्षेत्र में स्थापित किए जाते हैं। इसके अन्तर्गत खिलौना बनाना, कपड़ों पर कढ़ाई करना, लकड़ी के फर्नीचर बनाना, साबुन बनाना, हथकरघा पर कपड़े बुनना, आदि को सम्मिलित किया जाता है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में कुटीर एवं लघु उद्योगों का महत्व

(IMPORTANCE OF COTTAGE AND SMALL-SCALE INDUSTRIES IN INDIAN ECONOMY)

भारतीय अर्थव्यवस्था में लघु एवं कुटीर उद्योगों का महत्वपूर्ण स्थान है। भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्था में जहां पूंजी का अभाव, गरीबी और बेरोजगारी का साम्राज्य है वहां कुटीर एवं लघु उद्योग आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सभी पहलुओं से औद्योगिक विकास की आधारशिला हैं। लघु उद्योगों के महत्व के बारे में कहा जाता है, “लघु उद्योग भारत की क्षमताओं और उसके भावी विकास की कुंजी हैं जिसके द्वारा उसके विशाल अविदोहित साधनों के विदोहन तथा लाखों व्यक्तियों की उत्पादन क्षमता का प्रयोग किया जा सकता है। लघु उद्योगों में ही आज की अनेक ज्वलन्त समस्याओं का समाधान निहित है।” गांधी जी के अनुसार, “भारत का मोक्ष उसके कुटीर-धन्धों में निहित है।” मोरारजी देसाई के अनुसार, “ऐसे उद्योगों से ग्रामीण लोगों को जो अधिकांश समय बेरोजगार रहते हैं, पूर्ण अथवा अंशकालिक रोजगार प्राप्त होता है।”

भारत में लघु एवं कुटीर उद्योगों का महत्व निम्न तथ्यों से समझा जा सकता है :

1. **रोजगार में वृद्धि**—भारत में जनसंख्या की अधिकता के कारण बेरोजगारी की समस्या व्यापक रूप से पाई जाती है। लघु एवं कुटीर उद्योग श्रम प्रधान होते हैं, अतः इन उद्योगों द्वारा कम पूंजी के विनियोग से भी रोजगार में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है।

2. **ग्रामीण अर्थव्यवस्था के अनुसर**—भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहां की लगभग 54.6 प्रतिशत कार्यशील जनसंख्या कृषि पर निर्भर करती है, लेकिन कृषकों को वर्षापर्यन्त कार्य नहीं मिल पाता। इस दृष्टि से कुटीर एवं लघु उद्योग अत्यन्त उपयोगी हैं तथा हमारी ग्रामीण अर्थव्यवस्था के अनुकूल हैं। कृषि व्यवसाय से सम्बद्ध व्यक्ति खाली समय में इस तरह के धन्धों में अपने को लगाकर अपनी आय में वृद्धि कर सकते हैं और देश की राष्ट्रीय आय में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं।

3. आय वितरण में समानता—कुटीर एवं लघु उद्योगों का स्वामित्व अधिक-से-अधिक लोगों के हाथों में होता है जिससे आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण नहीं होता। इसके अतिरिक्त इन उद्योगों में श्रमिकों का शोषण नहीं होता जिससे राष्ट्रीय आय का अधिक समान वितरण होता है।

4. उद्योगों के विकेन्द्रीकरण में सहायता—कुटीर एवं लघु उद्योगों से देश में उद्योगों के विकेन्द्रीकरण में सहायता प्राप्त होती है। विशालस्तरीय उद्योग केवल कुछ औद्योगिक केन्द्रों में ही स्थापित हो पाते हैं क्योंकि उनके लिए कुछ विशेष परिस्थितियों और सुविधाओं की आवश्यकता होती है, परन्तु लघु एवं कुटीर उद्योगों को गांवों व छोटे-छोटे कस्बों में भी स्थापित किया जा सकता है। इससे देश को निम्न लाभ होते हैं—(i) स्थानीय प्रतिभा तथा स्थानीय साधनों का उचित उपयोग हो जाता है। (ii) औद्योगिक नगरों में पाई जाने वाली भीड़ की समस्या का समाधान हो जाता है। (iii) विदेशी आक्रमण के समय यह उद्योग सुरक्षित रहते हैं। (iv) ये उद्योग प्रादेशिक असमानता को कम करने में सहायक होते हैं।

5. कृषि पर जनसंख्या के भार में कमी—भारत में कृषि पर जनसंख्या का भार निरन्तर बढ़ता जा रहा है। प्रति वर्ष लगभग 30 लाख व्यक्ति खेती पर आश्रित होने के लिए बढ़ जाते हैं जिससे कृषि का उपविभाजन एवं अपखण्डन होता है। इस समस्या के समाधान की दृष्टि से लघु एवं कुटीर उद्योग अत्यन्त उपयोगी हैं।

6. परम्परागत एवं कलात्मक उद्योगों को संरक्षण—कुटीर एवं लघु उद्योग परम्परागत एवं कलात्मक वस्तुओं को संरक्षण प्रदान करते हैं। कलात्मक वस्तुएं जैसे—बनारसी साड़ियां, हाथी दांत का कार्य इत्यादि में भारत प्राचीन समय से ख्याति अर्जित करता रहा है और इन वस्तुओं के निर्यात से विदेशी मुद्रा की प्राप्ति होती रही है। अतः परम्परागत ख्याति और विदेशी मुद्रा अर्जन की दृष्टि से भी देश की अर्थव्यवस्था में कुटीर एवं लघु उद्योगों का विशेष स्थान है।

7. कम तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता—कुटीर एवं लघु उद्योगों की स्थापना में कम पूँजी के साथ-साथ कम तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता होती है तथा कर्मचारियों को प्रशिक्षण भी कम मात्रा में देकर काम चलाया जा सकता है। इस प्रकार यह भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए सर्वोत्तम है।

8. शीघ्र उत्पादक उद्योग—यह उद्योग ऐसे हैं जिनकी स्थापना के कुछ समय बाद ही उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है इसीलिए उनको शीघ्र उत्पादक उद्योग कहते हैं। भारत में वस्तुओं की सामान्य कमी बनी रहती है जिसको दूर करने में यह अपना महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। वृहत् उद्योगों की स्थापना एवं उनके द्वारा उत्पादन करने के समयों में वर्षों का अन्तर होता है लेकिन लघु एवं कुटीर उद्योगों में उत्पादन कुछ महीनों में और कहीं-कहीं तो कुछ दिनों में ही प्रारम्भ किया जा सकता है।

9. निर्यात में सहायक—पिछले कुछ वर्षों से भारत में कुटीर एवं लघु उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं का निर्यात बढ़ रहा है, जो देश को बहुमूल्य विदेशी मुद्रा अर्जित करने में सहायता दे रहा है। भारत से बहुत सी कलात्मक वस्तुएं जैसे—हाथी दांत पर काम, चन्दन की वस्तुएं, पत्थर की मूर्तियां, धातु की मूर्तियां, आदि निर्यात की जा रही हैं।

10. आयात पर कम निर्भरता—बड़े उद्योग स्थापित करने में कभी तकनीक के लिए, तो कभी मशीनों के लिए, तो कभी कच्चे माल के लिए विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है और उनको आयात करना पड़ता है। कुटीर एवं लघु उद्योगों में ऐसी कोई बात नहीं है। इन उद्योगों के लिए न तो मशीनें आयात करनी पड़ती हैं और न तकनीक और न कच्चा माल। इस प्रकार इन उद्योगों में आयात पर निर्भरता कम रहती है।

11. औद्योगिक समस्याओं से मुक्ति—बड़े उद्योगों में बहुत-सी औद्योगिक समस्याएं बनी रहती हैं जो देश में अशान्ति के साथ-साथ उत्पादन को कम करने में सहायक होती हैं, जैसे—श्रमिकों की हड़तालें, मालिकों की तालाबन्दी, श्रमिकों की छठनी, वेतन वृद्धि व बोनस की मांग, सेवा शर्तों में सुधार, आदि। कुटीर एवं लघु उद्योगों में इस प्रकार की समस्याएं होती नहीं हैं और यदि कहीं होती भी हैं तो उनको मिल-बैठकर सुलझा लिया जाता है।

12. बड़े उद्योगों के लिए सहायक या पूरक—लघु एवं कुटीर उद्योग बड़े उद्योगों के लिए सहायक या पूरक के रूप में कार्य कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, अर्द्धनिर्मित माल कुटीर एवं लघु उद्योग बना सकते हैं जिनका उपयोग बड़े उद्योग निर्मित माल के उत्पादन हेतु कर सकते हैं।

13. स्थानीय साधनों का उपयोग—लघु एवं कुटीर उद्योग स्थानीय साधनों का उपयोग करते हैं। यदि ये लघु एवं कुटीर उद्योग न हों तो स्थानीय साधन बेकार हो जाएंगे। ये उद्योग ग्रामीण व छोटे व्यक्तियों को उद्यमी बनाने में सहायक होते हैं। साथ ही यह उद्योग ग्रामीण बचतों को भी विनियोजित करने में सहायक होते हैं।

इस तरह, लघु, कुटीर एवं मध्यम उद्योगों ने देश के सामाजिक और आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। लघु उद्योगों के महत्व को इसी बात से समझा जा सकता है कि इन उद्योगों का देश के सकल घरेलू उत्पाद में हिस्सा 37.5%, विनिर्माण उत्पादन में हिस्सा 37.3% तथा राष्ट्रीय निर्यात में योगदान 40% से अधिक है। यह देश के ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में लगभग 12 करोड़ लोगों को रोजगार प्रदान करता है। लघु एवं कुटीर उद्योगों के महत्व के कारण ही इन्हें औद्योगिक नीतियों में प्रमुख स्थान दिया गया है तथा 20 वस्तुओं का उत्पादन इनके लिए सुरक्षित रखा गया है। इनके हितों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए एक विशेष कानून बनाए जाने की व्यवस्था की गई है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि लघु एवं कुटीर उद्योग वडे पैमाने पर तत्काल रोजगार प्रदान करते हैं, राष्ट्रीय आय में अपेक्षाकृत अधिक न्यायपूर्ण वितरण का आश्वासन देते हैं, पूंजी एवं अन्य संसाधनों को प्रभावशाली ढंग से गति प्रदान करते हैं तथा स्थानीय साधनों का सर्वोत्तम ढंग से विदोहन करते हैं। इसके महत्व को स्पष्ट करते हुए योजना आयोग की रिपोर्ट में कहा गया है कि “लघु एवं कुटीर उद्योग हमारी अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण अंग हैं जिनकी कभी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।”

सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्यमों की कार्य प्रगति

(PROGRESS AND PERFORMANCE OF MICRO, SMALL AND MEDIUM ENTERPRISES)

नवीन परिभाषा के आधार पर देश में यह क्षेत्र लगभग सभी आर्थिक मापदण्डों के आधार पर प्रगति करता रहा है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है—

तालिका : भारत में सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम (एम.एस.एम.ई.) उद्यमों की प्रगति

वर्ष	कुल कार्यरत उद्यम (लाख में)	रोजगार (लाख में)	नियत परिस्पर्तियों का बाजार मूल्य (करोड़ ₹)	उत्पादन का सकल मूल्य (करोड़ ₹)	कुल जी.डी.पी. में इस उद्यम हिस्सा (प्रतिशत)	कुल विनिर्माण उत्पादन में एम.एस.एम.ई. विनिर्माण उत्पादन का भाग प्रतिशत
2006-07	361.76	805.23	8,68,543.79	11,98,918	35.13	42.02
2007-08	377.36	842.0	9,20,459.84	13,22,777	35.41	41.98
2008-09	393.70	880.84	9,77,114.72	13,75,589	36.12	40.79
2009-10	410.80	921.79	10,38,546.08	14,88,352	36.05	39.63
2010-11	428.73	965.15	11,05,934.09	18,53,622	36.69	38.50
2011-12	447.64	1,011.69	11,82,757.64	17,88,584	37.97	37.47
2012-13	447.54	1,061.40	12,68,763.67	18,09,976	37.54	37.33
2013-14	488.46	1,114.29	13,63,700.54	—	—	—

स्रोत : सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्योग मन्त्रालय वार्षिक रिपोर्ट 2014-15.

लघु एवं कुटीर उद्योगों की समस्याएं

(PROBLEMS OF SMALL-SCALE AND COTTAGE INDUSTRIES)

लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास हेतु सरकार द्वारा पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाए गए हैं फिर भी ये उद्योग कुछ आधारभूत समस्याओं से ग्रसित हैं जिनके कारण वांछित प्रगति नहीं कर पा रहे हैं। इन उद्योगों की प्रमुख समस्याएं निम्नलिखित हैं :

- कच्चे माल की समस्या—लघु एवं कुटीर उद्योगों के समक्ष विद्यमान सबसे पहली समस्या कच्चे माल की है जो उन्हें उचित समय तथा उचित मूल्य पर नहीं मिल पाता है। इस समस्या के कई पहलू हैं; जैसे लघु उद्योगों द्वारा थोड़ी-थोड़ी मात्रा में कच्चा माल खरीदा जाता है जिसके लिए उन्हें अधिक कीमत चुकानी पड़ती है। स्थानीय व्यापारियों द्वारा इन उद्योगों को घटिया माल उपलब्ध कराया जाता है। अच्छे किस्म का माल या तो निर्यात कर दिया जाता है अथवा बड़ी औद्योगिक इकाइयों द्वारा क्रय कर लिया जाता है। आयातित कच्चा माल आबण्टित नहीं किया जाता है। इन सबका परिणाम यह होता है कि यहां एक ओर उत्पादन व्यय बढ़ जाता है, वहीं दूसरी ओर निम्न किस्म का माल निर्मित होता है जिससे ये उद्योग बड़े उद्योगों की प्रतियोगिता में टिक नहीं प्राते हैं।

2. वित्त की समस्या—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् यद्यपि सरकारी प्रयासों के कारण लघु उद्योगों की वित्त सम्बन्धी समस्याएं कुछ कम हुई हैं, लेकिन उन्हें अपने छोटे आकार के कारण अब भी वित्तीय कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। व्यापारिक बैंकों से ऋण लेने में उन्हें तमाम वैधानिक कार्यवाहियां करनी पड़ती हैं और तत्पश्चात् समय-समय पर रिटर्न भेजने पड़ते हैं। अतः इन उद्योगों के स्वामी अनेक बार बैंकों का सहारा छोड़कर साहूकारों पर निर्भर हो जाते हैं और उनके चंगुल में फंस जाते हैं।

3. तकनीक की समस्या—शिक्षा का अभाव, वित्त की कठिनाई तथा सीमित बाजार के कारण देश के कुटीर एवं लघु उद्योगों के द्वारा उत्पादन की परम्परागत तकनीकों का प्रयोग किया जाता है जिससे उत्पादन की किसी नीची और लागत अधिक पड़ती है।

4. विपणन की कठिनाइयां—कुटीर एवं लघु उद्योगों की विपणन समस्या अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या है। जनता की रुचियों में परिवर्तन, विज्ञापन और प्रचार के सीमित साधन, वृहत् उद्योगों की मशीन निर्मित वस्तुओं से प्रतियोगिता इत्यादि के कारण इन उद्योगों को अपने उत्पादन बेचने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

5. बड़े उद्योगों से प्रतियोगिता—बड़े उद्योगों द्वारा निर्मित माल अपेक्षाकृत सस्ता, अच्छी किस्म का और आकर्षक होता है। बड़े पैमाने के उद्योग उत्पादन की आधुनिक वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग तो करते ही हैं, साथ ही वे विपणन, आदि क्षेत्रों में भी साधन सम्पन्न होते हैं जिसके कारण लघु उद्योग प्रतियोगिता में टिक नहीं पाते हैं और उन्हें अपने उत्पाद को बेचने में कठिनाई होती है।

6. प्रमापीकरण का अभाव—इन उद्योगों द्वारा निर्मित माल किसी निश्चित प्रमाप का नहीं होता है जिसके परिणामस्वरूप इन्हें अपने उत्पाद का उचित मूल्य नहीं मिल पाता है।

7. सूचना व परामर्श का अभाव—इन उद्योगों को अपने व्यवसाय से सम्बन्धित उचित सूचनाएं समय से नहीं मिल पाती हैं तथा साथ ही इन्हें परामर्श देने वाली संस्थाओं की भी कमी है। इन कारणों से ये उद्योग उन्नति नहीं कर पाते हैं।

8. विद्युत् शक्ति की कमी—कुटीर एवं लघु उद्योगों की एक प्रमुख समस्या शक्ति की कमी है। इन उद्योगों को उचित मात्रा में सस्ती दर पर विद्युत् शक्ति नहीं मिल पाती है जिसके अभाव में ये ठीक से उत्पादन नहीं कर पाते हैं।

9. प्रबन्ध योग्यता में कमी—लघु उद्योग प्रायः छोटे-छोटे व्यवसायियों द्वारा स्थापित किए जाते हैं जिन्हें प्रबन्ध एवं संगठन सम्बन्धी कोई विशेष प्रशिक्षण प्राप्त नहीं होता है जिसका प्रभाव इन उद्योगों के विकास पर पड़ता है।

10. अन्य समस्याएं—इसके अतिरिक्त लघु उद्योगों को कुछ अन्य कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ता है, जैसे—परिवहन की सुविधाओं का अभाव, विज्ञापन की कमी, स्थानीय ऊंचे कर, सामान्य शिक्षा एवं तकनीकी ज्ञान का अभाव, अनुसन्धान की कमी, बीमार इकाइयां तथा उद्योगों के मध्य आपसी संगठन का अभाव, आदि।

लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास हेतु सुझाव

(SUGGESTIONS FOR DEVELOPMENT OF SMALL-SCALE AND COTTAGE INDUSTRIES)

देश की केन्द्रीय एवं राज्य सरकारें लघु एवं कुटीर उद्योगों की समस्याओं की ओर उचित ध्यान दे रही हैं और योजना काल में इस दृष्टि से अनेक कदम उठाए गए हैं, लेकिन भावी विकास की दृष्टि से निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं :

1. उत्पादन तकनीक में सुधार—भविष्य में इन उद्योगों की उत्पादन तकनीक से सुधार के लिए उचित ध्यान दिया जाना चाहिए तभी ये उद्योग वृहत् उद्योगों की प्रतियोगिता का सामना करते हुए उपभोक्ताओं को अच्छी किरम की वस्तुएं प्रदान कर सकेंगे। इस दृष्टि से सरकार को यह व्यवस्था करनी चाहिए कि प्रत्येक लघु उद्योग इकाई अपनी वार्षिक आय का 10% एक विशेष कोष में हस्तान्तरित करेगी और इसका उपयोग आधुनिकीकरण कार्यक्रम पर करेगी तथा यह कोष कर मुक्त रहेगा।

2. सलाहकारकर्मी की व्यवस्था—लघु उद्योगों की स्थापना करने, विकास करने और मशीनें, इत्यादि के प्रयोग के लिए पर्याप्त सलाहकार सेवाओं की व्यवस्था की जानी चाहिए।

3. लघु उद्योग सहकारी समितियों का विकास—लघु उद्योग सहकारी समितियों का अधिकाधिक विकास किया जाना चाहिए और इन सहकारी समितियों को अपने सदस्यों को उचित मूल्य पर उन्नत उपकरण और कच्चा माल उपलब्ध कराना चाहिए।

4. विशाल एवं लघु उद्योगों में समन्वय—जहां तक सम्भव हो, विशाल एवं लघु उद्योगों में समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, कागज उद्योग में लुगदी बनाने का कार्य लघु उद्योग क्षेत्र को तथा कागज बनाने का कार्य विशाल उद्योग क्षेत्र को सौंपा जा सकता है।

5. अनुसन्धान कार्यक्रमों की विस्तृत व्यवस्था—लघु उद्योगों की उत्पादकता और उत्पादन क्षमता बढ़ाने और किसी सुधारने की दृष्टि से अनुसन्धान कार्यक्रमों की व्यवस्था की जानी चाहिए।

6. लघु उद्योग प्रदर्शनियां—लघु उद्योग प्रदर्शनियों का अधिकाधिक आयोजन किया जाना चाहिए। इन प्रदर्शनियों को केवल बड़े नगरों तक ही सीमित न रखकर देश के विभिन्न भागों में लगाया जाना चाहिए जिससे उपभोक्ता इन उद्योगों के उत्पादनों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकें।

7. उत्पादन की किसी पर उचित नियन्त्रण—लघु उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का निर्यात करने तथा उपभोक्ता में विश्वास बनाए रखने के लिए, इन उद्योगों की उत्पादन किसी पर उचित नियन्त्रण रखा जाना चाहिए।

8. औद्योगिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था—लघु उद्योगों के विकास के लिए यह आवश्यक है कि इन उद्योगों से सम्बन्धित व्यक्तियों के लिए उचित शिक्षण एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि वे आधुनिक वैज्ञानिक विधियों का सहजता से प्रयोग कर सकें। इन सबके लिए गांवों एवं कस्बों में प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किए जाने चाहिए।

9. वित्त व्यवस्था—लघु एवं कुटीर उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वित्तीय संस्थाओं का ग्रामीण क्षेत्रों एवं कस्बों में विस्तार किया जाना चाहिए।

10. बाजार तथा बिक्री सम्बन्धी सुविधाएं—इन उद्योगों के विकास के लिए बिक्री एवं विपणन सम्बन्धी सुविधाओं का होना भी अति आवश्यक है। यदि उत्पादित माल बाजारों में उचित मूल्य पर नहीं बिक पाता तो उत्पादकों में निराशा व्याप्त होती है जिससे उत्पादन प्रभावित होता है। अतः इन उद्योगों के उत्पादों की बिक्री के लिए एक केन्द्रीय विक्रय संस्था की स्थापना की जानी चाहिए जो विभिन्न संस्थाओं से निश्चित प्रमाप के अनुसार माल तैयार कराएं तथा उनको बेचने की व्यवस्था करें।

उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त अमेरिका और जापान की भाँति भारत में भी लघु उद्योगों के संवर्धन एवं संरक्षण हेतु एक विशेष अधिनियम पारित करने की आवश्यकता है जिसके अन्तर्गत इन उद्योगों को सस्ते ब्याज पर ऋण एवं अनुदान देने, तकनीकी एवं प्रबन्धकीय सहायता उपलब्ध कराने, सरकार द्वारा उनकी वस्तुओं का क्रय करने, श्रमिकों को प्रशिक्षण देने, आदि की व्यवस्था हो।

लघु एवं कुटीर उद्योगों तथा वृहत् उद्योगों के मध्य प्रतियोगिता का निवारण करने तथा उनमें समन्वय स्थापित करने के उपाय

लघु एवं कुटीर उद्योगों का देश के आर्थिक जीवन में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। अतः ऐसे उपाय करना आवश्यक है जिनसे इन उद्योगों तथा वृहत् उद्योगों के मध्य प्रतियोगिता कम हो सके तथा उनमें समन्वय स्थापित हो सके। इस दृष्टि से निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं :

1. लघु उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान कर, कच्चा माल एवं सस्ते दर पर चालक शक्ति उपलब्ध कराकर, ट्रेनिंग एवं तकनीकी ज्ञान प्रदान कर तथा करों में छूट देकर इन्हें अपने पैरों पर खड़ा होने की स्थिति में लाना चाहिए जिससे ये वृहत् स्तरीय यन्त्रीकृत उद्योगों की प्रतिस्पर्द्धा का सामना कर सकें।
2. उन उद्योगों के सम्बन्ध में जो वृहत् एवं लघु दोनों ही स्तरों पर चलाए जा सकते हैं, इस प्रकार की व्यवस्था की जानी चाहिए कि दोनों प्रकार के उद्योगों के मध्य अनावश्यक प्रतियोगिता से बचा जा सके। इसके लिए कुछ उद्योगों को केवल कुटीर एवं लघु उद्योगों के लिए सुरक्षित किया जाना चाहिए। पहले इन उद्योगों के लिए सुरक्षित वस्तुओं की संख्या 180 थी, लेकिन वर्तमान में 20 वस्तुओं का उत्पादन इनके लिए सुरक्षित है।

3. एक ही उद्योग से सम्बन्धित कुछ प्रक्रियाएं लघु एवं कुटीर उद्योगों के लिए तथा कुछ प्रक्रियाएं वृहद् उद्योगों के लिए सुरक्षित रखी जाएं, जैसे वस्त्र उद्योग में कताई का कार्य बड़े उद्योगों को तथा बुनाई का कार्य लघु एवं कुटीर उद्योगों को सौंपा जा सकता है।
4. एक ही उद्योग से सम्बन्धित कुछ वस्तुओं का उत्पादन बड़े उद्योगों को तथा कुछ वस्तुओं का उत्पादन लघु उद्योगों को सौंपा जा सकता है, जैसे कागज उद्योग के सम्बन्ध में यह निर्णय लिया जा सकता है कि बादामी रंग का कागज, पैकिंग कागज तथा स्थाही सोख्ता केवल लघु उद्योगों द्वारा तैयार किया जाए तथा अन्य प्रकार का कागज वृहत् उद्योगों द्वारा निर्मित किया जा सकता है।
5. एक निश्चित सीमा तक किसी वस्तु विशेष का उत्पादन बड़े उद्योगों के लिए सुरक्षित रखा जाए और उससे अधिक जो उत्पादन हो, वह लघु एवं कुटीर उद्योगों द्वारा किया जाए; जैसे रंगीन धोतियों का उत्पादन। इसके विपरीत कदम उठाने से भी परस्पर प्रतियोगिता का अन्त किया जा सकता है।
6. जापान की भाँति संयुक्त उत्पादन कार्यक्रम भी विकसित किया जा सकता है जिसके अनुसार किसी वस्तु के पुर्जों अथवा हिस्सों का निर्माण लघु उद्योगों द्वारा किया जा सकता है तथा उन्हें मिलाकर अन्तिम वस्तु का निर्माण करने का कार्य बड़े उद्योग कर सकते हैं। यह प्रणाली घड़ी उद्योग, साइकिल उद्योग, टेलीविजन उद्योग, आदि में अपनाई जा सकती है।

इस प्रकार यदि लघु एवं वृहत् उद्योगों के बीच समन्वय स्थापित किया जाए तो देश में उत्पादन बढ़ेगा, क्षेत्रीय विकास होगा तथा बेरोजगारी तथा अर्द्धबेरोजगारी की समस्या का भी समाधान हो सकेगा।

कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास हेतु सरकारी प्रयास

(GOVERNMENT EFFORTS FOR THE PROMOTION OF SMALL-SCALE AND COTTAGE INDUSTRIES)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् कुटीर एवं लघु उद्योगों के महत्व को स्वीकार करते हुए सरकार ने इन उद्योगों के विकास हेतु विशेष बल दिया। यह महसूस किया गया कि ये उद्योग बेरोजगारी और गरीबी को दूर करने एवं असमानताओं को कम करने में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। 1948 में घोषित देश की प्रथम औद्योगिक नीति में लघु एवं कुटीर उद्योगों के महत्व पर प्रकाश डाला गया तथा जापान के कुटीर उद्योगों का अध्ययन करने के लिए वहां एक शिष्टमण्डल भेजा गया। योजना आयोग ने भी पंचवर्षीय योजनाओं में इनके विकास की संस्तुति की। इन उद्योगों की उन्नति एवं विकास हेतु सरकार विभिन्न प्रकार से सहायता प्रदान करते हुए सतत प्रयत्नशील है। सरकार ने इन उद्योगों के विकास हेतु तरह-तरह के राजकोषीय, मौद्रिक तथा प्रशासनिक उपाय किए हैं। इसमें निम्नलिखित उपाय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :

1. **विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना**—लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास की जिम्मेवारी वहन करते हुए केन्द्रीय सरकार ने इन उद्योगों के विकास के लिए एक अलग विभाग की स्थापना की है। इस विभाग के निर्देशन और परामर्श के लिए एक अखिल भारतीय कुटीर उद्योग बोर्ड स्थापित किया गया है। इसके अतिरिक्त सरकार ने इन उद्योगों को सरकारी सहायता और प्रोत्साहन सुलभ कराने के लिए अनेक संस्थाओं की स्थापना की है। इनमें प्रमुख हैं—अखिल भारतीय हथकरघा एवं दस्तकारी बोर्ड, अखिल भारतीय खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड, राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम, लघु उद्योग विकास बोर्ड, जिल उद्योग केन्द्र, आदि। ये संस्थाएं लघु एवं कुटीर उद्योगों की विविध तथा विशिष्ट जरूरतों को पूरा करने के लिए विभिन्न प्रकार की सुविधाएं एवं दिशा निर्देश प्रदान करती हैं। प्रान्तीय सरकारों ने भी अपने-अपने क्षेत्रों में इन उद्योगों के विकास हेतु अनेक संस्थाओं की स्थापना की है।

2. **वित्त सम्बन्धी सुविधाएं**—लघु एवं कुटीर उद्योगों को पूंजी तथा अन्य आर्थिक सहायता प्रदान करने के क्षेत्र में भी सरकार ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। राज्य सरकारों ने राज्य उद्योग सहायता अधिनियमों के अन्तर्गत इन उद्योगों के लिए ऋण सुविधाओं को काफी बढ़ा दिया है। अब इन उद्योगों को अपेक्षाकृत अधिक आसान शर्तों पर सहजता से राज्य सरकारों द्वारा ऋण उपलब्ध कराया जाने लगा है। आजकल इन संस्थाओं को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम, राज्य वित्त निगम, सहकारी एवं व्यापारिक बैंकों तथा राज्य सरकारों द्वारा वित्तीय सुविधा उपलब्ध कराई जाती है। इसके अतिरिक्त कुटीर एवं लघु उद्योगों को ऋण प्रदान करने के लिए राष्ट्रीय लघु उद्योग विकास बैंक (SIDBI) की स्थापना की गई है।

3. विपणन सुविधाएं—कुटीर एवं लघु उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं के विपणन में भी सरकार सहायता करती है। केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों द्वारा विशेष निगमों द्वारा कुटीर एवं लघु उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की बिक्री के लिए स्थान-स्थान पर शोरूम अथवा इम्पोरियम स्थापित किए गए हैं। इनके माध्यम से देशी एवं विदेशी बाजारों में माल बेचे जाते हैं। इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों में सरकारी विपणन समितियों एवं विपणन संघों की स्थापना की गई है। एक राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम की स्थापना की गई है जो इन उद्योगों से माल प्राप्त करके सरकार एवं अन्य सरकारी विभागों तथा समितियों को बेचती है। इससे उचित मूल्य पर वस्तुएं उपभोक्ताओं तक पहुंच जाती हैं।

4. तकनीकी सहायता—सरकार द्वारा लघु उद्योगों को पर्याप्त तकनीकी सहायता प्रदान की जाती है। इसके लिए वर्ष 1954 में लघु उद्योग विकास संगठन की स्थापना की गई है जिसके अन्तर्गत 30 लघु उद्योग सेवा संस्थान, 28 शाखा संस्थान तथा 4 क्षेत्रीय प्रशिक्षण केन्द्र, 7 फील्ड परीक्षक केन्द्र, 6 प्रक्रिया एवं उत्पाद विकास केन्द्र, 2. विशेष प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किए गए हैं। सरकार द्वारा विदेशों में प्रशिक्षण हेतु उद्यमियों को भेजा जाता है तथा विदेशी विशेषज्ञों को भी भारत में प्रशिक्षण देने के लिए आमन्त्रित किया जाता है। केन्द्रीय लघु उद्योग संगठन द्वारा नियमित रूप से विभिन्न प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाए जाते हैं। इस संगठन ने लघु उद्योगों को विभिन्न औद्योगिक कार्यों के लिए वर्कशाप तथा माल की जांच के लिए प्रयोगशाला की सुविधाएं देने का प्रबन्ध किया है।

लघु उद्योग विकास संगठन की लघु उद्योगों के लिए निम्नलिखित योजनाएं चल रही हैं : (i) ऋण गारंटी योजना, (ii) प्रौद्योगिकी उन्नयन के लिए ऋण से जुड़ी पूंजीगत सब्सिडी योजना, (iii) समन्वित आधारभूत संरचना विकास योजना, (iv) लघु उद्योग सूचना तथा संसाधन केन्द्र नेटवर्क, (v) प्रौद्योगिकी उन्नयन एवं आधुनिकीकरण योजना, (vi) विपणन विकास योजना आदि।

5. करों में रियायत—सरकार द्वारा लघु एवं कुटीर उद्योगों को करों में छूट प्रदान की जाती है। इन उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं पर उत्पादन या इसी तरह के अन्य कर नहीं लगाए जाते और यदि कहीं लगाए भी जाते हैं तो इनकी दरें अत्यधिक कम रहती हैं।

6. औद्योगिक सहकारी समितियां—सरकार और योजना आयोग इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि लघु एवं कुटीर उद्योगों के स्वरूप एवं तीव्र विकास में औद्योगिक सहकारी समितियां काफी सहायक सिद्ध हो सकती हैं और मुख्यतया इन्हीं के माध्यम से ये उद्योग सहकारी सहायता से लाभ उठा सकते हैं। यही कारण है कि पंचवर्षीय योजनाओं में सहकारी समितियों के विकास पर पर्याप्त बल दिया गया है।

7. औद्योगिक बस्तियों की स्थापना—कुटीर एवं लघु उद्योगों को सभी सुविधाएं एक स्थान पर देने तथा उनका क्रमबद्ध विकास करने के लिए औद्योगिक बस्तियों की स्थापना के लिए केन्द्र सरकार, राज्य सरकारों को ऋण उपलब्ध कराती है।

8. बड़े उद्योगों की प्रतियोगिता से बचाव—लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास के सम्बन्ध में सरकार ने एक और महत्वपूर्ण कदम उठाते हुए इन उद्योगों को बड़े उद्योगों की अनुचित प्रतियोगिता से बचाने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में सरकार ने कुछ क्षेत्रों को लघु उद्योगों के लिए सुरक्षित रखा है। इसके साथ ही सरकार लघु उद्योगों को कर में छूट तथा अनुदान प्रदान कर उन्हें प्रतियोगिता में बने रहने को प्रोत्साहित कर रही है।

9. भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक की स्थापना—2 अप्रैल, 1990 को भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की सहायक संस्था के रूप में भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक की स्थापना की गई है, इस बैंक की पूंजी 450 करोड़ ₹ है तथा इसका मुख्य कार्य लघु उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करना है। इस बैंक की 30 शाखाएं विभिन्न राज्यों में स्थापित की गई हैं।

10. लघु उद्योग बोर्ड—जून 1992 में प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में एक माइक्रो, लघु एवं मझोले उद्योगों के लिए राष्ट्रीय बोर्ड का गठन किया गया है। इस बोर्ड में विभिन्न मन्त्रालयों व संगठनों से सदस्य लिए गए हैं। इस बोर्ड का मुख्य कार्य माइक्रो, लघु एवं मझोले उद्योगों के विकास के लिए सरकार को सलाह देना है।

11. राष्ट्रीय समता कोष की स्थापना—लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास की दृष्टि से केन्द्र सरकार ने एक राष्ट्रीय समता कोष की स्थापना की है। इस कोष के लिए 5 करोड़ ₹ केन्द्र सरकार ने तथा 5 करोड़ ₹

भारतीय औद्योगिक विकास बैंक ने प्रदान किए हैं। इस कोष का प्रबन्ध भारतीय औद्योगिक विकास बैंक करता है।

12. ग्रामीण औद्योगिक परियोजनाएं—यह योजना केन्द्रीय सरकार द्वारा 1961-62 में प्रारम्भ की गई जिसका उद्देश्य ग्रामीण वातावरण में लाभदायक इकाइयों की स्थापना करने की तकनीक का विकास करना एवं विभिन्न क्षेत्रों में विकास स्तर पर रहने वाली असमानताओं को कम करना है।

13. लघु उद्यमी क्रेडिट कार्ड योजना—छोटे व्यापारियों, दस्तकारों, उद्यमियों आदि को सहज साख उपलब्ध कराने के उद्देश्य से लघु उद्यमी क्रेडिट कार्ड योजना लागू की गई है।

14. एकीकृत दांचागत विकास केन्द्रों की स्थापना—लघु उद्योगों को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से सरकार द्वारा देश भर में 71 आई.आई.टी. केन्द्रों की स्थापना की गई है। इस योजना पर अब तक सरकार 145 करोड़ ₹ आंबंटित कर चुकी है। इस योजना के अन्तर्गत एक औद्योगिक परिसर में विकसित स्थान, विजली, पानी, दूरसंचार निकासी व्यवस्था जैसी आधारभूत सुविधाओं के साथ-साथ बैंक, कच्चा माल, भण्डारण, विपणन, प्रौद्योगिकी तथा अन्य बुनियादी सुविधाएं भी उपलब्ध कराई जाती हैं।

15. लघु उद्योग क्षेत्र के सम्बद्धन के लिए उठाए गए अन्य कदम—लघु उद्योग इकाइयों में प्रौद्योगिकी उन्नयन को प्रोत्साहित करने वाली दो नई स्कीमें लागू की गई हैं—(क) लघु उद्योगों के लिए ऋण गारण्टी स्कीम—ऋण गारण्टी स्कीम व्यापारिक बैंकों, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा दिए गए 25 लाख ₹ तक के ऋणों के लिए किसी तीसरे पक्ष के गारण्टी की आवश्यकता नहीं होगी। (ख) प्रौद्योगिकी के उन्नयन के लिए ऋण सम्बद्ध पूंजीगत आर्थिक सहायता स्कीम—(i) सरकार ने इस स्कीम को 20 दिसम्बर, 2000 को अनुमोदित किया है, जिसमें कतिपय उप-क्षेत्रों में प्रौद्योगिकी के उन्नयन के लिए अनुसूचित वाणिज्यिक बैंक, जिन्हें एस.एफ.सी. कहा गया है, द्वारा लघु उद्योगों को दिए गए ऋणों पर 12 प्रतिशत की दर से बैंक एडेंड पूंजीगत सहायता स्वीकार्य होगी। (ii) लघु उद्योगों के लिए उत्पाद शुल्क छूट की सीमा को 1 सितम्बर, 2000 से 50 लाख ₹ से बढ़ाकर एक करोड़ ₹ कर दिया गया है।

16. निर्यात सम्बद्धन—लघु उद्योग क्षेत्रों से होने वाले निर्यात को बढ़ावा देने के लिए निर्यात की प्रक्रिया को सरल बनाया गया है। लघु उद्योगों के निर्यात सम्बद्धन हेतु निम्नलिखित उपाय किए गए हैं : (i) लघु उद्योग क्षेत्र के उत्पादों को अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शनियों में प्रदर्शित किया जाता है। इस सम्बन्ध में होने वाला खर्च सरकार वहन करती है, (ii) लघु उद्योग क्षेत्र से निर्यात को बढ़ावा देने के लिए विनिर्माता-निर्यातकों को एक्सपोर्ट हाउस/ट्रेडिंग हाउस/स्टार ट्रेडिंग हाउस/सुपर स्टार ट्रेडिंग हाउस के रूप में मान्यता प्रदान करने के उद्देश्य से तिहरा महत्व दिया जाता है। (iii) लघु उद्योग निर्यातकों को नवीनतम पैकेज मानकों, तकनीकों आदि से परिचित कराने के लिए निर्यात के लिए पैकेजिंग के सम्बन्ध में प्रशिक्षण कार्यक्रम देश के विभिन्न हिस्सों में चलाए जाते हैं। इसके लिए भारतीय पैकेजिंग संस्थान का सहयोग लिया जाता है। (iv) 20,000 ₹ तक ई.ए.एन. इंडिया द्वारा बार कोडिंग अपनाने पर हुए खर्चों को वापस किया जाता है।

17. सरकारी खरीद में लघु उद्योगों को प्राथमिकता—वर्ष 2007 में तैयार की गयी नीति के अनुसार केन्द्र सरकार के मन्त्रालयों, संस्थानों व सार्वजनिक उपक्रमों को अपनी कुल खरीद का 20 प्रतिशत लघु उद्योगों से खरीदना निश्चित किया गया है। इसके लिए राष्ट्रीय लघु उद्योग कॉरपोरेशन को मुख्य आपूर्तिकर्ता बनाया गया है। इसमें से 22.5 प्रतिशत खरीद अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लोगों के द्वारा चलाये जाने वाले और 10 प्रतिशत खरीद महिलाओं द्वारा चलाये जाने वाले उद्योगों से की जाती है।

राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम—यह लघु उद्योगों और उद्योग से जुड़े सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्योगों को प्रोन्नत करने, उन्हें सहायता देने तथा उनके विकास में तेजी लाने के मिशन को पूरा करने में लगा है। एन.एस.आई.सी. देश भर में फैले अपने 165 कार्यालयों एवं तकनीकी केन्द्रों के नेटवर्क के माध्यम से अपने क्रियाकलापों का प्रचालन करता है। निगम सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्योगों को उनके व्यवसाय में वृद्धि करने तथा उनकी प्रतिस्पर्द्धा बढ़ाने में सहायता देने के लिए उन्हें मार्केटिंग सहायता प्रौद्योगिकी सहायता ऋण सहायता अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग सम्बन्धी सहायता आदि प्रदान करता है।

नई लघु औद्योगिक नीति (NEW SMALL INDUSTRIAL POLICY)

भारत सरकार की नई लघु उद्योग नीति की प्रमुख बातें निम्न हैं :

1. विनियोग सीमा—लघु उद्योग क्षेत्र के लिए निवेश सीमा एक करोड़ रुपए है। प्रौद्योगिकी उन्नयन में सहायता पहुंचाने के लिए 71 उच्च प्रौद्योगिकी/निर्यातोन्मुखी वस्तुओं से सम्बद्ध उद्योगों में निवेश की सीमा को बढ़ाकर 5 करोड़ ₹ कर दिया गया है।

2. वित्तीय सहायता—नई औद्योगिक नीति के अन्तर्गत राष्ट्रीय समता कोष योजना के क्षेत्र को बढ़ाने का निश्चय किया गया है। अब यह योजना 10 लाख ₹ तक की परियोजनाओं में 15 प्रतिशत तक समता सहयोग कर सकेगी। इसके अतिरिक्त एकल खिड़की ऋण योजना (Single Window Loan Scheme) भी 20 लाख ₹ तक की परियोजनाओं, जिनकी कार्यशील पूंजी 10 लाख ₹ है, पर लागू कर दी गई है।

लघु स्तरीय उद्योगों की पूंजी बाजार तक पहुंच और उनकी प्रौद्योगिक बढ़ोतारी को सम्बन्ध बनाने में अन्य उद्योगों का लघु उद्योगों में 24 प्रतिशत तक समता भागीदारी लघु उद्योगों के विकास को गति प्रदान कर सकती है।

अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन कोषों की कमी लघु क्षेत्र की एक प्रमुख समस्या रही है। अतः नई नीति में सस्ते ऋण की उपलब्धता एवं उनकी सुपुर्दग्धी पर भी विशेष बल दिया गया है।

सरकार द्वारा अप्रैल, 1997 में घोषित नई साख नीति में बैंकों को यह सुनिश्चित करने का निर्देश दिया गया है कि लघु उद्योगों की सभी श्रेणियों के लिए उपलब्ध कोष का 40 प्रतिशत भाग ऐसी लघु इकाइयों को उपलब्ध कराया जाए जिनमें प्लान्ट एवं मशीनरी में निवेश 5 लाख ₹ तक हो। 5 लाख से 25 लाख ₹ तक निवेश करने वाली इकाइयों को लघु उद्योग क्षेत्र के ऋणों का 20 प्रतिशत तथा शेष इकाइयों को 40 प्रतिशत कोष उपलब्ध कराया जाए।

3. विपणन एवं निर्यात में सहायता—लघु क्षेत्र के विपणन सम्बन्धी समस्याओं के निराकरण के सम्बन्ध में कदम उठाते हुए राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम द्वारा लघु उद्योगों की वस्तुओं को बड़े पैमाने पर क्रय करने की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त, एन. एस. आई. सी. एवं एस. एस. आई. डी. सी. के मध्य समुचित तालमेल बनाए रखने का भी प्रबन्ध किया गया है।

लघु क्षेत्र की निर्यात सम्भावनाओं का विदोहन करने के लिए लघु उद्योग विकास संगठन को लघुस्तरीय उद्योगों के निर्यात प्रोत्साहन के लिए एक शीर्ष संस्था स्वीकार किया गया है।

4. संरचनात्मक सहायता—लघु उद्योगों को संरचनात्मक सुविधा उपलब्ध कराने के उद्देश्य से लघु उद्योग विकास संगठन के अधीन 'तकनीकी विकास सेल' का गठन किया गया है। इस सेल का प्रमुख उद्देश्य लघु उद्योगों में उत्पादकता तथा प्रतियोगी प्रवृत्ति को बढ़ावा देना है।

5. तकनीकी उच्चीकरण—नवीन लघु उद्योग नीति के अन्तर्गत लघु क्षेत्र में उत्पादकता, कार्यकुशलता तथा लागत प्रभावीकरण में सुधार के उद्देश्य से तकनीकी उच्चीकरण कार्यक्रम पर विचार किया गया है। इसके लिए भारतीय तकनीकी संस्थानों एवं चुने हुए इन्जीनियरिंग कॉलेजों को अपने-अपने क्षेत्रों में प्रौद्योगिकी सूचना, डिजाइन एवं विकास केन्द्रों की जिम्मेवारी निभाने की बात कही गई है।

6. उद्यमशीलता विकास—लघु उद्योगों के सफल संचालन के लिए सरकार तरह-तरह के उद्यमों के सम्बन्ध में उद्यमशीलता विकास कार्यक्रम चलाती है। देश के विभिन्न भागों एवं समाजों में उद्यमशीलता विकास को बढ़ावा देने के लिए विभिन्न उद्योग संगठनों से भी कार्यक्रम में सहयोग लेने का विचार किया गया है।

औद्योगिक क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी को बढ़ावा देने के लिए महिलां उद्यमियों को प्रशिक्षण देने के लिए विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रम संचालित करने का प्रावधान किया गया है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

- कुटीर एवं लघु उद्योगों का अन्तर समझाते हुए इनका रोजगार में क्या योगदान है समझाइए। कुटीर एवं लघु उद्योग की समस्याएं बताइए।
- भारतीय अर्थव्यवस्था में लघु उद्योगों का क्या महत्व है? सरकार ने इन्हें प्रोत्साहन देने के लिए क्या-क्या कार्य किए हैं?
- लघु उद्योगों के लिए आर्थिक एवं औद्योगिक सुधारों ने क्या चुनौती उत्पन्न की है? व्याख्या कीजिए।

24

भारत के औद्योगीकरण में सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की भूमिका

[ROLE OF PUBLIC SECTOR ENTERPRISES IN INDIA'S INDUSTRIALIZATION]

सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र से अर्थ

(MEANING OF PUBLIC AND PRIVATE SECTOR)

“सार्वजनिक क्षेत्र से अर्थ ऐसी संस्थाओं से है जिनका स्वामित्व, प्रबन्ध एवं नियन्त्रण केन्द्र, राज्य अथवा स्थानीय सरकार या किसी सार्वजनिक संस्था द्वारा किया जाता है।” यह उपक्रम या संस्थाएँ जो जनता को वस्तुएँ एवं सेवाएँ उसी प्रकार प्रदान करती हैं जिस प्रकार इन उपक्रमों के अभाव में निजी क्षेत्र के उपक्रम प्रदान करते हैं।

इसका अर्थ यह है कि यह उपक्रम निजी उपक्रम के अनुसार ही वस्तुएँ एवं सेवाएँ प्रदान करते हैं, लेकिन ऐसी संस्थाओं का स्वामित्व सरकारी होता है। यहाँ सरकारी से अर्थ केन्द्र सरकार, राज्य सरकार, स्थानीय सरकार या सार्वजनिक संस्था से लगाया जाता है।

सार्वजनिक क्षेत्र में उपक्रमों व संस्थाओं को लोक उद्योग, लोक उपक्रम, सार्वजनिक उपक्रम, राजकीय उपक्रम, सरकारी उद्योग, आदि नामों से जाना जाता है।

“निजी क्षेत्र से अर्थ ऐसी संस्थाओं से है जिनका स्वामित्व सरकारी नहीं है तथा जो जनता को वस्तुएँ एवं सेवाएँ प्रदान करती हैं।”

संसार में सभी देशों में निजी क्षेत्र की संस्थाएँ पायी जाती हैं। वास्तव में निजी क्षेत्र की संस्थाओं की शुरुआत हजारों वर्ष पहले से हुई है, जबकि सार्वजनिक क्षेत्र की शुरुआत पिछले 200-250 वर्ष पूर्व ही हुई है और उसका विस्तार उन्नीसवीं शताब्दी में तेजी से हुआ है।

सार्वजनिक क्षेत्र बनाम निजी क्षेत्र

(PUBLIC SECTOR Vs. PRIVATE SECTOR)

अथवा

सार्वजनिक क्षेत्र व निजी क्षेत्र में अन्तर

(DISTINCTION BETWEEN PUBLIC SECTOR AND PRIVATE SECTOR)

यदि व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो सार्वजनिक क्षेत्र व निजी क्षेत्र में कोई विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों का ही कार्य जन सेवा करना है। व्यापारिक सिद्धान्तों व व्यवहारों को मानना है तथा सेवा देते हुए लाभ कमाना है, लेकिन सैद्धान्तिक दृष्टि में दोनों में अन्तर पाया जाता है। यह अन्तर निम्न प्रकार है :

(1) **स्वामित्व एवं प्रबन्ध**—सार्वजनिक उद्योगों का स्वामित्व सरकार पर होता है। अतः उनके प्रबन्ध का उत्तरदायित्व भी सरकार का होता है। यदि उद्योग में पूँजी केन्द्रीय या राज्य सरकार ने लगाई है और उपक्रम कम्पनी के रूप में बना है तो उसका प्रबन्ध संचालक मण्डल द्वारा किया जाता है। यदि उपक्रम विभागीय है तो ऐसे उपक्रम का प्रबन्ध सरकार ही करती है। कभी-कभी इन उपक्रमों पर नियन्त्रण की दृष्टि से कुछ समितियाँ या संचालक मण्डल बना दिये जाते हैं जो उनके लेखे-जोखों पर नियन्त्रण रखते हैं।

लेकिन निजी क्षेत्र में स्वामित्व निजी होता है, अर्थात् ऐसी संस्थाओं में पूँजी निजी क्षेत्र की लगी होती है तथा उनका प्रबन्ध भी निजी होता है। यदि कम्पनी के रूप में उपक्रम बनाया गया है तो उसका संचालन संचालक मण्डल करता है जिसका चुनाव अंशधारी करते हैं। नीति निर्धारण भी संचालक मण्डल करता है। निजी क्षेत्र की इकाइयों पर सरकार का कोई स्वामित्व नहीं होता है और न उसे प्रबन्ध या नियन्त्रण में दखल देने का अधिकार होता है, लेकिन आजकल सरकारों को जनहित में कुछ विशेष परिस्थितियों में हस्तक्षेप करने का अधिकार कुछ देशों में पाया जाता है।

(2) **प्रमुख उद्देश्य**—सार्वजनिक क्षेत्र का प्रमुख उद्देश्य जनता की सेवा तथा कल्याण करना है जिससे कि जनता को सुख व शान्ति मिले। इसके विपरीत निजी क्षेत्र का प्रमुख उद्देश्य अधिकाधिक लाभ कमाना है जिसके लिए वे सदा ही खर्च कम करने व आय बढ़ाने में लगे रहते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे कभी-कभी कर्मचारियों व उपभोक्ताओं के हितों का भी अहित करने में नहीं चूकते हैं।

(3) **उपभोक्ताओं एवं कर्मचारियों के हितों की रक्षा**—सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम ऐसा कार्य नहीं करते हैं जो उपभोक्ताओं व कर्मचारियों के हितों के विरुद्ध होता हो, अर्थात् लोक उद्योगों को उपभोक्ताओं व कर्मचारियों के हितों की रक्षा करनी पड़ती है जिसके लिए उन्हें सामाजिक लागत (Social Cost) चुकानी पड़ती है और एक आदर्श नियोक्ता (Model Employer) के रूप में कार्य करना पड़ता है। इस प्रकार हानि झेल कर भी ये अपना कारोबार चालू रखते हैं।

इसके विपरीत निजी क्षेत्र में उपभोक्ताओं व कर्मचारियों के हितों का इतना ध्यान नहीं रखा जाता है जितना कि सार्वजनिक उपक्रमों में रखा जाता है। इस प्रकार निजी उपक्रम सामाजिक लागत को चुकाने के लिए जागरूक नहीं होते हैं।

(4) **नियन्त्रण**—सार्वजनिक क्षेत्र में नियन्त्रण सरकार का रहता है। विभागीय मन्त्री उन सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के लिए उत्तरदायी होता है जो उनके विभाग के नियन्त्रण में हैं। इसके अतिरिक्त, अनेक संसदीय समितियाँ भी इन सार्वजनिक उपक्रमों पर नियन्त्रण रखती हैं साथ ही इनका वार्षिक लेखा-जोखा एवं चिट्ठा संसद के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार इन उपक्रमों की नियन्त्रण समस्या जटिल होती है।

निजी उपक्रमों में यह समस्या इतनी जटिल नहीं होती है क्योंकि मालिक या संचालक मण्डल को वे सभी अधिकार अंशधारियों द्वारा प्रदत्त होते हैं जो उन्हें नियन्त्रण के लिए आवश्यक हैं। निजी उपक्रमों पर सरकारी नियन्त्रण नहीं होता है और वे अपना व्यापार चलाने के लिए स्वतन्त्र होते हैं।

(5) **अंकेक्षण**—सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में अंकेक्षण सरकारी नियमों के अन्तर्गत होता है, लेकिन निजी क्षेत्र के उपक्रमों में अंकेक्षण की कोई आवश्यकता नहीं होती है, परन्तु यदि निजी क्षेत्र का उपक्रम कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत एक कम्पनी के रूप में बना है तो उसका अंकेक्षण एक चार्टर्ड एकाउण्टेंट से कराना आवश्यक होता है।

(6) **उच्च प्रबन्ध का हित**—सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में उच्च प्रबन्ध पद पर सरकारी अधिकारी रहते हैं जिनका उपक्रम में कोई वित्तीय हित (Financial Interest) नहीं होता है। सभी अधिकारी व कर्मचारी वेतनभोगी होते हैं जिन पर संस्था के लाभ या हानि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। अतः उनमें कर्तव्यपरायणता का अभाव पाया जाता है।

लेकिन यदि उपक्रम निजी क्षेत्र का है तो उच्च प्रबन्ध का वित्तीय हित उस संस्था में होता है जिससे वे अपना कार्य मन लगाकर करते हैं और अपने उत्तरदायित्वों को उचित रूप से निभाते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि वे संस्था को हानि में जाने नहीं देते। उनका सदा यही प्रयास बना रहता है कि उनके उपक्रम को अधिक-से-अधिक लाभ हो।

(7) **वित्तीय व्यवस्था**—सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की वित्तीय व्यवस्था का भार सामान्यतया सरकार पर होता है, अर्थात् उन्हें स्वयं अपने साधनों से वित्तीय व्यवस्था करने का अधिकार नहीं होता है। इसके विपरीत, निजी क्षेत्र के उपक्रमों की वित्तीय व्यवस्था निजी होती है जिसे वे अपने अंश बेच कर या ऋण पत्र बेच कर या अन्य निजी संस्थाओं से ऋण लेकर पूरा कर सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि निजी संस्थाएँ अपनी वित्तीय व्यवस्था करने के लिए स्वतन्त्र होती हैं, जबकि सार्वजनिक संस्थाएँ ऐसा करने के लिए स्वतन्त्र नहीं होती हैं।

(8) **आर्थिक विकास**—सार्वजनिक क्षेत्र का समर्थन इस आधार पर किया जाता है कि उसके द्वारा देश के आर्थिक विकास में तेजी से योग दिया जाता है। इसके द्वारा भारी एवं आधारभूत उद्योग प्राथमिकता के

आधार पर स्थापित किये जा सकते हैं। साथ ही भारी पूँजी वाले उद्योग भी सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित कर देश के आर्थिक विकास की गति को तीव्र किया जा सकता है।

निजी क्षेत्र इस प्रकार के विकास में अधिक सहयोग नहीं कर सकता है और न उसके पास ऐसी योग्यता व क्षमता है। उसके पास न तो इतने पूँजी के साधन हैं और न तकनीकी व प्रबन्धकीय योग्यता। साथ ही उसमें इतनी क्षमता भी नहीं है कि वह कई वर्षों तक उद्योग स्थापित करता रहे तथा तदुपरान्त कई वर्षों तक उसके लाभों के पाने की प्रतीक्षा करता रहे।

(9) **क्षेत्रीय असमानताएँ**—सार्वजनिक क्षेत्र का यह उद्देश्य रहता है कि क्षेत्रीय असमानताओं को कम-से-कम किया जाय, इसी का परिणाम है कि आज भिलाई, राउरकेल व दुर्गापुर में इस्पात कारखाने व तमिलनाडु में नेवेली परियोजना है। इन योजनाओं के उद्देश्य आस-पास के औद्योगिक क्षेत्रों का विकास करना है।

निजी क्षेत्र का उद्देश्य ऐसे स्थानों पर उद्योग लगाना है जहाँ पहले से ही सुविधाएँ हों जिससे कि सुविधाओं पर व्यय न करना पड़े, क्योंकि उसकी धारणा है कि सुविधाओं पर व्यय करने से उद्योग की स्थापना लागत अधिक आती है जिसे सहन करने की क्षमता उसमें नहीं होती है।

(10) **संसाधन**—सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत ऐसे उद्योग स्थापित किये जा सकते हैं जिनमें भारी मात्रा में पूँजी लगाने की आवश्यकता है। सरकार ऐसे उद्योग लगाने में सक्षम है। उसके पास साधन हैं। निजी क्षेत्र इस प्रकार के उद्योग स्थापित नहीं कर सकता है, क्योंकि उसकी क्षमता अरबों रुपये किसी उद्योग में लगाने की नहीं है। साथ ही उसके पास साधनों का अभाव है।

(11) **सामाजिक परिवर्तन**—सार्वजनिक क्षेत्र सामाजिक परिवर्तन का एक साधन है। इसके माध्यम से निजी क्षेत्र के एकाधिकार को समाप्त किया जा सकता है। यदि सार्वजनिक क्षेत्र एकाधिकार प्राप्त कर लेता है तो उसका उपयोग जनहित में ही किया जाता है। वास्तव में सार्वजनिक उपक्रम निजी क्षेत्र के एकाधिकार व आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण के विरुद्ध सरकार के पास एक हथियार है।

सार्वजनिक क्षेत्र के माध्यम से जनसंख्या के एक निश्चित वर्ग को लाभ पहुँचाया जा सकता है। जैसे गरीबी रेखा से नीचे जीवन व्यतीत करने वालों को सार्वजनिक उद्योग, सस्ती वस्तु देकर, राहत दे सकते हैं और उनका जीवन ऊपर उठा सकते हैं।

वास्तव में सार्वजनिक उपक्रम आर्थिक प्रगति के लिए ही एक साधन नहीं है, बल्कि सामाजिक परिवर्तन के लिए एक मैकेनिज्म है। निजी क्षेत्र इस प्रकार के कार्य नहीं कर सकता है।

भारत में सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र

भारत के औद्योगीकरण की एक महत्वपूर्ण विशेषता है कि यहाँ सार्वजनिक व निजी दोनों ही क्षेत्र पाए जाते हैं। यह समाजवादी अर्थव्यवस्था की विशेषता है। यहाँ अब आर्थिक नियोजन अपनाया गया तो यहाँ की औद्योगिक नीति 1948 में अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण अणुशक्ति का निर्माण, रेलवे व डाक-तार के विकास एवं स्थापना का पूरा उत्तरदायित्व सरकारी रखा गया। छह उद्योगों—लोहा एवं इस्पात, कोयला, हवाई जहाज निर्माण, खनिज तेल, टेलीफोन, टेलीग्राम, बेतार के उपकरणों का निर्माण की विद्यमान इकाइयों को तो निजी क्षेत्र में रहने दिया, लेकिन नवीन इकाइयों की स्थापना राज्य के लिए सुरक्षित छोड़ दी गई। 18 उद्योगों के नियमन एवं नियन्त्रण की व्यवस्था की गई। शेष उद्योग राज्य व निजी क्षेत्रों के लिए खोल दिए गए। इसी प्रकार 1956 की नीति में 17 उद्योगों का विकास दायित्व सरकार पर रहा। 12 उद्योगों की स्थापना का अधिकार राज्य का रहा। शेष उद्योग निजी क्षेत्र के लिए छोड़ दिए गए।

इन दोनों औद्योगिक नीतियों का परिणाम यह हुआ कि सार्वजनिक क्षेत्र का विकास हुआ। 1960-61 में GDP में सार्वजनिक क्षेत्र का हिस्सा लगभग 10 प्रतिशत था वह 1980-81 में 19.7 प्रतिशत व 1988-89 में 27.1 प्रतिशत हो गया।

लेकिन नवीन औद्योगिक नीति 1991 में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका सीमित कर दी गई और निजी क्षेत्र को बढ़ाने का प्रयास किया गया है।

इस काल में सार्वजनिक क्षेत्र में बुनियादी संरचना व लोक उपयोगी संरचना का अच्छा विकास किया, लेकिन निजी क्षेत्र की कार्यक्षमता पर बुरा असर पड़ा। लोक उद्योग की अकुशलता एवं सरकारी नौकरशाही के फलस्वरूप घाटे में चले गए जिससे नवीन औद्योगिक नीति में उनकी भूमिका सीमित कर दी गई व वर्तमान

उपक्रमों को कार्यकुशलता न बढ़ाने पर उन्हें निजी क्षेत्र को दे दिया या समाप्त कर दिया जाएगा। ऐसा प्रावधान किया गया।

1948 की औद्योगिक नीति में निजी क्षेत्र की भूमिका सीमित थी। उस पर अनेक प्रतिबन्ध भी लगाए गए थे। इसी प्रकार 1956 की नीति में भी प्रतिबन्ध थे। मौटे तौर पर उपभोक्ता वस्तुएं ही निजी क्षेत्र के लिए खुली थीं। यही नहीं औद्योगिक विकास एवं नियमन औद्योगिक 1951 के अन्तर्गत इस क्षेत्र के नियन्त्रण एवं नियमन की भी व्यवस्था थी। नवीन कारखाने खोलने के लिए लाइसेंस लेना पड़ता था। इसी प्रकार कई वस्तु के उत्पादन को प्रारम्भ करने के लिए भी अनुमति आवश्यक थी कहाँ आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण न हो जाए इसके लिए भी एक अधिनियम बनाया गया—एकाधिकार एवं प्रतिबन्धित व्यापार आचरण अधिनियम 1969। इसी प्रकार इस निजी क्षेत्र पर अनेक प्रतिबन्ध थे जैसे—(i) लाइसेंस लेना, (ii) वस्तु के मूल्य व वितरण पर नियन्त्रण, (iii) विदेशी विनियम के उपयोग पर प्रतिबन्ध, (iv) आयात नियन्त्रण, (v) निर्यात नियन्त्रण, (vi) एकाधिकार नियन्त्रण, (vii) व्यापार पर प्रतिबन्ध।

इस प्रकार इन प्रतिबन्धों के कारण निजी क्षेत्र अपना विकास उचित प्रकार से न कर सका, लेकिन फिर भी इस क्षेत्र ने अच्छा विकास किया। चूंकि औद्योगिक विकास नियन्त्रणों के कारण पिछड़ रहा था। यह सोचा गया कि निजी क्षेत्र को प्रतिबन्धों से मुक्त कर उसे प्रोत्साहित किया जाए। अतः नरसिंहम समिति ने तथा सेन गुप्ता समिति ने प्रमुख तथा निम्न सुझाव दिए :

(i) व्यापार नीति को सरल बनाया जाए, (ii) भौतिक तथा परिमाणात्मक नियन्त्रण समाप्त किया जाए और उनके स्थान पर राजकोषीय तथा अन्य समष्टि प्रतिबन्ध नीति का उपयोग किया जाए, (iii) सार्वजनिक उपक्रमों को व्यावसायिक तथा परिचालन सम्बन्धी निर्णय लेने में स्वतन्त्रता दी जाए तथा (iv) उत्पादकता, कार्यक्षमता एवं आधुनिकीकरण की नीति में तेजी लाई जाए।

उपर्युक्त सुझावों के परिणामस्वरूप प्रतिबन्धों को ढीला करने का सिलसिला प्रारम्भ हुआ और 1991 की नीति में निजी क्षेत्र को प्रायः नियन्त्रण से मुक्त कर दिया। इससे निजी क्षेत्र में कारखानों की संख्या, रोजगार, पूँजी, आदि की वृद्धि हुई।

सरकार की वर्तमान नीति निजी उद्योग को बढ़ावा देने व उसको प्रतियोगी बनाने की है। इसके लिए उसे अनेक रियायतें दी जा रही हैं और उस पर लगे प्रतिबन्धों को ढीला किया जा रहा है। यही नहीं श्रम कानूनों में भी आवश्यक संशोधन किए जा रहे हैं जिससे कि उनका उत्पादन निर्विवाद रूप से बिना रुकावट के बढ़ सके।

लेकिन दूसरी ओर सार्वजनिक उद्योगों को भी निजी क्षेत्रों को बेचा जा रहा है। इससे सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका भविष्य में सीमित रूप में ही रहने की सम्भावना है।

भारत विश्व व्यापार संगठन का सदस्य है। अतः इसको आयात करों व आयात कोटों जैसी रुकावटों को समाप्त करना है जिससे कि विदेशी माल बिना रोक-टोक के भारत में आ सके। इससे यहां के निजी उद्योगों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। अतः इस बात की आवश्यकता है कि निजी उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता से जूझने के लिए अपनी लागत कम करनी होगी जिसको मशीनों में आधुनिकीकरण करके किया जा सकता है। साथ ही प्रबन्ध में भी कुशलता लानी होगी। क्वालिटी में सुधार करना होगा तथा मजदूरों को भी अपनी मानसिकता में परिवर्तन करना होगा।

उदारीकरण एवं निजीकरण

(LIBERALISATION AND PRIVATISATION)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त सरकार की यह धारणा थी कि उद्योगों के निजीकरण पर कुछ प्रतिबन्ध अवश्य लगाये जायें जिससे कि नियोजित मिश्रित अर्थव्यवस्था (Planned Mixed Economy) के अन्तर्गत वे अपना विकास कर सकें और उनका उद्देश्य केवल लाभ कमाना ही न रहे।

केन्द्र सरकार ने 1951 में औद्योगिक विकास एवं नियमन अधिनियम, 1951 पास कर 8 मई, 1952 से लागू किया। इस अधिनियम के मुख्य उद्देश्य औद्योगिक विकास का नियमन करना, एकाधिकार को दूर रखना, धन के केन्द्रीकरण को रोकना, आदि हैं। इस अधिनियम के अन्तर्गत उन सभी उद्योगों को जिनका नाम अधिनियम की सूची में दिया है, लाइसेंस लेना अनिवार्य होता है या विस्तार के लिए भी अनुमति लेनी

होती है, परन्तु औद्योगिक नीति, 1991 में अब लाइसेंस केवल 5 उद्योगों के लिए ही लिये जायेंगे। शेष के लिए कोई लाइसेंस लेना अनिवार्य नहीं है।

इसी प्रकार 1969 में एकाधिकारी एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापारिक पद्धतियाँ अधिनियम, 1969 1 जून, 1970 से लागू किया गया है। इस अधिनियम के अन्तर्गत वे उद्योग जिनकी सम्पत्ति 100 करोड़ ₹ थी या वे संस्थाएँ जो अपने उद्योगों की इकाइयों की कुल क्षमता के 1/3 से अधिक भाग को नियन्त्रित करती थी तो उनको केन्द्रीय सरकार से अपने विस्तार के लिए अनुमति लेनी होती थी। साथ ही 100 करोड़ ₹ से अधिक सम्पत्ति वाली संस्थाएँ भी बिना केन्द्रीय सरकार की अनुमति के स्थापित नहीं हो सकती थीं, परन्तु औद्योगिक नीति, 1991 के अन्तर्गत अब बिना केन्द्रीय सरकार की अनुमति के भी 100 करोड़ ₹ से अधिक सम्पत्ति वाली संस्थाएँ स्थापित हो सकती हैं। उन्हें विस्तार के लिए अनुमति लेना आवश्यक नहीं होगा।

परन्तु अब सरकार की नीति में परिवर्तन आया है और सरकार ने उपर्युक्त प्रकार के प्रतिबन्धों को ढीला किया है जिससे कि निजी उद्योगों को अपने विकास का अवसर मिल सके। विदानों ने इस परिवर्तन को उदारीकरण या निजीकरण को बढ़ावा देने वाला बताया है।

अब प्रश्न यह है कि सरकार इस प्रकार निजीकरण को बढ़ावा क्यों दे रही है? इसका उत्तर है, “भारतीय उद्योगों को अधिक उपयोगी, उत्पादक तथा लागत-क्षम बनाने के लिए” वास्तव में भारत में सरकारी उद्योगों की तुलना में निजी उद्योगों की लागत कम आती है। वे अपनी क्षमता का पूरा-पूरा उपयोग करते हैं तथा उत्पादन बढ़ाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। निर्यातों में वृद्धि करते हैं। बढ़ती हुई जनसंख्या को वस्तुएँ उपलब्ध कराने में समर्थ हैं।

सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम से अर्थ

सार्वजनिक उपक्रम व राजकीय उपक्रम एक-दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं। अतः दोनों को एक ही अर्थ में प्रयोग किया जाता है। इस सम्बन्ध में परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं :

(1) एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (Encyclopaedia Britannica) के अनुसार, “लोक उपक्रम का आशय प्रायः ऐसी सरकारी संस्थाओं से है जो जनता के लिए वस्तुएँ एवं सेवाएँ उसी रूप में प्रदान करती हैं जिस रूप में इन लोक उपक्रमों के अभाव में निजी उपक्रम प्रदान करते हैं।”

(2) राय, चौधरी एवं चक्रवर्ती (Roy, Chaudhary and Chakravarty) के मत में, “व्यवसाय में राजकीय उपक्रम ऐसा स्वरूप है जो सरकार के द्वारा संचालित एवं नियन्त्रित होता है तथा सरकार उसकी एकमात्र स्वामी होती है या बड़ी अंशधारी होती है।”¹

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि (i) सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम या राजकीय उपक्रम सरकारी संस्थाएँ होती हैं। (ii) जो वस्तुओं एवं सेवाओं का विक्रय करती हैं। (iii) यह विक्रय उसी प्रकार करती हैं, जैसे निजी व्यवसायी करते हैं। (iv) इन उपक्रमों का संचालन एवं नियन्त्रण सरकार द्वारा किया जाता है। (v) इन उपक्रमों पर स्वामित्व पूर्ण रूप से सरकार का होता है या सरकार अधिकांश अंश-पूंजी पर नियन्त्रण रखती है।

इस प्रकार कह सकते हैं कि राजकीय या सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम एक व्यवसायी संस्था होती है जिन पर स्वामित्व एवं नियन्त्रण सरकार का होता है।

भारत में सार्वजनिक उपक्रमों का महत्व

आज विश्व के सभी विकासशील देश आर्थिक नियोजन के आधार पर अपना विकास करने का प्रयास कर रहे हैं, जिसके लिए विशाल पूंजी के विनियोग की आवश्यकता होती है जिसको निजी क्षेत्र पूरा करने में अपने को असमर्थ पाता है। इन कार्यक्रमों में जोखिम भी अधिक होती है। तत्काल लाभ मिलना भी कठिन होता है। इच्छानुसार तीव्र औद्योगिकरण भी विभिन्न अवरोधों के कारण नहीं हो पाता है। अतः भारत में सार्वजनिक उपक्रमों के विकास के लिए निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं जिन्हें सार्वजनिक उपक्रमों के विकास के महत्व के रूप में भी रखा जा सकता है :

(1) समाजवादी समाज की स्थापना—भारत सरकार ने दिसम्बर 1954 में समाजवादी समाज की स्थापना का निश्चय किया। द्वितीय योजना में कहा गया है कि “समाजवादी ढंग के समाज को राष्ट्रीय आय के रूप

¹ “State enterprise in business denotes an undertaking which is controlled and operated by the Government as its sole owner or major shareholder.” —Roy, Chaudhary & Chakravarty

में अपनाने एवं नियोजन एवं तीव्र विकास की आवश्यकता की पूर्ति के लिए यह अनिवार्य है कि आधारभूत एवं केन्द्रीय महत्व के सभी उद्योग तथा जन-उपयोगी सेवाओं से सम्बन्धित उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में हों। इस प्रकार सार्वजनिक उपक्रमों के विकास से समाजवादी समाज की स्थापना करने में सहयोग मिलेगा।”

(2) एकाधिकार एवं केन्द्रीकरण पर नियन्त्रण—सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करके निजी क्षेत्र के एकाधिकार को समाप्त किया जा सकता है तथा आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण जो कुछ निजी व्यक्तियों के हाथों में हो गया है पर नियन्त्रण रखा जा सकता है और उन्हें जनहित में कार्य करने के लिए विवश किया जा सकता है।

(3) उपभोक्ताओं के लिए लाभकारी—सार्वजनिक उपक्रम उपभोक्ताओं के लिए लाभकारी हैं। इनके होने से निजी क्षेत्र शोषण नहीं कर पाता है तथा सरकार द्वारा विभेदात्मक मूल्य नीति अपनाकर कम आय वाले जन समुदाय को लाभ पहुंचाया जा सकता है। इस नीति में एक ही वस्तु का कम आय वालों से कम मूल्य व अधिक आय वालों से अधिक मूल्य लिया जाता है।

(4) सार्वजनिक उपक्रमों के लाभों का जनहित में उपयोग—सार्वजनिक उपक्रमों से होने वाले लाभों को सरकार को लाभांश के रूप में दे दिया जाता है जिन्हें सरकार जनहित में उपयोग कर सकती है।

(5) क्षेत्रीय विकास में सन्तुलन—पूँजीपति व उद्योगपति उन्हीं स्थानों पर कारखाने, मिल व उद्योग खोलते हैं जहाँ प्राकृतिक साधन उपलब्ध होते हैं तथा जहाँ स्थापित करने से लाभ की सम्भावनाएँ अधिक होती हैं। इससे क्षेत्रीय सन्तुलन नहीं रहता है। कुछ क्षेत्रों का विकास तीव्र गति से हो जाता है तो कुछ क्षेत्र पिछड़े रह जाते हैं। सार्वजनिक उपक्रम इस खार्ड को पाठने में सहायक होते हैं। इसलिए उनकी स्थापना देश में भिन्न-भिन्न स्थानों पर होती है।

(6) साधनों का आवश्यकतानुसार आबंटन—देश में उपलब्ध साधनों का सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा प्राथमिकताओं के आधार पर आबंटन किया जाता है जो देश के हित में होता है। निजी व्यवसायी इस बात का ध्यान नहीं रखते हैं। वे उन उद्योगों को स्थापित करते हैं जो शीघ्र एवं अधिक लाभ देने वाले होते हैं, परन्तु उन उद्योगों में धन नहीं लगाते हैं जहाँ लाभ की सम्भावनाएँ या जहाँ हानि की सम्भावनाएँ अधिक होती हैं।

(7) आर्थिक विकास की दर में वृद्धि—योजनाओं में आर्थिक विकास की दर का लक्ष्य रखा जाता है जिसे निजी क्षेत्र अकेले ही प्राप्त कर ले। ऐसा सम्भव नहीं होता है, क्योंकि इसमें निजी क्षेत्र की अपनी सीमाएँ होती हैं; जैसे पूँजी का अभाव, तकनीक का अभाव, आदि। अतः यह आवश्यक है कि विकास दर को प्राप्त करने के लिए सार्वजनिक उपक्रमों के विकास का महत्व है।

(8) निजी क्षेत्र की बुराइयाँ—निजी क्षेत्र में पूँजी की सीमितता है तथा इसमें कुछ बुराइयाँ भी हैं; जैसे अधिक लाभ कमाने की लालसा, मजदूरों को आवश्यक मजदूरी न देना, कृत्रिम कमी पैदा करना, दुर्लभ पदार्थों को अधिकाधिक लाभ पर बेचना, आदि। इससे समाज को हानि होती है। अतः निजी क्षेत्र की बुराइयों एवं सीमाओं के लिए सार्वजनिक उपक्रमों के विकास का महत्व है।

(9) सुरक्षा उद्योगों के लिए—प्रत्येक देश में कुछ सुरक्षा उद्योग होते हैं जो देश के लिए अन्ध-शास्त्र, गोला-बारूद, मशीन व उपकरण बनाते हैं। यह सर्वथा उचित है कि ऐसे उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में ही हों जिससे कि उन पर सरकार का पूरा नियन्त्रण रह सके।

(10) जन-उपयोगी सेवाओं के लिए—कुछ सेवाएँ जन सेवाएँ होती हैं जिनको सार्वजनिक क्षेत्र में रखा जाना चाहिए। इन सेवाओं में पानी व बिजली पूर्ति, परिवहन, स्वास्थ्य सुविधा, आदि आती हैं।

(11) आधारभूत संरचना के निर्माण के लिए—देश के उचित औद्योगिकरण के लिए यह आवश्यक है कि आधारभूत संरचना का निर्माण किया जाय। इस सम्बन्ध में सार्वजनिक क्षेत्र एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

भारत में सार्वजनिक उपक्रमों के उद्देश्य

भारत में सार्वजनिक उपक्रमों को विभिन्न उद्देश्यों को लेकर स्थापित किया गया है। यह उद्देश्य भिन्न-भिन्न उपक्रमों में भिन्न-भिन्न हैं। इन सभी उद्देश्यों को चार भागों में विभाजित कर सकते हैं :

(1) राष्ट्रीय उद्देश्य—बहुत-से सार्वजनिक उपक्रम राष्ट्रीय महत्व को ध्यान में रखकर स्थापित किये गये हैं; जैसे राष्ट्रीय हुक्मांश।

(2) सामाजिक उद्देश्य—भारत में सार्वजनिक उपक्रमों की स्थापना के कुछ उद्देश्य सामाजिक भी हैं; जैसे (i) समाज को रोजगार देने के लिए, (ii) बीमार उद्योगों को स्वस्थ बनाने के लिए, (iii) एकाधिकारी प्रवृत्ति को रोकने के लिए, (iv) आय की असमानता को कम करने के लिए, (v) उचित वितरण के लिए, व (vi) वस्तुओं की कमी दूर करने के लिए।

(3) आर्थिक उद्देश्य—कुछ सार्वजनिक उपक्रम आर्थिक उद्देश्यों से प्रेरित होकर भी स्थापित किये गये हैं; जैसे (i) योजनाबद्ध विकास करने के लिए, (ii) क्षेत्रीय असन्तुलन कम करने के लिए, (iii) भावी विकास हेतु वित्तीय साधन जुटाने के लिए, (iv) विकास दर में वृद्धि करने के लिए, व (v) निर्यात वृद्धि के लिए।

(4) अन्य उद्देश्य—(i) तकनीकी क्षेत्र में आत्मनिर्भर बनाने के लिए, व (ii) लघु एवं कुटीर उद्योगों की सहायता के लिए।

भारत के औद्योगिकरण में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका

भारत में केन्द्रीय सरकार के सार्वजनिक उपक्रमों का अस्तित्व स्वतन्त्रता से पूर्व भी था, लेकिन यह कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित था; जैसे सैनिक साज-सज्जा उत्पादन, डाक-तार की व्यवस्था, रेल परिवहन। यह सभी विभागीय उपक्रम (Departmental Undertakings) थे।

1948 व 1956 की औद्योगिक नीतियों में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों की स्थापना पर बल दिया गया जिसके फलस्वरूप हिन्दुस्तान शिपयार्ड, हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, सिन्दरी फर्टिलाइजर, हिन्दुस्तान एण्टिबायोटिक्स, चित्तरंजन लोकोमोटिव्स, इण्डियन टेलीफोन इण्डस्ट्रीज; दुर्गापुर, राउरकेला व भिलाई में इस्पात के कारखाने, आयल इण्डिया, हैवी इंजीनियरिंग कॉर्पोरेशन, फर्टिलाइजर कॉर्पोरेशन; भारतीय जीवन बीमा निगम व राज्य व्यापार निगम; होशंगाबाद में सिक्योरिटी पेपर मिल, बंगलौर में एच. एम. टी. फैक्टरी, कोयली में तेल शोधक कारखाना व कोटा में प्रेसीजन इन्स्ट्रूमेण्ट फैक्टरी, आदि खोली गयीं।

नियोजन काल में केन्द्रीय सरकार के सार्वजनिक उपक्रमों का विकास निम्न प्रकार हुआ है :

वर्ष	उपक्रमों की संख्या	कुल विनियोजित पूँजी (करोड़ ₹ में)
1950-51 (प्रथम वर्ष प्रथम योजना)	5	29
1960-61 (अन्तिम वर्ष द्वितीय योजना)	47	948
1973-74 (अन्तिम वर्ष चतुर्थ योजना)	122	6,237
1984-85 (अन्तिम वर्ष छठवीं योजना)	215	42,673
1996-97 (अन्तिम वर्ष आठवीं योजना)	238	2,01,500
2011-12 (अन्तिम वर्ष ग्यारहवीं योजना)	260	7,29,228
2013-14	290	9,92,971

भारतीय अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा महत्वपूर्ण योगदान दिया गया है। देश का वर्तमान औद्योगिक एवं आर्थिक ढाँचा एक सीमा तक सार्वजनिक उपक्रमों की भूमिका का ही परिणाम है जिसे सार्वजनिक उपक्रमों की उपलब्धियां भी कह सकते हैं। यह भूमिका या उपलब्धियां निम्न हैं :

(1) राष्ट्रीय आय में योगदान—सार्वजनिक उपक्रमों की निरन्तर वृद्धि के कारण देश की शुद्ध आय में उनका योगदान बराबर बढ़ रहा है।

(2) पिछड़े हुए अविकसित क्षेत्रों का विकास—सार्वजनिक उपक्रमों का भारतीय अर्थव्यवस्था में दूसरा महत्वपूर्ण योगदान भारत के पिछड़े एवं अविकसित क्षेत्रों का विकास करना है। सार्वजनिक उपक्रमों पर जितना विनियोग किया गया है उसका अधिकांश भाग देश के 10 पिछड़े एवं अविकसित राज्यों में लगा हुआ था। यह राज्य हैं—नगालैण्ड, जम्मू एवं कश्मीर, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, असम, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, उड़ीसा, आन्ध्र प्रदेश व बिहार।

(3) रोजगार अवसरों में वृद्धि—सार्वजनिक उपक्रमों की स्थापना होने से देश में रोजगार अवसरों में वृद्धि हुई है जिससे बेरोजगारी की समस्या को हल करने में महत्वपूर्ण योगदान मिला है। 1964-65 में सार्वजनिक उपक्रमों में केवल 4 लाख व्यक्तियों को ही रोजगार मिला हुआ था, लेकिन 2012 में इनकी संख्या बढ़कर 17.61 लाख हो गयी।

(4) आधारभूत एवं पूँजीगत उद्योगों का विकास—सार्वजनिक उपक्रमों की बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका आधारभूत एवं पूँजीगत उद्योगों के विकास में रही है जिसके फलस्वरूप लोहा एवं इस्पात उद्योग, भारी इंजीनियरिंग उद्योग, रसायन एवं उर्वरक उद्योग, भारी मशीन उद्योग, परिवहन सेवाओं, आदि का विकास हुआ है। आज भारत में अनेक वस्तुएँ ऐसी बनने लगी हैं जिनका पहले उत्पादन नहीं होता था; जैसे सुरक्षा की साज-सज्जा, हवाई जहाज, पानी के जहाज, अस्त्र-शस्त्र, उपभोक्ता वस्तुएँ, घड़ियाँ, आदि।

(5) निर्यात वृद्धि में योगदान—सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा निर्यात वृद्धि में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया जा रहा है। 1970-71 में सार्वजनिक उपक्रमों का निर्यात में भाग केवल 12.3 प्रतिशत था। यह वर्तमान में बढ़कर लगभग 24 प्रतिशत हो गया है। यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

(6) लघु एवं सहायक उद्योगों के विकास में योगदान—देश में बहुत से लघु एवं सहायक उद्योगों की स्थापना सार्वजनिक उपक्रमों के निदेशन एवं सहायता से की गयी है।

(7) बीमार मिलों के पुनर्वास में सहायता—सार्वजनिक उपक्रमों ने बीमार मिलों का पुनर्वास करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। सार्वजनिक उपक्रम राष्ट्रीय सूती वस्त्र निगम इस सम्बन्ध में आजकल 100 से अधिक मिलों का नियन्त्रण अपने हाथ में लिये हुए हैं जिनके पुनर्वास पर यह करोड़ों ₹ व्यय कर रहा है।

(8) आत्मनिर्भरता को प्राप्त करने में सहयोग—सार्वजनिक उपक्रमों का प्रमुख योगदान आत्मनिर्भरता को प्राप्त करने में सहयोग देना है। भारतीय इस्पात उद्योग के विभिन्न उपकरणों व संयन्त्रों के निर्माण में भारत एक सीमा तक आत्मनिर्भर हो गया है। बहुत-सी मशीनरी व इंजीनियरिंग का सामान अब आयात नहीं किया जाता है। रासायनिक उर्वरकों का उत्पादन काफी बढ़ा है। हवाई जहाज व पानी के जहाज अब भारत में बन रहे हैं। इस्पात के उत्पादन में भी सार्वजनिक क्षेत्र में काफी वृद्धि हुई है। विभिन्न प्रकार की इकाइयाँ अब भारत में ही मिल जाती हैं। यह सब सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार का ही परिणाम है।

सार्वजनिक उपक्रमों की लाभदायकता (PROFITABILITY OF PUBLIC ENTERPRISES)

सार्वजनिक उपक्रमों की लाभदायकता के प्रश्न पर सभी विद्वान एवं विचारक एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि इन उपक्रमों की स्थापना का उद्देश्य लाभार्जन नहीं है, बल्कि आधारभूत संरचना का निर्माण करना एवं समाज सेवा करना है। दूसरी ओर विद्वानों का तर्क है चूंकि यह उपक्रम निजी उपक्रमों की तरह के हैं, अतः इनसे भी उतना ही लाभ मिलना चाहिए जितना निजी उपक्रमों से मिलता है, लेकिन हम यहाँ सन्तुलित विचारधारा को ले सकते हैं जिसमें कह सकते हैं कि सार्वजनिक उपक्रमों को लाभ देना चाहिए, लेकिन यह लाभ निजी उपक्रमों से कुछ कम हो सकता है।

भारत सरकार के अनेक सार्वजनिक उपक्रम या तो घाटे पर चल रहे हैं या उनके द्वारा जो लाभ अर्जित किया जा रहा है वह विनियोजित पूँजी की तुलना में पर्याप्त नहीं है। इन सार्वजनिक उपक्रमों में लाभदायकता का अनुपात (Profitability ratio) निजी उपक्रमों की तुलना में कम है, लेकिन पिछले कुछ वर्षों से इसमें सुधार हुआ है।

सार्वजनिक उपक्रमों में लाभदायकता कम होने के कारण—सार्वजनिक उपक्रमों में लाभदायकता कम होने के प्रमुख कारण हैं : (1) क्षमता का अपूर्ण उपयोग—सार्वजनिक उपक्रमों की लाभदायकता कम होने का एक कारण क्षमता का अपूर्ण उपयोग है। (2) कर्मचारियों के वेतनों व भत्तों का अधिक होना—सार्वजनिक उपक्रमों की लाभदायकता कम होने का दूसरा कारण कर्मचारियों के वेतन व भत्तों का अधिक होना है। (3) लम्बी परिपक्वता अवधि—सार्वजनिक क्षेत्र के कुछ उपक्रम ऐसे हैं जिनमें काफी पूँजी लगी है, लेकिन इनकी परिपक्वता अवधि लम्बी है; जैसे इस्पात, इंजीनियरिंग, रसायन एवं उर्वरक। इस कारण भी उन उपक्रमों की लाभदायकता कम है। (4) अत्यधिक स्टॉक—सार्वजनिक उपक्रमों में उचित प्रबन्धकीय योग्यता के अभाव के कारण स्टॉक की मात्रा सदा ही अत्यधिक रहती है। अत्यधिक स्टॉक रहने से पूँजी का एक बहुत बड़ा भाग इसमें विनियोजित रहता है जिससे लाभ कम हो जाते हैं। (5) प्रबन्धकों का प्रशिक्षित न होना—अधिकांश सार्वजनिक उपक्रमों के प्रबन्धक, प्रबन्ध मण्डल के सदस्य एवं उच्च अधिकारी भारतीय प्रशासनिक सेवा (I.A.S.) के हैं या इसमें व्यावसायिक सेवा से अवकाश प्राप्त हैं जिन्हें न तो व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया गया है और न जिनके पास व्यावसायिक उपक्रम का अनुभव है। अतः वे अपने उपक्रम को व्यावसायिक स्तर पर चलाने में अपने आपको समर्थ नहीं पाते हैं। (6) श्रम-कल्याण तथा सामाजिक सुविधाओं पर अधिक व्यय—समाजवादी दायित्व को निभाने के लिए

सार्वजनिक उपक्रम श्रम-कल्याण पर निजी क्षेत्र की तुलना में अधिक व्यय करते हैं। यह उपक्रम सामाजिक एवं नागरिक सुविधाओं पर भी अधिक व्यय करते हैं, जबकि निजी क्षेत्र इस मद पर बहुत ही कम व्यय करते हैं। इन सभी कारणों से इनकी लाभप्रदता कम रहती है। (7) अल्प-विकसित क्षेत्रों में सार्वजनिक उपक्रमों की स्थापना—कुछ सार्वजनिक उपक्रम उन स्थानों पर स्थापित किये गये हैं जहाँ पर आवश्यक सुविधाओं का अभाव है। इससे वहाँ पर कच्चा माल पहुंचाने एवं वहाँ से पक्का माल देश के भीतर भेजने में अधिक व्यय आता है जिससे उपक्रमों की लाभदायकता कम हो जाती है। (8) कर्मचारियों की मनोवृत्ति—सार्वजनिक उपक्रमों की कम लाभदायकता का सेवसे महत्वपूर्ण कारण इन उपक्रमों के कर्मचारियों की मनोवृत्ति है। यह कर्मचारी अपने आपको सरकारी कर्मचारी की भाँति मानते हैं। अतः उपक्रम की हानि को कम करने का प्रयत्न नहीं करते हैं। इसके विपरीत, वे सरकारी कर्मचारियों की भाँति सभी लाभ, भत्ते व सुविधाएँ चाहते हैं।

अतः लाभप्रदता को बढ़ाने के लिए आवश्यक है कि (1) उपक्रमों को पूर्ण क्षमता पर काम करने का प्रयास करना चाहिए। (2) कर्मचारियों के वेतन व भत्ते उत्पादकता (Productivity) पर आधारित होने चाहिए। (3) वे उपक्रम जो लम्बी परिपाक अवधि वाले हैं उनमें भित्तियां से काम लेना चाहिए। (4) उपक्रमों को अपना स्टॉक कम करने का प्रयत्न करना चाहिए। केवल उतना ही स्टॉक रखना चाहिए जितना वांछनीय है। (5) प्रबन्धकों का एक पेशेवर कैडर होना चाहिए। इसके लिए निजी उद्योग के कुशल प्रबन्धकों को आकर्षित करना चाहिए तथा वर्तमान प्रबन्धकों को उचित प्रशिक्षण देकर इस कैडर में शामिल कर लिया जाना चाहिए और उनका अन्य सेवा का अधिकार (lien) समाप्त कर दिया जाना चाहिए। (6) कर्मचारियों की मनोवृत्ति बदलनी चाहिए तथा अधिक कार्य के लिए अधिक पारिश्रमिक देने की व्यवस्था होनी चाहिए। (7) तत्काल निर्णय हानियों को कम करने में महत्वपूर्ण योग दे सकते हैं। इसके लिए सार्वजनिक उपक्रमों में अधिकार का विकेन्द्रीकरण प्रभावी ढंग से किया जाना चाहिए।

भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की समस्याएँ

(PROBLEMS OF PUBLIC SECTOR ENTERPRISES IN INDIA)

भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों का काफी विकास हुआ है। इससे अर्थव्यवस्था सुदृढ़ हुई है, निर्यात में वृद्धि हुई है, उत्पादन में विविधता आयी है और बहुत-से मामलों में भारत या तो आत्म-निर्भर बन गया है या बनने की स्थिति पर पहुंच रहा है, लेकिन इन सबके होते हुए भी सार्वजनिक उपक्रमों की आलोचना निम्न दोषों या समस्याओं के कारण की जाती है :

(1) कुशलता का अभाव—भारतीय सार्वजनिक उपक्रमों की सबसे बड़ी आलोचना उनमें कुशलता का अभाव है। इसके कई कारण हैं जिनमें प्रमुख आई. ए. एस. अधिकारियों द्वारा इन उपक्रमों का प्रबन्ध करना है जिन्हें न तो व्यावसायिक उपक्रमों का ज्ञान होता है और न उनको इस सम्बन्ध में नियुक्त करने के पूर्व कोई प्रशिक्षण दिया जाता है। इसके अतिरिक्त कर्मचारियों में सरकारी कर्मचारियों की भाँति मनोवृत्ति होने से भी इनकी कुशलता निजी क्षेत्र के उपक्रमों से कम रहती है। अतः सुझाव दिया जाता है कि इन उपक्रमों के प्रबन्ध के लिए एक पेशेवर प्रबन्धकों का कैडर (Professional Cadre of Managers) होना चाहिए जिन्हें व्यावसायिक उपक्रम चलाने का पर्याप्त प्रशिक्षण देने के बाद ही इन उपक्रमों में नियुक्त किया जाना चाहिए। अन्य कर्मचारियों की मनोवृत्ति भी बदलने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। इसके लिए उनकी मजदूरी उपक्रम की उत्पादकता के साथ जोड़ी जानी चाहिए।

(2) क्षमता का कम उपयोग—सार्वजनिक उपक्रमों का दूसरा दोष इन उपक्रमों द्वारा अपनी क्षमता का पूरा उपयोग न करना है। इसके कारण साज-सज्जा की कमी, शक्ति की कमी, कच्चे माल की कमी या निम्न कोटि का होना, साज-सज्जा का यकायक खराब होना, प्रबन्धकीय योग्यता की कमी व माँग की कमी होना है। इस सम्बन्ध में सुझाव दिया जाता है कि इन उपक्रमों को अपनी क्षमता का पूर्ण उपयोग करने के लिए प्रबन्धकीय योग्यता में सुधार करना चाहिए। साज-सज्जा की कमी को दूर करना चाहिए। शक्ति की कमी दूर करने का प्रयत्न स्वयं अपने विद्युत् घर लगाकर किया जा सकता है। कच्चे माल की प्राप्ति कर उसकी पूर्ति बढ़ायी जानी चाहिए।

(3) प्रेरणा का अभाव—सार्वजनिक उपक्रमों में अधिक कार्य करने की प्रेरणाओं का अभाव पाया जाता है जिसके कारण कर्मचारियों की मनोवृत्ति सरकारी कर्मचारियों की भाँति बन जाती है जो एक व्यावसायिक उपक्रम के लिए कभी भी उचित नहीं हैं। इससे उत्पादन कम होता है, लागत बढ़ती है व लाभों में कमी

आती है। अतः सुझाव दिया जाता है कि सार्वजनिक उपक्रम की कार्यप्रणाली में आवश्यक फेरबदल किया जाना चाहिए तथा प्रेरणा देने वाली योजनाओं को लागू किया जाना चाहिए। इसके लिए अतिरिक्त लाभों में कर्मचारियों का हिस्सा व श्रमिकों का प्रबन्ध में हिस्सा देने वाली जैसी योजनाओं को लागू किया जा सकता है।

(4) कर्मचारियों की अधिकता—सरकार के अनुसार सार्वजनिक उपक्रमों में आवश्यकता से अधिक कर्मचारी हैं। इस सम्बन्ध में सुझाव है कि अधिक (Surplus) कर्मचारियों को तुरन्त हटाया जाना चाहिए और उन्हें उन उपक्रमों में नियुक्त किया जाना चाहिए जहाँ कर्मचारियों की आवश्यकता है।

(5) उपक्रमों का हानि पर चलना—सार्वजनिक उपक्रमों में अनेक उपक्रम भारी हानि पर चल रहे हैं। इसके लिए सुझाव दिया जाता है कि ऐसे उपक्रमों की संख्या कम करने का प्रयास करना चाहिए।

(6) अति-पूंजीकरण—सार्वजनिक उपक्रमों की एक कमी उनमें अति-पूंजी का होना है। विद्वानों का कहना है कि सार्वजनिक उपक्रमों में कई उपक्रम ऐसे हैं जिनमें आवश्यकता से अधिक पूंजी लगी हुई है। इसके कारण त्रुटिपूर्ण नियोजन, मशीनों का आधिक्य, निर्माण में देरी, प्रायोजनाओं का गलत स्थानीयकरण, आदि हैं। इससे उपक्रमों में लगी पूंजी से प्राप्त होने वाले प्रतिफल में कमी हो जाती है। इसके लिए सुझाव दिया जाता है कि अति-पूंजी की स्थिति को सुधारने के लिए उपक्रम का मूल्यांकन किया जाना चाहिए और जहाँ आवश्यकता से अधिक पूंजी हो उसे वहाँ से हटाकर अन्य उपयोगी कार्यों में लगाया जाना चाहिए।

(7) परियोजना पूर्ण होने में देरी—सार्वजनिक उपक्रमों की योजनाओं में यह पाया जाता है कि वे पूर्व-निर्धारित समय में पूर्ण नहीं हो पाती हैं और उनके पूरे होने में निर्धारित समय से अधिक समय लग जाता है। उदाहरण के लिए, ट्राम्बे में स्थापित उर्वरक कारखाने के लगाने में 7 वर्ष लगे थे, जबकि मूल रूप से यह योजना 3 वर्षों में पूरी होनी थी। इसी प्रकार बोकारो इस्पात कारखाने के साथ भी हुआ है।

(8) उपभोक्ता माँग को सन्तुष्ट करने में असफल—कई सार्वजनिक उपक्रम उपभोक्ता को सन्तुष्ट करने में असफल रहे हैं। यह असफलता दो दृष्टिकोणों से है। एक तो सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा उत्पादित वस्तु की क्वालिटी निजी क्षेत्र में उत्पादित वस्तुओं की क्वालिटी से निम्न है। दूसरे यह उपक्रम पूरी उपभोक्ता माँग को सन्तुष्ट करने में असमर्थ रहे हैं। भारत में इस्पात काफी बनाया जाता है, लेकिन फिर भी इसको विदेशों से आयात करना पड़ता है। अतः (i) सार्वजनिक उपक्रमों को अपनी क्वालिटी सुधारने का प्रयास करना चाहिए तथा (ii) अपने उत्पादन में वृद्धि करनी चाहिए जिससे कि देश की आन्तरिक माँग को पूरा किया जा सके।

(9) राजनीतिक हस्तक्षेप—भारत के सार्वजनिक उपक्रमों का एक महत्वपूर्ण दोष राजनीतिक हस्तक्षेप है जो इनके सफल संचालन में बाधा डालता है। यह हस्तक्षेप कई रूपों में होता है; जैसे प्रबन्धकों व संचालकों की नियुक्ति, उनके स्थानान्तरण एवं पदोन्नति, कर्मचारियों की भर्ती, माल का क्रय एवं विक्रय, आदि। यह एक ऐसा दोष है जिसका निवारण स्वयं राजनीतिज्ञ ही कर सकते हैं। यदि वे रोकना चाहेंगे तो यह रुक सकता है।

सुधार के बाद सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र में परिवर्तन

सरकार की औद्योगिक एवं आर्थिक नीति में परिवर्तन होने के कारण सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के सम्बन्ध में भी सरकार की नीति में परिवर्तन आया है। अब सरकार की नीति निजी उपक्रमों को बढ़ावा देने तथा सार्वजनिक उपक्रमों को सीमित करने की है। साथ ही जो सार्वजनिक उपक्रम हानि पर चल रहे हैं उन्हें निजी उद्योगपतियों को साझे के आधार पर या पूर्ण स्वामित्व के आधार पर हस्तान्तरित करने की है। यही नहीं, अब सरकार लाभ वाले उपक्रमों की पूंजी को भी जनता को दे रही है जिससे कि संयुक्त स्वामित्व के लाभ सरकार को मिल सकें।

इस परिवर्तन से सार्वजनिक उपक्रमों की लाभदायकता बढ़ने व उन्हें प्रतियोगी होने की सम्भावनाएँ बढ़ गई हैं।

आर्थिक एवं औद्योगिक सुधार के बाद सरकार की सोच एवं कार्यप्रणाली में परिवर्तन आया है जिन्हें संक्षेप में निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :

(1) सार्वजनिक क्षेत्र की गतिविधियों को सीमित करना—अब सरकार सार्वजनिक क्षेत्र को सीमित करती जा रही है। एक ऐसी आम सहमति बन गयी है कि सरकार को वाणिज्यिक उद्यम चलाने के कार्य में शामिल नहीं होना चाहिए। अतः घाटे के सार्वजनिक उपक्रमों को निजी क्षेत्र को बेचा जा रहा है जिसके दो लाभ हैं—एक और तो सरकार इनके घाटे से बच जाती है। दूसरी ओर निजी व्यक्ति उन्हें देश की धारा के अनुरूप बनाते हैं जिससे उत्पादन बढ़ता है। राष्ट्रीय आय बढ़ती है व देश का विकास होता है।

सरकार लाभ वाले सार्वजनिक उपक्रमों को भी निजी व्यक्तियों को बेच रही है जिससे उनकी कार्यकुशलता में घृद्धि हो सके। क्योंकि सार्वजनिक उपक्रमों में लालफीताशाही रहती है व उनके कर्मचारी कार्यकुशलता पर विश्वास नहीं करते हैं जबकि दूसरी ओर वही व्यवसाय जब निजी क्षेत्र के पास चला जाता है तो वे ही कर्मचारी कार्यकुशलता बढ़ाने का प्रयास करते हैं क्योंकि उनकी नौकरी कार्यकुशलता पर आधारित हो जाती है।

(2) निजी क्षेत्र को बढ़ावा—सुधार कार्यक्रम के चलने से सरकार के द्वारा निजी क्षेत्र को बढ़ावा दिया जा रहा है। सरकारी प्रतिबन्ध समाप्त किए जा रहे हैं। कुछ मामलों में तो समाप्त कर दिए गए हैं। इससे सरकारी हस्तक्षेप की कमी हो रही है और निजी क्षेत्र अपना विकास करने के लिए स्वतन्त्र हो गया है।

इससे उत्पादन बढ़ने व देश का विकास होने की सम्भावनाएं बढ़ गई हैं। श्रम के सम्बन्ध में भी श्रम कानूनों में संशोधन किए जा रहे हैं जिससे उत्पादन वेरोकटोक हो सके।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. निजी क्षेत्र व सार्वजनिक क्षेत्र से आप क्या समझते हैं? इनके अन्तर की व्याख्या कीजिए।
2. भारत के आर्थिक विकास में सार्वजनिक क्षेत्र के योगदान की विवेचना कीजिए।
3. भारत के सार्वजनिक उपक्रमों के प्रमुख दोषों को विस्तार से समझाइए।
4. औद्योगीकरण में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका की व्याख्या कीजिए।

25

विदेशी व्यापार की भूमिका

[ROLE OF FOREIGN TRADE]

(निर्यात-आयात प्रवृत्ति, भारत के विदेशी व्यापार
की दिशा एवं रचना)

(TRENDS IN EXPORTS AND IMPORTS, COMPOSITION AND
DIRECTION OF INDIA'S FOREIGN TRADE)

विदेशी व्यापार की भूमिका

प्राचीन काल में भारत का विदेशी व्यापार बहुत ही महत्वपूर्ण था। आज से हजारों वर्ष पूर्व ही भारत के व्यापारिक सम्बन्ध पश्चिम एशिया एवं यूरोपीय देशों से थे। उस समय की विशेषता यह थी कि भारत का सदा ही निर्यात आधिक्य (Export Surplus) रहता था। इसलिए भारत को सोने की चिड़िया कहा जाता था। रोमन इतिहासकार प्लिनी (Pliny) के अनुसार, भारत में सोना नदी के समान बहता था (Gold flowed in India like river)। बालकृष्ण ने अपनी पुस्तक *Commercial Relations between India and England* में लिखा है कि अकेले ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय 210 लाख पौण्ड का सोना भारत में आया।

लेकिन यह क्रम अधिक समय तक न चल सका। ब्रिटिश सरकार ने अपनी राजनीतिक शक्ति के आधार पर भारतीय व्यापार के ढाँचे को बिल्कुल ही उलट दिया जिसके अनुसार उन्होंने दुहरी व्यापार नीति (Dual trade policy) अपनायी। इंग्लैण्ड में निर्मित माल को भारत में बिना किसी प्रतिबन्ध के आयात किया जाने लगा और भारत में औद्योगिक माल के निर्यात को हतोत्साहित किया गया। इससे भारतीय उद्योग नष्ट ही नहीं हुए, बल्कि भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटेन के हितों को पूरा करने का साधन मात्र बना लिया गया। वी. वी. भट्ट के अनुसार, 1927 से 1929 के बीच भारत की राष्ट्रीय आय का 2 से 3 प्रतिशत भाग इंग्लैण्ड चला गया। यदि यह भाग देश में ही विनियोजित होता तो इससे विकास की दर बढ़ती व देश की समृद्धि होती।

द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व के दो वर्षों (1937-38 व 1938-39) में भारत का निर्यात 179 करोड़ ₹ का था जिसका आधे से अधिक भाग ऐसे देशों को निर्यात किया गया जो ब्रिटिश साम्राज्य के अंग थे तथा कुल निर्यात का एक-तिहाई इंग्लैण्ड को ही निर्यात किया गया। आयात भी लगभग इसी प्रकार थे। 163 करोड़ ₹ के आयातों में से आधे आयात ब्रिटिश साम्राज्य के देशों से और उनमें से भी 1/3 केवल इंग्लैण्ड से थे।

इस युद्ध का भारत के विदेशी व्यापार पर प्रभाव पड़ा। शत्रु राष्ट्रों से भारत का व्यापार बिल्कुल समाप्त हो गया तथा तटस्थ राष्ट्रों के साथ व्यापार में रुकावटें पैदा हो गयीं, लेकिन इंग्लैण्ड तथा मित्रराष्ट्रों में भारतीय वस्तुओं की माँग बढ़ गयी जिसके फलस्वरूप कच्चा माल, खाद्यान्न व कुछ निर्मित माल इन देशों को भेजा जाने लगा। इससे भारत से निर्यातों में वृद्धि हुई और व्यापार-सन्तुलन (Balance of Trade) अनुकूल रहा।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय 1947 में भारत का विदेशी व्यापार औपनिवेशिक व्यापार (Colonial trade) का रूप लिये हुए था जिससे इसका अधिकांश व्यापार ब्रिटेन व राष्ट्रमण्डलीय देशों के साथ था। भारत के निर्यात में जूट, चाय, सूती वस्त्र, मसाले, अध्रक व मैंगनीज प्रमुख थे। आयात मुख्य रूप से निर्मित वस्तुओं का ही होता था।

स्वतन्त्रता के पश्चात् आयात-निर्यात् प्रवृत्ति

1947 में स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत ने अपने उत्थान एवं विकास के लिए 1 अप्रैल, 1951 से योजनाएँ प्रारम्भ की हैं जिनके फलस्वरूप आयात एवं निर्यात में ही वृद्धि नहीं हुई है, बल्कि विदेशी व्यापार का स्वरूप ही बदलता जा रहा है। गत वर्षों में आयात एवं निर्यात संलग्न तालिकानुसार रहे हैं :

तालिका से स्पष्ट है कि योजना काल में (1) आयात में 4,466 गुने व निर्यात में 3,144 गुने की वृद्धि हुई है; (2) व्यापार-सन्तुलन दो वर्षों को छोड़कर सदा ही भारत के प्रतिकूल रहा है; (3) विदेशी व्यापार की संरचना (Composition) में भारी परिवर्तन हुए हैं; (4) विश्व व्यापार में भारत के निर्यात का प्रतिशत जो 1948-49 में 2.2 प्रतिशत था वर्तमान में घटकर 1.7 प्रतिशत रह गया है।

भारत का विदेशी व्यापार (करोड़ ₹ में)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापार-सन्तुलन
1950-51	608	606	- 2
1960-61	1,122	642	- 480
1970-71	1,634	1,535	- 99
1980-81	12,549	6,711	- 5,838
1990-91	43,198	32,553	-10,645
2000-01	2,30,873	2,03,571	- 27,302
2009-10	13,63,736	8,45,534	- 5,18,202
2010-11	16,83,467	16,83,467	- 5,46,503
2013-14	27,15,434	19,05,011	- 8,10,423

भारतीय विदेशी व्यापार की दिशा

(DIRECTION OF INDIA'S FOREIGN TRADE)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् आर्थिक नियोजन प्रारम्भ करने से भारत के विदेशी व्यापार में भारी परिवर्तन हुए। आयात एवं निर्यात में नयी-नयी वस्तुएँ जुड़ी हैं। कुल व्यापार व आयात एवं निर्यात में भारी वृद्धि हुई है। सरकारी हस्तक्षेप में बढ़ोत्तरी हुई है। विदेशी व्यापार लगभग प्रति वर्ष प्रतिकूल रहा है। आयात एवं निर्यात नये-नये देशों से बढ़ा है। यह सभी बातें भारत में विदेशी व्यापार की आधुनिक प्रवृत्तियों या स्वरूप एवं दिशा में हुए परिवर्तन या दिशा एवं रचना में परिवर्तन कहलाती हैं। इन सभी का विवरण निम्नलिखित है :

(1) **विदेशी व्यापार की मात्रा में वृद्धि**—भारत में आर्थिक नियोजन के कारण विदेशी व्यापार की मात्रा में बराबर वृद्धि होती रही है। आयात में 4,466 गुनी व निर्यात में 3,144 गुने की वृद्धि हुई है। जो आयात 1951-52 में 608 करोड़ ₹ के थे वे बढ़कर 2013-14 में 27,15,434 करोड़ ₹ के हो गये। इसी प्रकार निर्यात भी जिसका मूल्य 1950-51 में 606 करोड़ ₹ था, 2013-14 में बढ़कर 19,05,011 करोड़ ₹ हो गया। कुल व्यापार जो 1950-51 में 1,214 करोड़ ₹ का था वह 2013-14 में बढ़कर 46,20,445 करोड़ ₹ का हो गया है।

(2) **प्रतिकूल व्यापार-सन्तुलन**—योजनाकाल में विदेशी व्यापार का सन्तुलन दो वर्षों (1972-73 व 1976-77) को छोड़कर शेष सभी वर्षों में प्रतिकूल रहा है। 1972-73 में 104 करोड़ से व 1976-77 में 68 करोड़ रुपये से विदेशी व्यापार अनुकूल रहा है। 1950-51 में व्यापार-सन्तुलन 2 करोड़ रुपये से प्रतिकूल था जो बढ़कर 1990-91 में 10,645 करोड़ ₹ हो गया है, लेकिन 2013-14 में और अधिक बढ़कर 8,10,423 करोड़ ₹ हो गया है।

(3) **निर्यात व्यापार की रचना में परिवर्तन**—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त निर्यात व्यापार में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय भारत सूती कपड़ा, जूट एवं जूट की वस्तुएँ, चाय, चमड़ा एवं उससे बनी वस्तुएँ, कच्चा लोहा, खली, काजू व मसालों का निर्यात करता था, लेकिन अब नवीन वस्तुओं का निर्यात किया जा रहा है; जैसे साइकिलें, बिजली के पंखे, सिलाई मशीनें, मोटरें, रेल के डिब्बे, टेलीफोन की साज-सज्जा, मोती एवं बहुमूल्य पत्थर, जवाहरात के जेवरात, लोहा एवं इस्पात, रासायनिक पदार्थ, मैग्नीज, चाँदी, चीनी, जूते एवं चप्पल, आदि।

भारत के परम्परागत निर्यातों में सूती वस्त्र, जूट एवं जूट की वस्तुएँ तथा चाय आते हैं जिनका 1950-51 में कुल निर्यात में 55 प्रतिशत हिस्सा था। अब इन तीनों का हिस्सा काफी कम हो गया है। इसके विपरीत, इन्जीनियरिंग की वस्तुएँ, मोती एवं बहुमूल्य पत्थर, सिलेसिलाये वस्त्र, हस्तकला की वस्तुएँ व रसायन, आदि का हिस्सा इसी काल में काफी बढ़ गया है।

(4) आयात व्यापार की रचना में परिवर्तन—आयात व्यापार में भी परिवर्तन हुए हैं। खाद्यान्नों का आयात बहुत कम हुआ है। मशीनें व अन्य पूँजीगत वस्तुओं, रसायन एवं उर्वरक, लोहा एवं इस्पात, पेट्रोलियम, तेल एवं अन्य चिकनाई पदार्थ, कपास, अलौह धातुओं, मोती व बहुमूल्य पत्थर आदि के आयातों में भारी वृद्धि हुई है।

(5) निर्यात व्यापार की दिशा में परिवर्तन—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय भारत का अधिकांश निर्यात व्यापार ब्रिटेन, राष्ट्रमण्डलीय देशों तथा अमरीका से था। 1951-52 में भारत के कुल निर्यात में ब्रिटेन का हिस्सा 27 प्रतिशत व अमरीका का 19 प्रतिशत था। ब्रिटेन का हिस्सा अब घटकर 2.4 प्रतिशत रह गया है जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रतिशत 6.1 है। इसी प्रकार ऑस्ट्रेलिया व कनाडा का भाग 1951-52 में क्रमशः 7 व 2.3 प्रतिशत था जो अब घटकर क्रमशः 2.2 व 0.8 प्रतिशत के लगभग रह गया है।

वर्ष 2013-14 में भारत के निर्यातों में पांच शीर्षस्थ देश संयुक्त अरब अमीरात (9.7%), संयुक्त राज्य अमेरिका (12.42%), चीन (4.77%), सिंगापुर (3.96%), तथा हांगकांग (4.05%) थे।

(6) आयात व्यापार की दिशा में परिवर्तन—निर्यात व्यापार की तरह ही आयात व्यापार की दिशा में भी परिवर्तन हुआ है। 1951-52 में अमरीका एवं ब्रिटेन का हिस्सा भारत के कुल आयात में क्रमशः 24 प्रतिशत व 19 प्रतिशत था, वह अब 2013-14 में घटकर क्रमशः 4.99 प्रतिशत व 3.0 प्रतिशत रह गया है, लेकिन चीन, संयुक्त अरब अमीरात एवं सऊदी अरब से आयात में वृद्धि हुई है।

वर्ष 2013-14 में भारत के आयतों में पांच शीर्षस्थ देश चीन (11.39%), संयुक्त अरब अमीरात (6.41%), स्वीटजरलैण्ड (4.14%), सऊदी अरब (8.12%), तथा संयुक्त राज्य अमेरिका (4.99%) थे।

(7) सरकार द्वारा नियन्त्रित संस्थाओं द्वारा विदेशी व्यापार—भारत के विदेशी व्यापार की एक विशेषता यह भी रही है कि सरकार द्वारा नियन्त्रित संस्थाएँ भी विदेशी व्यापार करने लगी हैं। कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध में तो केवल इन्हीं संस्थाओं को विदेशी व्यापार करने की अनुमति दी जाती है।

भारत में इस प्रकार की कई संस्थाएँ हैं; जैसे भारतीय राज्य व्यापार निगम, हस्तकला एवं हथकरघा निर्यात निगम, भारतीय काजू निगम, भारतीय चलचित्र निर्यात निगम, भारतीय खनिज एवं धातु निगम, भारतीय अध्रेक व्यापार निगम, भारतीय चाय व्यापार निगम, भारतीय परियोजना एवं सामग्री निगम। इस प्रकार के निगमों के अतिरिक्त अनेक सरकारी कम्पनियाँ हैं, जो निर्यात व्यापार में संलग्न हैं; जैसे हिन्दुस्तान मशीन टूल्स। सरकारी कम्पनियों व संस्थाओं का भारत के निर्यात में प्रतिशत बराबर बढ़ रहा है।

भारत के विदेशी व्यापार की रचना (COMPOSITION OF INDIA'S FOREIGN TRADE)

वर्तमान में भारत के प्रमुख आयात

वर्तमान में भारत के प्रमुख आयात निम्न प्रकार रहे हैं जो भारत के विदेशी व्यापार की रचना करते हैं। भारत के प्रमुख आयात इस प्रकार हैं :

(1) पेट्रोलियम, तेल तथा चिकनाई पदार्थ—देश के आर्थिक विकास में पेट्रोलियम तथा चिकनाई पदार्थों का काफी महत्व है। इसका प्रयोग परिवहन के साधनों को चलाने व मशीनों व पुर्जों को गतिशील बनाये रखने में किया जाता है। भारत में इसका उत्पादन माँग से बहुत कम है। अतः रूस, स्प्यांस, ईरान, अमरीका, आदि से इसको आयात किया जाता है। 1950-51 में 54 करोड़ ₹ के मूल्य के इस प्रकार के पदार्थों का आयात किया गया था, जबकि 2013-14 में बढ़कर 9,97,885 करोड़ ₹ का हो गया है।

(2) मशीनें एवं अन्य पूँजीगत वस्तुएँ—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त भारत के आयातों में मशीनों व अन्य पूँजीगत वस्तुओं का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। 1950-51 में 126 करोड़ ₹ की मशीनों व परिवहन साधनों का आयात किया गया था जो बढ़कर 2013-14 में 3,28,866 करोड़ ₹ का हो गया है।

(3) उर्वरक एवं रसायन पदार्थ—भारत में कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए उर्वरकों की माँग बराबर बढ़ती जा रही है, लेकिन उर्वरकों का उत्पादन माँग से कम होने के कारण उनको आयात करना पड़ता है। इसी प्रकार रंग उद्योगों व दवाइयों के लिए रसायनों का आयात करना पड़ता है। 1950-51 में 31 करोड़ ₹ मूल्य के

उर्वरक एवं रसायन पदार्थों का आयात किया गया था जबकि 2013-14 में 1,42,652 करोड़ ₹ के मूल्य का। भारत में उर्वरक एवं रसायन पदार्थों का उत्पादन बढ़ रहा है। अतः इनके आयात में गिरावट होने की सम्भावना है।

(4) **लोहा एवं इस्पात**—भारत में लोहा एवं इस्पात की माँग उसकी पूर्ति से अधिक है। अतः इसको जर्मनी, इंग्लैण्ड, हंगरी, अमरीका, आदि देशों से आयात किया जाता है। 1950-51 में 114 करोड़ ₹ के मूल्य का लोहा एवं इस्पात आयात किया गया था जो कि 2013-14 में बढ़कर 48,081 करोड़ ₹ का हो गया है।

(5) **प्लास्टिक का सामान**—भारत प्लास्टिक का सामान आयात करता है। 1960-61 में इसका आयात केवल 9 करोड़ रुपये का था वह बढ़कर 2013-14 में 54,970 करोड़ ₹ का हो गया है।

(6) **कपास, ऊन व जूट के रेशे**—भारत को अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए कपास, ऊन व जूट आयात करना पड़ता है। 1960-61 में इन तीनों का आयात 91 करोड़ ₹ का था जो 2013-14 में 4,484 करोड़ ₹ का हो गया है।

(7) **अलौह वस्तुएँ**—भारत लोहे के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को भी आयात करता है जिसमें तौँबा प्रमुख है। 1950-51 में इस प्रकार की धातुओं का कोई आयात नहीं किया गया था, जबकि इनका आयात 2013-14 में 2,26,160 करोड़ ₹ का हुआ है।

(8) **दवाइयां**—भारत में दवाइयों का आयात 1960-61 में केवल 10 करोड़ ₹ का था जो बढ़कर 2013-14 में 17,941 करोड़ ₹ का हो गया है।

(9) **खाद्य तेल**—पिछले कुछ वर्षों से देश में तिलहनों का उत्पादन उनकी माँग के अनुरूप न होने के कारण भारत को खाद्य तेलों का आयात करना पड़ता है। 2013-14 में इसी प्रकार के 56,572 करोड़ ₹ के मूल्य के खाद्य तेलों का आयात किया गया है।

(10) **मोती एवं बहुमूल्य पत्थर**—भारत में मोती एवं बहुमूल्य पत्थरों का भी आयात किया जाता है जिससे कि इनसे गहने बनाकर निर्यात किया जा सके। 2013-14 में 1,44,167 करोड़ ₹ के मूल्य के मोती एवं बहुमूल्य पत्थरों का आयात किया गया है।

वर्तमान में भारत के प्रमुख निर्यात

(1) **इन्जीनियरिंग की वस्तुएँ**—योजनाओं के फलस्वरूप भारत में नयी-नयी वस्तुएँ बनने ही नहीं लगी हैं, बल्कि भारत उनका निर्यात भी करने लगा है। इन्जीनियरिंग वस्तुओं के निर्यात में साइकिलें, पंखे, सिलाई की मशीनें, मोटरें, रेल के डिब्बे, टेलीफोन, तार, संचाद की साज-सज्जा, आदि शामिल हैं। वर्ष 2013-14 में इन्जीनियरिंग वस्तुओं का निर्यात 3,74,951 करोड़ ₹ था।

(2) **चाय**—चाय का निर्यात भारत में परम्परागत (traditional) निर्यातों में सदा ही महत्वपूर्ण रहा है और आज भी महत्वपूर्ण है। भारत चाय उत्पादकों एवं निर्यातकों में एक प्रमुख देश रहा है। यहाँ की कुल उत्पादित चाय का एक अच्छा भाग निर्यात कर दिया जाता है। 1950-51 में चाय का निर्यात 180 करोड़ ₹ का हुआ था जो 2013-14 में बढ़कर 4,873 करोड़ ₹ का हो गया है।

(3) **कॉफी**—भारत का कॉफी का निर्यात भी बराबर बढ़ रहा है। 1950-51 में केवल 1.4 करोड़ ₹ के मूल्य की कॉफी का निर्यात किया गया था जो 2013-14 में बढ़कर 4,799 करोड़ ₹ का हो गया है।

(4) **जूट वस्तुएँ**—जूट भारत की परम्परागत (traditional) निर्यात वस्तुओं में से एक है। पहले जूट पर भारत का लगभग एकाधिकार था, लेकिन पूर्वी पाकिस्तान (अब बांग्लादेश) के बनने के बाद यह एकाधिकार नहीं रहा, लेकिन आज भी भारत जूट वस्तुओं के निर्यात में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। 1950-51 में भारत ने 113 करोड़ ₹ के मूल्य की जूट वस्तुओं का निर्यात किया था, लेकिन यह निर्यात बांग्लादेश व इण्डोनेशिया जैसे देशों की कटु प्रतियोगिता के कारण बराबर कम होता जा रहा है। 2013-14 में भारत ने 2,428 करोड़ ₹ की जूट वस्तुओं का ही निर्यात किया है।

(5) मोती एवं बहुमूल्य पत्थर—भारत से मोती एवं बहुमूल्य पत्थर जैसे हीरा, आदि के निर्यात का कार्य पहले नाममात्र का ही था, लेकिन आज इसने भारत के निर्यात में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। 1960-61 में इनका निर्यात केवल एक करोड़ ₹ था जो 2013-14 में बढ़कर 2,50,353 करोड़ ₹ हो गया है। इस प्रकार के निर्यात की बढ़ने की सम्भावनाएँ हैं, क्योंकि इन वस्तुओं की माँग तेल उत्पादन करने वाले पश्चिमी एशिया के देशों में काफी है।

(6) कच्चा लोहा—नियोजन काल से ही कच्चे लोहे के निर्यात की शुरुआत हुई है। 1960-61 में इसका निर्यात 17 करोड़ ₹ का था जो बढ़कर 2013-14 में 9,481 करोड़ ₹ का हो गया है।

(7) चमड़ा एवं चमड़े का सामान—भारत से चमड़ा व चमड़े का सामान निर्यात बहुत पहले से हो रहा है। 1950-51 में इसके निर्यात का मूल्य 25 करोड़ ₹ का था जो 2013-14 में बढ़कर 34,732 करोड़ ₹ का हो गया है। इसके ग्राहक अमरीका, रूस, फ्रांस, जर्मनी, हॉलैण्ड, आदि हैं।

(8) सूती वस्त्र—सूती वस्त्र भारत की परम्परागत निर्यात वस्तुओं में से एक है। इसके ग्राहक अमरीका, ब्रिटेन, ऑस्ट्रेलिया, श्रीलंका, मिस्र, ईरान, इण्डोनेशिया, सूडान, आदि हैं। 1950-51 में 119 करोड़ ₹ के मूल्य का मिल निर्मित कपड़ा व हथकरघा कपड़ा निर्यात किया गया था, जबकि इनका 2013-14 में निर्यात 58,663 करोड़ ₹ का रहा।

(9) रसायन व सम्बन्धित वस्तुएँ—भारत में प्रगति होने के साथ-साथ अनेक रसायन व इनसे सम्बन्धित वस्तुएँ बनने लगी हैं और उनका निर्यात भी होने लगा है। 1960-61 में इस प्रकार की 7 करोड़ ₹ के मूल्य की वस्तुओं का निर्यात किया गया था जो 2013-14 में बढ़कर 2,17,055 करोड़ ₹ का हो गया है।

(10) मछली व मछली से बनी वस्तुएँ—भारत मछली व मछली से बनी वस्तुओं का भी निर्यात करने लगा है। 1960-61 में इस प्रकार की केवल 5 करोड़ ₹ मूल्य की वस्तुओं का निर्यात किया गया था जो 2013-14 में बढ़कर 30,627 करोड़ ₹ का हो गया है।

(11) सिलेसिलाये वस्त्र—यहाँ से सिलेसिलाये कपड़े भी निर्यात किये जाने लगे हैं। 1960-61 में इनका निर्यात केवल एक करोड़ ₹ का था जो 2013-14 में बढ़कर 90,718 करोड़ ₹ पहुंच गया है।

(12) हस्तकला की वस्तुएँ—1950-51 में हस्तकला व गलीचों, आदि का निर्यात केवल 11 करोड़ ₹ का था जो बढ़कर 2013-14 में 16,241 करोड़ ₹ का हो गया है।

(13) खली (Oil Cakes)—खली का निर्यात 1960-61 में केवल 14 करोड़ ₹ का था वह बढ़कर 2013-14 में 17,070 करोड़ ₹ का हो गया है।

(14) अन्य वस्तुएँ—उपर्युक्त वस्तुओं के अतिरिक्त भारत कुछ और वस्तुओं का निर्यात करता है, जिनमें से प्रमुख हैं : (i) काजू, (ii) तम्बाकू, (iii) चाँदी, (iv) मसाले, (v) चीनी, आदि।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. 1950 से भारत के आयात-निर्यात की रचना में क्या परिवर्तन हुए हैं? विस्तार से समझाइए।
2. भारतीय विदेशी व्यापार की दिशा में योजनाकाल में हुए परिवर्तनों की व्याख्या कीजिए।
3. टिप्पणी लिखिए :
 - (i) भारत के प्रमुख निर्यात कौन-कौन से हैं?
 - (ii) भारत के प्रमुख आयात।

26

भुगतान-सन्तुलन संकट

[BALANCE OF PAYMENT CRISIS]

व्यापार-सन्तुलन का अर्थ

व्यापार-सन्तुलन के अन्तर्गत आयातों और निर्यातों का विस्तृत विवरण रहता है अथवा यह कहा जा सकता है कि व्यापार-सन्तुलन, आयातों एवं निर्यातों के अन्तर को स्पष्ट करता है। किसी देश का व्यापार-सन्तुलन या तो अनुकूल हो सकता है अथवा प्रतिकूल। जब एक देश के आयातों की तुलना में, उसके निर्यात अधिक होते हैं तो उसे अनुकूल व्यापार-सन्तुलन (Favourable Balance of Trade) कहते हैं और जब निर्यातों की तुलना में, आयात अधिक होते हैं तो इसे प्रतिकूल व्यापार-सन्तुलन (Unfavourable Balance of Trade) कहते हैं।

भुगतान-सन्तुलन का अर्थ

भुगतान-सन्तुलन से आशय देश के समस्त आयातों एवं निर्यातों एवं अन्य सेवाओं के मूल्यों के सम्पूर्ण विवरण से होता है। इसका विवरण तैयार करते समय दोहरी प्रविष्टि प्रणाली अपनाई जाती है जिसमें शेष विश्व के साथ किसी देश के लेखे का विवरण होता है। इनके अन्तर्गत लेन-देन के दो पक्ष होते हैं। एक ओर तो देश की विदेशी मुद्रा की लेनदारियों का विवरण रहता है जिसे धनात्मक पक्ष कहते हैं तथा दूसरी ओर उस देश की समस्त देनदारियों का विवरण रहता है जिसे ऋणात्मक पक्ष कहते हैं।

भुगतान-सन्तुलन को भुगतान शेष भी कहा जाता है।

यहां भुगतान-सन्तुलन की कुछ परिभाषाएं दी जा रही हैं :

प्रो. वाल्टर क्राउसे (Prof. Krause) के अनुसार, “किसी देश का भुगतान-सन्तुलन उसके निवासियों एवं शेष विश्व के निवासियों के बीच दी हुई अवधि में (साधारण रूप से एक वर्ष) पूर्ण किए गए समस्त आर्थिक लेन-देन का एक व्यवस्थित विवरण अथवा लेखा है।”¹

जेम्स इंग्राम (James Ingram) के अनुसार, “भुगतान-सन्तुलन एक देश के उन सभी आर्थिक लेन-देनों का संक्षिप्त विवरण है जो उसके एवं शेष विश्व के निवासियों के बीच एक दिए हुए समय में किए जाते हैं।”

प्रो. बेनहम (Benham) के अनुसार, “किसी देश का भुगतान-सन्तुलन, उसका शेष विश्व के साथ एक समय की अवधि में किए जाने वाले मौद्रिक लेन-देन का विवरण है जबकि एक देश का व्यापार-सन्तुलन एक निश्चित अवधि में उसके आयातों एवं निर्यातों के बीच सम्बन्ध है।”²

प्रो. हैबरलर के अनुसार, “भुगतान-सन्तुलन शब्द का प्रयोग विदेशी चलन की सम्पूर्ण मांग एवं पूर्ति की परिस्थितियों से है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विवेचन में इसी अर्थ में भुगतान-सन्तुलन का प्रयोग बहुधा किया जाता है।”

किण्डलबर्गर के अनुसार, “किसी देश का भुगतान सन्तुलन उस देश के नागरिकों तथा विदेशी देश के निवासियों के बीच एक निश्चित समयावधि में होने वाले समस्त आर्थिक लेन-देन का क्रमबद्ध व्यौरा है।”

¹ “The balance of payment of a country is a systematic record of all economic transactions completed between its residents and residents of the world during a given period of time usually a year.” —Krause

² “Balance of payment of a country is a record of its monetary transactions over a period, with the rest of the world while the balance of trade of a country is the relation over a period, between the value of her exports and the value of her imports.” —Benham

व्यापार-सन्तुलन और भुगतान-सन्तुलन में अन्तर

भुगतान-सन्तुलन से मिलता-जुलता शब्द व्यापार-सन्तुलन है अतः इन दोनों में अन्तर समझ लेना चाहिए जो निम्न तीन प्रकार का है :

(1) व्यापार-सन्तुलन के अन्तर्गत केवल वस्तुओं के आयात और निर्यातों का विस्तृत विवरण रहता है, किन्तु भुगतान-सन्तुलन में केवल वस्तुओं के आयातों-निर्यातों का ही नहीं वरन् सेवाओं, पूँजी, स्वर्ण, आदि का भी समावेश किया जाता है। इस सन्दर्भ में इसका उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि आयात-निर्यात दो प्रकार के होते हैं—दृश्य (Visible) एवं अदृश्य (Invisible)। दृश्य मदों का अर्थ केवल उन वस्तुओं से है जिनके लिए यद्यपि देशों द्वारा आपस में भुगतान किया एवं लिया जाता है जबकि अदृश्य मदों में सेवाओं के आयात-निर्यात को सम्मिलित किया जाता है जिनका देश के बन्दरगाहों पर कोई लेखा नहीं होता। इस प्रकार जहां व्यापार-सन्तुलन में केवल दृश्य मदों का समावेश होता है, भुगतान-सन्तुलन में दृश्य एवं अदृश्य दोनों ही मदों का समावेश होता है।

(2) व्यापार-सन्तुलन और भुगतान-सन्तुलन में दूसरा महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि व्यापार-सन्तुलन किसी भी समय अनुकूल या प्रतिकूल हो सकता है किन्तु भुगतान-सन्तुलन सदैव सन्तुलित रहता है। प्रो. क्रासे के अनुसार, “यह सम्भव है कि एक देश का व्यापार-सन्तुलन, सन्तुलित न रहे किन्तु उसका भुगतान-सन्तुलन हमेशा सन्तुलित रहता है।”

(3) व्यापार-सन्तुलन की तुलना में भुगतान-सन्तुलन अधिक व्यापक है क्योंकि भुगतान-सन्तुलन में दृश्य मदों के अतिरिक्त अन्य अदृश्य मदों का समावेश भी होता है। इस प्रकार व्यापार-सन्तुलन, भुगतान-सन्तुलन का एक अंग है और यह सबसे बड़ा अंग है। यदि किसी देश का व्यापार-सन्तुलन उनके पक्ष में नहीं है तो यह अधिक चिन्ता की बात नहीं है, किन्तु यदि भुगतान-सन्तुलन देश के पक्ष में नहीं है तो यह देश की प्रतिकूल आर्थिक-स्थिति का प्रतीक है एवं देश के लिए चिन्ता का विषय है।

भुगतान-सन्तुलन की मदें

भुगतान-सन्तुलन एक प्रकार का विवरण या खाता है जिसके दो भाग होते हैं। एक भाग में निर्यात से प्राप्त आय व अन्य प्राप्त आय लिखी जाती है, जबकि दूसरे भाग में आयात के भुगतान तथा अन्य सेवाओं, आदि के आयात के भुगतान को लिखा जाता है। इन प्राप्तियों व भुगतानों को दो भागों में बांटा जाता है :

(1) चालू खाता (Current Account) व (2) पूँजीगत सौदे (Capital Transactions)।

(1) चालू खाते में, (i) व्यापार-सन्तुलन (Trade Balance); (ii) अदृश्य (Invisible) मदें जैसे सेवाओं का आयात-निर्यात, विदेशी यात्रा, परिवहन, बीमा व विनियोगों, आदि से आय व (iii) गैर-मौद्रिक स्वर्ण की गतिशीलता (Non-monetary Gold Movement) शामिल की जाती हैं।

भुगतान-सन्तुलन का विवरण

लेनदारी या समाकलन (दृश्य एवं अदृश्य मदें)	देनदारी या विकलन (दृश्य एवं अदृश्य मदें)
<ol style="list-style-type: none"> 1. वस्तुओं के निर्यात का मूल्य 2. सेवाओं के निर्यात से प्राप्त आय 3. विदेशी ऋणों पर प्राप्त आय व मूलधन की वापसी 4. विदेशी विनियोगों की वापसी तथा उन पर प्राप्त लाभांश 5. विदेशी सरकारों द्वारा व्यय 6. विदेशी पर्यटकों एवं छात्रों द्वारा व्यय 7. जनसंख्या के आवास से प्राप्त होने वाला धन 8. विदेशों से प्राप्त दण्ड, मुआवजा, उपहार, दान व युद्ध सम्बन्धी व्यय 	<ol style="list-style-type: none"> 1. वस्तुओं के आयात का मूल्य 2. सेवाओं के आयात के लिए किया गया भुगतान 3. विदेशों से प्राप्त धन पर ब्याज का भुगतान व मूलधन की वापसी 4. विदेशियों द्वारा किये गये विनियोगों की वापसी तथा उन पर लाभांश की वापसी 5. देश की सरकार द्वारा विदेशों में व्यय 6. देश के पर्यटकों एवं छात्रों द्वारा विदेशों में व्यय 7. जनसंख्या के प्रवास से विदेशियों को किये जाने वाले भुगतान 8. विदेशों को दिया जाने वाला दण्ड, मुआवजा, उपहार, दान व युद्ध सम्बन्धी व्यय

(2) पूँजीगत सौदों में (i) निजी प्राप्तियाँ व निजी भुगतान, (ii) सरकारी प्राप्तियाँ व सरकारी भुगतान, (iii) विदेशी ऋणों के ब्याज व मूलधन का भुगतान, (iv) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I.M.F.) से रुपयों की खरीद व (v) बैंकिंग पूँजी की शुद्ध राशियाँ शामिल की जाती हैं।

भुगतान-शेष में घाटा व अतिरेक

साधारण भुगतान-शेष सन्तुलित रहता है, लेकिन जब चालू खाते की बाकी व पूँजीगत सौदों की शुद्ध राशियों की बाकी को जोड़कर जो राशि आती है वह भुगतान-सन्तुलन खाते के कुल घाटे या बचत को दर्शाती है। जब कुल प्राप्तियाँ कम व कुल भुगतान अधिक हों तो इसे घाटा कहते हैं जिसकी पूर्ति कई साधनों से की जाती है जिसका विवरण नीचे दिया गया है। इसके विपरीत, यदि कुल प्राप्तियाँ अधिक व भुगतान कम हैं तो इसे बचत या अतिरेक (Surplus) कहते हैं।

भारत को आर्थिक नियोजन के प्रारम्भ से ही भुगतान-सन्तुलन के घाटे से जूझना पड़ा है। यह घाटे एक योजना से दूसरी योजना में बढ़ते ही चले गये हैं।

भारत के भुगतान सन्तुलन की दशा

1948 से 1951 तक भारत का भुगतान शेष प्रतिकूल था। इस अवधि में व्यापार का घाटा 377 करोड़ रुपये तथा शुद्ध अदृश्य मदों की आय 117 करोड़ ₹ थी अर्थात् इस अवधि में 260 करोड़ ₹ का घाटा हुआ।

प्रथम योजनावधि (1951-56)—इस योजना में भुगतान शेष की स्थिति संतोषजनक थी। विदेशी व्यापार घाटा यद्यपि 542 करोड़ ₹ का था, किन्तु अदृश्य मदें धनात्मक रहने के कारण चालू खाते के भुगतान शेष में यह घाटा मात्र 42 करोड़ ₹ का था।

द्वितीय योजनावधि (1956-61)—इस योजनावधि में निर्यातों में वांछनीय वृद्धि न होने के कारण व्यापार का कुल घाटा 2,338 करोड़ ₹ था, किन्तु अदृश्य मदों से 614 करोड़ ₹ की आय होने से भुगतान शेष का घाटा 1,725 करोड़ ₹ था।

तीसरी योजनावधि (1961-66)—इस योजनावधि में भारी मात्रा में आयात किये जाने के कारण कुल घाटा 2,384 करोड़ ₹ था। इसी अवधि में शुद्ध अदृश्य मदों से 432 करोड़ ₹ की आय होने के कारण भुगतान शेष का कुल घाटा 1,952 करोड़ ₹ था।

चार्षिक योजनावधि (1966-69)—इस अवधि में भुगतान शेष की प्रतिकूलता जारी रही और व्यापार का कुल घाटा 2,067 करोड़ ₹ था। इस अवधि में अदृश्य मदों से 52 करोड़ ₹ का अतिरेक प्राप्त हुआ जिसके कारण भुगतान शेष का कुल घाटा 2,015 करोड़ ₹ रह गया।

चौथी योजनावधि (1969-74)—इस योजनावधि के वर्ष 1972-73 में भारत का व्यापार शेष अनुकूल (अर्थात् धनात्मक) था। इस अवधि में सरकार ने आयात प्रतिस्थापन एवं निर्यात संवर्धन के लिए अनेक कदम उठाए।

पांचवीं योजनावधि (1974-79)—इस योजनावधि के वर्ष 1976-77 में पुनः देश का व्यापार शेष अनुकूल रहा। इस योजना के आरम्भिक दो वर्षों में निर्यात में काफी वृद्धि हुई और 1974-75 में निर्यात 3,329 करोड़ ₹ था जो 1975-76 में बढ़कर 4,036 करोड़ ₹ हो गया। वर्ष 1977-78 में देश का कुल निर्यात 5,408 करोड़ ₹ था। इस अवधि में प्रवासी भारतीयों द्वारा प्रेषित धनराशि से भारत के भुगतान शेष को काफी सहारा मिला जिससे भारत ने योजना काल के अन्तिम दो वर्षों में IMF को 551 करोड़ ₹ का भुगतान कर दिया।

छठी योजनावधि (1980-85)—इस अवधि में बड़ी मात्रा में खनिज तेल, लोहा, इस्पात, मशीन आदि का आयात किये जाने के कारण भारत का आयात बिल 12,549 करोड़ ₹ से बढ़कर 1984-85 में 17,134 करोड़ ₹ हो गया। पूरी योजनावधि में व्यापार का कुल घाटा 28,580 करोड़ ₹ था, किन्तु इसी अवधि में अदृश्य मदों (अनुदान छोड़कर) से वास्तविक प्राप्ति 16,500 करोड़ ₹ रही जिससे भुगतान शेष में शुद्ध घाटा 11,667 करोड़ ₹ रहा।

सातवीं योजनावधि (1985-90)—इस योजनावधि में आयातों में भारी वृद्धि हुई। वर्ष 1985-86 का आयात बिल जो 19,658 करोड़ ₹ था, 1989-90 में बढ़कर 35,328 करोड़ ₹ हो गया। इस अवधि में यद्यपि निर्यातों में भी सुधार हुआ लेकिन भुगतान शेष की स्थिति में वांछनीय सुधार नहीं किया जा सका।

आठवीं योजनावधि (1992-97)—इस योजनावधि में भुगतान शेष के चालू खाते का घाटा 1992-93 के स्तर 12,763 करोड़ ₹ से बढ़कर 1996-97 में 15,839 करोड़ ₹ हो गया। इस अवधि में देश में आर्थिक सुधार कार्यक्रम शृंखला लागू की गई और 1993-94 के बजट प्रस्ताव में भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता की

समस्या के समाधान के लिए दोहरी विनिमय दर प्रणाली (Double Exchange Rate System) को समाप्त करके उसके स्थान पर एकल विनिमय दर लागू करके रुपए को चालू खाते पर पूर्ण परिवर्तनीय बना दिया गया।

सरकार भारतीय रुपये की पूंजी खाते में पूर्ण परिवर्तनीयता के लिए भी प्रयासरत है। इस दिशा में उपाय सुझाने के लिए RBI ने 28 फरवरी, 1997 को एस. एस. तारापोर की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया जिसने अपनी रिपोर्ट मई 1997 में प्रस्तुत कर दी। समिति ने 1999-2000 तक तीन चरणों में रुपए को पूंजी खाते में पूर्ण परिवर्तनीय करने की सिफारिश की थी।

नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002) के दौरान इस योजना में भुगतान शेष का घाटा क्रमशः बढ़ता गया। 1997-98 में यह घाटा 24,076 करोड़ ₹ का था जो 1999-2000 में बढ़कर 55,675 करोड़ ₹ हो गया। वर्ष 2000-01 में यह कुछ सुधर कर 27,302 करोड़ ₹ हो गया। लेकिन 2001-02 में यह फिर बढ़कर 36,182 करोड़ ₹ हो गया। नौवीं योजना के अन्तिम वर्ष में विशेष आर्थिक क्षेत्र (SEZ) बनाकर निर्यातों को बढ़ाकर भुगतान शेष को अनुकूल बनाने का प्रयास किया गया।

दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002-07) के दौरान भुगतान शेष का घाटा क्रमशः बढ़ता गया। वर्ष 2002-03 के दौरान यह घाटा 42,069 करोड़ ₹ था जो पांच वर्षों अर्थात् 2006-07 में बढ़कर 1,63,634 करोड़ ₹ के स्तर पर पहुंच गया।

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007-12) वर्ष 2007-08 ने भुगतान सन्तुलन में घाटे की राशि 3,69,689 करोड़ ₹ थी। वर्ष 2008-09 में भुगतान सन्तुलन का अनुकूल शेष 92,164 करोड़ ₹ था। लेकिन वर्ष 2009-10 में इसमें 64,200 करोड़ ₹ और 2010-11 में 59,500 करोड़ ₹ का घाटा रहा। 2011-12 में भुगतान सन्तुलन में 68,500 करोड़ ₹ का अनुकूल शेष था।

बारहवीं पंचवर्षीय योजना (2012-17) के प्रारम्भिक दो वर्षों में 2012-13 तथा 2013-14 में समग्र भुगतान सन्तुलन क्रमशः 3,826 मिलियन डॉलर तथा 15,508 मिलियन डॉलर रहा।

भारत में भुगतान संकट के कारण

भारत के भुगतान असन्तुलन के अनेक कारण हैं, जिनमें प्रमुख कारण निम्न हैं :

(1) **पेट्रोलियम पदार्थों के आयात में वृद्धि**—तेल उत्पादक देश अपने पेट्रोलियम पदार्थों के मूल्य पिछले कुछ वर्षों से प्रतिवर्ष बढ़ाते रहे हैं। साथ ही देश में पेट्रोलियम पदार्थों की खपत भी बढ़ी है जिससे भारी मात्रा में इनका आयात किया गया है।

(2) **मशीनों के आयात में वृद्धि**—आर्थिक योजना के कारण देश में औद्योगिकरण व कृषि विकास की गति तेज हो गयी जिसके फलस्वरूप मशीनों को भारी मात्रा में आयात करना पड़ा।

(3) **आशा के अनुरूप निर्यातों में वृद्धि न होना**—भारत के भुगतान-सन्तुलन का एक कारण निर्यातों का आशा के अनुरूप न बढ़ना है। 1950-51 में भारत के निर्यात 606 करोड़ ₹ के थे जो 2013-14 में बढ़कर 19,05,011 करोड़ ₹ के हो गये हैं, जबकि आयात इसी काल में 608 करोड़ ₹ से बढ़कर 27,15,434 करोड़ ₹ के हो गये हैं। इस प्रकार आयात 4,466 गुने व निर्यात 3,144 गुने बढ़े हैं।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय ऋण एवं विनियोग**—भारत ने विकास कार्य के लिए भारी मात्रा में ऋण लिये हैं जिसके ब्याज व मूलधन वापसी के लिए भी विदेशी विनिमय व्यय करना पड़ता है। इससे भी भुगतान सन्तुलन संकट पैदा हो गया है।

(5) **बढ़ती हुई जनसंख्या**—भारत की जनसंख्या बराबर बढ़ रही है जिससे आयातों में वृद्धि हो रही है। घरेलू उपभोग बढ़ने से निर्यात क्षमता में कमी आयी है। इससे भी भुगतान सन्तुलन संकट की स्थिति बन गयी है।

(6) **सरकारी व्यय**—देश का अपने विदेशी दूतावासों, यात्रियों, विद्यार्थियों, आदि पर व्यय बराबर बढ़ रहा है, इससे भी भुगतान सन्तुलन संकट बढ़ा है।

भुगतान संकट को दूर करने के उपाय

भारत के भुगतान संकट को दूर करने के लिए निम्न सुझाव दिये जाते हैं :

(1) **निर्यात को प्रोत्साहन**—सरकार को निर्यात को प्रोत्साहित करना चाहिए जिससे निर्यात बढ़ सकें। इसके लिए (i) निर्यात करों में कमी की जानी चाहिए या निर्यात की छूट दी जानी चाहिए; (ii) देश के उद्योगों को आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए; (iii) विदेशों में वस्तुओं के लिए प्रचार व विज्ञापन किया जाना चाहिए।

(2) आयात में कमी—भारत को अपने आयातों में कमी करनी चाहिए। इसके लिए (i) आयात करों में वृद्धि की जानी चाहिए जिससे आयातित वस्तुएँ महँगी पड़ें और उनकी माँग कम हो; (ii) साथ ही लाइसेंस व कोटा-प्रणाली का भरपूर सहयोग लिया जाना चाहिए।

(3) आयात प्रतिस्थापन—जिन वस्तुओं को देश में आयात किया जाता है उनके प्रतिस्थापन की व्यवस्था की जानी चाहिए। इसके लिए घरेलू उत्पादन को बढ़ाया जाना चाहिए तथा नये-नये उद्योग स्थापित कर आयात पर आधारित वस्तुएँ कम-से-कम आयात की जानी चाहिए। इससे आयात कम होंगे और भुगतान-सन्तुलन पर दबाव कम होगा।

(4) विदेशी ऋण—भुगतान असन्तुलन की समस्या को दूर करने के लिए विदेशी ऋणों का भी प्रयोग किया जा सकता है, लेकिन यह विषय विवादग्रस्त है। कुछ लोग इसको अच्छा बताते हैं तो कुछ नहीं। वास्तव में यह कुछ समय के लिए समस्या का समाधान तो कर देता है, लेकिन बाद में भुगतानों को करते समय कठिनाई होती है।

(5) विनिमय नियन्त्रण—भुगतान असन्तुलन को ठीक करने के लिए विनिमय नियन्त्रण भी एक रास्ता है। इससे आयात घटते हैं व निर्यात बढ़ते हैं।

भुगतान सन्तुलन की समस्या के समाधान के लिए सरकार द्वारा उठाए गए कदम

नबे के दशक से भारत सरकार ने भुगतान सन्तुलन की समस्या के समाधान के लिए अनेक विशिष्ट उपाय किए हैं :

1. उदारीकृत विनिमय दर प्रबन्ध प्रणाली (Liberalised Exchange Rate Management System—LERMS)—वर्ष 1992-93 के बजट प्रस्ताव में सरकार ने उदारीकृत विनिमय दर प्रबन्ध प्रणाली (LERMS) की घोषणा की, जिसके मुख्य पहलू थे—(i) निर्यात एवं आवक प्रेषण (Inward Remittances) से प्राप्त विदेशी मुद्रा का 40% भाग RBI द्वारा घोषित सरकारी दर पर तथा शेष 60% भाग खुले बाजार में निर्धारित विनिमय दर पर परिवर्तन करने की छूट दे दी गई। (ii) पूँजी खाते पर विनिमय नियन्त्रण यथावत् जारी रखा गया। (iii) डॉलर और पौण्ड का अग्रिम विक्रय समाप्त कर दिया गया तथा RBI को मुक्त बाजार में हस्तक्षेप का अधिकार दिया गया। (iv) निर्यातकों एवं आवक प्रेषण प्राप्तकर्ताओं को कुल प्राप्ति का 15% विदेशी करेंसी खाते में रखने की अनुमति दी गई। (v) निर्यात प्रसंस्करण क्षेत्र, शत-प्रतिशत निर्यातोन्मुखी इकाइयां, इलेक्ट्रॉनिकी सॉफ्टवेयर एवं हार्डवेयर प्रौद्योगिकी पार्कों की इकाइयों को बाजार दर पर शत-प्रतिशत परिवर्तनीयता की अनुमति दी गई।

2. रुपए की पूर्ण परिवर्तनीयता (Full Convertibility of Rupee)—LERMS की सफलता से उत्साहित होकर भारत सरकार ने 1993-94 के बजट प्रस्तावों में एकल विनिमय दर लागू कर दी और चालू खाते पर रुपए को पूर्ण परिवर्तनीय बना दिया। रुपए को पूर्ण परिवर्तनीय बनाकर भारत सरकार ने चालू खाते में सम्पूर्ण विदेशी मुद्रा प्राप्तियों को बाजार दर पर रुपए में परिवर्तित करने की सुविधा प्रदान कर दी। RBI ने 19 अगस्त, 1994 को रुपए को चालू खाते में पूर्ण परिवर्तनीय घोषित करते हुए वर्ष 1996-97 से सम्पूर्ण अर्जित आय का प्रत्यावर्तन की छूट प्रदान करने की घोषणा की। रुपए की पूर्ण परिवर्तनीयता से तात्पर्य विदेशी ऋण बाजारों से ऋण लेने की पूर्ण स्वतन्त्रता से है। वर्तमान समय में रुपया सरकार के चालू खाते में तो पूर्ण परिवर्तनीय है, लेकिन पूँजीगत खाते में यह आंशिक रूप से परिवर्तनीय है। अभी बाहर से कम्पनियों या व्यक्तियों को ऋण लेने के लिए भारतीय रिजर्व बैंक से अनुमति लेनी पड़ती है। रुपए की पूर्ण परिवर्तनीयता के बाद कम्पनियों या व्यक्ति विदेशों से इच्छानुसार ऋण ले सकेंगे। विदेशी निवेशक भी कानूनी बंदिश हटने से देश में इच्छानुसार निवेश करेंगे। कम्पनियों को परिवर्तनीयता से विदेशों में शेयर, परिसम्पत्तियों या अन्य पूँजीगत सम्पत्तियों की खरीद की पूरी छूट भी मिल जाएगी।

3. आयात लाइसेंस प्रणाली का उदारीकरण (Liberalisation of Import Licensing)—सरकार ने नबे के दशक में अपनाई गई उदारीकरण की नीति के अन्तर्गत आयात लाइसेंस व्यवस्था को और उदार बना दिया और खुले सामान्य लाइसेंस (OGL) के अन्तर्गत अधिकांश वस्तुओं के आयात के लिए छूट प्रदान कर दी।

4. **अग्रिम लाइसेंस में सुधार (Improvements in Advanced Licensing)**—भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर करने के लिए मूल्य आधारित एक अग्रिम लाइसेंसिंग प्रणाली लागू की गई, जिसमें निर्दिष्ट निर्यातों के मूल्य के एक निश्चित प्रतिशत तक कच्चे माल तथा संघटकों के कर मुक्त आयात की अनुमति प्रदान करने का प्रावधान किया गया है। अग्रिम लाइसेंसिंग प्रणाली की यह सुविधा निर्यात गृहों, व्यापारिक गृहों, स्टार ट्रेडिंग गृहों तथा सुपर स्टार ट्रेडिंग गृहों को भी प्रदान की गई है।

5. **निर्यातोन्मुख इकाइयों को सुविधा (Facilities to Export ori)**—सरकार ने निर्यात उन्मुख इकाइयों की उत्पादन क्षमता बढ़ाने के लिए वर्ष 1981 से शत-प्रतिशत निर्यात करने वाली इकाइयों के लिए प्रोत्साहन मूल्क अनेक योजनाएं एवं 'सुविधाएं प्रारम्भ' की हैं। विदेशी बाजारों में इन इकाइयों को अधिक प्रतियोगी बनाने के लिए सरकार ने मशीन, उपकरण, कच्चा माल आदि के शुल्क मुक्त आयात की अनुमति प्रदान की है।

6. **निर्यात संबद्धन पूँजीगत सामान योजना (Export Promotion Capital Goods Scheme) — EPCGS**—सरकार ने निर्यातकों को रियायती आयात शुल्क पर पूँजीगत सामान आयात करने के सुविधा के रूप में निर्यात संबद्धन पूँजीगत सामान योजना (EPCG योजना) आरम्भ की है, जिसके अन्तर्गत निर्यातक EPCG लाइसेंस के साथ केवल 15 प्रतिशत आयात शुल्क चुकाकर पूँजीगत सामान का आयात कर सकते हैं, किन्तु इस योजना में यह प्रावधान है कि ऐसे निर्यातकों को अपने आयातों के CIF मूल्य का चार गुना निर्यात अगले 5 वर्षों में करना अनिवार्य है।

7. निर्यातकों की निर्यात क्षमता में वृद्धि के उद्देश्य से सरकार ने निर्यात गृहों, निर्यात व्यापार गृह तथा स्टार ट्रेडिंग गृह की योजनाएं लागू की हैं। इसी श्रृंखला में 1 अप्रैल, 1994 से एक नई श्रेणी 'सुपर स्टार ट्रेडिंग गृह' आरम्भ की है।

8. निर्यात संबद्धन में राज्यों की भागीदारी बढ़ाने के उद्देश्य से वाणिज्य मन्त्रालय ने राज्यों में 11 निर्यात संबद्धन औद्योगिक पार्क (Export Promotion Industrial Parks—EPIPs) स्थापित करने की स्वीकृति प्रदान की है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

- भारत में भुगतान अवशेष की वर्तमान स्थिति व पिछले वर्षों की प्रवृत्ति का उल्लेख कीजिए तथा इस समस्या को हल करने के लिए सुझाव दीजिए।

[संकेत—इसमें वर्तमान स्थिति, पिछली प्रवृत्ति व सुधार के उपाय देने हैं।]

निर्यात संवर्द्धन प्रयास एवं नई व्यापारिक नीतियां

[EXPORT PROMOTION MEASURES AND THE NEW TRADE POLICIES]

निर्यात संवर्द्धन से अर्थ

निर्यात संवर्द्धन से अर्थ निर्यात प्रोत्साहन से लगाया जाता है जिसमें निर्यात वृद्धि के लिए पुराने निर्यातकर्ताओं को तथा नवीन व्यक्तियों को निर्यात करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। (1) इसके लिए उन्हें नकद सहायता (Cash Subsidy) दी जाती है। (2) बैंकों से ऋण प्रदान किये जाते हैं। (3) कुछ पूँजीगत एवं अन्य आवश्यक मशीनों व कच्चे माल को भेजने को निर्यात के बदले में आयात करने की अनुमति दी जाती है। (4) निर्यात के लिए भेजे जाने वाले माल पर रेल भाड़े व सामुद्रिक भाड़े में छूट दी जाती है। निर्यात करने वाली संस्थाओं को आय-कर से छूट दे दी जाती है।

भारत में निर्यात संवर्द्धन की आवश्यकता

(1) प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन को ठीक करने के लिए—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत का व्यापार दो वर्षों को छोड़कर शेष सभी वर्षों में प्रतिकूल (Unfavourable) रहा है जिससे भारत के कोषों में कमी ही नहीं हुई है, बल्कि आर्थिक योजनाओं को इच्छानुसार ढालने में भी कठिनाई हो रही है। अतः असन्तुलित व्यापार को सन्तुलित करने के लिए निर्यात संवर्द्धन की आवश्यकता है।

(2) विदेशी ऋण-भार को कम करने के लिए—असन्तुलित विदेशी व्यापार एवं आर्थिक योजनाओं के दबाव ने भारत सरकार के लिए आवश्यक कर दिया कि वह विदेशी सरकार व अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण ले। यह क्रम वर्षों चलने के उपरान्त विदेशी ऋणों की मात्रा दिनों-दिन बढ़ती चली गयी। 2013-14 के अन्त में भारत पर 442.3 बिलियन यू.एस. डॉलर (स.घ.उ. का 23.5%) का विदेशी ऋण था। इन ऋणों की वापसी व व्याज, आदि के भुगतान के लिए आवश्यक है कि निर्यात संवर्द्धन की नीति अपनायी जाए।

(3) विकास योजनाओं की सफलता के लिए—निर्यात के फलस्वरूप ही विकास योजनाओं के लिए आवश्यक मशीनरी व साज-सज्जा आयात की जा सकती है। अतः निर्यात संवर्द्धन आवश्यक है।

(4) नवीन वस्तुओं के निर्यात के लिए—आर्थिक योजनाओं के अन्तर्गत देश में अनेक नये-नये कारखाने स्थापित हुए हैं जो देश की आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद निर्यात करने में समर्थ हैं। अतः उचित ही है कि नवीन वस्तुओं के निर्यात के लिए कोई प्रोत्साहन कार्यक्रम अपनाया जाए।

(5) स्वावलम्बी अर्थव्यवस्था बनाने के लिए—देश को विदेशी ऋणों के भार से मुक्ति दिलाने एवं आत्मनिर्भर बनाने के लिए आवश्यक है कि निर्यात बढ़ाये जायें।

निर्यात वृद्धि के लिए सरकारी प्रयास

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से ही भारत सरकार ने इस सम्बन्ध में प्रयास किये हैं तथा अनेक समितियाँ बिठायी हैं; जैसे, गोरवाला समिति, 1939; डीसूजा समिति, 1957; मुदालियर समिति, 1961; अलेकजेण्डर समिति, 1977 तथा टण्डन समिति, 1980। इन समितियों की सिफारिशों के फलस्वरूप निर्यात वृद्धि के लिए भारत सरकार ने अग्र प्रयास किये हैं :

(1) **व्यापार बोर्ड**—देश में विदेशी व्यापार से सम्बन्धित समस्याओं एवं नीतियों की समीक्षा करने एवं अपनी सलाह केन्द्रीय सरकार को देने के लिए 1962 में व्यापार बोर्ड की स्थापना की गयी, यह बोर्ड समय-समय पर (i) वस्तु विकास, (ii) उत्पादन विस्तार, (iii) निर्यात विपणन व्यवस्था एवं माध्यम में सुधार, (iv) निर्यात कार्यक्रम के सम्बन्ध में व्यापारिक समुदाय का वाणिज्य सेवाओं की व्यवस्था के सम्बन्ध में सरकार को सुझाव देता है।

(2) **निर्यात संबद्धन परिषदें**—निर्यात व्यापार में उपयोजनाओं, उत्पादकों एवं निर्यातिकों के सहयोग को प्राप्त करने के लिए निर्यात परिषदें स्थापित की गयी हैं। यह परिषदें उत्पादकों को निर्यात वृद्धि के लिए सलाह देती हैं। यह परिषदें अलग-अलग वस्तुओं के लिए हैं; जैसे काजू, सूती वस्त्र, रेशम एवं रेयन, रासायनिक पदार्थ, ऊन व ऊनी वस्त्र, हथकरघा, खेल का सामान, इंजीनियरिंग, तैयार चमड़ा व चमड़े का सामान, जवाहरात, प्लास्टिक, मसाले, आदि। इन विभिन्न निर्यात संबद्धन परिषदों के कार्यों में समन्वय स्थापित करने के लिए Federation of Indian Export Organisations की स्थापना की गयी है।

(3) **वस्तु मण्डल**—सरकार ने 5 वस्तुओं के लिए अलग-अलग वस्तु मण्डल स्थापित किये हैं जिनका कार्य अपनी-अपनी वस्तु के उत्पादन, विकास एवं निर्यात के लिए कार्य करना है। वह वस्तुएँ हैं—चाय, कॉफी, मसाले, रबड़, तम्बाकू।

(4) **भारतीय विदेशी व्यापार संस्थान**—नयी दिल्ली में 1964 में भारतीय विदेशी व्यापार संस्थान के नाम से एक संस्था स्थापित की गयी जिसका मुख्य कार्य विदेशी व्यापार के लिए कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण देना व विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में बाजार सर्वेक्षण एवं अनुसन्धान करना है।

(5) **निर्यात निरीक्षण परिषद्**—निर्यात (किस्म नियन्त्रण एवं निरीक्षण) अधिनियम [Export (Quality and Inspection) Act], 1963 के अन्तर्गत निर्यात निरीक्षण परिषद् बनायी गयी। इसका कार्य निर्यात के लिए माल लादने से पूर्व वस्तुओं का निरीक्षण करना है जिससे कि क्वालिटी की वस्तुएँ ही निर्यात हो सकें।

(6) **निर्यात साख एवं गारण्टी निगम**—यह निगम 1964 में स्थापित किया गया। इसका कार्य निर्यात सम्बन्धी जोखिम का बीमा करना एवं निर्यातिकर्ताओं को इस सम्बन्ध में आर्थिक साख की सुविधाएँ देना है।

(7) **निर्यात गृह**—1 जुलाई, 1968 से सरकार के द्वारा उन प्रमुख संस्थाओं को मान्यता प्रदान की जा रही है जो निर्यात में अग्रणी हैं। मान्यता प्राप्त संस्थाओं को विपणन विकास निधि (Market Development Fund) से सरकार द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है।

(8) **भारतीय पैकेजिंग संस्था**—यह संस्थान 1966 में बम्बई में स्थापित किया गया। इसका कार्य निर्यात एवं आन्तरिक सामान के पैकेजिंग का अध्ययन कर उसमें उन्नति के सुझाव देना है। इसके लिए प्रशिक्षण प्रोग्राम, विचार-गोष्ठी, आदि की व्यवस्था इसके द्वारा की जाती है।

(9) **भारतीय पंचायत परिषद्**—भारतीय पंचायत परिषद् 1965 में स्थापित की गयी जिसका कार्य व्यापारिक विवादों विशेष रूप से विदेशी व्यापार सम्बन्धी विवादों को निपटाना है।

(10) **समुद्री वस्तु निर्यात विकास संस्था**—1922 में कोच्चि में समुद्री वस्तु निर्यात विकास संस्था स्थापित की गयी जिसका कार्य समुद्री वस्तु उद्योग का विकास, निर्यातों की दृष्टि से विशेष रूप से करना है।

(11) **भारतीय राज्य व्यापार निगम तथा खनिज एवं धातु व्यापार निगम**—भारतीय राज्य व्यापार निगम की स्थापना मई 1956 में हुई। इसकी स्थापना का उद्देश्य उन वस्तुओं एवं पदार्थों का आयात एवं निर्यात करना है जिनको निगम निश्चित करे।

भारतीय राज्य व्यापार निगम के कार्यों में सहायता प्रदान करने के लिए निम्न निगम और गठित किये गये हैं :

(i) परियोजना एवं उपस्कर निगम, (ii) हस्तशिल्प तथा हस्तकरघा निर्यात निगम, (iii) भारतीय काजू निगम व (iv) राज्य रसायन एवं भेषज निगम।

खनिज एवं धातु व्यापार निगम की स्थापना 1 अक्टूबर, 1963 को भारतीय राज्य व्यापार निगम के विभाजन के फलस्वरूप हुई है। इसका मुख्य कार्य खनिज एवं धातुओं का आयात एवं निर्यात करना है।

परन्तु भारतीय अर्थव्यवस्था को स्वतन्त्रता देने की नीति के फलस्वरूप अब इन निगमों का कार्य बहुत ही सीमित हो गया है। अतः सरकार ने इनकी कार्य-प्रणाली में परिवर्तन लाने के लिए सुझाव देने हेतु भूतपूर्व अध्यक्ष भारतीय राज्य व्यापार निगम को, सलाहकार नियुक्त किया है जिनकी रिपोर्ट मिलने पर इनकी कार्य प्रणाली में परिवर्तन किया जायेगा।

(12) **व्यापारिक समझौते**—भारत ने बहुत-से द्विपक्षीय व बहुपक्षीय व्यापारिक समझौते किये हैं जिनके फलस्वरूप निर्यातों में वृद्धि हुई है। भारत के अनेक समझौते रूपया भुगतान (Rupee Payments) के आधार पर भी हुए हैं जिसमें रूस एवं अन्य साम्यवादी देशों के साथ हुए समझौते प्रमुख हैं। कुछ समझौते अदल-बदल (Barter) व कुछ विदेशी मुद्राओं में भी किये गये हैं। भारत बहुपक्षीय समझौते जैसे चीनी समझौता व कॉफी समझौता में भी सदस्य है जिनके फलस्वरूप भी निर्यात में वृद्धि हुई है।

(13) **दूतावासों में व्यापारिक प्रतिनिधि**—भारत सरकार ने निर्यातों में वृद्धि करने के उद्देश्य से अपने 50 से भी अधिक दूतावास कार्यालयों में व्यापारिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति की है। इन प्रतिनिधियों का कार्य उन देशों में सर्वेक्षण कर इस बात का पता लगाना है कि वहाँ भारत की किन वस्तुओं की माँग हो सकती है।

(14) **निर्यात की प्राथमिकता क्षेत्र के रूप में मान्यता**—निर्यात करने वाली संस्थाओं को प्राथमिकता के आधार पर सरकार व रिजर्व बैंक द्वारा साख सुविधाएँ उपलब्ध की जाती हैं। उनसे कम दर से ब्याज ली जाती है। बैंक Pre-Shipment and Post-Shipment दोनों पर अग्रिम (Advance) प्रदान करती है। रिजर्व बैंक इस प्रकार के अग्रिम व ऋणों पर पुनर्वित सुविधाएँ प्रदान करता है। भारतीय औद्योगिक विकास बैंक भी निर्यात करने वालों को प्रत्यक्ष वित्तीय सुविधाएँ प्रदान करता है।

(15) **विषणन विकास निधि**—भारत सरकार ने जुलाई 1963 में विषणन विकास निधि की स्थापना की इस निधि में से उन भारतीय उत्पादकों व निर्माताओं को वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है जो विदेशों में भारतीय वस्तुओं के निर्यात के लिए प्रयत्न करते हैं।

(16) **निर्यात-आयात बैंक की स्थापना**—1 जनवरी, 1982 को निर्यात-आयात बैंक की स्थापना की गयी इसकी अधिकृत पूँजी 1,000 करोड़ ₹ है जिसे आवश्यकता पड़ने पर एक अधिसूचना निकालने पर 2,000 करोड़ ₹ तक बढ़ाया जा सकता है इसके संचालक मण्डल में रिजर्व बैंक, औद्योगिक विकास बैंक व निर्यात साख एवं गारण्टी निगम के प्रतिनिधि हैं। इस बैंक का कार्य निर्यात व्यापार को बढ़ावा देना है।

(17) **ग्रीन कार्ड**—सरकार ने शत-प्रतिशत निर्यात करने वाली संस्थाओं को हरा कार्ड जारी किया है जिससे कि सरकार द्वारा उन्हें सभी मामलों में उच्च प्राथमिकता (Top Priority) दी जा सके और उनके कार्य में कोई रुकावट पैदा न हो।

(18) **निर्यात संवर्द्धन बोर्ड (Export Promotion Board)**—देश में निर्यात को बढ़ावा देने के लिए केबिनेट सचिव की अध्यक्षता में एक उच्च अधिकार प्राप्त निर्यात संवर्द्धन बोर्ड का गठन किया गया है। इस बोर्ड के सदस्य हैं—वाणिज्य, वित्त, कपड़ा, भूतल परिवहन, उद्योग व इलेक्ट्रॉनिक विभाग के केन्द्रीय सरकार के सचिव।

(19) **भारतीय व्यापार संवर्द्धन संगठन**—व्यापार विकास प्राधिकरण व भारतीय व्यापार मेला प्राधिकरण को मिलाकर भारतीय व्यापार संवर्द्धन संगठन बनाया गया है जो विभिन्न देशों में भारतीय माल की प्रदर्शनियां आयोजित करता है और समय-समय पर सर्वेक्षण तथा समीक्षाएं करता है ताकि भारतीय निर्यातिकों के लिए नये बाजार ढूँढ़े जा सकें।

(20) **निर्यात संवर्द्धन पूँजीगत सामान योजना (EPCG Scheme)**—सरकार ने निर्यातों को बढ़ावा देने के लिए EPCG योजना आरम्भ की है जिसके अन्तर्गत निर्यातिकों को रियायती आयात शुल्क पर पूँजीगत वस्तुओं के आयात की अनुमति प्रदान की जाती है। आयात-निर्यात नीति के अन्तर्गत इस योजना में वस्तुओं और सेवाओं के निर्यातों को EPCG योजना के अधीन केवल 10% आयात शुल्क पर पूँजीगत वस्तुओं के आयात की अनुमति प्रदान की जाती है।

(21) **उदार लाइसेंस प्रणाली**—सरकार ने 1992 में नई आयात-निर्यात नीति की घोषणा करके लाइसेंस प्रणाली को काफी उदार बना दिया और देश का निर्यात बढ़ाने के लिए मुक्त व्यापार को बढ़ावा दिया है।

निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के लिए नगद सहायता और प्रशुल्क की रियायतें भी देकर सरकार ने निर्यातों को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया है।

(22) **निर्यातोन्मुखी इकाई योजना**—निर्यातोन्मुखी इकाई (ईओयू) योजना वर्ष 1981 में शुरू की गई, जो विशेष आर्थिक क्षेत्र योजना की पूरक है। यह कच्चे माल के स्रोत, निर्यात बन्दरगाह, भीतरी प्रदेश सुविधाएं, औद्योगिकी कौशल की उपलब्धता, औद्योगिक आधार की मौजूदगी तथा परियोजना के लिए अधिक भू-क्षेत्र की आवश्यकता जैसे घटकों के सन्दर्भ में व्यापक विकल्प प्रदान करती है। ये इकाइयां अपनी बुनियादी सुविधाएं स्वयं स्थापित करती हैं।

(23) **राजस्व एवं मौद्रिक उपाय**—निर्यात संवर्धन के लिए सरकार ने अनेक राजस्व एवं मौद्रिक उपायों का भी प्रयोग किया है जिनमें प्रमुख हैं :

(A) **नगद क्षतिपूर्ति सहायता**—इसमें आठ समूहों में विभाजित 260 वस्तुओं को सम्मिलित किया गया है।

(B) **निर्यातोन्मुख इकाइयों को ब्याज में रियायत प्रदान की गई है।**

(C) **आयात-निर्यात बैंक द्वारा निर्यातोन्मुखी इकाइयों को ऋण की सुविधा दी गई है।**

(D) **अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य प्रतिपूर्ति योजना**—इस योजना के अन्तर्गत इन्जीनियरिंग सामान के निर्यातकों को इन वस्तुओं के निर्माण में प्रयुक्त इस्पात की घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों की अन्तर वाली राशि की प्रतिपूर्ति की जाती है।

(E) **उत्पादकता कोष**—औद्योगिक निर्यात बढ़ाने की दृष्टि से विश्व बैंक द्वारा प्रदत्त 250 मिलियन अमरीकी डॉलर की सहायता से एक उत्पादकता कोष की स्थापना की गई है। इन्जीनियरिंग एवं इलेक्ट्रॉनिक्स उद्योग की निर्यातोन्मुखी इकाइयों को सहायता दी जाती है, ताकि ये इकाइयां अपनी उत्पादन तकनीक एवं वस्तु की गुणवत्ता में सुधार कर सकें।

(24) **राष्ट्रीय निर्यात बीमा खाता**—केन्द्र सरकार ने 4 जनवरी, 2006 को एक नए राष्ट्रीय निर्यात बीमा खाता (National Export Insurance Account) का सुर्जन करने को स्वीकृति प्रदान की। इससे निर्यात साख एवं गारण्टी निगम (Export Credit and Guarantee Corporation—ECGC) को परियोजनाओं व सेवाओं के निर्यात हेतु ऋण के जोखिम कवर करने में सहायता मिलेगी।

(25) **विशेष आर्थिक क्षेत्र अधिनियम, 2005**—संसद द्वारा जून 2005 में पारित विशेष आर्थिक क्षेत्र अधिनियम, 2005 10 फरवरी, 2006 से लागू हो गया है। इससे विशेष आर्थिक क्षेत्रों (SEZs) व इनमें इकाइयों की स्थापना के सरलीकृत नियम लागू हो गए हैं। इनके लिए एकल खिड़की से ही सभी स्वीकृतियां इन्हें प्राप्त हो सकेंगी तथा सभी तरह की कागजी कार्यवाहियों को न्यूनतम किया गया है। विशेष आर्थिक क्षेत्र में स्थापित इकाइयों को विभिन्न प्रकार की कर छूटें अधिनियम के अन्तर्गत प्रदान की गई हैं। इन केन्द्रों में ऑफशोर बैंकिंग इकाइयों की स्थापना का प्रावधान किया गया है।

कांडला और सूरत (गुजरात), सांताकुज (महाराष्ट्र), कोच्चि (केरल), चेन्नई (तमिलनाडु), विशाखापट्टनम (आन्ध्र प्रदेश), फाल्टा (पश्चिम बंगाल) और नोएडा (उत्तर प्रदेश) स्थित सभी आठ निर्यात संवर्धन क्षेत्रों को विशेष आर्थिक क्षेत्र में बदल दिया गया है। विशेष आर्थिक क्षेत्र अधिनियम के अन्तर्गत निजी/संयुक्त क्षेत्र में अथवा राज्य सरकारों और उसकी एजेन्सियों को अब तक 585 विशेष आर्थिक क्षेत्र स्थापित करने के लिए औपचारिक अनुमति प्रदान कर दी गई है इनमें वे 385 स्वीकृतियां भी शामिल हैं जिनके लिए अधिसूचना जारी की जा चुकी है।

(26) **अन्य उपाय**—निर्यात वृद्धि के लिए कई उपाय किये गये हैं; जैसे (i) निर्यात किया शुल्क को सरल बनाना, (ii) निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के लिए आयातों पर कम आयात शुल्क लगाना या बिल्कुल न लगाना, (iii) कुछ वस्तुओं के लिए निर्यात लाइसेंस आवश्यक न होना, (iv) निर्यात के लिए नकद सहायता (Cash Compensatory Support) देना, आदि।

निर्यात वृद्धि या संवर्द्धन के मार्ग में बाधाएँ

भारत ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त अपने निर्यात बढ़ाने का हर सम्भव प्रयास किया है, लेकिन फिर भी वांछित उपलब्धि प्राप्त नहीं हो सकी है और व्यापार सन्तुलन दो वर्षों को छोड़कर सदा ही भारत के विपरीत रहा है। भारत के निर्यात वृद्धि में निम्न बाधाएँ हैं जिन्हें दूर किया जाना आवश्यक है :

(1) **उच्च मूल्य**—अधिकांश भारतीय वस्तुओं की उत्पादन लागत अधिक होने के कारण उनका विक्रय मूल्य अधिक होता है जिससे वे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में उचित स्थान प्राप्त नहीं कर पाती हैं। अतः भारत सरकार को कई वस्तुओं के निर्यात में हानि के लिए सहायता (Subsidy) देनी पड़ती है।

(2) **वस्तुओं का निम्न स्तर**—निर्यात की जाने वाली भारतीय वस्तुओं की क्वालिटी निम्न होती है जिससे उनको विदेशी प्रतिस्पर्द्धा में खड़े रहना कठिन हो जाता है। इसके दो मुख्य कारण हैं—धीमी गति से आधुनिकीकरण एवं तकनीकी ज्ञान का अभाव।

(3) **प्रशुल्क नीतियाँ**—अनेक देशों ने भारतीय माल के आयात पर ऊँची दर से आयात शुल्क व आयात परिमाण (Import Quantity) सीमाएँ निर्धारित कर रखी हैं जिसके फलस्वरूप भारतीय माल विदेशों में कम पहुँच पाता है। भारत में कुल निर्यात का लगभग दो-तिहाई माल इस प्रकार का है जिसे इन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(4) **स्थानापन्न वस्तुएँ**—भारतीय निर्यात वृद्धि के प्रयासों में एक बाधा स्थानापन्न वस्तुओं की है। भारत के निर्यातों में जूट एवं जूट से बनी वस्तुओं तथा सूती वस्त्र महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, लेकिन इनकी स्थानापन्न वस्तुएँ आ जाने के कारण इनका निर्यात प्रभावित हो रहा है। जूट के बोरों का स्थान सूती व कागज के बोरे ले रहे हैं। सूती वस्त्रों का स्थान कृत्रिम रेशम के वस्त्र ले रहे हैं।

(5) **विदेशी प्रतिस्पर्द्धा**—भारतीय वस्तुओं की विदेशी बाजारों में कटु प्रतियोगिता है जिसके कारण उनको वहाँ बेचने में कठिनाइयाँ पैदा हो रही हैं; जैसे जूट की वस्तुओं में बांग्लादेश से प्रतियोगिता है, सूती वस्त्रों में जापान व चीन से, चाय में श्रीलंका व इण्डोनेशिया से।

(6) **प्रचार की कमी**—भारतीय वस्तुओं के बारे में विदेशों में विज्ञापन एवं प्रचार बहुत ही कम है जिसके फलस्वरूप निर्यात हमारी आशा के अनुरूप नहीं बढ़ पाये हैं।

(7) **सीमित बाजार**—भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा सीमित है तथा उनका बाजार भी सीमित है। यदि किसी प्रकार विदेशी बाजार में भारतीय वस्तु की मात्रा कम हो जाती है तो हमारे निर्यात स्वतः ही कम हो जाते हैं।

भारत के निर्यात में परम्परागत निर्यातों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। यदि इन वस्तुओं की मात्रा विदेशों में कम होती है तो भारतीय निर्यात स्वतः ही प्रभावित हो जाते हैं।

(8) **भारतीय व्यापारियों की नीतियाँ**—भारतीय व्यापारियों द्वारा अपनायी जाने वाली नीतियाँ भी निर्यात वृद्धि में रुकावट पैदा करती हैं; जैसे भारतीय व्यापारी नमूने के अनुरूप माल नहीं भेजते हैं जिसके फलस्वरूप करोड़ों रुपयों का माल वापस ही नहीं लौट आता, बल्कि देश की प्रतिष्ठा में गिरावट आ जाती है।

निर्यात वृद्धि के लिए सुझाव

(1) **निर्यात विपणन अनुसन्धान**—भारत सरकार, व्यापारिक संघों, भारतीय विदेशी व्यापार संस्थान, आदि को विपणन अनुसन्धान करना चाहिए और इस बात का पता लगाना चाहिए कि विदेशों में किन-किन वस्तुओं की मात्रा है जिससे कि उस प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन व निर्यात किया जा सके।

(2) **व्यापक प्रचार**—भारत सरकार व व्यापारियों को विदेशों में भारतीय वस्तुओं का व्यापक विज्ञापन एवं प्रचार करना चाहिए जिससे कि वहाँ पर वस्तु की मात्रा उत्पन्न हो सके और उसको पूरा कर निर्यात को बढ़ाया जा सके।

(3) **निर्यात वस्तुओं की किस्म एवं डिजाइनों में सुधार**—विदेशों में प्रतिस्पर्द्धा से मुकाबला करने के लिए भारतीय निर्याताओं को अपनी-अपनी वस्तुओं की किस्मों व डिजाइनों में सुधार करना चाहिए तथा किस्म नियन्त्रण (Quality Control) पर विशेष आँख रखनी चाहिए जिससे कि विदेशियों को अपनी आशाओं के अनुरूप वस्तु मिल सके। इससे निर्यात वृद्धि में सहायता मिलेगी।

(4) वस्तुओं की लागतों में कमी—निर्माताओं को वस्तुओं की लागतों में कमी करनी चाहिए जिससे कि वस्तुएँ अन्तर्राष्ट्रीय लागतों पर तैयार हो सकें और प्रतियोगिता में सफलता प्राप्त कर सकें।

(5) निर्यात प्रोत्साहन प्रेरणाएँ—भारत सरकार को निर्यात प्रोत्साहन के लिए और अधिक प्रेरणा देनी चाहिए। इसके लिए (i) सहायता (Subsidy) व (ii) आयात अधि कार (Import Entitlement) जैसे कारगर हथियारों का अधिकाधिक प्रयोग किया जा सकता है। सहायता से अर्थ निर्यात की रकम का एक निश्चित प्रतिशत निर्यातकर्ता को नकद देने से है। आयात अधिकार में निर्यातकर्ता को उसके द्वारा अर्जित विदेशी मुद्रा की मात्रा के एक निश्चित प्रतिशत के मूल्य की वस्तुओं के आयात के लिए अनुमति दे दी जाती है।

(6) वित्तीय व अन्य सुविधाएँ—यद्यपि निर्यात करने वाले उद्योगों को रिजर्व बैंक व अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा वित्तीय सहायता दी जा रही है, लेकिन फिर भी इसमें गति लाने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त इन उद्योगों को कच्चा माल व बिजली, आदि को भी प्राथमिकता के आधार पर उपलब्ध कराया जाना चाहिए जिससे कि वे नियमित उत्पादन कर सकें और निर्यात वृद्धि में अपना पूर्ण योग दे सकें।

(7) व्यापारिक समझौते—जिन देशों ने विदेशी माल के आयात पर प्रतिबन्ध लगा रखे हैं उन देशों से भारत को द्विपक्षीय या बहुपक्षीय समझौते करने चाहिए जिससे कि भारतीय माल वहाँ प्रवेश कर सके और कुल निर्यात बढ़ सके।

आयात प्रतिस्थापन

आयात प्रतिस्थापन से अर्थ आयात की जाने वाली वस्तुओं को देश में ही पैदा करने या निर्मित करने से है। ऐसा होने से (i) व्यापार असन्तुलन कम होता है, (ii) आयातों में कमी होती है, (iii) देश में औद्योगीकरण कम होता है, (iv) विदेशी निर्भरता समाप्त होती है एवं (v) देश की बेरोजगारी में कमी आती है।

जून 1979 को भी श्री एम. एम. अग्रवाल की अध्यक्षता में एक 12 सदस्यीय आयात प्रतिस्थापन समिति बनाई गई जिसने अपनी रिपोर्ट अक्टूबर 1980 में दी। इस समिति के मुख्य सुझाव निम्न हैं :

(1) आयात प्रतिस्थापन के लिए एक सलाहकार समिति स्थापित की जानी चाहिए जो एक प्रकार से स्थायी तथा जो आयात प्रतिस्थापन की रणनीति तय करे। (2) प्रत्येक संस्थान को जो तकनीक का आयात करती है उसको अपने यहाँ अनुसन्धान एवं विकास सुविधाएँ रखनी चाहिए। (3) राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं व विश्वविद्यालयों में अनुसन्धान किया जाना चाहिए जिसके लिए पर्याप्त कोष सरकार व उद्योग को उपलब्ध कराने चाहिए। (4) सलाहकारी एवं तकनीकी डिजायन संगठनों के माध्यम से तकनीकी का हस्तान्तरण देश में होना चाहिए। (5) देश के 9 उद्योग (लोहा एवं इस्पात, खाद, रसायन, सूती वस्त्र, दवाइयां, सीमेण्ट, कागज, ऐलुमिनियम व शक्ति) कुल आयात का 30% आयात करते हैं। अतः इस ओर ध्यान दिया जाए और आयात प्रतिस्थापन के लिए कार्य किया जाए। (6) टेलीफोन, संचार इलेक्ट्रोनिक्स, डेटा प्रोसेसिंग इक्विपमेण्ट, आदि को विशेष व्यवहार दिया जाए तथा इनमें समयबद्ध कार्यक्रम लागू कर आयात प्रतिस्थापन किया जाए। (7) पेट्रोलियम व खाने के तेलों का अधिकतम उत्पादन देश में ही किया जाए तथा उसकी खपत में मितव्ययता की जाए। (8) उन संगठनों को विशेष आर्थिक प्रशासनिक सहयोग दिया जाए जो रक्षा, रेल, संचार व अन्य मन्त्रालयों के लिए मशीनें व पुर्जों का विकास करना चाहते हैं।

आयात प्रतिस्थापन के सम्बन्ध में सुझाव

भविष्य में आयात प्रतिस्थापन को और अधिक प्रभावी एवं सरल बनाने के लिए सुझाव दिए जाते हैं कि (1) सरकार व उद्योगों को अनुसन्धान एवं विकास (Research and Development) पर विशेष जोर देना चाहिए। इसके लिए यदि कर (Cess) लगाने की आवश्यकता हो उसमें सरकार को झिझकना नहीं चाहिए। (2) आयात प्रतिस्थापन की लागत में कमी करनी चाहिए। (3) आयात प्रतिस्थापन के आविष्कारों को और अधिक प्रलोभन दिया जाना चाहिए जिससे कि इस ओर इनकी रुचि बन रहे।

नवीन पंचवर्षीय विदेश व्यापार नीति (2015-2020)

केन्द्र सरकार ने 1 अप्रैल, 2015 को विदेश व्यापार नीति (2015-20) को घोषणा की। नई विदेश व्यापार नीति में निर्यातकों को मिलने वाले इंसेटिव में कई परिवर्तन किए गए हैं। वहाँ 'मेक इन इण्डिया' कार्यक्रम को प्रोत्साहित करने के लिए एक्सपोर्ट प्रमोशन कैपिटल गुड्स स्कीम (ईपीसीजी) के अन्तर्गत शुल्क में छूट पाने के लिए निर्यातकों को निर्यात की शर्त में राहत दी गई है। ई-कॉमर्स के माध्यम से 25,000 ₹ तक के मूल्य वाले हैंडलूम उत्पाद, लेदर फुटवियर, खिलौना व फैशन गारमेन्ट का निर्यात करने वाले निर्यातकों को अन्य निर्यातकों की तरह विभिन्न प्रकार के लाभ मिलेंगे। नई नीति के अन्तर्गत कालीकट एयरपोर्ट, केरल व अराकोनम के कट्टेनर डिपो से आयात-निर्यात किया जा सकेगा। विशाखापटनम व भीमावरम को टाउन ऑफ एक्सपोर्ट एक्सिलेंस घोषित किया गया है। नई नीति के अन्तर्गत किए गए उपायों की सहायता से सरकार ने वर्ष 2020 तक देश के निर्यात को 900 अरब डॉलर वार्षिक तक पहुंचाने का लक्ष्य रखा है। इस नीति में निर्यातकों और विशेष निर्यात जोन (एसईजेड) के लिए कई प्रोत्साहनों की घोषणा की गई है। प्रावधानों की निरन्तरता बनाए रखने और निर्यातकों व आयातकों को लच्ची अवधि की रणनीति बनाने में सहायता करने के लिए नीति की अवधि पांच वर्ष तय की गई है।

नई नीति में निर्यात प्रोत्साहन के लिए पहले से चल रही पांच विभिन्न प्रकार की योजनाओं फोकस प्रोडक्ट योजना, मार्केट लिंक्ड फोकस प्रोडक्ट योजना, फोकस मार्केट योजना; एग्री इंफ्रास्ट्रक्चर इंसेटिव स्क्रिप्स व वीकेजीयूवाई के स्थान पर अब मर्चेंडाइज/एक्सपोर्ट फ्रॉम इण्डिया योजना (एमईआईएस) की शुरुआत की गई। सेवा निर्यात के लिए सर्विस एक्सपोर्ट फ्रॉम इण्डिया स्कीम (एसईआईएस) लाई गई है। इन दोनों योजनाओं के अन्तर्गत निर्यातकों को वस्तु और बाजार के आधार पर स्क्रिप्स के रूप में इंसेटिव दिए जाएंगे। वस्तुओं के निर्यातकों को 2 से 5 प्रतिशत तक इंसेटिव दिए जाएंगे तो सेवा निर्यातकों को 3 से 5 प्रतिशत तक इंसेटिव मिलेंगे। इंसेटिव की दर निर्यात की आने वाली वस्तु व बाजार के आधार पर तय होगी। रोजगारपरक क्षेत्र की वस्तु, कृषि व ग्रामीण उद्योग, पर्यावरण अनुकूल के साथ अधिक मूल्य वाले वस्तुओं के निर्यात पर सबसे अधिक इंसेटिव दिए जाएंगे। ऐसे में कई ऐसी भी वस्तुएं होंगी जिनके निर्यात पर कोई इंसेटिव नहीं मिलेगा। इंसेटिव के रूप में प्राप्त होने वाले स्क्रिप्स से निर्यातक किसी भी प्रकार के कर जैसे उत्पाद कर, सीमा शुल्क व सेवा कर को चुका सकते हैं। स्क्रिप्स को ट्रांसफर भी किया जा सकेगा।

मुख्य तथ्य

- पांच वर्ष के लिए जारी हुई नीति, प्रति वर्ष नीति में परिवर्तन नहीं होगा।
- मेक इन इण्डिया, डिजिटल इण्डिया और स्किल इण्डिया को आगे बढ़ाएगी।
- पांच वर्ष में निर्यात को 900 अरब डॉलर तक पहुंचाने का लक्ष्य।
- सभी निर्यात प्रोत्साहन योजनाओं का दो नई योजनाओं में विलय।
- निर्यात की सम्भावना वाले देशों का तीन श्रेणी के बाजारों में विभाजन।
- नौ मुख्य श्रेणी व दर्जन भर उपश्रेणियों की सेवाओं के निर्यातकर्ताओं को 3 और 5 प्रतिशत पुरस्कार। यह पुरस्कार निर्यातकर्ताओं द्वारा अर्जित विदेशी मुद्रा के आधार पर दिया जाएगा।
- विशेष आर्थिक क्षेत्रों (एसईजेड) को भी एमईआईएस और एसईआईएस का लाभ मिलेगा।
- ड्यूटी क्रेडिट स्क्रिप्स का प्रयोग आयात शुल्क, उत्पाद शुल्क और सेवाकर के भुगतान के लिए किया जा सकेगा।
- विदेश व्यापार को बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान करने वाले कारोबारियों और निर्यातकों को अब विशेष दर्जा मिलेगा, अब ऐसे कारोबारियों को वन स्टार, दू स्टार, थ्री स्टार, फोर स्टार और फाइव स्टार का प्रमाण-पत्र दिया जाएगा।
- व्यापार सरलीकरण और कारोबार की प्रक्रिया सुगम बनाने पर बल।
- रक्षा उत्पादों के निर्यात को बढ़ावा।
- हैंडलूम और लेदर सामान के ई-कॉमर्स को बढ़ावा।
- कालीकट एयरपोर्ट, केरल व अराकोनम आइसीडी, तमिलनाडु आयात और निर्यात के लिए अतिरिक्त बन्दरगाह घोषित।
- विशाखापटनम और भीमावरम को टाउन ऑफ एक्सपोर्ट एक्सिलेंस का दर्जा।

बाजारों का वर्गीकरण—निर्यात बाजार को भी तीन श्रेणी में बांटा गया है; ए श्रेणी में अमेरिका, यूरोपीय संघ के देश व कनाडा को मिलाकर 30 देश हैं। बी श्रेणी में अफ्रीका, लैटिन अमेरिका, सीआईएस देश, आसियन देशों को मिलाकर 139 देशों को शामिल किया गया है। अन्य 70 देशों को सी श्रेणी का देश माना गया है जहां निर्यात काफी कम है।

विदेश व्यापार—कृषि उत्पादों के निर्यात पर जोर देते हुए इन उत्पादों को ज्यादा छूट देने का प्रावधान किया है। साथ ही सरकार ने नीति को 'मेक इन इण्डिया' और 'डिजिटल इण्डिया' से जोड़ने का प्रयास किया है। देश से होने वाला वस्तु व सेवाओं का निर्यात अगले पांच वर्ष में बढ़कर 900 अरब डॉलर तक पहुंच जाएगा। इससे विदेश व्यापार में भारत की हिस्सेदारी वर्तमान दो से बढ़कर 3.5 प्रतिशत हो जाएगी।

एसईजेड को प्रोत्साहन—सरकार ने विशेष आर्थिक क्षेत्रों अर्थात् एसईजेड की भूमिका और बढ़ाने के लिए नीति में एमईआइएस और एसईआइएस के अन्तर्गत निर्यात दायित्व में 25 प्रतिशत की कमी कर दी है। ऐसा होने के बाद निवेशकों की दृष्टि से एसईजेड और आकर्षक बनेंगे। साथ ही इससे घरेलू पूंजीगत समान उद्योग को भी प्रोत्साहन मिलेगा। इसके अलावा इसईजेड की इकाइयों को भी अब विदेश व्यापार नीति के चैप्टर तीन के अन्तर्गत मिलने वाली छूट भी मिलेंगी। वर्ष 2012 में एसईजेड पर न्यूनतम वैकल्पिक कर (मैट) लागू होने के बाद से निवेशक इससे दूर हो रहे थे।

राज्यों के साथ सहयोग—केन्द्र निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए राज्यों का भी सक्रिय सहयोग लेगा। इसके लिए नीति में एक संगठनात्मक ढांचे का प्रस्ताव भी किया गया है। राज्य सरकारों की भागीदारी के लिए एक एक्सपोर्ट प्रमोशन मिशन के गठन का प्रस्ताव किया गया है।

सरकार के अभियानों को सहायता—मैन्यूफैक्चरिंग क्षेत्र और रोजगार सृजन में छोटे व मझोले उद्यमों को महत्व दिया गया। सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्यमों (एमएसएमई) के 108 समूहों की पहचान की गई है। इसी तरह स्किल इण्डिया के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए निर्यात बन्धु योजना को मजबूत बनाया जा रहा है।

नई विदेश व्यापार नीति (एफटीपी) ई-कॉमर्स को भी बढ़ावा देगी। विशेष रूप से उन क्षेत्रों को नीति में ज्यादा प्रोत्साहन देने की व्यवस्था की गई है, जो ज्यादा रोजगार के अवसर पैदा करते हैं। एफटीपी के अन्तर्गत ऐसी ई-कॉमर्स कम्पनियों को प्रोत्साहन मिलेगा, जो ऐसे क्षेत्रों के उत्पाद निर्यात करेंगी जिन पर सरकार रोजगार सृजन के लिए ध्यान दे रही है। इनमें चमड़ा और हस्तशिल्प क्षेत्र प्रमुख हैं। नई नीति के अनुसार विदेश में स्थित डाकघरों या कूरियर कम्पनियों के द्वारा 25,000 ₹ से कम के निर्यात मूल्य वाले सामान को भेजने पर ई-कॉमर्स कम्पनी को एमईआइएस योजना के अन्तर्गत मिलने वाली छूट मिलेंगी। यदि ई-कॉमर्स द्वारा निर्यातित सामान का निर्यात मूल्य 25,000 से अधिक होगा, तो भी छूट 25 हजार ₹ तक सीमित रहेगी। इस योजना के अन्तर्गत जिन उत्पादों को शामिल किया गया है, जिनमें हैंडलूम, पुस्तकें चमड़े के फुटवियर, खिलौने और फैशन परिधान शामिल हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. निर्यात संवर्द्धन से आप क्या समझते हैं? इस सम्बन्ध में भारत सरकार ने कौन-कौन से प्रयास किये हैं?
2. भारत में आयात प्रतिस्थापन की आवश्यकता क्यों है? देश की आयात नीति के सन्दर्भ में इसकी विवेचना कीजिए।
3. आयात प्रतिस्थापन से क्या अभिप्राय है? भारत में निर्यात संवर्द्धन की दिशा में कौन-कौन से कदम उठाए गए हैं? स्पष्ट कीजिए।
4. नवीन विदेश व्यापार नीति 2015-20 पर प्रकाश डालिए।

28

गरीबी

[POVERTY]

गरीबी (अथवा निर्धनता) का अर्थ अथवा अवधारणा

(MEANING OR CONCEPT OF POVERTY)

आज सरकार, राजनीतिज्ञ, समाज-सुधारक, आदि सभी गरीबी के बारे में बात करते हैं, लेकिन सभी को गरीबी के सही अर्थ का बोध नहीं होता है। सामान्यतया गरीबी का आशय लोगों के निम्न जीवन-स्तर से लगाया जाता है। जीवन-स्तर सापेक्ष अथवा निरपेक्ष दृष्टि से देखा जा सकता है। अतः गरीबी की धारणा को दो रूपों में व्यक्त किया जा सकता है : (1) निरपेक्ष गरीबी, (2) सापेक्ष गरीबी।

(1) **निरपेक्ष गरीबी (Absolute Poverty)**—“एक व्यक्ति की निरपेक्ष गरीबी से अर्थ है कि उसकी आय या उपभोग व्यय इतना कम है कि वह न्यूनतम भरण-पोषण स्तर के नीचे स्तर पर रह रहा है।” इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि “गरीबी से अर्थ मानव की आधारभूत आवश्यकताओं—खाना, कपड़ा, स्वास्थ्य सहायता, आदि की पूर्ति हेतु पर्याप्त वस्तुओं व सेवाओं को जुटा पाने में असमर्थता से है।”

इस तरह यह कहा जा सकता है कि “गरीबी से अर्थ उस न्यूनतम आय से है जिसकी एक परिवार के लिए आधारभूत न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आवश्यकता होती है तथा जिसे वह परिवार जुटा पाने में असमर्थ होता है।” इस गरीबी को निरपेक्ष गरीबी कहते हैं। जो परिवार उस न्यूनतम आय को जुटा पाने में असमर्थ होता है तब कहा जाता है कि वह परिवार गरीबी रेखा से नीचे का जीवन व्यतीत कर रहा है।

(2) **सापेक्ष गरीबी (Relative Poverty)**—सापेक्ष गरीबी आय की असमानताओं के आधार पर परिभाषित की जाती है। इस सम्बन्ध में विभिन्न वर्गों या देशों के निर्वाह-स्तर अथवा प्रति व्यक्ति आय की तुलना करके गरीबी का पता लगाया जाता है। जिस वर्ग या देश के लोगों का जीवन-स्तर या प्रति व्यक्ति आय का स्तर नीचा रहता है वे उच्च निर्वाह स्तर या प्रति व्यक्ति आय वाले लोगों की तुलना में गरीब माने जाते हैं। निर्वाह-स्तर को आय एवं उपभोग-व्यय के आधार पर मापा जाता है। उदाहरण के लिए, यदि भारत में प्रति व्यक्ति आय 1,596 डॉलर है तथा अमेरिका में यह 54,630 डॉलर है तब भारत की प्रतिव्यक्ति आय अमेरिका की प्रति व्यक्ति आय के सापेक्ष 34 गुना कम है।

भारत में गरीबी की परिभाषा एवं अनुमान

भारत में कैलोरी के उपभोग को गरीबी के मापदण्ड के रूप में स्वीकार किया गया है। इस मापदण्ड को अपनाया जाना तर्कसंगत भी है; क्योंकि यहां बहुत बड़ी संख्या में लोगों को न्यूनतम आहार नहीं मिल पाता है।

भारतीय योजना आयोग के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति प्रतिदिन 2400 कैलोरी तथा शहरी क्षेत्रों में 2100 कैलोरी से कम उपभोग करने वाले व्यक्तियों को गरीब या निर्धन माना जाता है। ग्रामवासियों के लिए कैलोरी की अपेक्षाकृत ऊंची मात्रा इस कारण निर्धारित की गयी क्योंकि गांव में लोगों को अधिक शारीरिक श्रम करना पड़ता है। कैलोरी की इस न्यूनतम मात्रा के आधार पर गरीबी रेखा खींचकर देश में गरीबों की पहचान की जाती है। सामान्यतया इसे मुद्रा की राशि में व्यक्त किया जाता है।

गरीबी का अनुमान

- गरीबी रेखा तय करने की शुरुआत योजना आयोग ने 1962 में एक कार्यकारी समूह बनाकर की थी।
- इसने प्रचलित मूल्यों के आधार पर प्रति व्यक्ति 20 ₹ मासिक उपभोग व्यय को गरीबी रेखा माना था।

- 1979 में अलघ समिति ने गांवों में 49 ₹ तथा शहरों में 56.64 ₹ प्रति व्यक्ति मासिक व्यय को गरीबी रेखा माना।
- 1993 में लकड़ावाला समिति ने गांवों में 205 ₹ तथा शहरों में 281 ₹ प्रति व्यक्ति खर्च को गरीबी रेखा माना।
- 2009 में तेन्दुलकर समिति ने गांवों में 447 ₹ तथा शहरों में 579 ₹ की गरीबी रेखा तय की।
- तेन्दुलकर समिति द्वारा तय गरीबी रेखा पर विवाद हुआ तो संप्रग सरकार ने रंगराजन समिति का गठन किया।
- रंगराजन समिति ने गांवों में 972 ₹ तथा शहरों में 1,407 ₹ प्रति व्यक्ति मासिक खर्च को गरीबी रेखा माना।

विशेषज्ञ समूह की रिपोर्ट

योजना आयोग ने दिसम्बर 2005 में प्रोफेसर सुरेश डी. तेन्दुलकर की अध्यक्षता में देश में गरीबी का अनुमान लगाने के लिए एक विशेषज्ञ समिति का गठन किया था, जिसने दिसम्बर 2009 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की।

तेन्दुलकर फॉर्मूले में निर्धनता रेखा का आकलन भोजन में कैलोरी की मात्रा के स्थान पर प्रति व्यक्ति मासिक उपभोग व्यय के आधार पर किया गया था तथा प्रत्येक राज्य में निर्धनता रेखा के लिए शहरी व ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति मासिक उपभोग व्यय अलग-अलग निर्धारित किया गया।

तेन्दुलकर समिति की रिपोर्ट काफी विवादित रही। अतः सरकार ने इस समिति की रिपोर्ट की समीक्षा के लिए डॉ. रंगराजन समिति का गठन मई, 2012 में किया। रंगराजन समिति के नये पैमाने के अनुसार वर्ष 2009-10 में देश में 38.2% जनसंख्या गरीबी रेखा के नीचे थी जो 2011-12 में घटकर 29.5% रह गई। इससे पूर्व तेन्दुलकर समिति ने अपने आकलन में बताया था कि वर्ष 2009-10 में 29.8% तथा 2011-12 में 21.9% जनसंख्या गरीबी रेखा के नीचे थी।

वर्ष 2009-10 एवं 2011-12 के लिए निर्धनता का आकलन

वर्ष	निर्धनता अनुपात			निर्धनों की संख्या (मिलियन में)		
	ग्रामीण	शहरी	कुल	ग्रामीण	शहरी	कुल
रंगराजन विशेषज्ञ समूह विधि						
1. 2009-10	39.6	35.1	38.2	325.9	128.7	454.6
2. 2011-12	30.9	26.4	29.5	260.5	102.5	363.0
3. निर्धनता अनुपात में प्रतिशतांक कमी	8.7	8.7	8.7	65.4	26.2	91.6

तेन्दुलकर विशेषज्ञ समूह विधि

1. 2009-10	33.8	20.9	29.8	278.2	76.5	354.7
2. 2011-12	25.7	13.7	21.9	216.7	53.1	269.8
3. निर्धनता अनुपात में प्रतिशतांक कमी	8.1	7.2	7.9	61.5	23.4	84.9

निर्धनता रेखाएं

विशेषज्ञ समूह	वर्ष	प्रति व्यक्ति प्रतिदिन उपभोग व्यय (₹ में)	प्रति व्यक्ति औसत मासिक उपभोग व्यय (₹ में)		अखिल भारतीय निर्धनता रेखा (पांच व्यक्तियों के परिवार का औसत मासिक उपभोग व्यय) (₹ में)	
			ग्रामीण	नगरीय	ग्रामीण	नगरीय
रंगराजन विशेषज्ञ समूह	2011-12	32.4	46.9	972	1,407	4,760
	2009-10	26.7	39.9	801	1,198	4,005
तेन्दुलकर विशेषज्ञ समूह	2011-12	27.2	33.3	816	1,000	4,080
	2009-10	22.4	28.7	673	860	3,365

भारत में गरीबी के कारण

(CAUSES OF POVERTY IN INDIA)

भारत में गरीबी के लिए उत्तरदायी कारणों में से प्रमुख निम्नलिखित हैं :

1. रोजगार के अवसरों में धीमी वृद्धि—भारत में श्रमिकों की संख्या में तेजी से वृद्धि होती रही जबकि उनके लिए रोजगार के अवसरों में आशातीत वृद्धि नहीं हुई। ऐसा होने के दो कारण रहे : एक अपर्याप्त पूँजी निर्माण के फलस्वरूप अपेक्षित मात्रा में उत्पादक रोजगार के अवसर उपलब्ध नहीं हो सके। तथा दूसरे, देश में पूँजी-प्रधान उत्पादन तकनीक अपनाए जाने से श्रम-प्रधान कार्यकलापों का अधिक तेजी से विस्तार नहीं हो सका। फलस्वरूप बेरोजगारी बढ़ी और अल्प रोजगार में लगे व्यक्तियों की संख्या में भी वृद्धि हुई। ऐसी स्थिति में गरीबी का फैलना स्वाभाविक है।

2. निम्न आय अर्जक परिसम्पत्तियां—रोजगार की कमी के कारण जहां मजदूरी नहीं बढ़ सकी, वहां आय-अर्जक परिसम्पत्तियों के अभाव में मजदूरी के अतिरिक्त आय का अन्य स्रोत भी नगण्य रहा। देश में आय वितरण की असमानता के फलस्वरूप गरीब व्यक्तियों के पास परिसम्पत्तियां न के बराबर हैं।

3. अर्जित आय का निम्न स्तर—सामान्यतया जिन कार्यों में निर्धन व्यक्ति कार्यरत होते हैं वहां अक्सर मजदूरों का शोषण होता है और उन्हें मजदूरी कम प्राप्त होती है। ऐसा विशेष रूप से अर्थव्यवस्था के असंगठित क्षेत्र में होता है; जैसे—खेती, लघु उद्योग आदि। इन क्षेत्रों में श्रमिक संघ के रूप में संगठित नहीं हैं। इस कारण मालिक मजदूरों का शोषण करने और कम मजदूरी देने में सफल हो जाते हैं।

4. जनसंख्या में भारी वृद्धि—जनसंख्या में होने वाली भारी वृद्धि भी गरीबी की स्थिति को गंभीर बनाने में सहायक है। जनसंख्या वृद्धि से गरीबों के उपभोग स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तथा उनकी आर्थिक स्थिति और खराब हो जाती है। इनकी आय का लगभग सम्पूर्ण भाग परिवार के पालन-पोषण पर व्यय हो जाता है और इस तरह बचत और निवेश के लिए इनके पास कुछ नहीं बचता। इससे पूँजी निर्माण और आर्थिक विकास की गति धीमी पड़ जाती है। परिणामस्वरूप गरीबी की समस्या और उलझ जाती है।

5. दोषपूर्ण विकास-रणनीति—देश में गरीबी तथा आय-विषमताओं के लिए विकास की रणनीति भी बहुत हद तक उत्तरदायी है। उदाहरणार्थ, देश में पूँजीगत वस्तुओं के निर्माण पर अधिक बल दिया गया जिसके कारण पूँजी-गहन परियोजनाओं में निवेश अधिक हुआ और रोजगार के अवसर कम सुजित हुए। उपभोग वस्तुओं के उत्पादन पर ध्यान कम दिए जाने से उपभोग वस्तुओं का अभाव हो गया। उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि से आय एवं रोजगार के अवसरों में वृद्धि की जा सकती थी। इन सबका सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि देश में बेरोजगारी बढ़ी और आय कम होने से गरीबी की समस्या में वृद्धि हो गयी।

6. मुद्रा प्रसार और मूल्य वृद्धि—भारत में बढ़ते विकास व्ययों को पूरा करने के लिए भारी मात्रा में घाटे की वित्त-व्यवस्था का सहारा लिया जाता है। इससे अर्थव्यवस्था पर भारी स्फीतिकारी दबाव उत्पन्न हुए हैं और कीमतें बढ़ी हैं। कीमतों में वृद्धि से मुद्रा की क्रय शक्ति घट जाती है जिससे निम्न आय वर्ग में गरीबी और भी बढ़ने लगती है।

7. सामाजिक कारण—भारत में प्रचलित सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थाएं गरीबी बढ़ाने के लिए जिम्मेवार हैं। समाज में व्याप्त जाति प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली, उत्तराधिकार का नियम, निरक्षरता, अज्ञानता, भाग्यवादिता तथा धार्मिक रुद्धिवादिता लोगों को नए विचार तथा तकनीकों को अपनाने से रोकती है। इसके अभाव में लोग अपनी आय को बढ़ा लेने में सफल हो जाते और दरिद्रता के दारूणचक्र से मुक्ति पा जाते। सामाजिक उत्तरदायित्व निभाने और झूठी प्रतिष्ठा को प्राप्त करने हेतु लोग फिजूलखर्ची करते हैं और निर्धन बने रहते हैं।

भारत में गरीबी दूर करने हेतु सुझाव

(SUGGESTIONS FOR REMOVAL OF POVERTY IN INDIA)

भारत में गरीबी हटाने या कम करने के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं :

1. आर्थिक विकास की गति को तेज करना—गरीबी दूर करने के लिए देश में आर्थिक विकास की गति को तेज करना होगा। तीव्र आर्थिक विकास से बड़े पैमाने पर रोजगार के अवसरों का सृजन होगा जिससे अधिक से अधिक श्रमिकों को रोजगार मिलेगा। फलस्वरूप उनकी आय में वृद्धि होगी।

2. कुटीर एवं लघु उद्योगों का विकास—देश में कुटीर एवं लघु उद्योगों की स्थापना पर विशेष बल दिया जाना चाहिए। ये उद्योग कम पूँजी से अधिक व्यक्तियों को रोजगार देने में समर्थ होते हैं। भारत

में बेरोजगारी तथा अर्द्धबेरोजगारी अधिक मात्रा में पाई जाती है। लघु एवं कुटीर उद्योग इस बेरोजगारी में कमी ला सकते हैं।

3. कृषि विकास—देश में कृषि के विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया जाना चाहिए। कृषि में यंत्रीकरण को बढ़ावा न देकर श्रम को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। कृषि में बहुफली कार्यक्रम चलाए जाने चाहिए तथा इसे व्यावसायिक आधार पर किया जाना चाहिए ताकि कृषि से सम्बद्ध श्रमिक पूरे वर्ष भर कृषि कार्यों में लगे रहें। इसके लिए सिंचाई की सुविधाओं में पर्याप्त वृद्धि की जानी चाहिए, उन्नतशील बीज, रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाइयों व अन्य आवश्यक वस्तुओं को उचित दर पर विशेषकर लघु एवं सीमांत कृषकों को उपलब्ध कराया जाना चाहिए।

4. ग्रामीण क्षेत्रों में सार्वजनिक निर्माण कार्य—भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में पूर्ण बेरोजगारी और अर्द्धबेरोजगारी अधिक है। अतः इसे दूर करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में सार्वजनिक निर्माण कार्यों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। इसके अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में सड़कों का निर्माण, नहर, कुएं, ग्रामीण आवास, विद्युत् आदि के निर्माण कार्य प्रारम्भ किए जा सकते हैं। इससे ग्रामीण लोगों को रोजगार मिलेगा और उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार आएगा।

5. सामाजिक न्याय को बढ़ावा देना—गरीबी दूर करने के लिए परिसम्पत्तियों में गरीबों की हिस्सेदारी बढ़ाना आवश्यक है। सबसे महत्वपूर्ण परिसम्पत्ति विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि भूमि है जिसका पुनर्वितरण गरीबों के पक्ष में करने के लिए भूमि सुधार कार्यक्रमों एवं कानूनों को प्रभावी ढंग से लागू किया जाना चाहिए। परिसम्पत्ति का अन्य रूप उत्पादन-इकाइयों की सम्पत्ति है; जैसे—भवन, मशीन, उपकरण आदि। अनुदान तथा अधिक रियायती दरों पर ऋण उपलब्ध कराकर इस सम्बन्ध में गरीबों की मदद की जा सकती है। इस तरह, उपलब्ध धनराशि की सहायता से वे छोटी-छोटी उत्पादन इकाइयां लगा सकते हैं अथवा छोटे-छोटे उपकरण क्रय कर अपना व्यवसाय चला सकते हैं।

6. जनसंख्या नियन्त्रण—सामान्यतया यह देखने में आता है कि गरीब परिवारों में जन्म दर ऊंची होती है, अतः इसे घटाया जाना बहुत आवश्यक है। इसके लिए कई उपाय प्रयोग में लाए जा सकते हैं। एक तो शिक्षा तथा प्रचांर के माध्यम से इन्हें छोटे परिवार के महत्व को समझाया जाना चाहिए। दूसरे, जन्म नियन्त्रण के विभिन्न उपायों को इन्हें बताया जाना चाहिए तथा उससे सम्बन्धित साधनों को इन्हें निःशुल्क या सस्ती दरों पर उपलब्ध कराया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त परिवार की देखभाल के लिए चिकित्सा सुविधाओं की पर्याप्त व्यवस्था की जानी चाहिए। इससे छोटे परिवार को बढ़ावा देने का उद्देश्य पूरा हो सकेगा।

इस तरह, देश में गरीबी दूर करना तथा बेरोजगारी की समस्या से निजात पाना एक चुनौती भरा कार्य है। इन समस्याओं से छुटकारा प्राप्त करने के लिए सघन आर्थिक एवं सामाजिक प्रयास तथा दृढ़ राजनीतिक इच्छाशक्ति की आवश्यकता है।

भारत में गरीबी निवारण कार्यक्रम

(REMOVAL OF POVERTY PROGRAMMES IN INDIA)

कल्याणकारी राज्य के रूप में भारत सरकार ने गरीबी के विरुद्ध संघर्ष करने तथा अपने देशवासियों विशेषकर, पिछड़े तथा सुविधाविहीन वर्ग की समृद्धि एवं विकास के लिए सतत नियोजित एवं सघन प्रयास स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से ही चला रखा है।

सरकार द्वारा चलायी जा रही विकासात्मक नीति का प्रमुख उद्देश्य गरीबी पर कारगर ढंग से आक्रमण करना है। अधिक रोजगार सृजित करने, उत्पादक परिसम्पत्तियों का निर्माण करने, तकनीकी, उद्यमवृत्तिक कौशल का प्रशिक्षण देने और अत्यन्त गरीबों की आय के स्तर को बढ़ाने की दृष्टि से सरकार द्वारा चलाए जा रहे गरीबी उन्मूलन सम्बन्धी कुछ प्रमुख कार्यक्रमों का संक्षिप्त विवरण निम्नवत है :

1. महात्मा गांधी राष्ट्रीय रोजगार गारंटी अधिनियम—मनरेगा (Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Act—MNREGA)—ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार उपलब्ध कराने की दृष्टि से ‘मनरेगा’ भारत सरकार की महत्वपूर्ण ‘फ्लैगशिप’ योजनाओं में से एक है जिसका उद्देश्य उस प्रत्येक परिवार को, जिसके प्रौढ़ सदस्य स्वेच्छा से बिना कौशल का शारीरिक कार्य करना चाहते हैं; वित्तीय वर्ष में कम-से-कम 100 दिवसों की गारंटी युक्त मजदूरी रोजगार प्रदान करके देश के ग्रामीण क्षेत्रों में परिवारों

की आजीविका सुरक्षा को बढ़ाना है। यह महिलाओं की 1/3 भागीदारी का भी अधिदेश देता है। योजना का प्राथमिक उद्देश्य मजदूरी रोजगार को बढ़ाना है। यह एक मांग आधारित स्कीम है जिसको ऐसे कार्यों के माध्यम से किया जाना है जो प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन के सुदृढ़ीकरण पर ध्यान केन्द्रित करते हुए सूखा, वनों की कटाई और मृदाक्षण जैसे गरीबी के मूल कारणों को दूर करते हैं और इस प्रकार सतत विकास को प्रोत्साहित करते हैं। इस तरह, मनरेगा का केन्द्र बिन्दु जल संरक्षण, सूखा ग्रस्त क्षेत्रों का उद्धार (वानिकी/वृक्षारोपण सहित), भूमि विकास, बाढ़ नियंत्रण/संरक्षण (जल ठहराव वाले क्षेत्रों में जल निकासी सहित) तथा सभी मौसमों में अच्छी सड़कों हेतु सड़क सम्बद्धता से सम्बन्धित कार्यों पर ध्यान देना रहा है। योजना के अंतर्गत रोजगार के इच्छुक एवं पात्र व्यक्ति द्वारा पंजीकरण कराने के 15 दिन के भीतर रोजगार नहीं दिए जाने पर निर्धारित दर से बेरोजगारी भत्ता केन्द्र सरकार द्वारा दिए जाने का प्रावधान है। मनरेगा के अन्तर्गत मजदूरों को दी जाने वाली मजदूरी की दरों को 'खेतिहर मजदूरों' के लिए उपभोक्ता मूल्य सूचकांक (Consumer Price Index for Agriculture Labours) से सम्बद्ध करने की घोषणा 6 जनवरी, 2011 को की थी।

मनरेगा पहले चरण में 2 फरवरी, 2006 से 200 जिलों में अधिसूचित किया गया था और वित्तीय वर्ष 2007-08 से इसे 130 और जिलों पर लागू किया गया था। 1 अप्रैल, 2008 से इस अधिनियम के अंतर्गत देश के सभी जिले लाए गए। इस तरह यह योजना देश के सभी 625 जिलों में लागू है। मनरेगा के फलस्वरूप भारत में ग्रामीण क्षेत्रों के गरीबों की आजीविका संसाधन का आधार सुदृढ़ हुआ है। मनरेगा ने कृषक मजदूरों की सौदेबाजी की क्षमता को सफलता पूर्वक बढ़ाया है, जिससे कृषि सम्बन्धी मजदूरी बढ़ी है, आर्थिक परिणामों में सुधार हुआ है तथा विपत्ति के दौरान होने वाले उत्पावास में कमी आई है।

2. स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना (SGSY)—एक विशिष्ट स्वरोजगारी सृजन कार्यक्रम 1 अप्रैल, 1999 से पूर्ववर्ती एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम (आई आर डी पी) और सम्बद्ध कार्यक्रमों का पुनर्गठन करके प्रारंभ किया गया। इस योजना का उद्देश्य स्वरोजगारियों को बैंक ऋण एवं सरकारी सब्सिडी के माध्यम से स्व-सहायता समूहों में संगठित करके गरीबी रेखा से ऊपर लाना था। योजना के अंतर्गत सब्सिडी कुल परियोजना लागत के 30 प्रतिशत की दर से दी जाती थी, लेकिन इसकी अधिकतम सीमा 7,500 ₹ (अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों तथा विकलांगों के लिए यह सीमा 50 प्रतिशत रखी गयी है, जो अधिकतम 10,000 ₹ है) निर्धारित की गई थी। स्व-सहायता समूहों को परियोजना लागत की 50 प्रतिशत तक सब्सिडी दी जाती थी, जिसकी अधिकतम सीमा 1.25 लाख ₹ या प्रति व्यक्ति 10,000 ₹, इनमें जो भी कम हो, निर्धारित की गई थी।

स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना की अब राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन (एन.आर.एल.एम.) के रूप में पुनर्संरचना की गयी है। राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन का उद्देश्य गरीब परिवारों को लाभदायक स्वरोजगार तथा कौशल मजदूरी वाले रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने में सक्षम बनाकर गरीबी को घटाना है।

3. प्रधानमन्त्री ग्राम सड़क योजना (पीएमजीएसवाई)—25 दिसम्बर, 2000 को आरम्भ की गई 100 प्रतिशत केन्द्र प्रायोजित इस योजना (सीएसएस) का प्राथमिक उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में सभी पात्र असम्बद्ध क्षेत्रों को सभी मौसमों में सड़क से जुड़े रहने की व्यवस्था करना है।

4. इन्दिरा आवास योजना (आईएवाई)—इन्दिरा आवास योजना केन्द्रीय प्रायोजित योजना है जिसका वित्त पोषण केन्द्र और राज्यों के बीच खर्च की भागीदारी 75 : 25 के अनुपात में की जाती है। संघ राज्य क्षेत्रों के मामले में पूरा निधिकरण केन्द्र द्वारा किया जाता है। आईएवाई के अन्तर्गत आवासन के लिए लक्षित वर्ग हैं : जो परिवार ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी रेखा से नीचे रह रहे हैं, विशेष रूप से अ.जा./अ.ज.जा. और मुक्त हुए बन्धुआ मजदूर।

5. स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना (SJSRY)—शहरी क्षेत्रों में गरीबी निवारण के लिए 1 दिसम्बर, 1997 से लागू यह योजना पूर्व में चल रही तीन योजनाओं को सम्मिलित करके बनाई गई थी—(i) नेहरू रोजगार योजना (NRY), (ii) गरीबों के लिए शहरी बुनियादी सेवाएं (UPSP), (iii) प्रधानमन्त्री की समन्वित शहरी गरीबी उन्मूलन योजना (PMIUEP)।

सितंबर 2013 में इस योजना को राष्ट्रीय शहरी आजीविका मिशन (NULM) से जोड़ा गया जिसका उद्देश्य शहरी बेरोजगारों और अल्प रोजगारों के लिए लाभप्रद योजना उपलब्ध कराना है।

6. प्रधानमन्त्री रोजगार योजना (PMRY)—2 अक्टूबर, 1993 से आरम्भ इस योजना का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों तथा छोटे शहरों (20,000 तक की जनसंख्या) के शिक्षित बेरोजगारों को स्व-रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना था। इस योजना के अन्तर्गत व्यवसाय एवं सेवा क्षेत्र हेतु ऋण सीमा 2 लाख ₹ तथा उद्योग क्षेत्र के लिए ऋण सीमा 5 लाख ₹ तक निर्धारित थी। इसमें अधिकतम 12,500 ₹ प्रति उद्यमी की दर से अनुदान देय था। इस योजना में 1 अप्रैल, 1994 को SEEUY योजना का विलय कर दिया गया था। 15 अगस्त, 2008 से प्रारम्भ किये गये प्रधानमन्त्री रोजगार सृजन कार्यक्रम में इस कार्यक्रम का भी समन्वय कर दिया गया था।

7. अन्नपूर्णा योजना—1 अप्रैल, 2000 से प्रभावी इस योजना का उद्देश्य 65 वर्ष या उससे अधिक आयु वर्ग के असहाय वृद्ध नागरिक, जो राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन स्कीम के अन्तर्गत पेंशन प्राप्त करने के पात्र हैं, लेकिन उहें पेंशन नहीं मिल रही है, की आवश्यकता को पूरा करने के लिए खाद्य सुरक्षा प्रदान करना है। इस योजना के अन्तर्गत प्रति व्यक्ति 10 किंग्रा खाद्यान्न प्रतिमाह निःशुल्क दिया जाता है।

8. जनश्री बीमा योजना—समाज के गरीब वर्ग को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए 10 अगस्त, 2000 से आरम्भ इस योजना के अन्तर्गत 18 से 60 आयु वर्ग के लाभार्थियों को 200 ₹ वार्षिक प्रीमियम का भुगतान करना होता है। लाभार्थी को स्वाभाविक मृत्यु की दशा में 30,000 ₹, दुर्घटनावश मृत्यु/स्थायी विकलांगता के लिए 75,000 ₹ तथा आंशिक विकलांगता के लिए 37,500 ₹ का बीमा कवच देने का प्रावधान है। गरीबी रेखा के नीचे रहने वाले लाभार्थी प्रीमियम की केवल आधी राशि का भुगतान करेंगे।

9. अन्त्योदय अन्न योजना—दिसम्बर 2000 को शुरू की गई इस योजना का उद्देश्य लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अन्तर्गत शामिल गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वालों को खाद्यान्न उपलब्ध कराना है। इस योजना में देश के 2 करोड़ निर्धनतम परिवारों को प्रति माह 35 किंग्रा अनाज विशेष रियायती मूल्य पर उपलब्ध कराया जाता है। योजनान्तर्गत वितरित किए जाने वाले गेहूं एवं चावल का केन्द्रीय निर्गम मूल्य क्रमशः 2 ₹ तथा 3 ₹ प्रति किंग्रा है।

10. वाल्मीकि अम्बेडकर आवास योजना (VAMBAY)—दिसम्बर 2001 में शुरू की गई इस योजना का मूल उद्देश्य शहरों की गन्दी बस्तियों में गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों के लिए आवासीय यूनिटों का निर्माण और उन्नयन करना तथा इस योजना के एक घटक 'निर्मल भारत अभियान' के अन्तर्गत सामुदायिक शौचालयों के माध्यम से एक स्वस्थ तथा बाहरी पर्यावरण को बेहतर बनाना है।

11. जय प्रकाश नारायण रोजगार गारण्टी योजना—केन्द्र सरकार ने श्री जयप्रकाश नारायण के जन्म शताब्दी वर्ष में देश के सर्वाधिक निर्धनता वाले जिलों के बेरोजगारों को रोजगार की गारण्टी देने के लिए 'जय प्रकाश नारायण रोजगार गारण्टी योजना' आरम्भ की है। योजना के पहले चरण में देश के 130 सर्वाधिक पिछड़े जिलों की पहचान करने और योजना की रूपरेखा बनाने के लिए ग्रामीण विकास मन्त्रालय द्वारा एक कार्यबल गठित किया गया है।

12. वरिष्ठ नागरिक बचत योजना—वरिष्ठ नागरिकों की ब्याज आय को संरक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से 2 अगस्त, 2004 में शुरू की गई इस योजना के अन्तर्गत 55 वर्ष की आयु का कोई भी व्यक्ति अकेला या पली के साथ संयुक्त खाता खोल सकता है। योजना के अन्तर्गत जमा राशि पर 9 प्रतिशत की ब्याज दर लागू होगी और 1,000 ₹ के गुणांक में 15 लाख ₹ की अधिकतम सीमा तक राशि जमा की जा सकती है। योजना के अन्तर्गत जमा में अब 10 हजार ₹ तक के ब्याज पर कोई कर कटौती (टीडीएस) नहीं की जाएगी।

13. जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रीय शहरी नवीनीकरण मिशन—देश के 63 बेहाल शहरों का एक लाख करोड़ ₹ की लागत से नवीनीकरण करने के लिए प्रधानमन्त्री द्वारा 3 दिसम्बर, 2005 को जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रीय शहरी नवीनीकरण मिशन का विधिवत् शुभारम्भ किया गया। इस मिशन में शहरी गरीबों को रियायती दर पर भूमि का अधिकार देने के साथ भवन निर्माण की अनुमति वाले जटिल नियमों को सरल बनाना, कृषि भूमि और गैर कृषि प्रयोग में बदलने के कानूनों को नरम करना, सम्पत्ति का मालिकाना हक लागू करना, शहरों में न्यूनतम 20 से 25 प्रतिशत विकसित भूमि, कम आय और कमजोर वर्ग के लोगों के लिए आरक्षित करना, निजी और सार्वजनिक भागीदारी को बढ़ावा देना और शहरी सेवा एवं प्रबन्धन में पारदर्शिता और जवाबदेही तय करना शामिल है। इस मिशन के अन्तर्गत सात वर्ष के पहले

चरण में सभी राज्यों की राजधानियों, चारों महानगरों, दस लाख की जनसंख्या वाले सभी शहरों तथा धार्मिक, सांस्कृतिक और विरासत की दृष्टि से महत्वपूर्ण शहरों को सम्मिलित करने का लक्ष्य रखा गया था।

14. आम आदमी बीमा योजना—ग्रामीण क्षेत्रों में भूमिहीन खेतिहरों को निःशुल्क बीमा सुविधा उपलब्ध कराने के उद्देश्य से इस योजना का शुभारम्भ केन्द्र सरकार द्वारा 2 अक्टूबर, 2007 को किया गया। योजनान्तर्गत प्रति लाभार्थी, वार्षिक प्रीमियम 200 ₹ निर्धारित किया गया है, जिसका भुगतान 50 : 50 के आधार पर केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकार द्वारा किया जाएगा। जनवरी, 2012 तक 1.97 करोड़ व्यक्ति इस योजना में शामिल हो चुके थे।

15. इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना—राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना का विस्तार केन्द्र सरकार द्वारा 19 नवम्बर, 2007 को किया गया। विस्तारीकरण के अन्तर्गत अब इसका नाम इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना कर दिया गया है। यह योजना निर्धनता रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहे 65 वर्ष से अधिक आयु के सभी वृद्धजनों के लिए लागू की गई है। पहले राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना के अन्तर्गत निर्धन परिवारों के बेसहारा वृद्धजन ही मासिक पेंशन के पात्र थे, लेकिन अब नई योजना में 'बेसहारा' शब्द हटा दिया गया है। इस योजना के अन्तर्गत केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकार द्वारा 200-200 ₹ प्रतिमाह अर्थात् 400 ₹ प्रतिमाह लाभार्थी को दिए जाते हैं।

16. खाद्य सुरक्षा योजना, 2013—देश में व्याप्त गरीबी, भूख एवं कुपोषण को दृष्टिगत रखते हुए जनसाधारण को गरिमामय जीवन व्यतीत करने, सस्ती दर पर पर्याप्त मात्रा में गुणवत्ता युक्त भोजन की सुलभ्यता सुनिश्चित करने तथा खाद्य एवं पोषण सम्बन्धी सुरक्षा प्रदान करने के लिए खाद्य सुरक्षा अधिनियम, 2013 पारित किया गया है। यह योजना मूलतः 3 जुलाई, 2013 को जारी राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अध्यादेश 2013 द्वारा जो 5 जुलाई, 2013 से प्रभावी हुआ, लागू की गई। इस योजना के लागू होने से देश की 67 प्रतिशत जनसंख्या अर्थात् 82 करोड़ लोग भूख और कुपोषण से मुक्त होने का अनुमान है। इस कानून के अनुसार गरीबों को प्रत्येक महीने प्रति व्यक्ति 5 किग्रा अनाज सस्ती दर पर मिलेगा। वितरित किए जाने वाले चावल, गेहूं, मोटे अनाज का मूल्य क्रमशः 3 ₹, 2 ₹ तथा 1 ₹ होगा।

विजन : 2020 फॉर इण्डिया—देश में गरीबी रेखा से नीचे जीवन-यापन करने वाले व्यक्तियों की दशा में सुधार लाने की दृष्टि से विजन : 2020 फॉर इण्डिया नाम से एक महत्वाकांक्षी नीतिगत दस्तावेज केन्द्र सरकार द्वारा तैयार किया गया है जिसका उद्देश्य एक निश्चित समय सीमा के अन्दर गरीबी रेखा से नीचे आने वाले लोगों की विभिन्न कार्यक्रमों के द्वारा स्थिति में सुधार करना है ताकि अगले बीस वर्षों में 'गरीबी रेखा के नीचे' का कलंक समाज से पूरी तरह मिटाया जा सके।

इसके लिए योजना आयोग के सदस्य डॉ. एस. पी. गुप्ता की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया है। विजन-2020 फॉर इण्डिया एक ऐसा महत्वपूर्ण दस्तावेज है जिसके आधार पर आने वाले दो दशकों के लिए अनेक नवीन योजनाएं एवं कार्यक्रम प्रारम्भ किए जाएंगे जो गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम में सहायक होंगे।

विजन 2020 के यह महत्वपूर्ण लक्ष्य हैं:

विकास के सूचक	2000 की स्थिति	2020 की सम्भावना
1. गरीबी रेखा से नीचे की जनसंख्या (% में)	26 प्रतिशत	13 प्रतिशत
2. बेरोजगारी की दर	7.3 प्रतिशत	6.8 प्रतिशत
3. वयस्क पुरुष साक्षरता	68 प्रतिशत	96 प्रतिशत
4. वयस्क महिला साक्षरता	44 प्रतिशत	94 प्रतिशत
5. प्राथमिक विद्यालयों में दाखिला	77.2 प्रतिशत	99.9 प्रतिशत
6. शिक्षा पर खर्च (सकल राष्ट्रीय उत्पाद का प्रतिशत)	3.2 प्रतिशत	4.9 प्रतिशत
7. जीवन प्रत्याशा (जन्म के समय)	64 वर्ष	69 वर्ष
8. 5 वर्ष से कम के बच्चों में कुपोषण	45 प्रतिशत	8 प्रतिशत
9. स्वास्थ्य पर खर्च (सकल राष्ट्रीय उत्पाद का प्रतिशत)	0.8	3.4
10. प्रतिव्यक्ति ऊर्जा खपत (किलोग्राम तेल के समतुल्य)	486.0	2002.0
11. बिजली खपत (किलोवाट प्रति घण्टे)	384.0	2,460.0

12. टेलीफोन (प्रति हजार जनसंख्या पर)	34.0	203.0
13. व्यक्तिगत कम्प्यूटर (प्रति 1000 पर)	3.3	52.3
14. अनुसंधान व विकास में लगे वैज्ञानिक व इंजीनियरों की संख्या (प्रति एक लाख जनसंख्या में)	149.0	590.0
15. सकल घरेलू उत्पाद में प्रतिशत हिस्सा—		
(i) कृषि	28.0 प्रतिशत	6.0 प्रतिशत
(ii) उद्योग	26.0 प्रतिशत	34.0 प्रतिशत
(iii) सेवा क्षेत्र	46.0 प्रतिशत	60.0 प्रतिशत
16. कुल पूँजी निर्माण में प्रत्यक्ष निवेश का हिस्सा	2.1 प्रतिशत	24.5 प्रतिशत
17. शिशु मृत्यु दर (प्रति 1000 जीवित जन्म)	71 प्रतिशत	22.5 प्रतिशत

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. गरीबी से क्या समझते हैं? भारत में ग्रामीण गरीबी उन्मूलन के कौन-कौन से कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं?
2. गरीबी की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए। भारत में गरीबी के कारणों को बताइए।
3. गरीबी रेखा से क्या तात्पर्य है? भारत में गरीबी के मुख्य पहलुओं का वर्णन कीजिए।
4. भारत में गरीबी निवारण के लिए कौन-कौन सी योजनाएं चल रही हैं? उन योजनाओं को विस्तार से समझाइए।

असमानता

[INEQUALITY]

असमानता का अर्थ व क्षेत्र

(MEANING AND SCOPE OF INEQUALITY)

असमानता का अर्थ है समानता (Equality) का न होना। वैसे तो असमानता अनेक क्षेत्रों में पायी जाती है, परन्तु आर्थिक असमानता के तीन क्षेत्र माने जाते हैं :

- (I) आय की असमानता
- (II) सम्पत्ति की असमानता
- (III) क्षेत्रीय असमानता

अब हम एक-एक करके इनकी विस्तार से व्याख्या करेंगे।

(I) आय की असमानता (Inequality of Income)

भारत में गरीबी के रहने का प्रमुख कारण आय की असमानता है। यहां एक ओर ऐसे व्यक्ति या परिवार हैं जो सम्पन्न हैं, समृद्ध हैं, धनवान हैं व आर्थिक शक्ति में इूबे रहते हैं, जबकि दूसरी ओर करोड़ों ऐसे व्यक्ति या परिवार हैं जिन्हें दोनों समय भरपेट भोजन भी नहीं मिल पाता है। यहां ऐसे भी व्यक्ति या परिवार हैं जो खाने के बाद बचे हुए खाद्य-पदार्थों को जानवरों को डाल देते हैं या फिर नाली में फेंक देते हैं वहीं दूसरी ओर ऐसे भी व्यक्ति या परिवार हैं जो खाने को तरसते रहते हैं। उनके पास तन ढकने के लिए पूरे कपड़े भी नहीं हैं। यहां कुछ परिवार ऐसे हैं जो आलीशान मकानों में रहते हैं, जबकि कुछ सड़कों पर या पेड़ों के नीचे जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसा केवल आय की असमानता के कारण ही होता है।

भारत एक प्रजातान्त्रिक देश है जिसमें संविधान में समानता की बात कही गयी है तथा समाजवादी समाज की स्थापना का संकल्प लिया गया है, परन्तु फिर भी यहां असमानताएं भारी मात्रा में हैं जिनके कारण विषमताओं ने गम्भीर रूप ले लिया है। आर्थिक सुधारों के उपरान्त भारत में संवृद्धि दर में जो भी वृद्धि हुई है उससे आय की असमानताएं बढ़ी हैं। आर्थिक सुधारों के पूर्व एवं पश्चात् पारिवारिक व्यय के आधार पर किए गए सर्वेक्षणों से आय की असमानताएं दृष्टिगोचर होती हैं।

योजना आयोग द्वारा 21 मार्च, 2012 को जारी किए गए आंकड़ों के अनुसार 2004-05 से 2009-10 के बीच की 5 वर्ष की अवधि में आय असमानताओं में वृद्धि हुई है। यही वह अवधि है जिसमें अर्थव्यवस्था में तेज आर्थिक वृद्धि हुई थी। NSSO के 68वें दौर की रिपोर्ट में आय असमानताओं की नवीनतम जानकारी वर्ष 2011-12 के लिए उपलब्ध है। 2011-12 में ग्रामीण क्षेत्रों के 10 प्रतिशत सबसे धनी उपभोक्ताओं का उपयोग व्यय, निर्धनतम 10 प्रतिशत के उपभोग व्यय का औसतन 7 गुना था, जबकि शहरी क्षेत्र में सबसे धनी 10 प्रतिशत उपभोक्ताओं का उपभोग व्यय निर्धनतम उपभोग व्यय का लगभग 11 गुना था।

OECD द्वारा दिसम्बर 2011 में जारी एक रिपोर्ट में कहा गया है कि पिछले दो दशकों में (जो कि आर्थिक सुधार की अवधि रही है) भारत में कमाई (earnings) में असमानताएं दोगुनी हो गयी हैं। रिपोर्ट के अनुसार जहां आज से 20 वर्ष पूर्व सबसे अधिक 10 प्रतिशत कमाई करने वाले लोगों की सबसे कम 10 प्रतिशत कमाई करने वाले लोगों की तुलना में कमाई 6 गुना थी, अब यह 12 गुना हो गयी है।” विश्व विकास

संकेतांक, 2012 के अनुसार, “भारत में निचली 20% जनसंख्या को कुल आय का 8.6% प्राप्त होता है, जबकि ऊपर की 20% जनसंख्या को कुल आय का 42.8% प्राप्त होता है।”

उपर्युक्त विवरण से निम्न निष्कर्ष निकलता है :

(1) भारत में आय के वितरण में व्यापक विषमता है, अर्थात् कुछ व्यक्तियों के हाथों में आय अधिक है तो कुछ के हाथों में बहुत ही कम।

(2) आर्थिक नियोजन के कारण लाभ धनी व्यक्तियों को ही अधिक हुआ है।

(3) शहरी क्षेत्रों में आय विषमता ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में अधिक है। इसका अर्थ यह है कि ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में शहरी क्षेत्रों में धनी और अधिक धनी हुए हैं तथा गरीब और गरीब।

भारत में आय असमानता के कारणों को निम्न मर्दों में खटकर अध्ययन कर सकते हैं :

(1) उत्तराधिकार नियम—भारत में उत्तराधिकार नियम इस प्रकार के हैं कि निजी सम्पत्ति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को स्वतः ही हस्तान्तरित हो जाती है। इस प्रकार आय की असमानताएं भी एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती हैं। यदि किसी व्यक्ति की आय अधिक है तो उसकी सन्तान की भी आय अधिक होगी। इसके विपरीत, एक श्रमिक के पास सम्पत्ति नहीं है तो उसकी सन्तान को भी अपने श्रम पर ही जीवित रहना होगा। इस प्रकार उसकी आय कम रहेगी। इसका अर्थ यह है कि उत्तराधिकार के कारण आय की असमानताएं स्थायी-सी हो गयी हैं।

(2) प्राकृतिक योग्यताओं में अन्तर—प्रकृति ने सभी को एकसमान बुद्धि एवं चातुर्य नहीं दिया है। इसीलिए जन्म से ही व्यक्तियों की योग्यता एवं क्षमता में अन्तर पाया जाता है। जो व्यक्ति अधिक योग्य, कुशल व चतुर होते हैं वे अधिक आय प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं, जबकि कम योग्य व्यक्ति कम आय ही प्राप्त कर पाते हैं। इस प्रकार आय में असमानता बनी रहती है।

(3) शिक्षा, प्रशिक्षण व अवसर की असमानता—सभी व्यक्तियों को शिक्षा, प्रशिक्षण व विकास के समान अवसर व सुविधाएं नहीं मिल पाती हैं। निर्धन व्यक्ति अपने बच्चों को उच्च शिक्षा व प्रशिक्षण नहीं दिला पाता है, क्योंकि उसके साधन इस प्रकार के व्यय को सहन करने के लिए नहीं होते हैं, जबकि दूसरी ओर धनवान व्यक्तियों के बच्चों के लिए यह सुविधा एक आम बात है। इस प्रकार यह असमानता व्यक्तियों की योग्यता में अन्तर ला देती है जिसके परिणामस्वरूप आंय की असमानताएं पैदा हो जाती हैं।

(4) बैंकों एवं औद्योगिक वित्त निगमों की ऋण नीति—बैंकों व औद्योगिक वित्त निगमों की ऋण नीति इस प्रकार की रही है कि बड़े उत्पादकों को अधिक आसानी से बड़े-बड़े ऋण मिल जाते हैं, जबकि छोटे उत्पादकों को ये संस्थाएं ऋण देने में काफी अड़चनें पैदा कर देती हैं। इससे बड़े उत्पादकों को अधिक लाभ कमाने के अवसर मिल जाते हैं, जबकि छोटे यों ही रह जाते हैं। इस प्रकार आय असमानता बढ़ती जाती है।

(5) सम्पत्ति का निजी स्वामित्व—भारत की अर्थव्यवस्था मिथ्रित पूँजीवादी है। यहां निजी स्वामित्व का बोलबाला है। जिन व्यक्तियों के पास सम्पत्ति अधिक होती है वे उस सम्पत्ति के बलबूते पर अधिक कमा लेते हैं, जबकि जिन व्यक्तियों के पास इसका अभाव रहता है वे उतना नहीं कमा पाते हैं। इस प्रकार आय की असमानता बनी रहती है। अधिक सम्पत्ति वाले की आय अधिक व कम सम्पत्ति वाले की आय कम होती है।

(6) मुद्रा-स्फीति व मूल्य वृद्धि—मुद्रा-स्फीति व मूल्य वृद्धि से धनिक वर्ग को लाभ होता है। इसके विपरीत, निर्धन व श्रमजीवी वर्ग को हानि होती है, अर्थात् गरीब वर्ग की आय में कमी हो जाती है। इससे भी आय की असमानताएं बढ़ जाती हैं।

(7) करारोपण नीति—सरकार की करारोपण नीति निजी क्षेत्र के निगमों को बढ़ावा देने की रही है। उन्हें अनेक प्रकार की छूटें दी गयी हैं, लेकिन छोटे उद्योगपतियों को इस सम्बन्ध में कोई विशेष छूट नहीं दी गयी है, इससे बड़े उद्योगपतियों को लाभ हुआ है। उनकी आय बढ़ी है, जबकि छोटा उद्योगपति वैसा ही बना हुआ है। इस प्रकार आय की असमानता बढ़ी है।

(8) लाइसेन्स नीति—भारत में आय की असमानता का कारण लाइसेन्स नीति भी रही है। इस नीति ने आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण किया है। बड़े उद्योगपतियों की आय एवं सम्पत्तियों की मात्रा बढ़ी है, क्योंकि उन्हें अधिकाधिक मात्रा में लाइसेन्स दिये गये हैं, जबकि छोटे उद्योगपतियों के साथ ऐसा नहीं हुआ है। इससे आय की असमानता में वृद्धि हुई है।

भारत में आय की असमानता के प्रमुख प्रभाव निम्न प्रकार हैं :

(1) **निर्धनता**—आय की असमानता का महत्वपूर्ण प्रभाव निर्धनता है। यहां लगभग आधी जनसंख्या निर्धन या गरीब है जिसके पास दो समय पेट भरने के लिए आवश्यक साधन भी नहीं हैं, जबकि पूरे दिन परिश्रम ही करते रहते हैं।

(2) **वर्ग संघर्ष**—आय की असमानता के कारण समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया है—धनी वर्ग व निर्धन वर्ग। निर्धन वर्ग में असन्तोष है, अतः वे आन्दोलनों का आयोजन करते हैं जिनमें हड़ताल व घेराव शामिल हैं। इससे औद्योगिक अशान्ति होती है, उत्पादन में रुकावट आती है, राष्ट्रीय आय घटती है और देश में निर्धनता की गति और बढ़ती है।

(3) **साधनों का अनुचित वितरण**—आय की असमानता के कारण साधनों का अनुचित वितरण होता है। उदाहरण के लिए, जब धनी व्यक्ति विलासिता की वस्तुओं की मांग करते हैं तो उत्पादक उन्हें बनाने लग जाते हैं, क्योंकि ऐसा करने से उन्हें लाभ अधिक होता है। वे धनवानों से अधिक मूल्य वसूल कर सकते हैं। इस प्रकार उत्पादक निर्धन व्यक्तियों द्वारा उपयोग की जाने वाली वस्तुओं के उत्पादन से हटकर धनवान व्यक्तियों की वस्तुओं के उत्पादन में लग जाते हैं। अतः साधनों का अनुचित वितरण हो जाता है जो सामाजिक दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता है। यह तो साधनों की बर्बादी है।

(4) **आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण**—आय की असमानता से आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण कुछ व्यक्तियों के हाथों में हो जाता है जिससे वे प्रजातन्त्र को भी खतरा पैदा कर देते हैं। वे गरीबों को नोट देकर खरीद लेते हैं और राजनेताओं को भी भ्रष्ट कर देते हैं।

(5) **उत्पादन शक्ति में कमी**—आय की असमानता श्रमिक की उत्पादन शक्ति में कमी ला देती है, क्योंकि वे अपनी आय से सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते हैं। उनका स्वास्थ्य खराब रहता है। वे कमजोर हो जाते हैं। इन सबका प्रभाव यह होता है कि उनकी उत्पादन शक्ति एवं कार्यकुशलता कम हो जाती है। इससे उनकी आय और कम हो जाती है।

(6) **असमान अवसर**—आय की असमानता प्रगति के अवसरों की असमानता भी उत्पन्न करती है। धनिक वर्ग के बच्चे उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं और ऊंचे पदों पर पहुंच जाते हैं, जबकि निर्धन के बच्चे धन के अभाव के कारण ऐसा नहीं कर पाते हैं। इस प्रकार धनी और धनी होता जाता है, जबकि निर्धन और निर्धन।

आय की असमानता को दूर करने के लिए निम्न उपाय किये जा सकते हैं :

(1) **उत्तराधिकार पर प्रतिबन्ध**—यद्यपि उत्तराधिकार नियमों पर पूरी तरह रोक तो नहीं लगायी जा सकती है, किन्तु उसको नियन्त्रित अवश्य ही किया जा सकता है। इसके लिए सम्पत्ति कर की दरें बढ़ाई जा सकती हैं व एक नया कर उत्तराधिकार कर के नाम से लगाया जा सकता है।

(2) **अनर्जित आय पर ऊंचे कर**—सरकार को अनर्जित आय पर ऊंची दर से कर लगाना चाहिए और उससे प्राप्त आय को गरीबों के उत्थान पर व्यय करना चाहिए। इससे आय असमानता कम करने में सहायता मिलेगी।

(3) **एकाधिकारी मूल्यों पर नियन्त्रण**—आय की असमानता को कम करने के लिए एकाधिकारी मूल्यों पर नियन्त्रण किया जाना चाहिए जिससे कि वे अनुचित लाभ न कमा सकें।

(4) **आवश्यक वस्तुओं के रियायती मूल्य**—वे वस्तुएं जो गरीबों के उपभोग में आती हैं उनके मूल्य रियायती होने चाहिए, अर्थात् सरकार को उन वस्तुओं को कम मूल्य पर ऐसे गरीब व्यक्तियों को उपलब्ध करानी चाहिए और इसकी हानि स्वयं राजकोष को वहन करनी चाहिए। इससे गरीबों की वास्तविक आय बढ़ेगी।

(5) **अवसरों की समानता**—सरकार को शिक्षा व प्रशिक्षण कार्यक्रमों का फैलाव करना चाहिए तथा सुयोग्य व्यक्तियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था निःशुल्क करनी चाहिए जिससे कि वे प्रशिक्षित होकर अपनी आय बढ़ा सकें।

(6) सामाजिक सेवाओं का विस्तार—सरकार को उच्च वर्गों से प्राप्त आय को निम्न वर्गों तक पहुंचाने के लिए सामाजिक कल्याण सेवाओं में वृद्धि करनी चाहिए। यह सेवाएं हैं—निःशुल्क शिक्षा व चिकित्सा, गन्दी बस्तियों में सुधार, सस्ते मूल्य पर जीवन की अनिवार्य वस्तुओं को उपलब्ध करना, आदि।

(7) जनसंख्या नियन्त्रण—गरीब परिवारों में जनसंख्या की वृद्धि की दर अधिक है। इस पर नियन्त्रण होना चाहिए और उन्हें इस बात को मानने के लिए विवश किया जाना चाहिए कि छोटा परिवार होने से निर्धनता से छुटकारा मिल सकता है।

(II) सम्पत्ति की असमानता (Inequality of Assets)

भारत में सम्पत्ति की व्यापक असमानता विद्यमान है। Credit Suisse Global Wealth Databook 2014 के अनुसार भारत में सबसे घनी एक प्रतिशत लोगों का कुल सम्पत्ति में हिस्सा 49 प्रतिशत है। वर्ष 2000 के बाद से भारत की सम्पत्ति में सबसे घनी एक प्रतिशत लोगों के हिस्से में 12.2 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

भारत में कृषि जोतों सम्बन्धी आंकड़े कृषि भूमि के सम्बन्ध में सम्पत्ति की असमानता को प्रकट करते हैं।

2010-11 की गणना के अनुसार देश में 67.04 प्रतिशत जोतें सीमान्त, अर्थात् वे एक हेक्टेएर तक हैं, इनके पास कुल कृषि क्षेत्रफल का केवल 22.25 प्रतिशत क्षेत्रफल है। 17.93 प्रतिशत जोतें लघु हैं, अर्थात् वे एक से दो हेक्टेएर तक हैं, इनके पास कुल कृषि क्षेत्रफल का 22.07 प्रतिशत क्षेत्रफल है। 10.05 प्रतिशत जोतें अर्द्ध-मध्यम हैं, अर्थात् वे दो से चार हेक्टेएर तक हैं, इनके पास कुल कृषि क्षेत्रफल का 23.59 प्रतिशत क्षेत्रफल है। 4.25 प्रतिशत जोतें मध्यम हैं अर्थात् वे चार से दस हेक्टेएर तक हैं इनके पास कुल कृषि क्षेत्रफल का 21.18 प्रतिशत क्षेत्रफल है। 0.73 प्रतिशत जोतें वृहत् हैं, अर्थात् वे 10 हेक्टेएर या उससे अधिक हैं, इनके पास कुल कृषि क्षेत्रफल का 10.94 प्रतिशत क्षेत्रफल है।

यही बात उद्योगों के सम्बन्ध में भी पायी जाती है। देश में टाटा, बिडला, रिलायन्स, थापर, जे.के.सिंघनिया, लार्सन एंड ट्रूब्रो, मोटी, बजाज, मफतलाल व एम.ए. विद्यम्बरम नाम से जो घराने हैं उनके पास अरबों रुपयों की सम्पत्ति है।

एकाधिकारी जांच आयोग के अनुसार 1985 में देश के बीस व्यापारिक गृहों के पास देश की कम्पनियों की कुल पूँजी की 32.4 प्रतिशत पूँजी थी।

शहरी क्षेत्रों में भी इसी प्रकार की असमानता सम्पत्ति के क्षेत्र में भी पायी जाती है, परन्तु इस सम्बन्ध में विश्वसनीय आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

(III) क्षेत्रीय असमानता (Regional Inequality or Imbalance)

भारतीय अर्थव्यवस्था का रूप एकसा नहीं है। यहां विभिन्न राज्यों में प्रति व्यक्ति आय अलग-अलग है। इसी प्रकार औद्योगिक विकास भी विभिन्न राज्यों में अलग-अलग है। यहां कृषि विकास, जनसंख्या, प्राकृतिक साधन व सामाजिक सेवाओं की दृष्टि से भी विभिन्न राज्यों में विषमता पायी जाती है। ये सभी क्षेत्रीय व असमानता की श्रेणी में आते हैं।

भारत में कृषि क्षेत्र में भी विषमता है। यहां उत्तर प्रदेश व पंजाब मिलकर कुल गेहूं उत्पादन का लगभग एक-तिहाई उत्पादन करते हैं। यदि इसमें हरियाणा को और जोड़ दें तो ये तीनों राज्य कुल गेहूं उत्पादन का लगभग 68 प्रतिशत गेहूं उत्पादन करते हैं।

इसी प्रकार औद्योगिक क्षेत्र में भी असमानता है। यहां के 12 राज्य—महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, गुजरात, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, बिहार, झारखण्ड, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, कर्नाटक व आन्ध्र प्रदेश-तेलंगाना—मिलकर कुल औद्योगिक उत्पादन का लगभग 83.5 प्रतिशत उत्पादन करते हैं, जबकि शेष 23 राज्य व संघीय प्रदेशों का हिस्सा केवल 16.5 प्रतिशत है।

जब विकास राज्य के एक क्षेत्र में ही दिखायी देता है और उसी राज्य का दूसरा हिस्सा उतना विकसित नहीं है तो यह खण्डीय असन्तुलन कहलाता है। उदाहरण के लिए, औद्योगिक दृष्टि से उत्तर प्रदेश का पश्चिमी हिस्सा अधिक विकसित है, जबकि पूर्वी उतना विकसित नहीं है।

इस प्रकार भारत में क्षेत्रीय असमानता पायी जाती है, जिसे अग्रलिखित आधारों पर विस्तार से समझा जा सकता है :

(1) गरीबी रेखा—गरीबी की दृष्टि से भारत में कुछ राज्य व क्षेत्र सम्पन्न हैं, जबकि कुछ पिछड़े। उदाहरण के लिए, राज्य की जनसंख्या के प्रतिशत के आधार पर सबसे अधिक गरीबी उड़ीसा राज्य में है। इसके बाद क्रमशः बिहार, मध्य प्रदेश, असम, त्रिपुरा का स्थान है। गरीबी के प्रतिशत के आधार पर पंजाब राज्य सम्पन्न है। इस विवरण से यह अर्थ निकलता है कि यहां क्षेत्रीय असमानता है। कुछ राज्य सम्पन्न हैं तो कुछ पिछड़े हुए।

(2) उद्योग—भारतीय अर्थव्यवस्था में औद्योगिक दृष्टि से भी क्षेत्रीय असमानता है। महाराष्ट्र औद्योगिक दृष्टि से सबसे अधिक सम्पन्न राज्य है जो देश के कुल औद्योगिक उत्पादन का लगभग 25 प्रतिशत उत्पादन करता है जैसे महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु, गुजरात, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, बिहार, झारखण्ड, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, कर्नाटक व आन्ध्र प्रदेश-तेलंगाना मिलकर कुल उत्पादन का 83.5 प्रतिशत उत्पादन करते हैं, जबकि शेष 23 राज्य व संघीय प्रदेश केवल 16.5 प्रतिशत। इस प्रकार ये बारह राज्य औद्योगिक दृष्टि से उन्नत हैं, जबकि शेष पिछड़े हुए। इस प्रकार यहां औद्योगिक दृष्टिकोण से भी असमानता पायी जाती है।

(3) साक्षरता अनुपात—भारत में साक्षरता की दृष्टि से भी असमानता है। यहां केरल राज्य में साक्षरता का प्रतिशत 94% है, जो सबसे ऊँचा है। सबसे कम साक्षरता बिहार में है, जिसका प्रतिशत 61.8 है। शेष राज्यों का प्रतिशत इनके मध्य में है, जैसे दिल्ली 86.2%, महाराष्ट्र 82.5%, तमिलनाडु 80.1%, त्रिपुरा 87.2%, मणिपुर 79.2%, पश्चिम बंगाल 76.3%, कर्नाटक 75.4%, सिक्किम 81.4%, मध्य प्रदेश 69.3%, उत्तर प्रदेश 67.7%।¹

(4) जनसंख्या का घनत्व—भारत में जनसंख्या का औसत घनत्व 382 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है, लेकिन इस दृष्टि से भी यहां क्षेत्रीय असमानता है। दिल्ली व चण्डीगढ़ में यह घनत्व 9,340 व 9,252 व्यक्ति है, जो सबसे अधिक है। सबसे कम घनत्व अरुणाचल प्रदेश में है, जहां केवल 17 व्यक्ति ही 1 वर्ग किलोमीटर में निवास करते हैं। अन्य राज्यों का घनत्व इस प्रकार है : केरल 859, पश्चिम बंगाल 1,030, बिहार 1,102, उत्तर प्रदेश 828, असम 397, पंजाब 550, आन्ध्र प्रदेश 308, मध्य प्रदेश 236, राजस्थान 201 व हिमाचल प्रदेश 123।

(5) प्रति व्यक्ति आय—भारत के सभी क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति आय समान नहीं है, कहीं अधिक तो कहीं कम। गोआ की प्रति व्यक्ति आय सबसे अधिक है, जो 2013-14 में चालू मूल्यों के आधार पर 2,22,138 ₹ थी। इसके पश्चात् दिल्ली (2,21,219 ₹), चण्डीगढ़ (1,56,951 ₹) और सिक्किम (1,76,491 ₹) का स्थान है। उत्तर प्रदेश में यह मात्र 36,250 ₹, बिहार में 31,199 ₹, मध्य प्रदेश में 51,798 ₹, छत्तीसगढ़ में 58,547 ₹ और झारखण्ड में 46,131 ₹ है।² इस प्रकार, भारत में प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से भी क्षेत्रीय असमानताएं हैं।

(6) नगरीय जनसंख्या—भारत की 31.2 प्रतिशत जनसंख्या शहरों में रहती है, लेकिन यह प्रतिशत भी भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न है, जैसे महाराष्ट्र का यह प्रतिशत 45.23, तमिलनाडु का 48.45, गुजरात का 42.58, कर्नाटक का 38.57, पश्चिम बंगाल का 31.89, आन्ध्र प्रदेश का 32.49, मध्य प्रदेश का 27.63, ओडिशा का 16.68, हिमाचल प्रदेश का 11.06 व बिहार का 11.3 है। इस प्रकार यहां नगरीय जनसंख्या के फलस्वरूप भी क्षेत्रीय असमानता पायी जाती है।

(7) सिंचाई—सिंचाई सुविधाओं की उपलब्धि की दृष्टि से पंजाब, हरियाणा, तमिलनाडु व उत्तर प्रदेश में स्थिति अच्छी है, जबकि गुजरात, कर्नाटक, ओडिशा (उड़ीसा), राजस्थान, महाराष्ट्र व छत्तीसगढ़ में सिंचाई सुविधाएं कम हैं। यहीं कारण है कि इन राज्यों में कृषि उत्पादन कम है।

(8) विद्युत् उपभोग—विद्युत् उपभोग की दृष्टि से पंजाब, हरियाणा, गुजरात व महाराष्ट्र में विद्युत् उपभोग ऊँचे स्तर का है, जबकि असम, मध्य प्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, जम्मू व कश्मीर तथा केरल में औसत से भी कम है। इस प्रकार यहां असमानता पायी जाती है।

(9) परिवहन सुविधा—परिवहन के क्षेत्र में महाराष्ट्र, केरल, तमिलनाडु, पंजाब, पश्चिम बंगाल, गुजरात, हरियाणा अच्छे माने जाते हैं। यहां रेल सुविधाएं पर्याप्त मात्रा में हैं, लेकिन असम, जम्मू व कश्मीर, ओडिशा, मध्य प्रदेश, कर्नाटक, आदि में रेल सेवाएं उत्तरी नहीं हैं। इस प्रकार भारत में इस क्षेत्र में भी असमानता है।

¹ Census of India, 2011.

² आर्थिक समीक्षा, पृ. 25-26, 2015-16.

(10) अवसंरचना—इस अवसंरचना की दृष्टि से पंजाब, तमिलनाडु, हरियाणा व पश्चिम बंगाल की स्थिति मजबूत है। इसीलिए इन राज्यों ने विकास किया है। शेष राज्यों में अवसंरचना का अभाव है। अतः वहां उतना विकास नहीं हो पाया है। इस प्रकार भारत में क्षेत्रीय असमानता पायी जाती है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. असमानता से क्या अर्थ है ? असमानता के क्षेत्रों का विवरण प्रस्तुत कीजिए।
2. क्षेत्रीय असमानता के बारे में विस्तार से समझाइए।
3. भारत में आय असमानता की विवेचना कीजिए। आय असमानता के कारण बताइए।
4. भारत में आय असमानता के क्या कारण हैं ? इसे कैसे दूर किया जा सकता है ?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में आय असमानता के कारण बताइए।
2. आय असमानता को दूर करने के उपाय बताइए।
3. भारत में सम्पत्ति की असमानता को बताइए।
4. भारत में क्षेत्रीय असमानता की स्थिति को समझाइए।
5. 'भारत में क्षेत्रीय असमानता विद्यमान है।' स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भारत में सबसे धनी एक प्रतिशत लोगों का कुल सम्पत्ति में हिस्सा है :

(अ) 45%	(ब) 48%
(स) 49%	(द) 50%
2. भारत में आय की असमानता है :

(अ) ग्रामीण क्षेत्रों में	(ब) शहरी क्षेत्रों में
(स) ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में	(द) इनमें से कोई नहीं
3. भारत में वर्ष 2013-14 में सबसे अधिक प्रति व्यक्ति वाला राज्य है :

(अ) गोवा	(ब) तमिलनाडु
(स) गुजरात	(द) दिल्ली
4. साक्षरता किस राज्य में सबसे अधिक है ?

(अ) महाराष्ट्र	(ब) केरल
(स) तमिलनाडु	(द) गुजरात

[उत्तर : 1. (स), 2. (स), 3. (अ), 4. (ब)]

30

बेरोजगारी

[UNEMPLOYMENT]

बेरोजगारी का अर्थ

(MEANING OF UNEMPLOYMENT)

जब कोई व्यक्ति शारीरिक रूप से कार्य करने में समर्थ हो तथा वह प्रचलित मजदूरी दर पर काम करना चाहे ताकि वह अपनी आजीविका चला सके, परन्तु उसे कोई काम न मिले तो उस व्यक्ति को बेरोजगार तथा इस समस्या को बेरोजगारी की समस्या कहते हैं। अन्य शब्दों में, बेरोजगारी वह दशा है जिसमें शारीरिक व मानसिक रूप से स्वस्थ एवं समर्थ व्यक्ति को, जो कार्य करने की इच्छा रखता है प्रचलित मजदूरी दर पर कार्य नहीं मिलता।

भारत में बेरोजगारी का स्वरूप

(NATURE OF UNEMPLOYMENT IN INDIA)

सामान्यतः: देश की सारी श्रमिक संख्या रोजगार में नहीं लगी होती। अपितु उसका कम या अधिक भाग बेरोजगार होता है। बेरोजगारी की यह मात्रा अल्पविकसित देशों में आमतौर से बहुत अधिक होती है, विशेष रूप से ऐसे देशों में जहां जनसंख्या बहुत अधिक है और तेजी से बढ़ रही है। भारत के सन्दर्भ में यह बात विशेष रूप से लागू होती है। यहां काफी बड़ी संख्या में देश के श्रमिक बेरोजगार हैं अथवा अल्परोजगार की दशा में हैं। कुछ ऐसे श्रमिक भी हैं, जो वर्ष के कुछ महीनों में रोजगार में होते हैं और बाकी महीनों में बेकार रहते हैं। इन सबको देखते हुए भारत में बेरोजगारी के स्वरूप को मुख्य रूप से निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

(1) **संरचनात्मक बेरोजगारी**—भारत में बेरोजगारी इसी स्वभाव की है। जब देश में पूँजी के साधन सीमित होते हैं और काम चाहने वालों की संख्या बराबर बढ़ती जाती है तो कुछ व्यक्ति बिना काम के ही रह जाते हैं क्योंकि उनके लिए पर्याप्त पूँजी-साधन नहीं होते हैं। इस प्रकार की बेरोजगारी विकासशील देशों में पायी जाती है तथा यह दीर्घकालीन होती है। भारत में बेरोजगारी का स्वभाव भी इसी प्रकार का है।

(2) **अल्प-रोजगार**—जब किसी व्यक्ति को अपनी क्षमता के अनुसार कार्य नहीं मिलता है या पूरा काम नहीं मिलता है तो इसे अल्प-रोजगार कहते हैं। जैसे जब एक इंजीनियरिंग की डिग्री प्राप्त व्यक्ति लिपिक या श्रमिक के रूप में कार्य करता है तो इसको अल्प-रोजगार कहते हैं। ऐसा व्यक्ति कार्य करता तो दिखायी देता है, लेकिन उसकी पूर्ण क्षमता का उपयोग नहीं होता है।

(3) **खुली बेरोजगारी**—“जब व्यक्ति कार्य करने के योग्य हैं और वे कार्य करना चाहते हैं, लेकिन उनको कार्य नहीं मिलता है तो ऐसी स्थिति को खुली बेरोजगारी कहते हैं।” भारत में इस प्रकार की बेरोजगारी व्याप्त है। यहां लाखों व्यक्ति ऐसे हैं जो शिक्षित हैं, तकनीकी योग्यता प्राप्त हैं, लेकिन काम करने का अवसर नहीं मिल रहा है।

(4) **मौसमी बेरोजगारी**—इस प्रकार की बेरोजगारी वर्ष के कुछ समय में हो जाती है। भारत में यह कृषि में पायी जाती है। जब खेतों की जुताई एवं बुवाई का मौसम होता है तो कृषि में काम होता है, लेकिन बीच के समय में इतना काम नहीं होता है अतः इस प्रकार के समय में श्रमिकों को काम नहीं मिलता है। इस बेरोजगारी को मौसमी बेरोजगारी कहते हैं।

(5) शिक्षित बेरोजगारी—यह खुली बेरोजगारी का ही एक रूप है। इसमें शिक्षित व्यक्ति बेरोजगार होते हैं। शिक्षित बेरोजगारी में कुछ व्यक्ति अल्प-रोजगार की स्थिति में होते हैं जिन्हें रोजगार मिला हुआ होता है, लेकिन वह उनकी शिक्षा के अनुरूप नहीं होता है। भारत में इस प्रकार की बेरोजगारी भी पायी जाती है। वर्तमान में यहां कुल पंजीकृत बेरोजगारों में से 60 प्रतिशत शिक्षित बेरोजगार हैं।

(6) प्रचण्ड बेरोजगारी—बेरोजगारी का यह स्वसूप प्रत्यक्ष रूप से दिखायी नहीं देता है। यह छिपा रहता है। भारत में इस प्रकार की बेरोजगारी कृषि में पायी जाती है जिसमें आवश्यकता से अधिक व्यक्ति लगे हुए हैं। यदि इनमें से कुछ व्यक्तियों को खेती के कार्य से अलग कर दिया जाये तो उत्पादन में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। ऐसे व्यक्ति प्रचण्ड बेरोजगारी के अन्तर्गत आते हैं।

उदाहरण के लिए, खेत में 3 व्यक्तियों की आवश्यकता है, परन्तु घर के सभी 5 व्यक्ति उस कार्य में लग जाते हैं, फिर भी इससे उत्पादन में कोई अन्तर नहीं आता है तो इस प्रकार 2 व्यक्ति इस कार्य में अधिक लगे हैं। यही अदृश्य या छिपी बेरोजगारी है।

प्रोफेसर वर्सिक (Worsick) के अनुसार, “छिपी बेरोजगारी वह अवस्था है जिसमें श्रम का उपयोग अपव्ययपूर्ण रूप से हो रहा है।”

कुछ विद्वानों का कहना है कि छिपी बेरोजगारी में श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता शून्य या शून्य के निकट होती है, जो ऋणात्मक भी हो सकती है। प्रोफेसर नर्कसे के अनुसार घनी आबादी वाले देशों में छिपी बेरोजगारी कृषि क्षेत्र में 25 से 33 प्रतिशत की होती है जिसे कृषि उपज पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना हटाया जा सकता है।

संक्षेप में छिपी बेरोजगारी में निम्न लक्षण पाये जाते हैं :

(1) विकासशील या अविकसित देशों में विद्यमान—छिपी हुई बेरोजगारी विकासशील या अल्प-विकसित देशों में पायी जाती है क्योंकि इन देशों में जनसंख्या वृद्धि की गति तेज होती है, जबकि उत्पादन उस गति से नहीं बढ़ता है।

(2) सीमान्त उत्पादकता शून्य—जिन देशों में छिपी हुई बेरोजगारी पायी जाती है उन देशों में बेरोजगारी श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता शून्य होती है या बहुत कम होती है।

(3) परिवार रोजगार से सम्बन्धित—छिपी हुई बेरोजगारी सामान्यतया परिवार के सदस्यों से सम्बन्धित होती है।

(4) सूचना का अभाव—छिपी बेरोजगारी से सम्बन्धित सूचनाएं प्रायः नहीं मिल पाती हैं क्योंकि यह व्यक्तिगत सूचनाओं पर ही आधारित होती है।

(5) विकसित व अल्प-विकसित देशों की छिपी बेरोजगारी की प्रकृति में अन्तर—विकसित देशों में भी छिपी बेरोजगारी पायी जाती है परन्तु उसकी प्रकृति में अन्तर होता है। विकसित देशों में यह अल्पकालिक होती है, जबकि अल्प-विकसित देशों में दीर्घकालीन होती है।

(6) मौसमी बेरोजगारी से भिन्न—छिपी बेरोजगारी मौसमी बेरोजगारी से भिन्न है। छिपी बेरोजगारी जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के कारण होती है, जबकि मौसमी बेरोजगारी प्राकृतिक या जलवायु के कारण।

भारत में बेरोजगारी का अनुमान

(ESTIMATE OF UNEMPLOYMENT IN INDIA)

भारत में बड़े पैमाने पर बेरोजगारी पायी जाती है, परन्तु आंकड़ों के अभाव में सही ढंग से इसकी मात्रा की माप नहीं की जा सकी है। ग्रामीण बेरोजगारी के बारे में तो आंकड़ों का बहुत अभाव है। कृषि क्षेत्र में प्रचण्ड बेरोजगारी को मापना बहुत ही कठिन काम है। शहरी बेरोजगारी के सम्बन्ध में भी आंकड़े अपर्याप्त हैं। ये आंकड़े रोजगार कार्यालय द्वारा तैयार किए जाते हैं। चूंकि देश में बेरोजगार व्यक्तियों के लिए रोजगार कार्यालयों में नाम दर्ज कराना अनिवार्य नहीं है अतः बहुत से बेरोजगार व्यक्ति अपना नाम रोजगार कार्यालय में दर्ज नहीं करते। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो रोजगार में लगे रहते हैं, परन्तु अच्छी नौकरी प्राप्त करने की उम्मीद में अपना नाम रोजगार कार्यालयों में लिखाये रहते हैं। इस तरह भारत में बेरोजगारी का सही-सही अनुमान लगाना कठिन है।

भारत में बेरोजगारी के सम्बन्ध में सरकारी एवं अर्द्धसरकारी स्तर पर अनुमान के रूप में जो सूचनाएं एकत्र की गयी हैं उनसे यह स्पष्ट होता है कि पंचवर्षीय योजनाएं पूर्ण रोजगार का उद्देश्य प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ रही हैं। प्रत्येक अगली योजना के दौरान बेरोजगार लोगों की संख्या में वृद्धि होती गयी है। यह बात नहीं है कि योजनाकाल में रोजगार के अवसरों में वृद्धि नहीं हुई, रोजगार तो बढ़ा, लेकिन उस गति से नहीं जिस गति से श्रमिकों की संख्या बढ़ी। फलस्वरूप योजनाकाल में बेरोजगारी निरन्तर बढ़ती रही। प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में 33 लाख लोग बेरोजगार थे, परन्तु इस योजना के अन्त तक बेरोजगार लोगों की संख्या बढ़कर 53 लाख हो गयी। इसी तरह, दूसरी योजना के अन्त तक 71 लाख, तीसरी योजना के अन्त तक 96 लाख, तीन वार्षिक योजनाओं में बेरोजगारी में बहुत भारी वृद्धि हुई। इस दौरान कुल 222 लाख लोग बेरोजगार थे, चौथी योजना के अन्त में 140 लाख लोग तथा पांचवीं योजना के अन्त में 280 लाख लोग बेरोजगार थे। छठी योजना के प्रारम्भ में 120 लाख लोग अवशिष्ट बेरोजगार थे। छठी योजना के दौरान 343 लाख नवागन्तुक इसमें और जुड़ने थे। इस तरह कुल बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या 463 लाख अनुमानित थी। छठी योजना के दौरान अतिरिक्त रोजगार जनन का लक्ष्य 343 था। इस तरह, इस योजना के अंत में 120 लाख लोग बेरोजगार रहने थे। इसी तरह, सातवीं योजना के अंत में बेरोजगारों की संख्या 280 लाख आंकी गयी।

आठवीं योजना के अन्त में देश में 7.5 मिलियन व्यक्ति बेरोजगार थे। नौवीं योजना के अनुसार आठवीं योजना में बेरोजगारी दर 1.87% रही जिसके नौवीं योजना में घटकर 1.65% रह जाने का अनुमान लगाया गया था, परन्तु योजना आयोग का अनुमान है कि दैनिक स्थिति आधार पर वर्ष 2001-02 में बेरोजगारों की संख्या लगभग 348.5 लाख और बेरोजगारी की दर 9.21 प्रतिशत थी। दसवीं योजना में बेरोजगारी की दर घट कर 5.11% रह जाने का अनुमान लगाया गया था।

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007-12) के दौरान कुल श्रमिक बल में अनुमानित वृद्धि 45 मिलियन आंकी गई है।

लेवर ब्यूरो की वार्षिक रोजगार एवं बेरोजगार सर्वेक्षण रिपोर्ट 2013-14 के अनुसार देश में वर्ष 2013-14 के दौरान बेरोजगारी की दरें निम्नवत् रहीं :

समग्र बेरोजगारी दर	4.9%
पुरुष	4.1%
महिला	7.7%
ग्रामीण बेरोजगारी दर	4.7%
पुरुष	4.2
महिला	6.4
शहरी बेरोजगारी दर	5.5%
पुरुष	3.9%
महिला	12.4%
सर्वाधिक बेरोजगारी वाला राज्य	सिक्किम
सबसे कम बेरोजगारी वाला राज्य	छत्तीसगढ़
सर्वाधिक बेरोजगारी दर वाला राज्य	केरल (10%)

रोजगार में संरचनात्मक परिवर्तन—वर्ष 2004-05 से 2011-12 के बीच रोजगार में संरचनात्मक परिवर्तन परिलक्षित होता है। कुल रोजगार में प्राथमिक क्षेत्र की हिस्सेदारी 2004-05 में 58.5% से घटकर 2011-12 में 48.9% रह गयी है जबकि द्वितीयक तथा तृतीयक क्षेत्र में रोजगार की हिस्सेदारी यथा-विद्यमान 18.1 प्रतिशत तथा 23.4 प्रतिशत से बढ़कर 2011-12 में क्रमशः 24.3 प्रतिशत तथा 26.8% हो गयी है। स्वरोजगार अभी भी सर्वोपरि बना हुआ है और कुल रोजगार में इसकी हिस्सेदारी 52.2 प्रतिशत है।

बेरोजगारी : एक गम्भीर समस्या

अथवा

बेरोजगारी के दुष्परिणाम

राष्ट्र के लिए बेरोजगारी की समस्या एक गम्भीर समस्या है। इस समय कुल पंजीकृत बेरोजगारों में 60 प्रतिशत बेरोजगार पढ़े-लिखे हैं तथा प्रत्येक सात बेरोजगारों में से एक स्त्री है। इस समस्या के कुछ दुष्परिणाम हैं जो निम्नलिखित हैं :

(1) **मानव शक्ति का व्यर्थ जाना**—बेरोजगारी एक राष्ट्र के लिए गम्भीर समस्या होती है। इसके कारण मानव-शक्ति का उचित उपयोग नहीं हो पाता है और यह शक्ति व्यर्थ ही चली जाती है। यदि इसको उचित रूप से काम में लिया जाये तो यह राष्ट्र के लिए समृद्धि एवं सम्पन्नता का साधन बन सकती है।

(2) **सामाजिक समस्याओं का जन्म**—जिस देश में बेरोजगारी होती है उस देश में नयी-नयी सामाजिक समस्याएं जैसे चोरी, डैकैती, बेर्इमानी, अनैतिकता, शराबखोरी, जुएबाजी, आदि पैदा हो जाती हैं जिससे सामाजिक सुरक्षा को खतरा पैदा हो जाता है। शान्ति एवं व्यवस्था की समस्या उत्पन्न हो जाती है जिस पर सरकार को भारी व्यय करना पड़ता है।

(3) **राजनीतिक अस्थिरता**—बेरोजगारी की समस्या देश में राजनीतिक अस्थिरता पैदा कर देती है, क्योंकि व्यक्ति हर समय राजनीतिक उखाड़-पछाड़ में लगे रहते हैं।

(4) **आर्थिक सम्पन्नता में कमी**—बेरोजगारी से प्रति व्यक्ति आय में गिरावट आती है जिससे जीवन-स्तर गिरता है। लोगों की क्रहणग्रस्तता एवं निर्भरता में वृद्धि होती है। आर्थिक समस्याएं बढ़ती हैं।

(5) **अन्य दुष्परिणाम**—बेरोजगारी के अन्य दुष्परिणाम होते हैं, जैसे औद्योगिक संघर्षों में वृद्धि हो जाती है, मालिकों द्वारा बेरोजगारी का लाभ उठाकर कम मजदूरी दी जाती है, फलतः भरपेट तथा पौष्टिक भोजन न मिलने से मृत्यु-दर बढ़ जाती है, आदि।

बेरोजगारी से सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक वातावरण दूषित हो जाता है। इसीलिए विलियम बेवरिज (William Beveridge) ने लिखा है कि “बेरोजगार रखने के स्थान पर लोगों को गड़े खुदवाकर वापस भरने के लिए नियुक्त करना ज्यादा अच्छा है।”

भारत में बेरोजगारी के कारण

(CAUSES OF UNEMPLOYMENT IN INDIA)

भारत में बेरोजगारी के कारण निम्नलिखित हैं :

(1) **बढ़ती जनसंख्या**—बेरोजगारी में तीव्र गति से वृद्धि का मुख्य एवं महत्वपूर्ण कारण बढ़ती हुई जनसंख्या है जो 1.64 प्रतिशत वार्षिक की दर से बढ़ रही है, जबकि रोजगार की सुविधाएं उस दर से नहीं बढ़ रही हैं।

(2) **दोषपूर्ण शिक्षा-प्रणाली**—देश में शिक्षित बेरोजगारी बढ़ने का मुख्य कारण हमारी दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली है। यहां शिक्षा सिद्धान्त-प्रधान शिक्षा है, जबकि इसको व्यवसाय-प्रधान (Job-oriented) होना चाहिए।

(3) **हस्तकला एवं लघु उद्योगों की अवनति**—बेरोजगारी बढ़ाने में हस्तकला एवं लघु उद्योगों की अवनति ने भी काफी योगदान दिया है। इन उद्योगों की अवनति का मुख्य कारण मशीनों के प्रयोग में वृद्धि का होना है। इससे इन उद्योगों के श्रमिकों को भी अन्य कार्य देखने के लिए विवश होना पड़ा है जिससे बेरोजगारी में वृद्धि हुई है।

(4) **त्रुटिपूर्ण नियोजन**—देश में 1951 से नियोजन का कार्य चल रहा है, लेकिन यह नियोजन त्रुटिपूर्ण रहा है। इसमें रोजगारमूलक नीति का प्रतिपादन नहीं किया गया है। अतः विद्वानों का मत है कि इस कारण से बेरोजगारी में वृद्धि हुई है।

(5) **मन्द पूंजी-निर्माण गति**—देश में पूंजी-निर्माण की गति बहुत ही धीमी रही है जिसके कारण उद्योगों, व्यवसायों व सेवाओं का विस्तार भी धीमी गति से ही हुआ है, जबकि जनसंख्या के तीव्र गति से बढ़ने के कारण रोजगार सुविधाएं उस दर से नहीं बढ़ पायी हैं।

(6) यन्त्रीकरण एवं अभिनवीकरण—भारत विकासशील देश होने के कारण यन्त्रीकरण एवं अभिनवीकरण की ओर बढ़ रहा है। देश में स्वचालित मशीनें लगायी जा रही हैं। कृषि में यन्त्रीकरण की गति वरावर बढ़ रही है। इन सभी का परिणाम है कि अब पहले की तुलना में कम व्यक्तियों से वही कार्य कराया जा रहा है।

(7) स्थियों द्वारा नौकरी—स्वतन्त्रता से पूर्व बहुत थोड़ी-सी स्थियां नौकरी करती थीं, लेकिन आज इनकी संख्या एवं प्रतिशत पहले से कहीं अधिक है। इससे पुरुषों में बेरोजगारी बढ़ी है।

(8) विदेशों से भारतीयों का आगमन—पिछले कुछ वर्षों से भारत मूल के निवासियों को कुछ देशों द्वारा निकाला जा रहा है। इन देशों में ब्रिटेन, श्रीलंका, युगाण्डा, केन्या, आदि प्रमुख हैं। इन देशों से भारतीयों के आने के कारण बेरोजगारी में वृद्धि हुई है।

(9) दोषपूर्ण दृष्टिकोण—इस देश में बेरोजगारी का एक महत्वपूर्ण कारण शिक्षित व्यक्तियों द्वारा नौकरी चाहने की इच्छा है। वे स्वयं कोई उत्पादन कार्य प्रारम्भ नहीं करना चाहते हैं। उनमें इस दोषपूर्ण विचार के कारण भी बेरोजगारी में वृद्धि हुई है।

(10) मजदूरी व उत्पादकता में अन्तर—देश में नियोजन के कारण मुद्रा-प्रसार बना हुआ है जिससे मूल्य वृद्धि होती रहती है। इससे प्रभावित होकर श्रमिकों की मांग पर श्रमिकों के वेतन व भत्ते बढ़ा दिये जाते हैं जिससे वस्तुओं की लागत और मूल्य बढ़ जाते हैं, लेकिन वस्तुओं की मांग कम हो जाती है। इससे उत्पादन कम करने के कारण बेरोजगारी में वृद्धि हो जाती है।

भारत में बेरोजगारी दूर करने के उपाय

(SUGGESTIONS TO SOLVE THE PROBLEM OF UNEMPLOYMENT IN INDIA)

भारत में बेरोजगारी दूर करने के लिए निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं :

(1) जनसंख्या वृद्धि पर नियन्त्रण—बेरोजगारी दूर करने के लिए जनसंख्या वृद्धि पर उचित नियन्त्रण लगाया जाना चाहिए। भारत में वर्तमान जनसंख्या वृद्धि दर 1.64 प्रतिशत वार्षिक है जो अधिक है।

(2) शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन—वर्तमान शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन किया जाना चाहिए। इसको रोजगार-उन्मुख (Employment-oriented) बनाया जाना चाहिए जिसके लिए व्यावसायिक शिक्षा का विस्तार किया जा सकता है।

(3) कुटीर एवं लघु उद्योगों का विकास—बेरोजगारी दूर करने के लिए सुझाव दिया जाता है कि कुटीर एवं लघु उद्योगों का विस्तार किया जाना चाहिए जिससे कि कम पूँजी विनियोग पर अधिक व्यक्तियों को रोजगार मिल सके। इसके लिए ऐसे लघु उद्योगों का विकास किया जाना चाहिए जो श्रम-प्रधान हों।

(4) प्राकृतिक साधनों का सर्वेक्षण—सरकार को प्राकृतिक साधनों का विस्तृत सर्वेक्षण करके उन सम्भावनाओं का पता लगाना चाहिए जिससे नये-नये उद्योग स्थापित किये जा सकते हैं।

(5) कृषि पर आधारित उद्योग-धन्धों का विकास—भारत में कृषि में प्रचलित बेरोजगारी एवं मौसमी बेरोजगारी पायी जाती है। अतः यह सुझाव दिया जाता है कि गांवों में कृषि सहायक उद्योग-धन्धों का विकास किया जाना चाहिए जिससे कि कृषक खाली समय में भी कुछ कार्य कर सकें। इसके लिए पशुपालन, मुर्गीपालन, बागवानी, दुग्ध व्यवसाय, मत्स्य-पालन, आदि जैसे उद्योग-धन्धों का विकास किया जा सकता है।

(6) गांवों में रोजगार-उन्मुख नियोजन—गांवों में डॉक्टरों, कम्प्याउण्डरों, मिस्ट्रियों, अध्यापकों, छोटे उद्योगपतियों, आदि को रोजगार मिलने की काफी सम्भावनाएं हैं, अतः गांवों के लिए ऐसी रोजगार-उन्मुख योजनाएं बनायी जानी चाहिए जहां इस प्रकार के व्यक्ति काम पर लग सकें। भारत में गांव व शहरों को मिलाने वाली अधिकांश सड़कें पक्की नहीं हैं, अतः इनको पक्का कराने का कार्य प्रारम्भ किया जाना चाहिए।

(7) पूर्ण क्षमता का उपयोग—भारत में बहुत-से उद्योग अपनी क्षमता से कम क्षमता पर कार्य कर रहे हैं। अतः इस प्रकार के उद्योगों को अपनी पूरी क्षमता से कार्य करने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए जिससे कि बहुत उद्योगों में रोजगार अवसरों की वृद्धि की जा सके।

(8) जनशक्ति नियोजन—देश में जनशक्ति नियोजन किया जाना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में श्रम की मांग एवं पूर्ति के बीच समायोजन किया जाना चाहिए। समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप ही शिक्षा का विकास किया जाना चाहिए। इसके लिए श्रमिकों की भारी मांग व उसकी पूर्ति के बारे में पहले से पता लगा लिया जाना चाहिए तथा उसी के अनुसार प्रशिक्षण, आदि की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(9) विनियोग दर में वृद्धि—रोजगार सुविधाओं को बढ़ाने के लिए घरेलू बचतों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए जिससे कि पूंजी-निर्माण ऊंची दर से किया जा सके और विनियोग दर में वृद्धि की जा सके। इससे नये-नये उद्योगों की स्थापना में सहायता मिलेगी और रोजगार सुविधाओं में वृद्धि होगी।

(10) गांवों में विजलीधरों की स्थापना—ग्रामीण बेरोजगारी को दूर करने के लिए भगवती समिति ने यह सुझाव दिया है कि गांवों में विजलीधरों की स्थापना की जानी चाहिए जिससे कि वहां छोटे-छोटे उद्योग-धन्धे पनप सकें।

(11) अन्य सुझाव—बेरोजगारी कम करने के लिए (i) सड़क निर्माण कार्य प्रारम्भ किया जाए; (ii) ग्रामीण मकान बनाने के लिए सुविधाएं दी जायें; (iii) छोटी सिंचाई सुविधाओं का विस्तार किया जाए; (iv) कृषि सेवा केन्द्र (Agro-service Centres) स्थापित किये जायें जिससे कि तकनीकी व्यक्तियों को गांवों में ही रोजगार मिल सके।

राष्ट्रीय श्रम आयोग ने देश में बेकारी एवं अर्द्ध-बेकारी की समस्या के निवारण हेतु कई उपयोगी सुझाव दिये, जैसे—(i) रोजगार की राष्ट्रीय नीति पूर्व-निश्चित करना, (ii) अखिल भारतीय मानव शक्ति सेवा निर्माण करना, (iii) शिक्षा पद्धति में परिवर्तन, (iv) औद्योगिक सेवाओं को मजबूत करना, तथा (v) प्रत्येक सामुदायिक विकास खण्ड में कम-से-कम एक रोजगार दफ्तर रखना।

भारत में बेरोजगारी नियन्त्रण की नीति

(POLICY FOR CONTROLLING UNEMPLOYMENT IN INDIA)

अथवा

भारत में बेरोजगारी कम करने के लिए सरकार द्वारा प्रयत्न

(STEPS TAKEN BY GOVERNMENT TO REDUCE UNEMPLOYMENT IN INDIA)

प्रारम्भ में सरकार ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। इस सम्बन्ध में सरकार की धारणा थी कि विकास के बाद बेरोजगारी की समस्या स्वतः ही सुलझ जायेगी, लेकिन बेरोजगारी दूर करने या रोजगार में वृद्धि लाने की बात तो सभी योजनाओं में कही गयी है और इस समस्या पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। सरकार ने बेरोजगारी कम करने के लिए निम्नलिखित उपाय किये हैं :

(1) सामान्य रोजगार—सरकार ने उद्योगों में भारी विनियोग करके रोजगार सुविधाएं बढ़ाने का उपाय किया है। प्रशिक्षणार्थी (Apprenticeship) का विस्तार हुआ है जिससे कि अधिक व्यक्तियों को प्रशिक्षण दिया जा सके। गांवों में भूमियों का पुनः वितरण किया है। साथ व अन्य आवश्यक इनपुट उपलब्ध किये गये हैं। साथ ही गांवों एवं शहरों में अनेक रोजगार कार्यक्रम चालू किये गये हैं जिनमें प्रमुख हैं—स्वर्णजयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना (Swarnajayanti Gram Swarojgar Yojana), स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना, प्रधानमन्त्री रोजगार सृजन कार्यक्रम, जयप्रकाश नारायण रोजगार गारण्टी योजना, महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना।

(2) विशिष्ट रोजगार—शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी कम करने के लिए कुछ विशिष्ट रोजगार कार्यक्रम भी अपनाये गये हैं, जैसे स्कूलों की संख्या बढ़ाकर नवीन अध्यापकों को नियुक्त किया गया है। सरकार ने जनशक्ति नियोजन (Manpower Planning) की बात मान ली है। इसलिए उपयुक्त नीति व प्रशिक्षण सुविधाओं के विस्तार, आदि पर जोर दिया जा रहा है।

(3) नियोजन सेवाएं—रोजगार दिलाने के लिए बेरोजगारों के मार्गदर्शन के लिए रोजगार कार्यालयों की संख्या में बराबर वृद्धि की जा रही है। 1950 के अन्त में रोजगार कार्यालयों की संख्या केवल 143 थी जो बढ़कर वर्तमान में 969 हो गयी है।

(4) कुटीर एवं लघु उद्योगों का विकास—औद्योगिक नीति में कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास पर भारी जोर दिया गया है। लघु उद्योग क्षेत्र के लिए 20 वस्तुएं सुरक्षित हैं। साथ ही इन उद्योगों की सहायता के लिए प्रत्येक जिला मुख्यालय पर एक औद्योगिक सलाहकारी केन्द्र खोला जा रहा है। अब तक इस प्रकार के 422 जिला केन्द्र स्थापित किये जा चुके हैं। इससे बेरोजगारी को कम करने में सहायता मिलेगी।

(5) बेरोजगारी भत्ता—विभिन्न राज्य सरकारें अपने-अपने राज्य में पंजीकृत बेरोजगारों को बेरोजगारी भत्ता दे रही हैं।

(6) अन्य उपाय—शिक्षित बेरोजगारी को कम करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने यह योजनाएं लागू की हैं : (i) औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रों में उद्योग खोलने पर केन्द्रीय सरकार सहायता देती है। (ii) पहाड़ी व दुर्गम क्षेत्रों में बसें, आदि चलाने के लिए परिवहन सहायता दी जाती है। (iii) स्वयं रोजगार व साहसी चातुर्य को बढ़ावा देने के लिए साहस कार्यक्रम लागू किया गया है। (iv) इन्जीनियर साहसी प्रशिक्षण प्रोग्राम के अन्तर्गत ब्याज सहायता दी जाती है। (v) लघु उद्योग सेवा संस्थाओं द्वारा इन्जीनियरों को प्रशिक्षण दिया जाता है। (vi) पिछड़े व ग्रामीण क्षेत्रों में उद्योग स्थापित करने के लिए ग्रामीण साहसी कार्यक्रम चलाया जा रहा है। (vii) ग्रामीण युवकों को स्वयं रोजगार के लिए एक राष्ट्रीय प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाया जा रहा है। (viii) जिला उद्योग केन्द्र स्थापित किये गये हैं।

भारत में शिक्षित बेरोजगारी (EDUCATED UNEMPLOYMENT IN INDIA)

शिक्षित बेरोजगारी से अर्थ उस बेरोजगारी से है जिसमें रोजगार चाहने वाला व्यक्ति शिक्षित है, लेकिन उसको रोजगार नहीं मिल रहा है। भारत में शिक्षित बेरोजगारी बढ़ रही है जिसके कारण निम्न प्रकार हैं :

(1) **शिक्षा का विस्तार**—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् शिक्षा का काफी विस्तार हुआ है। लाखों स्कूल खुले हैं। हजारों कॉलेज व टेक्नीकल इन्स्टीट्यूट स्थापित हुए हैं। इन सबके फलस्वरूप शिक्षित व्यक्तियों की संख्या का विस्तार हुआ है।

(2) **दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली**—शिक्षित बेरोजगारी बढ़ने का दूसरा कारण दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली है। इसमें सैद्धान्तिक बातों पर अधिक ध्यान दिया जाता है, जबकि व्यावहारिक बातों पर कम। उसका परिणाम यह होता है कि शिक्षित व्यक्ति व्यावहारिक नहीं हो पाते हैं।

(3) **मनोवृत्ति में परिवर्तन**—शिक्षित बेरोजगारी बढ़ने का तीसरा कारण शिक्षित व्यक्ति की मनोवृत्ति में परिवर्तन है। शिक्षित व्यक्ति दफ्तरों में नौकरी पाने की इच्छा तो रखता है, लेकिन स्वयं परिश्रम का कार्य नहीं करना चाहता है।

(4) **प्रशिक्षण संस्थाओं की अपर्याप्तता**—शिक्षित बेरोजगारी बढ़ने का चौथा कारण भारत में प्रशिक्षण संस्थाओं का अभाव है। यहां जिस गति से शिक्षित व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि हो रही है उस गति से प्रशिक्षण संस्थाएं न तो स्थापित हो रही हैं और न पुरानी संस्थाओं का विस्तार व विकास।

(5) **उपयुक्त सूचनाओं को प्रदान करने वाली संस्थाओं का अभाव**—शिक्षित बेरोजगारी बढ़ने का पांचवां कारण भारत में उपयुक्त सूचनाएं देने वाली संस्थाओं का अभाव है। यहां के विशाल क्षेत्रफल व शिक्षा के विस्तार की तुलना में ऐसी संस्थाओं का अभाव है जो शिक्षित व्यक्तियों को यह दिशा-निर्देश दे सकें कि उन्हें किस प्रकार का रोजगार मिल सकता है।

शिक्षित बेरोजगारी कम करने के लिए सरकारी प्रयास

भारत में शिक्षित बेरोजगारी कम करने के लिए सरकार ने निम्न योजनाएं लागू की हैं :

(1) **पिछड़े क्षेत्रों में उद्योग खोलने पर सहायता**—केन्द्रीय सरकार पिछड़े क्षेत्रों में उद्योग खोलने पर सहायता देती है। (2) **परिवहन सहायता**—पहाड़ी व दुर्गम क्षेत्रों में परिवहन सेवा चलाने के लिए केन्द्रीय सरकार सहायता प्रदान करती है। (3) **स्वयं-रोजगार कार्यक्रम**—स्वयं-रोजगार व साहसी चातुर्य को बढ़ावा देने के लिए विकास कार्यक्रम लागू किया गया है। (4) **इन्जीनियर साहसी प्रोग्राम**—इन्जीनियर साहसी कार्यक्रम के अन्तर्गत ब्याज की सहायता इन्जीनियरों को दी जाती है। (5) **इन्जीनियर साहसी प्रशिक्षण प्रोग्राम**—लघु उद्योग संस्थाओं द्वारा इन्जीनियरों को प्रशिक्षण दिया जाता है। (6) **ग्रामीण साहसी कार्यक्रम**—पिछड़े व ग्रामीण क्षेत्रों में उद्योग स्थापित करने के लिए ग्रामीण साहसी कार्यक्रम चलाया जा रहा है। (7) **राष्ट्रीय प्रशिक्षण कार्यक्रम**—ग्रामीण युवकों को स्वयं रोजगार देने के लिए एक राष्ट्रीय कार्यक्रम चलाया जा रहा है। (8) **जिला उद्योग केन्द्रों की स्थापना**—प्रत्येक जिले में जिला उद्योग केन्द्र स्थापित किये जा रहे हैं जो उद्योगों की स्थापना व उनके विकास में सहायता पहुंचाते हैं। (9) **स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना (SJSRY)**—यह योजना 1 दिसंबर, 1997 से लागू की गई। इस योजना का उद्देश्य शहरी बेरोजगार या अल्परोजगार वाले व्यक्तियों को अपना रोजगार स्थापित करने में सहायता प्रदान करना। इस योजना के दो भाग हैं—(i) शहरी स्व-रोजगार कार्यक्रम (Urban Self Employment Programme) व (ii) शहरी मजदूरी रोजगार कार्यक्रम (Urban Wages

Employment Programme)। इन योजनाओं के अन्तर्गत रोजगार स्थापित करने पर प्रोजेक्ट लागत के 50 प्रतिशत तक आर्थिक सहायता (Subsidy) प्रदान की जाती है।

शिक्षित बेरोजगारी कम करने के लिए सुझाव

शिक्षित बेरोजगारी कम करने के लिए निम्न सुझाव दिये जाते हैं :

(1) **शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन**—भारत की वर्तमान शिक्षा प्रणाली अंग्रेजों द्वारा लगभग 200 वर्ष पूर्व अपनायी गयी थी और यह आज भी उसी रूप में है। अतः सुझाव दिया जाता है कि इसमें आमूल-चूल परिवर्तन किये जाने चाहिए जिससे कि सैद्धान्तिक बातों के साथ-साथ व्यावहारिक बातों का भी ज्ञान हो सके।

(2) **प्रशिक्षण संस्थाओं में वृद्धि**—यहां प्रशिक्षण सुविधाएं बढ़ाने के लिए प्रशिक्षण संस्थाओं का विस्तार किया जाना चाहिए जिससे कि शिक्षित व्यक्ति प्रशिक्षण प्राप्त कर अपना व्यवसाय प्रारम्भ कर सकें।

(3) **सूचना देने वाली संस्थाओं में वृद्धि**—शिक्षित व्यक्तियों को ये सूचना कि उन्हें क्या करना चाहिए देने वाली संस्थाओं की संख्या बढ़ानी चाहिए जिससे कि वे स्वयं अपना कारोबार स्थापित कर सकें और नौकरी के लिए लालायित न हों।

(4) **मनोवृत्ति में परिवर्तन**—शिक्षित व्यक्तियों में बेरोजगारी कम करने के लिए उनकी मनोवृत्ति में परिवर्तन होना चाहिए जिसके लिए आवश्यक सामाजिक बातावरण बनाया जाना चाहिए।

(5) **सरकारी सहायता**—शिक्षित व्यक्तियों को अपना व्यवसाय स्थापित करने के लिए सरकार की ओर से अधिक वित्तीय सहायता, अनुदान व अन्य सहायता दी जानी चाहिए जिससे कि अधिकाधिक शिक्षित व्यक्ति नौकरी की ओर न दौड़कर अपना कारोबार स्थापित कर सकें और बेरोजगारी में वृद्धि न करके इस समस्या को हल करने में अपना योगदान दे सकें।

भारत में ग्रामीण बेरोजगारी : मौसमी एवं छिपी बेरोजगारी

(RURAL UNEMPLOYMENT IN INDIA : SEASONAL AND DISGUISHED)

भारत की लगभग 69 प्रतिशत जनसंख्या गांवों में रहती है जिसका प्रमुख व्यवसाय कृषि करना है। लेकिन इस जनसंख्या को गांवों में पूरा काम नहीं मिल पाता है। अतः वहां बेरोजगारी पायी जाती है जिसे ग्रामीण बेरोजगारी कहते हैं।

भारत में ग्रामीण बेरोजगारी दो प्रकार की पाई जाती है—(1) **मौसमी बेरोजगारी** (Seasonal Unemployment), व (2) **छिपी हुई बेरोजगारी** (Disguised Unemployment)। मौसमी बेरोजगारी वह है जो किसी मौसम या समय में होती है, जैसे फसल काटने व अगली फसल की शुरुआत करने के बीच कोई काम नहीं मिलता है। इसी को मौसमी बेरोजगारी कहते हैं। भारत में मौसमी बेरोजगारी के सम्बन्ध में अलग-अलग अनुमान हैं। शाही कृषि आयोग के अनुसार यहां 4-5 महीने लोग बेकार रहते हैं, जबकि कृषि श्रमिक प्रथम जांच के अनुसार यहां कृषि श्रमिक को मात्र 218 दिन को ही कार्य मिलता है, जबकि द्वितीय कृषि श्रमिक प्रथम जांच के अनुसार यहां 222 दिन को ही कार्य मिलता है। लेबर ब्यूरो की 2013-14 की रिपोर्ट के अनुसार भारत में कृषि क्षेत्र में वर्ष में औसतन 7-8 माह ही कार्य मिलता है। यह सभी अनुमान यह सिद्ध करते हैं कि यहां मौसमी बेरोजगारी विद्यमान है।

ग्रामीण क्षेत्रों में छिपी हुई बेरोजगारी भी पायी जाती है। छिपी हुई बेरोजगारी से अर्थ किसी काम में आवश्यकता से अधिक व्यक्तियों के लगाने से है। भारतीय गांवों में कृषि उद्योग में इसी प्रकार की बेरोजगारी पायी जाती है।

ग्रामीण बेरोजगारी के कारण

भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी के अनेक कारण हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं :

(1) **भूमि के प्रति प्रेम**—अधिकांश कृषक अलाभकारी खेती होने पर भी उसे नहीं छोड़ते हैं, क्योंकि उन्हें अपनी भूमि से लगाव व प्रेम होता है। (2) **उत्तराधिकार नियम**—भारत में उत्तराधिकार नियम इस प्रकार के हैं कि पिता की मृत्यु पर पिता की भूमि में सभी पुत्र व पुत्रियों को हक मिलता है जिससे वे उससे चिपके रहते हैं, चाहे भूमि से कोई लाभ हो अथवा नहीं। (3) **ग्रामीण क्षेत्रों में लघु एवं वृहत् उद्योगों का अभाव**—ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसे लघु एवं वृहत् उद्योगों का अभाव पाया जाता है जिससे वे रोजगार पा सकें। (4) **संयुक्त परिवार प्रणाली**—यद्यपि संयुक्त परिवार प्रणाली टूट-सी गयी है, लेकिन फिर भी अनेक स्थानों पर बनी हुई है। इसका परिणाम यह हुआ है कि विना रोजगार के भी व्यक्ति गांवों में बने रहते हैं। (5) **मौसमी कृषि**—भारत में

कृषि मौसमी है, जिसके फलस्वरूप कई महीने गांवों में बेकार रहना पड़ता है। (6) **ग्रामीण वातावरण के प्रति आकर्षण**—आज भी अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें ग्रामीण वातावरण अधिक पसन्द है, अतः वे बेकार होते हुए भी गांव छोड़ना नहीं चाहते हैं।

ग्रामीण बेरोजगारी दूर करने के उपाय

यदि हम ग्रामीण बेरोजगारी दूर करना चाहते हैं तो निम्न उपाय काम में लाने चाहिए :

(1) **लघु एवं बृहत् उद्योगों का विकास**—ग्रामीण क्षेत्रों में लघु एवं बृहत् उद्योगों का विकास किया जाना चाहिए जिसके लिए आवश्यक सुविधाएं जैसे बिजली, पानी, सड़कें, आदि सरकार द्वारा प्रदान की जानी चाहिए। (2) **सामाजिक वातावरण**—ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक वातावरण को परिवर्तित करने का प्रयास करना चाहिए और ग्रामीण जनता को यह बताना चाहिए कि बेकार बैठने से तो कुछ काम करना अच्छा है। इसके लिए ग्राम पंचायत व ब्लॉक समिति की सहायता करनी चाहिए। (3) **प्रशिक्षण**—गांवों में कुटीर उद्योगों व लघु उद्योगों की स्थापना के लिए प्रशिक्षण सुविधाओं का विस्तार किया जाना चाहिए जिससे कि ग्रामीण प्रशिक्षण प्राप्त कर रोजगार में लग सकें और बेकारी कम करने में सहयोग दे सकें।

ग्रामीण बेरोजगारी दूर करने के सरकारी प्रयास

(GOVERNMENT EFFORTS TO REMOVE RURAL UNEMPLOYMENT)

रोजगार नीति

(EMPLOYMENT POLICY)

कल्याणकारी राज्य के रूप में भारत सरकार ने गरीबी के विरुद्ध संघर्ष करने तथा अपने देशवासियों विशेषकर, पिछड़े तथा सुविधाविहीन वर्ग की समृद्धि एवं विकास के लिए सतत नियोजित एवं सघन प्रयास स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से ही चला रखा है। अन्य शब्दों में, स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त से ही भारत सरकार द्वारा विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में लोगों की गरीबी दूर करने, उन्हें रोजगार की सुविधाएं प्रदान करने हेतु विविध कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं।

वर्तमान समय में सरकार द्वारा चलाए जा रहे गरीबी उन्मूलन सम्बन्धी कुछ प्रमुख कार्यक्रमों का संक्षिप्त विवरण निम्नवत् है :

1. महात्मा गांधी रोजगार गारंटी अधिनियम—मनरेगा (Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Act—MNREGA)

ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार उपलब्ध कराने की दृष्टि से 'मनरेगा' भारत सरकार की महत्वपूर्ण 'फ्लैगशिप' योजनाओं में से एक है जिसका उद्देश्य उस प्रत्येक परिवार को, जिसके प्रौढ़ सदस्य स्वेच्छा से बिना कौशल का शारीरिक कार्य करना चाहते हैं; वित्तीय वर्ष में कम-से-कम 100 दिवसों की गारंटी युक्त मजदूरी रोजगार प्रदान करके देश के ग्रामीण क्षेत्रों में परिवारों की आजीविका सुरक्षा को बढ़ाना है। यह महिलाओं की 1/3 भागीदारी का भी अधिदेश देता है। योजना का प्राथमिक उद्देश्य मजदूरी रोजगार को बढ़ाना है। यह एक मांग आधारित स्कीम है जिसको ऐसे कार्यों के माध्यम से किया जाना है, जो प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन के सुदृढ़ीकरण पर ध्यान केन्द्रित करते हुए सूखा, वनों की कटाई और मृदाक्षरण जैसे गरीबी के मूल कारणों को दूर करते हैं और इस प्रकार सतत विकास को प्रोत्साहित करते हैं। इस तरह, मनरेगा का केन्द्र बिन्दु जल संरक्षण, सूखा ग्रस्त क्षेत्रों का उद्धार (वानिकी/वृक्षारोपण सहित), भूमि विकास, बाढ़ नियंत्रण/संरक्षण (जल ठहराव वाले क्षेत्रों में जल निकासी सहित) तथा सभी मौसमों में अच्छी सड़कों हेतु सड़क सम्बद्धता से सम्बन्धित कार्यों पर ध्यान देना रहा है। योजना के अंतर्गत रोजगार के इच्छुक एवं पात्र व्यक्ति द्वारा पंजीकरण कराने के 15 दिन के भीतर रोजगार नहीं दिए जाने पर निर्धारित दर से बेरोजगारी भत्ता केन्द्र सरकार द्वारा दिए जाने का प्रावधान है।

मनरेगा पहले चरण में 2 फरवरी, 2006 से 200 जिलों में अधिसूचित किया गया था और वित्तीय वर्ष 2007-08 से इसे 130 और जिलों में लागू किया गया था। 1 अप्रैल, 2008 से इस अधिनियम के अंतर्गत देश के सभी जिले लाए गए। इस तरह यह योजना देश के सभी 640 जिलों में लागू है। राष्ट्रीय स्तर पर मनरेगा के अंतर्गत भुगतान की गयी औसत मजदूरी वित्तीय वर्ष 2006-07 में 65 ₹ से बढ़ाकर वित्तीय वर्ष 2013-14 में 132 ₹ कर दी गयी। इससे क्रयशक्ति में पर्याप्त रूप से वृद्धि हुई है जिसके फलस्वरूप भारत में ग्रामीण क्षेत्रों के गरीबों की आजीविका संसाधन का आधार सुदृढ़ हुआ है। मनरेगा ने कृषक मजदूरों

की सौदेबाजी की क्षमता को सफलता पूर्वक बढ़ाया है, जिससे कृषि सम्बन्धी मजदूरी बढ़ी है, आर्थिक परिणामों में सुधार हुआ है तथा विपत्ति के दौरान होने वाले उद्यवास में कमी आई है।

वर्ष 2015-16 में इस कार्यक्रम के अंतर्गत 235.18 करोड़ मानव दिवस रोजगार सृजित हुआ। सृजित मानव दिवसों में महिलाओं का प्रतिशत 55.8 रहा है, जबकि अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति की भागीदारी 40 प्रतिशत रही।

2. स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना (SGSY)/राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन-अजीविका

एक विशिष्ट स्वरोजगारी सृजन कार्यक्रम 1 अप्रैल, 1999 से पूर्ववर्ती एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम (आई. आर. डी. पी.) और सम्बद्ध कार्यक्रमों का पुनर्गठन करके प्रारंभ किया गया। इस योजना का उद्देश्य स्वरोजगारियों को बैंक ऋण एवं सरकारी सब्सिडी के माध्यम से स्व-सहायता समूहों में संगठित करके गरीबी रेखा से ऊपर लाना है। स्व-सहायता समूहों को परियोजना लागत की 50 प्रतिशत तक सब्सिडी दी जाती है, जिसकी अधिकतम सीमा 1.25 लाख ₹ या प्रतिव्यक्ति 10 हजार ₹, इनमें जो भी कम हो निर्धारित की गई है।

स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना विशेष रूप से ग्रामीण गरीबों में असुरक्षित वर्गों पर ध्यान देती है। योजना के अंतर्गत स्वरोजगारियों में कम से कम 50% अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों, 40% महिलाओं, अल्पसंख्यकों तथा 3% शारीरिक रूप से विकलांग होना आवश्यक है। स्व-सहायता समूह 10 से 20 सदस्यों द्वारा मिलकर गठित किया जा सकता है।

स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना की अब राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन (एन.आर.एल.एम.) के रूप में पुनर्संरचना की गयी है। इसका नाम बदलकर अब आजीविका कर दिया गया है। राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन का उद्देश्य गरीब परिवारों को लाभदायक स्वरोजगार तथा कौशल मजूदरी वाले रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने में सक्षम बनाकर गरीबी को घटाना है।

3. प्रधानमन्त्री ग्राम सङ्करण योजना (पीएमजीएसवाइ)

25 दिसम्बर, 2000 को आरम्भ की गई 100 प्रतिशत केन्द्र प्रायोजित इस योजना (सीएसएस) का प्राथमिक उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में सभी पात्र असम्बद्ध क्षेत्रों को सभी मौसमों में सङ्करण से जुड़े रहने की व्यवस्था करना है। योजना के आरंभ से अब तक 1,26,176 बस्तियों को जोड़ने के लिए कुल 4,74,528 किमी की परियोजनाएं स्वीकृत की गई हैं। दिसम्बर 2012 तक 3,63,652 किमी लम्बी सङ्करण पूरी हो चुकी हैं, जिनसे 89,382 से अधिक बस्तियों को नया सम्पर्क मार्ग प्रदान किया गया है।

4. इन्दिरा आवास योजना (आईएवाइ)

इन्दिरा आवास योजना केन्द्रीय प्रायोजित योजना है जिसका वित्त पोषण केन्द्र और राज्यों के बीच खर्च की भागीदारी 75 : 25 के अनुपात में की जाती है। संघ राज्य क्षेत्रों के मामले में पूरा निधिकरण केन्द्र द्वारा किया जाता है। आईएवाइ के अन्तर्गत आवासन के लिए लक्षित वर्ग हैं : जो परिवार ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी रेखा से नीचे रह रहे हैं, विशेष रूप से अ.जा./अ.ज.जा. और मुक्त हुए बन्धुआ मजदूर। वर्ष 2013-14 में इस योजना के अंतर्गत निर्मित मकानों की संख्या 10.93 लाख थी।

5. राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन (NRLM)

यह मिशन जून 2011 में आरम्भ किया गया। इस मिशन के अन्तर्गत ग्राम स्तर पर स्वयं सहायता समूहों को फेडरेशन के रूप में गठित करके उनके माध्यम से लाभप्रद रोजगार के अवसर उपलब्ध कराकर उन्हें बेहतर जीवनयापन का स्थाई आधार प्रदान करने की योजना है। इस मिशन का उद्देश्य वर्ष 2024-25 तक सभी ग्रामीण परिवारों को संगठित करके इस मिशन के अधीन लाकर लाभान्वित करना है।

6. स्टार्ट अप इंडिया कार्यक्रम

इस कार्यक्रम का औपचारिक आरम्भ 16 जनवरी, 2016 को किया गया। नये उद्यमियों को प्रोत्साहित करने वाले इस कार्यक्रम में अनेक छोटे (आयकर कैपिटल गैन टैक्स आदि में) देकर उद्यमियों को स्वरोजगार के लिए प्रेरित करने की योजना है।

7. स्टैण्ड अप इण्डिया कार्यक्रम

अनुसूचित जाति/जनजाति तथा महिला उद्यमियों के हितार्थ यह योजना अप्रैल, 2016 में आरम्भ की गई। इस योजना में प्रत्येक बैंक शाखा को अपने क्षेत्र में कम-से-कम दो उद्यमी परियोजनाओं के लिए लक्षित उद्यमियों को ऋण उपलब्ध कराने का दायित्व सौंपा गया है।

विजन : 2020 फॉर इण्डिया

देश में गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाले व्यक्तियों की दशा में सुधार लाने की दृष्टि से विजन : 2020 फॉर इण्डिया नाम से एक महत्वाकांक्षी नीतिगत दस्तावेज केन्द्र सरकार द्वारा तैयार कराया जा रहा है जिसका उद्देश्य एक निश्चित समय सीमा के अन्दर गरीबी रेखा से नीचे आने वाले लोगों की विभिन्न कार्यक्रमों के द्वारा स्थिति में सुधार करना है, ताकि अगले बीस वर्षों में 'गरीबी रेखा के नीचे' का कलंक समाज से पूरी तरह मिटाया जा सके।

इसके लिए योजना आयोग के सदस्य डॉ. एस. पी. गुप्ता की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया है। विजन-2020 फॉर इण्डिया एक ऐसा महत्वपूर्ण दस्तावेज होगा जिसके आधार पर आने वाले दो दशकों के लिए अनेक नवीन योजनाएं एवं कार्यक्रम प्रारम्भ किए जाएंगे जो गरीबी उम्मूलन कार्यक्रम में सहायक होंगे।

महत्वपूर्ण प्रश्न

- भारत में बेरोजगारी की समस्या विद्यमान है। इसके कारणों की समीक्षा कीजिए और समाधान हेतु उपाय प्रस्तुत कीजिए।
- छिपी बेरोजगारी किसे कहते हैं? इसके कारणों को बताइए तथा दूर करने के उपाय समझाइए।
- बेरोजगारी किसे कहते हैं? इस समस्या के कारण क्या हैं? इन्हें दूर करने के सुझाव दीजिए।
- भारत में बेरोजगारी के क्या कारण हैं? रोजगार के अधिक अवसर देने के लिए विभिन्न योजनाओं में कौन-कौन से उपाय किये गये हैं?
- भारत में अदृश्य बेरोजगारी के कारण एवं प्रभावों की चर्चा कीजिए।
- बेरोजगारी क्या है? भारत में शिक्षित वर्ग की बेरोजगारी के कारण तथा उसके निराकरण के उपाय लिखिए।
- संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए : (i) भारत में प्रचल्न बेरोजगारी, (ii) मौसमी बेरोजगारी, (iii) भारत में शिक्षित बेरोजगारी, (iv) भारत में बेरोजगारी की समस्या, (v) अर्द्ध बेरोजगारी, (vi) भारत में रोजगार बढ़ाने के कार्यक्रम, (vii) छिपी बेरोजगारी अथवा अदृश्य बेरोजगारी, (viii) बेरोजगारी की समस्या।

31

बढ़ते मूल्य

[RISING PRICES]

प्रारम्भिक

जब मूल्यों में बढ़ने की प्रवृत्ति पाई जाती है तो इसे बढ़ती हुई मूल्य प्रवृत्ति (Rising Trend of Prices) कहते हैं। इसके विपरीत जब मूल्यों में घटने की प्रवृत्ति पाई जाती है तो इसे घटती हुई मूल्य प्रवृत्ति (Declining Trend of Prices) कहते हैं।

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था के आर्थिक नियोजन एवं विकास में मूल्य प्रवृत्तियों का एक महत्वपूर्ण स्थान होता है। इसका कारण यह है कि मूल्य प्रवृत्ति उस देश की निवेश की दर (Rate of Investment), उत्पादन (Production), जन-साधारण के रहन-सहन का स्तर एवं नियोजन में विनियोग की जाने वाली राशि, आदि को प्रभावित करती है। अतः प्रत्येक देश आर्थिक नियोजन के काल में मूल्य प्रवृत्तियों पर अपनी निगाह लगाए रखता है तथा यह प्रयास करता रहता है कि मूल्य प्रवृत्ति एक सीमा में ही बनी रहे। उसमें अत्यधिक उत्तर-चढ़ाव न हो।

नियोजन से पूर्व मूल्यों में वृद्धि की प्रवृत्ति

(RISING TREND OF PRICES BEFORE PLANNING)

भारत में निरन्तर मूल्य वृद्धि या बढ़ती हुई मूल्य प्रवृत्ति वस्तुतः 1939 से ही बनी हुई है जबकि द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ था। इस विश्वयुद्ध के काल में लगभग सभी वस्तुओं की कमी रही। चोरबाजारी, मुनाफाखोरी व संग्रह की प्रवृत्ति का बोलबाला था यद्यपि सरकार ने इसको रोकने के लिए काफी प्रयास किए थे। भिन्न-भिन्न प्रकार के नियन्त्रण लगाए थे। उत्पादन एवं वितरण व्यवस्था को अपने हाथ में ले लिया था, लेकिन फिर भी सूचकांक जो 1938-39 में 100 था वह 1945-46 के अन्त में 245 हो गया अर्थात् मूल्य स्तर लगभग ढाई गुने बढ़ गए। मूल्य वृद्धि की प्रवृत्ति युद्ध की समाप्ति के बाद भी विभिन्न कारणों से बनी रही।

नियोजन काल में मूल्यों में वृद्धि की प्रवृत्ति

(RISING TREND OF PRICES DURING PLANNING PERIOD)

प्रथम पंचवर्षीय योजना के काल को छोड़कर शेष सभी योजनाओं के काल में मूल्य वृद्धि की प्रवृत्ति रही।

भारत में विगत वर्षों में हुई कीमतों में वृद्धि की प्रवृत्ति को निम्नवत् देखा जा सकता है :

भारत में मुद्रा स्फीति की प्रवृत्ति

(प्रतिशत)

वर्ष	मुद्रास्फीति (औसत)	
	थोक मूल्य सूचकांक (WPI)	उपभोक्ता मूल्य सूचकांक (CPI)
2009-10	3.8	12.4
2010-11	9.6	10.4
2011-12	8.9	8.4
2012-13	7.4	10.4
2013-14	6.0	9.7
2014-15	3.4	6.2

स्रोत—आर्थिक समीक्षा, 2014-15

विगत कई वर्षों तक थोक मूल्य सूचकांक के आधार पर मापी गई मुद्रा स्फीति उच्च स्तर पर रहने के पश्चात् अब नीचे की ओर उम्मुख है। वर्ष 2010-11 में मुद्रा स्फीति की औसत वृद्धि दर 9.6% तक पहुंच गई थी जो क्रमशः घटते हुए वर्ष 2014-15 में 3.4% के स्तर पर आ गई।

इन्हीं वर्षों में उपभोक्ता मूल्य सूचकांक के आधार पर मापी गई मुद्रा स्फीति की दर उच्च स्तर पर बनी रही। इसमें 2014-15 में घटने की प्रवृत्ति दिखाई दी। यह स्फीति की औसत दर वर्ष 2014-15 में 6.2 प्रतिशत तक घट गई। महंगाई दर घटने का प्रमुख कारण पेट्रोल, डीजल तथा ईंधन एल. पी. जी. के दामों में हुई कमी तथा खाद्य वस्तुओं के दामों में हुई कमी रही। उपभोक्ता मूल्य सूचकांक पर आधारित मुद्रा स्फीति के लगातार उच्च स्तर पर बने रहने का मुख्य कारण इन अवधियों में खाद्य पदार्थों, फलों एवं सब्जियों में होने वाली मूल्य वृद्धि के कारण था जबकि थोक मूल्य में वृद्धि विश्वव्यापी आर्थिक समस्याओं के उपरान्त विश्व मांग में आई कमी तथा अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु मूल्यों में आई गिरावट के कारण रही।

मूल्य वृद्धि के कारण

भारत में आर्थिक नियोजन के 64 वर्ष पूरे हो गए हैं। इन 64 वर्षों में मूल्यों की वृद्धि के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :

(1) जनसंख्या का बढ़ता हुआ दबाव—देश की जनसंख्या बराबर बढ़ती जा रही है। 1951 में देश में 36.1 करोड़ जनसंख्या थी जो बढ़कर 2011 में 121.08 करोड़ हो गई है। इससे वस्तुओं की मांग में वृद्धि होती है, लेकिन वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन उस अनुपात में न बढ़ने के कारण मूल्य वृद्धि हो जाती है।

(2) कृषि उत्पादन में उच्चावचन—मूल्य वृद्धि का दूसरा कारण कृषि उत्पादन में उच्चावचन है। कृषि उत्पादन में गिरावट होने से खाद्यान्न एवं कच्चे माल की कमी पैदा हो जाती है जिससे मूल्यों में बढ़ने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

(3) सरकारी व्ययों में तीव्र वृद्धि—पिछले 63 वर्षों में सरकारी व्ययों में भारी वृद्धि हुई है। 1950-51 में केन्द्र व राज्य सरकारों के कुल व्यय 740 करोड़ ₹ के थे जो बढ़कर 2013-14 (बजट अनुमान) में 36,55,506 करोड़ ₹ के हो गए। सरकारी व्ययों के बढ़ने से जनता को अधिक मौद्रिक आय मिलती है जिससे मूल्य वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है।

(4) घाटे की वित्त व्यवस्था—मूल्य वृद्धि के प्रमुख कारणों में एक कारण घाटे की वित्त व्यवस्था भी है। प्रथम, द्वितीय व तृतीय योजनाओं के लिए क्रमशः 333, 954 व 1,133 करोड़ ₹ की घाटे की व्यवस्था की गई तथा बाद की योजनाओं में यह व्यवस्था बढ़ती चली गई। क्रमशः बढ़ते हुए वर्ष 2013-14 में बजट घाटा 11,18,173 करोड़ ₹ हो गया।

(5) मुद्रा पूर्ति में वृद्धि—पिछले कई दशकों से मुद्रा की पूर्ति में बराबर वृद्धि हो रही है। 1950-51 में 2,020 करोड़ ₹ की मुद्रा की पूर्ति थी जो मार्च, 2012 को बढ़कर 73,59,200 करोड़ ₹ हो गई है। मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि मूल-वृद्धि को प्रोत्साहित करती है क्योंकि जितनी मुद्रा की पूर्ति बढ़ती है उतनी ही दर से उत्पादन नहीं बढ़ पाता है।

(6) औद्योगिक उत्पादनों में धीमी गति से वृद्धि—जिस दर से उद्योगों में विनियोग हुआ है, मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हुई है, घाटे की अर्थव्यवस्था की गई है, जनसंख्या की वृद्धि हुई है, उस दर से औद्योगिक उत्पादन नहीं बढ़ा है। लगभग सभी योजनाओं में औद्योगिक उत्पादन लक्ष्य प्राप्त करने में सफलता नहीं मिली है। इस प्रकार औद्योगिक उत्पादन में लक्षित वृद्धि न होने से भी मूल्यों में वृद्धि हुई है।

(7) शहरीकरण में वृद्धि—नियोजन काल में शहरों की जनसंख्या बढ़ी है जिससे आरामदायक एवं विलासिता की वस्तुओं की मांग बढ़ी है, लेकिन उन वस्तुओं का उत्पादन शहरीकरण की दर से न बढ़ने के कारण उनके मूल्यों में वृद्धि हो गई है।

(8) काला धन एवं संग्रह की प्रवृत्ति—देश में काला धन एवं संग्रह की प्रवृत्ति ने चोर-बाजारी, सट्टेबाजी, मुनाफाखोरी आदि को प्रोत्साहन दिया है। इस प्रवृत्ति से भी मूल्य-स्तर आवश्यक रूप से बढ़े हैं।

(9) मजदूरी एवं वेतनों में वृद्धि—तृतीय योजना काल से ही मूल्य वृद्धि होने के कारण मजदूरी एवं वेतनों में भी पर्याप्त मात्रा में वृद्धि को गई है जिससे एक ओर तो वस्तुओं की लागत बढ़ने से वस्तुओं के मूल्य बढ़े हैं दूसरी ओर श्रमिकों व वेतनभोगियों की मौद्रिक आय बढ़ी है जिसके फलस्वरूप सामान्य मूल्य स्तर भी बढ़े हैं।

(10) अन्य कारण—मूल्य वृद्धि के उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी हैं जैसे (i) बैंक दर में वृद्धि, (ii) केन्द्रीय व राज्य सरकारों के करों में वृद्धि, (iii) सरकारी उपक्रमों द्वारा अपने उत्पादनों के मूल्यों में वृद्धि, (iv) आयातित पेट्रोलियम पदार्थों के मूल्यों में वृद्धि आदि।

मूल्य वृद्धि के परिणाम

मूल्य वृद्धि होने से जन-जीवन एवं अर्थव्यवस्था पर निम्न प्रभाव पड़ता है। इसी को मूल्य वृद्धि के परिणाम भी कहते हैं :

(1) बचत एवं पूँजी निर्माण की दरों में कमी—तीव्र गति से मूल्य वृद्धि होने के कारण जन-साधारण की बचत करने की क्षमता कम हो जाती है, क्योंकि उसको अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति पर अधिक व्यय करना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि बचत की दरें (Rates of Savings) कम हो जाती हैं जिसके फलस्वरूप पूँजी निर्माण की दरें भी कम हो जाती हैं। संक्षेप में, मूल्य वृद्धि से बचत एवं पूँजी निर्माण की गति धीमी रहती है।

(2) विदेशी व्यापार में सन्तुलन—मूल्य वृद्धि का दूसरा प्रभाव यह पड़ता है कि विदेशी व्यापार असन्तुलित हो जाता है। मूल्य वृद्धि के कारण देश से निर्यात होने वाली वस्तुओं की लागत बढ़ने के फलस्वरूप उनके विक्रय मूल्य भी बढ़ जाते हैं जिससे वे वस्तुएं विश्वव्यापी प्रतियोगिता में नहीं टिक पाती हैं। इस प्रकार निर्यात कम हो जाते हैं। दूसरी ओर आयातित वस्तुएं देशी वस्तुओं की तुलना में सस्ती पड़ती हैं जिससे उनके आयात बढ़ जाते हैं। इस प्रकार निर्यात कम व आयात अधिक होने से विदेशी व्यापार असन्तुलित हो जाता है। विदेशी मुद्रा की चोरी एवं तस्करी बढ़ जाती है। सरकार को आयात-निर्यात पर नियन्त्रण लगाने पड़ते हैं।

(3) आय तथा भार में असमानता—उद्योगपतियों, व्यापारियों व मध्यस्थों को बढ़ते हुए मूल्यों में लाभ रहता है। एक ओर तो उनके स्टॉक (Stock) का मूल्य बढ़ जाता है दूसरी ओर वे अपने माल का मूल्य सामान्य मूल्य वृद्धि से अधिक बढ़ा देते हैं, लेकिन इसके विपरीत वेतनभौगी एवं श्रमिक वर्ग पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। उनकी वास्तविक आय कम हो जाती है। वे विकास के लाभों से वंचित रह जाते हैं। धनवान लोगों पर विकास का भार कम व गरीबों पर विकास का भार अधिक पड़ता है।

(4) विनियोगों पर विपरीत प्रभाव—मूल्य वृद्धि से विनियोगों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। विनियोग की वास्तविक राशि कम हो जाती है। सरकार को विनियोग करने में देरी होती है। उत्पादन कार्यों में विनियोग होने के स्थान पर सट्टे के कार्यों में विनियोग होने लगता है।

(5) अन्तः क्षेत्रक व्यापार (Inter-sectoral Trade)—एक क्षेत्र की वस्तुओं में मूल्य वृद्धि दूसरे क्षेत्र की वस्तुओं में स्वतः ही मूल्य वृद्धि कर देती है। सामान्यतया जब कृषि मूल्य बढ़ते हैं तो अन्य वस्तुओं के मूल्य स्वतः ही बढ़ जाते हैं।

(6) जनता की क्रय-शक्ति में कमी—वस्तुओं में मूल्य वृद्धि जनता की क्रय-शक्ति कम कर देती है जिससे उसको अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में कठिनाई होती है। इसका प्रभाव यह होता है कि उसकी कार्यक्षमता एवं उत्पादकता गिर जाती है।

(7) सामाजिक एवं राजनीतिक अराजकता—अत्यधिक मूल्य-वृद्धि समाज में अशान्ति एवं राजनीतिक अस्थिरता को जन्म देती है जिससे आर्थिक नियोजन एवं विकास की प्रक्रिया में बाधा उत्पन्न हो जाती है।

मूल्य वृद्धि को नियन्त्रित करने के सरकारी प्रयास

मूल्य-वृद्धि को नियन्त्रित करने के लिए सरकार ने निम्न प्रयास किए हैं :

(1) बैंक दर—मूल्य वृद्धि को रोकने के लिए सरकार ने समय-समय पर बैंक दर और रैपो दर में वृद्धि की है।

(2) केन्द्र में नागरिक पूर्ति एवं सहकारिता विभाग की स्थापना—अक्टूबर 1974 को केन्द्रीय सरकार ने उद्योग एवं नागरिक पूर्ति मन्त्रालय के अन्तर्गत एक नागरिक पूर्ति एवं सहकारिता विभाग की स्थापना की है जिसका कार्य आवश्यक वस्तुओं की वितरण व्यवस्था में सुधार करना एवं केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के नागरिक पूर्ति मन्त्रालयों में सहयोग करना है जिससे कि आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति निर्धारित मूल्य पर बनाई रखी जा सके।

(3) आवश्यक वस्तुओं का वितरण—मूल्य वृद्धि को रोकने के लिए आवश्यक वस्तुओं की वितरण व्यवस्था भी की गई है। इस समय देश में अनेक उचित मूल्य या सहकारी फुटकर विक्री केन्द्र हैं जो गेहूं, आटा, सूजी, मैदा, चावल, आदि को सरकार द्वारा निर्धारित मूल्यों पर राशनकार्ड धारकों को बेचते हैं। मिट्टी के तेल के लिए भी देश में अनेक विक्रेता हैं जो मिट्टी का तेल बेचते हैं।

(4) मूल्य नियन्त्रण—आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों को बढ़ने से रोकने के लिए सरकार ने मूल्य नियन्त्रण की नीति अपनाई है। आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955 के अन्तर्गत इस प्रकार के मूल्य नियन्त्रण आदेश अनेक वस्तुओं पर लागू किए गए हैं। इस प्रकार इन वस्तुओं की विक्री एवं पूर्ति निर्धारित मूल्य पर ही होती है।

(5) उत्पादन एवं उत्पादक वृद्धि को प्रोत्साहन—मूल्य वृद्धि को रोकने के लिए सरकार ने उत्पादन एवं उत्पादक वृद्धि पर विशेष जोर दिया है। उत्पादन बढ़ाने के लिए आवश्यक मशीनरी, आदि, को आयात करने की अनुमति दे दी जाती है। उत्पादन को प्रोत्साहित किया जाता है।

मूल्यों में स्थिरता लाने के लिए सुझाव

मूल्यों में स्थिरता न होने से विकास योजनाएं न तो पूरी ही हो पाती हैं और न इच्छित परिणाम ही दे पाती हैं अतः मूल्यों में स्थिरता लाना परम् आवश्यक है। इसके लिए निम्न सुझाव दिए जाते हैं :

(1) सार्वजनिक वितरण प्रणाली का विस्तार—वर्तमान सार्वजनिक वितरण प्रणाली का विस्तार किया जाए जिससे कि प्रत्येक नागरिक को उचित मूल्य की दुकानों से आवश्यक वस्तुएं मिल सकें। साथ ही इन दुकानों पर मिलने वाली वस्तुओं की संख्या का भी विस्तार किया जाना चाहिए।

(2) मांग पर प्रतिबन्ध—जनता द्वारा मांग घटाने व उसको सीमित करने के लिए सरकारी प्रयास किए जाने चाहिए।

(3) घाटे की वित व्यवस्था—घाटे की वित व्यवस्था कम की जानी चाहिए।

(4) मुद्रा-स्फीति के विस्तार पर कड़ी निगरानी—मुद्रा-स्फीति के विस्तार पर कड़ी निगरानी रखी जाय।

(5) मूल्य व आये में सम्बन्ध—मूल्य व विभिन्न आयों जैसे मजदूरी, ब्याज, लाभ, लगान आदि में समुचित सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिए।

(6) सामर्थ्य के भीतर विकास—देश की विकास योजनाएं वास्तविक बचतों की सीमा के अन्दर होनी चाहिए। सरकार को करों व ऋणों का सहारा न लेकर बजट की बचतों के भीतर ही विकास करने का प्रयास करना चाहिए।

बढ़ते मूल्य रोकने के लिए सरकारी नीति

मूल्यों में वृद्धि को रोकने के लिए सरकार की वर्तमान नीति इस प्रकार है :

(1) निर्यात प्रतिबन्ध (Restrictions on Exports)—सरकार की नीति उन वस्तुओं को निर्यात करने की नहीं है जिनको निर्यात करने से आन्तरिक पूर्ति कम होने की सम्भावना है। अभी हाल ही में जब प्याज को निर्यात करने से मूल्य बढ़ने लगा तो सरकार ने उसके निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

(2) आयत में छूट (Relaxation in Imports)—जिन वस्तुओं की पूर्ति देश में कम है जिसके कारण उन वस्तुओं के मूल्य बढ़ते हैं तो इस सम्बन्ध में सरकार की नीति है कि उन वस्तुओं को आयात किया जाय। गत वर्ष में खाद्य तेलों की कमी के कारण उनको आयात किया गया। वर्तमान वर्ष में सीमेण्ट का आयात किया जा रहा है।

(3) समर्थित मूल्य (Supported Prices)—सरकार ने कुछ कृषि पदार्थों के सम्बन्ध में समर्थित मूल्य नीति अपना रखी है जिससे कि यदि मूल्य उन निर्धारित समर्थित मूल्य से कम होते हैं तो सरकार उन कृषि पदार्थों को क्रय करना प्रारम्भ कर देती है। इससे मूल्यों में गिरावट नहीं होने पाती है तथा किसान उन वस्तुओं को उत्पादित करने के लिए प्रोत्साहित होता रहता है। आजकल चना, जौ, ज्वार, बाजरा, मक्का, कपास, जूट आदि के लिए समर्थित मूल्य नीति अपनाई जा रही है।

(4) सरकारी खरीद (Govt. Purchases)—मूल्यों में उत्तर-चढ़ाव को सीमित करने के लिए सरकार द्वारा खरीद की जाती है। आजकल यह खरीद गेहूं, चावल, रुई, जूट, आदि के सम्बन्ध में की जाती है। यह खरीद समर्थित मूल्यों पर की जाती है।

(5) उत्पादन बढ़ाने में सहायता (Help in Increasing Production)—सरकार की नीति है कि प्रत्येक क्षेत्र के उत्पादन को बढ़ाया जाए। इसके लिए सरकार हर सम्भव सहायता देने को तत्पर है।

(6) उचित सार्वजनिक वितरण (Fair Public Distribution)—मूल्यों को नियन्त्रित रखने के लिए सरकार की नीति सार्वजनिक वितरण व्यवस्था को उचित एवं सुदृढ़ बनाने की है। वर्तमान में खाद्यान्धों के उचित वितरण हेतु अनेक दुकानें कार्य कर रही हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. भारत में हाल के वर्षों में मूल्य वृद्धि के कारण बताइए। देश में मूल्यों को स्थिर रखने के लिए सुझाव दीजिए।
2. वढ़ती हुई मूल्य प्रवृत्ति से आप क्या समझते हैं? भारत में मूल्य वृद्धि के कारण कौन-कौन से हैं? विस्तार से समझाइए।
3. वढ़ते हुए मूल्यों को रोकने के लिए सरकारी नीति की व्याख्या कीजिए।



GradeSetter

झारखण्ड अर्थव्यवस्था के मूल लक्षण—जनांकिकी, कृषि एवं उद्योग

[BASIC FEATURES OF JHARKHAND ECONOMY—
DEMOGRAPHY, AGRICULTURE AND INDUSTRY]

झारखण्ड 15 नवम्बर, 2000 को देश के 28वें राज्य के रूप में अस्तित्व में आया। झारखण्ड पूर्व में पश्चिम बंगाल, पश्चिम में उत्तर प्रदेश और छत्तीसगढ़, उत्तर में बिहार तथा दक्षिण में ओडिशा से घिरा हुआ है। झारखण्ड में मुख्य रूप से छोटा नागपुर पठार और संथाल परगना के बन क्षेत्र शामिल हैं। राज्य की विशिष्ट सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्पराएं हैं। वर्तमान में राज्य में 24 जिले हैं और राज्य का क्षेत्रफल 79,714 वर्ग किलोमीटर है।

झारखण्ड की जनांकिकी विशेषताएं (DEMOGRAPHIC FEATURES OF JHARKHAND)

झारखण्ड भारत के कुल क्षेत्रफल का 2.4% है, जबकि 2011 की जनगणना के अनुसार, झारखण्ड की कुल जनसंख्या 3.30 करोड़ (3,29,66,238) है अर्थात् भारत की कुल जनसंख्या का 2.72% झारखण्ड में निवास करता है। जनसंख्या के दृष्टिकोण से झारखण्ड देश का 13वां बड़ा राज्य एवं क्षेत्रफल के दृष्टिकोण से देश का 15वां बड़ा राज्य है। राज्य की जनांकिकी विशेषताएं निम्न प्रकार हैं—

(1) जनसंख्या वृद्धि की प्रवृत्ति—1951 में झारखण्ड की संख्या लगभग एक करोड़ थी, जो 2011 में 3.30 करोड़ हो गयी। राज्य में जनसंख्या वृद्धि की प्रवृत्ति निम्न प्रकार रही है :

वर्ष	कुल जनसंख्या (करोड़)	दशकीय वृद्धि (%)
1951	0.97	—
1961	1.16	19.7
1971	1.42	22.6
1981	1.76	23.8
1991	2.18	24.0
2001	2.69	23.4
2011	3.29	22.34

यह उल्लेखनीय है कि 2001-2011 के मध्य सम्पूर्ण भारत की दशकीय वृद्धि दर 17.64% थी, जबकि झारखण्ड में इस अवधि में 22.34% वृद्धि हुई। राज्य के विभिन्न भागों में जनसंख्या वृद्धि दर में काफी विषमताएं रही हैं। इस अवधि में जहां एक ओर धनबाद में 11.91% वृद्धि हुई, वहीं कोडरमा में 32.59% की वृद्धि हुई।

(2) जनसंख्या का घनत्व—झारखण्ड में जनसंख्या का घनत्व 414 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है, जबकि देश का औसत 382 व्यक्ति है। राज्य के विभिन्न भागों में जनसंख्या के घनत्व के पर्याप्त विशेषताएं हैं। यह सिमडेगा में 160 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है, तो धनबाद में 1,284 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है।

(3) साक्षरता—2011 की जनगणना के अनुसार झारखण्ड में औसत साक्षरता दर 67.63% मिलती है। ग्रामीण क्षेत्रों में साक्षरता दर 62.40% तथा शहरी क्षेत्रों में 83.30% प्रतिशत पाई जाती है। पुरुष साक्षरता दर 78.45% जबकि महिला साक्षरता दर 56.21% मिलती है। पूर्वी सिंहभूम, धनबाद, रांची तथा बोकारो में साक्षरता दर 60% से ऊपर हजारीबाग, लोहरदगा, कोडरमा, गुमला, देवघर तथा पश्चिमी सिंहभूम में 50

से 60 प्रतिशत दुमका गिरिडीह, चतरा, पलामू तथा गोड्डा में 40 से 50 प्रतिशत और गढ़वा, साहिवगंज तथा पाकुड़ में 40 प्रतिशत से कम पाई जाती है।

(4) स्त्री पुरुष अनुपात—2011 की जनगणना के अनुसार झारखण्ड में प्रति हजार पुरुषों पर 947 महिलाएं हैं। यह अनुपात एक ओर धनबाद में 908, तो दूसरी ओर सिमडेगा में 1,000 और पश्चिमी सिंहभूम में 1,004 है। रांची में यह अनुपात 950 है।

(5) नगरीयकरण की प्रवृत्ति—1951 में झारखण्ड में नगरीय जनसंख्या 7.84% थी, जो 2011 में 24.05% हो गई है अर्थात् राज्य में नगरीयकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है। 2011 की जनगणना के अनुसार राज्य में नगरीयकरण की स्थिति को निम्न प्रकार रखा जा सकता है :

	नगरीय	ग्रामीण	कुल
झारखण्ड की कुल जनसंख्या	79,29,292	2,50,36,946	3,29,66,238
जनसंख्या की दशकीय (2001-11) में वृद्धि	32.29%	19.50%	22.34%
स्त्रियां	41,56,220	1,27,75,468	1,69,31,688
पुरुष	37,73,072	1,22,61,478	1,60,34,550
कुल जनसंख्या का प्रतिशत	24.05%	75.95%	—

(6) राज्य के बड़े जिले—झारखण्ड में जनसंख्या की दृष्टि से पांच बड़े जिले निम्न प्रकार हैं :

	जिला	जनसंख्या (2011)
1.	रांची	29,12,022
2.	धनबाद	26,82,662
3.	गिरिडीह	24,45,203
4.	पू. सिंहभूम	22,91,032
5.	बोकारो	20,61,918

(7) साक्षरता की स्थिति—राज्य में साक्षरता की दृष्टि से प्रथम पांच जिले निम्न प्रकार हैं :

	जिले	साक्षरता
1.	रांची	77.13%
2.	पूर्वी सिंहभूमि	76.13%
3.	धनबाद	75.71%
4.	रामगढ़	73.92%
5.	बोकारो	73.48%

(8) जनजातीय जनसंख्या—झारखण्ड की पहचान लघ्वे समय से एक जनजातीय पट्टी के रूप में रही है। वस्तुतः प्राचीन काल से ही झारखण्ड अनेक जनजातीय समुदायों का निवास स्थल रहा है। 2001 की जनगणना के अनुसार झारखण्ड की कुल जनसंख्या का 26.3% जनजातीय था। जनजातियों में उरांव, खड़िया, मुण्डा, भूमिज, हो, लोहरा, संथाल और खरवाड़ उल्लेखनीय हैं।

झारखण्ड में कृषि (AGRICULTURE IN JHARKHAND)

झारखण्ड में 1504 हजार हेक्टेअर भूमि बोई गई, जो राज्य के कुल भौगोलिक क्षेत्र का 18.87 प्रतिशत है। यद्यपि कृषि वैज्ञानिकों का मानना है कि झारखण्ड के 38 लाख हेक्टेअर में कृषि सम्भव है, परन्तु विभिन्न कारणों से शेष भूमि को कृषि के अन्तर्गत लाया नहीं जा सका।

निम्नलिखित तालिका 2008-09 के दौरान झारखण्ड में भूमि उपयोग के प्रतिरूप को इंगित करती है :

भूमि उपयोग*

भूमि	क्षेत्रफल (हजार हेक्टेअर)	प्रतिशत
कुल भौगोलिक क्षेत्रफल	7,972	—
भूमि उपयोग	7,970	100.00
वन	2,239	28.09
कृषि हेतु अनुपलब्ध भूमि	1,332	16.71
पशुचारण हेतु उपलब्ध भूमि	110	1.38
विविध उपयोग हेतु उपलब्ध भूमि	93	1.17
कृषि योग्य बंजर भूमि	336	4.22

* भूमि उपयोग सांख्यिकी, कृषि मंत्रालय, 2008-09.

अन्य परती भूमि	962	12.07
वर्तमान परती भूमि	1,394	17.49
शुद्ध बोई गई भूमि	1,504	18.87

कृषि की विशेषताएं

1. झारखण्ड की कृषि भूमि को दो वर्गों में रखा जाता है :

(क) दोन, (ख) टांड

निम्न भूमि 'दोन' कहलाती है, जिसका उपयोग धान की कृषि के लिए किया जाता है। मृदा की उर्वरता के दृष्टिकोण से दोन को पुनः तीन वर्गों में रखा जाता है : दोन I, दोन II, दोन III

'टांड' भूमि तीन उपवर्गों में विभाजित है, जो वस्तुतः उच्च भूमि में मिलती है : टांड I, टांड II, टांड III दोन I जल ग्रहण करने की क्षमता तथा उर्वरता के दृष्टिकोण से सबसे उत्तम मानी जाती है। कहीं-कहीं वर्ष में धान की दो फसलें तक उपजाई जाती हैं। नदी धाटियों अथवा नालों के सबसे समीप की पट्टी दोन I से सम्बन्धित होती है। दोन I तथा दोन III के मध्य संकीर्ण पट्टी में दोन II का विस्तार मिलता है। दोन III का उपयोग जलदी तैयार होने वाले धान अथवा गोड़ा (मोटा धान) के उत्पादन के लिए किया जाता है।

टांड I अधिवासीय क्षेत्र के आस-पास फैला होता है, जहां कुओं द्वारा सिंचाई की सहायता से सघन कृषि, विशेषकर सब्जियों का उत्पादन किया जाता है, जबकि टांड II तथा III का उपयोग दलहन, तिलहन अथवा मोटे अनाज के उत्पादन के लिए किया जाता है एवं ये अधिवासीय क्षेत्र से सामान्यतः दूर स्थित होते हैं।

2. औसत रूप में शुद्ध बोई गई भूमि का अनुपात 24.29% मिलता है, परन्तु 300 मीटर से कम ऊंचे क्षेत्रों में 32% से अधिक भूमि कृषि के अन्तर्गत लगी है, जबकि 300 मीटर से अधिक ऊंचे क्षेत्रों में 32% से कम भूमि कृषि के अन्तर्गत लगी है। कृषि भूमि का अनुपात सबसे अधिक तालाब, जलाशय, नदी-नालों के समीप मिलता है। पहाड़ी प्रदेश जैसे दालमा की श्रेणी, राजमहल की पहाड़ी, पाट प्रदेश एवं वनाच्छादित क्षेत्रों जैसे सरंडा, पोरहाट इत्यादि के क्षेत्र में कृषि भूमि का अनुपात काफी कम मिलता है।

3. कुल क्रियाशील जनसंख्या का 72% से अधिक कृषि कार्यों में संलग्न है। गुमला, लोहरदगा तथा सिमडेगा में 80% से अधिक जबकि धनबाद तथा बोकारो जैसे जिलों में 50% से कम क्रियाशील जनसंख्या कृषि भूमि में लगी है।

4. खाद्यान्न कृषि भूदृश्य में एकाधिकार रखते हैं।

5. मानसूनी वर्षा को झारखण्ड के कृषि क्षेत्र में जीवन रेखा कहा जाता है, क्योंकि लगभग 11% कृषि भूमि को सिंचाई की सुविधा उपलब्ध है, अतः आज भी झारखण्ड के साथ यह कथन सटीक बैठता है कि झारखण्ड की कृषि मानसून के साथ जुए का खेल है।

6. मशीनीकरण का निम्न स्तर मिलता है, यद्यपि कुछ बड़े किसान ट्रैक्टर, विद्युत पम्प सेट, शक्तिचालित जुताई के यन्त्र इत्यादि का प्रयोग करने लगे हैं।

7. सिंचाई सुविधाएं बारी भूमि (टांड I) में कुआं सिंचाई का मुख्य साधन है, जबकि अन्य क्षेत्रों में तालाब या अन्य माध्यमों से सिंचाई की जाती है। अपवादों को छोड़कर झारखण्ड नहर सिंचाई के लिए उपयुक्त नहीं है।

8. पशुपालन के लिए झारखण्ड में अनुकूल दशाएं मिलती हैं। बकरी तथा सूअर पालन के साथ मुर्गीपालन तथा दुग्ध उत्पादन का विकास भी यहां हो रहा है। वस्तुतः मांस तथा अण्डा के उत्पादन में झारखण्ड आत्मनिर्भर है।

प्रमुख फसलें और उत्पादित क्षेत्र

फसलें	उत्पादित क्षेत्र
धान, मक्का, चना	पूर्वी और पश्चिमी सिंहभूम
धान, मक्का, फल, सब्जी	धनबाद, बोकारो, गढ़वा
धान, महुआ, फल, सब्जी	रांची, लोहरदगा, गुमला
धान, मक्का, महुआ	हजारीबाग, कोडरमा, पलामू, चतरा, बोकारो

कृषि का मौसम

झारखण्ड के कृषि का मौसम भारत के अन्य क्षेत्रों से समरूपता रखते हैं, क्योंकि यहां कृषि के निम्न तीन मौसम मुख्यतः मिलते हैं :

भद्रई—प्रथम मानसूनी वर्षा के साथ फसल बो दी जाती है एवं सितम्बर तथा अक्टूबर तक फसल प्राप्त कर ली जाती है। गोड़ा, धान, मक्का, तिल, कोदो इत्यादि की कृषि इस मौसम में की जाती है, जो शीघ्र तैयार होते हैं तथा सूखा के विरुद्ध प्रतिरोधात्मक क्षमता रखते हैं।

अगहनी—जून के अन्त तथा जुलाई में फसल बोई जाती है तथा अक्टूबर-नवम्बर में फसल प्राप्त की जाती है। यह कृषि का सबसे व्यस्त मौसम है। दोन में धान, जबकि टांड में सुरगुजा मुख्यतः लगाए जाते हैं।

रबी—नवम्बर-दिसम्बर में फसल उगाई जाती है, जबकि मार्च-अप्रैल में प्राप्त की जाती है। झारखण्ड में रबी फसलों का महत्व कम है। यद्यपि दलहन एवं तिलहन इस मौसम में मुख्यतः उपजाए जाते हैं। हाल के वर्षों में गेहूं तथा चना का विस्तार रबी फसल के रूप में तेजी से हो रहा है।

हाल में गरमा फसल (ग्रीष्मकालीन फसल) का विकास भी उन क्षेत्रों में होने लगा है, जहां सिंचाई की सुविधा उपलब्ध है। गरमा फसल के अन्तर्गत सब्जियों की कृषि को प्रमुख स्थान प्राप्त है।

कृषि समस्याएं

- छोटे तथा विखरे हुए खेत—झारखण्ड के कुल कृषि खेतों के 71% एक हेक्टेएर से कम क्षेत्रफल वाले हैं, जबकि मात्र 0.7% दस हेक्टेएर से अधिक बड़े हैं और छोटे आकार के खेत पूंजी निवेश, सिंचाई तथा कृषि यन्त्रों के प्रयोग के दृष्टिकोण से उपयुक्त नहीं होते।

- निम्न उत्पादकता—झारखण्ड में अनाजों का प्रति हेक्टेएर औसत उत्पादन 1,213 किलोग्राम है, जबकि सम्पूर्ण भारत का औसत 1,898 किलोग्राम है। इसी प्रकार, यदि चावल के प्रति हेक्टेएर उत्पादन को देखा जाए, तो यह क्रमशः 1,369 किलोग्राम (झारखण्ड) तथा 2,186 किलोग्राम पाया जाता है।

- मिट्टी की कम उर्वरता—झारखण्ड के अधिकांश क्षेत्र में लाल बलुई अथवा लैटेराइट मिट्टी मिलती है। अतः मिट्टी की उर्वरता अधिकांश भागों में निम्न स्तर की है।

- सूखे का प्रभाव—झारखण्ड में औसत वार्षिक वर्षा 140 सेमी होती है, अतः कृषि वैज्ञानिकों का मानना है कि जब तक 50% कृषि भूमि को सिंचाई के अन्तर्गत नहीं लाया जाएगा, झारखण्ड सूखा का प्रकोप झेलता रहेगा।

- कृषि आगतों का कम प्रयोग—आज भी मध्यकालीन कृषि और औजार प्रयोग में लाए जाते हैं, जो निम्न उत्पादकता का एक प्रमुख कारक है।

इसी प्रकार, कीटनाशकों की खपत भी भारत के अन्य क्षेत्रों की तुलना में कम है।

- निम्न उत्पादकता—हरित क्रान्ति 1966-67 से प्रारम्भ हुई। देश के विभिन्न भागों में एच. वाई. वी. पी. का तेजी से विस्तार हुआ, परन्तु इसका लाभ झारखण्ड को अब तक नहीं मिल पाया है, अतः झारखण्ड आज भी कृषि उत्पादनों के दृष्टिकोण से आत्मनिर्भर नहीं है।

सिर्फ मांस और अण्डा के दृष्टिकोण से झारखण्ड आत्मनिर्भर है।

- मृदा अपरदन का प्रभाव—मृदा अपरदन को रेंगती हुई मृत्यु कहा जाता है, क्योंकि यह धीरे-धीरे मिट्टी के पोषक तत्वों को हटाकर उसे अनुत्पादक बना देता है और झारखण्ड के अधिकांश क्षेत्र मृदा अपरदन से व्यापक रूप से प्रभावित हैं।

- सूखा क्षेत्र—पलामू, गढ़वा, चतरा तथा लातेहार की पहचान सम्पूर्ण भारत में सूखाग्रस्त क्षेत्र के रूप में है यद्यपि चतरा, कोडरमा, हजारीबांग, गिरिडीह, गोड्डा, देवघर, दुमका, सिमडेगा इत्यादि में भी यदा-कदा सूखा का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

कृषि सुझाव

कृषि की विशेषताएं स्पष्ट करती हैं कि झारखण्ड की कृषि व्यवस्था पिछड़ी हुई है, अतः यहां के कृषि विकास के लिए निम्न कदम उठाना लाभप्रद होगा :

- सिंचाई सुविधाओं का विस्तार—भूमिगत जल संसाधन के सीमित होने, ऊबड़-खाबड़ धरातल, सदावाही नदियों का अभाव जैसी विशेषताओं के कारण यहां नहरों एवं कुओं द्वारा सिंचाई की तुलना में तालाब, रोक बांध, उद्वाह सिंचाई इत्यादि अधिक अनुकूल है, अतः सिंचाई के विस्तार के क्रम में इन तथ्यों को ध्यान में रखना होगा।

- शुल्क कृषि पर विशेष जोर—झारखण्ड के बड़े भू-भाग 120 सेमी से कम वर्षा प्राप्त करते हैं, अतः ऐसे क्षेत्रों को शुष्क कृषि के विकास पर विशेष बल देना होगा। शीघ्र तैयार होने वाली फसलों की नस्ल को प्रभावी बनाना तो आवश्यक है ही, ऐसी फसलों को प्राथमिकता देनी होगी, जो कम जल की आवश्यकता जैसी विशेषताएं तो रखती ही हों सूखा के विरुद्ध प्रतिरोधात्मक समता से युक्त हों। जल संरक्षण को ध्यान में रखते हुए जल की कृषि, रोक बांधों के विकास के साथ-साथ स्प्रिकल तथा ड्रिप सिंचाई को प्रभावी बनाना आवश्यक है।

3. फसलों का विविधीकरण—यद्यपि आज भी झारखण्ड के कृषि भू-दृश्य में अनाजों की कृषि को एकाधिकार प्राप्त है, परन्तु झारखण्ड की मृदा धरातल, जल संसाधन इत्यादि की विशेषताएं स्पष्ट करती हैं कि यहां फलों की कृषि, उद्यान कृषि, लाह की कृषि, रेशम उत्पादन, मछली पालन इत्यादि के विकास की अपार सम्भावनाएं हैं।

4. मिश्रित कृषि व्यवस्था—वस्तुतः झारखण्ड में मिश्रित कृषि व्यवस्था (फसलों के साथ पशुपालन) का विकास सबसे अधिक लाभदायक होगा।

5. जैविक खाद का प्रयोग—रासायनिक उर्वरक तथा रासायनिक कीटनाशकों के विपरीत प्रभाव देश के विभिन्न क्षेत्रों में दिखाई पड़ने लगे हैं, अतः झारखण्ड में बनने वाली कृषि योजना के अन्तर्गत जैविक कीटनाशक तथा जैविक खाद (कम्पोस्ट) तथा केंचुओं द्वारा निर्मित खाद के प्रवन्धन एवं उत्पादन पर विशेष वल देने की आवश्यकता है।

सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि जो कृषि योजनाएं बनाई जाएं, कृषि कार्यक्रम लागू किए जाएं, कृषि अनुसन्धान के जो निष्कर्ष हों, मृदा सर्वेक्षण, मृदा संरक्षण, फसल समन्वय इत्यादि से सम्बन्धित तथ्यों को स्थानीय बोली अथवा सबसे प्रचलित भाषा में प्रचारित एवं प्रसारित किया जाए। कृषकों में इन तथ्यों के प्रति जागरूकता विकसित करने के लिए समय-समय पर प्रदर्शन कैंप की व्यवस्था प्रमुख कृषि क्षेत्रों में की जाए ताकि झारखण्ड के किसान इनका अधिकतम लाभ प्राप्त कर सकें।

झारखण्ड में कृषि प्रदेश

किसी भी प्रदेश के कृषि प्रतिरूप को निर्धारित करने में उस क्षेत्र की जलवायु, उच्चावच, अक्षांशीय विस्तार, बनस्पति, मृदा इत्यादि की भूमिका महत्वपूर्ण होती है, जबकि कृषि प्रदेश के निर्धारण में फसलों के प्रकार, पशुपालन, कृषिगत औजार, कृषि तकनीक, फसलों की सघनता, कृषि क्रियाकलापों में मानवीय श्रम की भूमिका, कृषिगत कार्यों में लगाई गई पूँजी, उत्पादकता के स्तर, कृषि उत्पादन के उद्देश्य इत्यादि का सहारा लिया जाता है। वृहद् रूप से झारखण्ड के कृषि प्रतिरूप में एकरूपता दिखाई पड़ती है, परन्तु उपर्युक्त तत्वों का गहन विश्लेषण क्षेत्रीय विभिन्नताओं की ओर भी इशारा करता है, जिसके आधार पर झारखण्ड को निम्नलिखित कृषि प्रदेशों में बांटा जा सकता है :

1. उत्तरी कोयल-धाटी का कृषि प्रदेश,
2. हजारीबाग पठार का कृषि प्रदेश,
3. राजमहल की पहाड़ी तथा समीपवर्ती क्षेत्रों का कृषि प्रदेश,
4. दामोदर धाटी का कृषि प्रदेश,
5. रांची पठार का कृषि प्रदेश,
6. निचली स्वर्णरिखा धाटी का कृषि प्रदेश,
7. चाईबासा का मैदान तथा समीपवर्ती उच्च भूमि का कृषि प्रदेश,
8. उत्तर-पूर्वी सीमान्त का कृषि प्रदेश।

1. उत्तरी कोयल धाटी का कृषि प्रदेश—इसके अन्तर्गत झारखण्ड के तीन जिले मुख्यतः सम्मिलित हैं—(i) गढ़वा, (ii) पलामू, (iii) लातेहार।

इसके अतिरिक्त चतरा का पश्चिमी भाग भी इस कृषि प्रदेश में सम्मिलित किया जाता है। भौतिक दृष्टिकोण से इस प्रदेश को दो भागों में बांटा जा सकता है :

(i) पाट प्रदेश—यह झारखण्ड का सबसे ऊँचा पठारी प्रदेश है। यहां नेतरहाट क्षेत्र की ऊँचाई 3,600 फीट से अधिक मिलती है।

(ii) पलामू का पठार—इस क्षेत्र की ऊँचाई 1,200 फीट या उससे अधिक है।

उत्तरी कोयल नदी इस क्षेत्र में उत्तर की ओर प्रवाहित होती हुई अन्ततः सोन से मिल जाती है। वर्षा की अनिश्चितता यहां सूखे की दशाओं को जन्म देती है। चावल सभी क्षेत्रों में सबसे प्रमुख फसल है। अपेक्षाकृत कम वर्षा प्राप्त करने वाले क्षेत्रों में मोटे अनाजों को प्राथमिकता दी जाती है। मक्का, चना, अरहर, तिलहन, गन्ना, इत्यादि अन्य प्रमुख फसलें हैं। इस क्षेत्र में कृषि के समुचित विकास के लिए सिंचाई आवश्यक है।

2. हजारीबाग पठार का कृषि प्रदेश—चतरा का अधिकांश भाग, हजारीबाग, गिरिडीह तथा कोडरमा-इस कृषि प्रदेश में सम्मिलित है। दामोदर धाटी का उत्तरी कगार इसकी दक्षिणी सीमा का निर्धारण करता है। ऊबड़-खाबड़ धरातल, कम वर्षा, अनुपजाऊ मिट्ठी, सिंचाई की सुविधाओं का अभाव, इत्यादि कारणों से कृषि

क्रियाकलाप सीमित रूप से किया जाता है। चावल प्रथम, मक्का द्वितीय तथा रागी तृतीय फसल के रूप में उपजाई जाती है। कुल कृषि भूमि के लगभग 10% भाग पर दलहनों की कृषि की जाती है। फल तथा सब्जियां इस प्रदेश के अन्य कृषि उत्पादन हैं।

3. राजमहल के पहाड़ी तथा समीपवर्ती क्षेत्रों का कृषि प्रदेश—देवधर, दुमका, जामताड़ा, गोड्डा, दक्षिणी साहिबगंज तथा दक्षिणी पाकुड़ इस कृषि प्रदेश में सम्मिलित हैं। इस क्षेत्र की औसत ऊंचाई 500-1000 फीट के मध्य मिलती है। औसत वार्षिक वर्षा 100-130 सेमी के मध्य होती है। राजमहल ट्रैप के क्षेत्र में काली मिट्ठी का विकास हुआ है, जबकि काली मिट्ठी की पट्टी के पूर्वी किनारे में लैटेराइट मिट्ठी की उपस्थिति पाई जाती है। चावल तथा चना इस प्रदेश की प्रमुख फसलें हैं। कुल कृषि भूमि के दो-तिहाई भाग पर चावल की कृषि की जाती है। सामान्यतः यहां एकफसली व्यवस्था मिलती है, परन्तु जिन क्षेत्रों में सिंचाई सुविधा उपलब्ध है अथवा मिट्ठी में आर्द्रता का अंश अधिक मिलता है वहां बहुफसली व्यवस्था का विकास किया गया है। पश्चिम बंगाल की सीमा के समीप मेसानजोर से कनाडा की सहायता से भी परियोजना विकसित की गई है, जिससे कुछ क्षेत्रों को सिंचाई की सुविधा उपलब्ध हो जाती है।

4. दामोदर घाटी का कृषि प्रदेश—यह पश्चिम में लातेहार से लेकर पूर्व में धनबाद तक फैला है। इसके अन्तर्गत पूर्वी लातेहार, दक्षिणी चतरा, दक्षिणी हजारीबाग, बोकारो तथा धनबाद जिले मुख्यतः सम्मिलित हैं। सम्पूर्ण क्षेत्र में गोण्डवाना क्रम की चट्टानों की प्रधानता मिलती है, जिसमें बलुआ पत्थर तथा शैल प्रमुख चट्टानें हैं। अतः सम्पूर्ण क्षेत्र में बलुई मिट्ठी का विकास मुख्य रूप से हुआ है, जिसका उपजाऊपन निम्न स्तर का पाया जाता है, परन्तु निम्न भूमि में क्ले तथा दोमट की प्रधानता से युक्त गहरे रंग की मिट्ठी का विकास दिखाई पड़ता है, जिसका उपजाऊपन अपेक्षाकृत ऊंचा मिलता है। यद्यपि चावल तथा मक्का प्रमुख फसलें हैं तथापि तिलहन तथा दलहन अन्य फसलों के रूप में उपजाए जाते हैं, परन्तु कोयला खनन, डी. वी. सी. की स्थापना, औद्योगीकरण तथा शहरीकरण के कारण 1960 के बाद सब्जियों, फलों तथा अन्य नकदी फसलों की कृषि में तेजी से विकास हुआ है विशेषकर रामगढ़, गोला, चितरपुर, इत्यादि के आसपास।

5. रांची पठार का कृषि प्रदेश—पाट प्रदेश के पूर्व में रांची का पठार एक उथित भारतीय समप्राय मैदान के रूप में फैला है, जो दामोदर घाटी द्वारा हजारीबाग के पठार से अलग किया जाता है। इसमें बाह्य छोटा नागपुर पठार का क्षेत्र भी सम्मिलित है, जो पूर्व तथा दक्षिण से रांची के पठार को धेरे हुए है। इस क्षेत्र में औसत वार्षिक वर्षा 120-150 सेमी के मध्य होती है। निम्न भूमि दोन तथा उच्च भूमि टांड कहलाती है। दोन का उपयोग चावल की कृषि के लिए किया जाता है, जबकि टांड क्षेत्र में रागी/तिलहन/दलहन, सब्जियों एवं फलों की कृषि की जाती है। रांची तथा उसके आसपास नगरीकरण तथा औद्योगीकरण के कारण हाल के वर्षों में नकदी फसलों की कृषि का तेजी से विकास हुआ है विशेषकर सब्जियों की कृषि का। जिन क्षेत्रों में सिंचाई की सुविधा उपलब्ध है, वहां सब्जियों की तीन से चार फसलें वर्ष में प्राप्त की जाती हैं। शीतकाल में कई क्षेत्रों में गेहूं की कृषि का महत्व भी तेजी से बढ़ा है। पिठोरिया, बुण्डू, बेड़ो, ठाकुरगांव, चुटिया, इत्यादि के क्षेत्रों में सब्जियों की कृषि को विशेष महत्व प्राप्त है। दलहनों में अरहर की कृषि सबसे अधिक की जाती है। सम्पूर्ण रांची जिला के अतिरिक्त पूर्वी लोहरदगा, गुमला तथा सिमडेगा इस कृषि प्रदेश में सम्मिलित हैं।

6. निचली स्वर्णरिखा घाटी का कृषि प्रदेश—इसके अन्तर्गत पूर्वी सिंहभूम तथा सरायकेला के पूर्वी भाग मुख्यतः सम्मिलित हैं। इस क्षेत्र से होकर स्वर्णरिखा नदी दक्षिण की ओर प्रवाहित होती है। स्वर्णरिखा घाटी की चौड़ाई दक्षिण की ओर निरन्तर बढ़ती गई है, विशेषकर बहारगांड़ा के आसपास। 1907 में टिस्को की स्थापना के साथ इस क्षेत्र में औद्योगीकरण, शहरीकरण तथा खनन का विकास होने लगा, फलतः यहां के कृषि भूदृश्य में चावल का प्रथम स्थान होने के बावजूद सब्जियों की कृषि को विशेष महत्व प्राप्त है। सिंचाई सुविधाओं में वृद्धि के साथ बहुफसली व्यवस्था कई क्षेत्रों में तेजी से विकसित हुई है।

7. चाईबासा का मैदान तथा समीपवर्ती उच्च भूमि का कृषि प्रदेश—इसके अन्तर्गत पश्चिमी सिंहभूम का सम्पूर्ण भाग एवं पूर्वी सरायकेला सम्मिलित हैं। इस क्षेत्र में औसत वार्षिक वर्षा 100-140 सेमी के मध्य होती है। यहां धात्तिक गुणों से परिपूर्ण विभिन्नताओं से युक्त मिट्ठी पाई जाती है, जिसका उपजाऊपन अपेक्षाकृत ऊंचा है अतः चाईबासा का मैदान कृषि क्रियाकलापों का सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र है। अन्य क्षेत्रों—सांराडा, कोल्हान, इत्यादि की मिट्ठी तथा भूमि कृषि की तुलना में पशुपालन के लिए अधिक उपयुक्त है चावल, मक्का तथा चना क्रमशः प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय फसल के रूप में उपजाए जाते हैं। दलहनों एवं

तिलहनों की कृषि भी अपेक्षाकृत उच्च भूमि अथवा टांड में की जाती है। जमशेदपुर की समीपता के कारण चाईबासा के मैदान में सब्जियों की कृषि का तेजी से विकास हुआ है।

8. उत्तर-पूर्वी सीमान्त का कृषि प्रदेश—गंगा के दक्षिण का संकीर्ण निम्न मैदान इस कृषि प्रदेश में सम्मिलित है। उत्तरी गोड्डा, साहिबगंज का उत्तरी एवं पूर्वी भाग, उत्तर-पूर्वी पाकुड़ इस कृषि प्रदेश में मुख्यतः सम्मिलित किए जाते हैं। इस क्षेत्र के उत्तरी भाग में पुराने जलोढ़ तथा पूर्वी भाग में नवीन जलोढ़ मिट्टी की उपस्थिति मिलती है, जिसका उपजाऊपन उच्च स्तर का है। इस क्षेत्र में औसत वार्षिक वर्षा 140-160 सेमी के मध्य होती है तथा गंगा नदी की उपस्थिति के कारण सिंचाई की सुविधा भी प्राप्त है। अतः कृषि के दृष्टिकोण से यह पट्टी झारखण्ड का अपेक्षाकृत विकसित क्षेत्र है। चावल की कृषि सभी क्षेत्रों में प्रथम स्थान रखती है। शीतकाल में गेहूं की कृषि की जाती है। मक्का, चना तथा दलहन अन्य महत्वपूर्ण फसलें हैं। दलहनों में अरहर को प्रथम स्थान प्राप्त है। साहिबगंज क्षेत्र में अरहर के अन्तर्गत काफी कृषि भूमि-उपयोग में लाई जाती है। जिन क्षेत्रों में अधिक ढाल मिलता है एवं निम्न भूमि होते हुए भी आर्द्रता का अंश कम मिलता है। वहां मक्का की कृषि को प्रमुख स्थान प्राप्त है। 1970 के बाद गेहूं की कृषि के अन्तर्गत लगी भूमि में निरन्तर वृद्धि की प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही है। कृषि के लिए अनुकूल दशाओं के कारण बहुफसली व्यवस्था का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

झारखण्ड में सिंचाई

झारखण्ड के कुल जल संसाधन का 79.8% भाग सतही जल से सम्बन्धित है तथा शेष 20.2% भाग भूमिगत जल से। झारखण्ड में लगभग 2 लाख हेक्टेअर भूमि को सिंचाई की सुविधा प्राप्त है। कुल सिंचित भूमि के 58.3% भाग पर सतही जल द्वारा सिंचाई की जाती है एवं 41.7% भाग पर भूमिगत जल द्वारा सिंचाई की जाती है।

झारखण्ड के सन्दर्भ में सिंचाई की आवश्यकता

1. मानसून पर अत्यधिक निर्भरता की स्थिति मिलती है, क्योंकि लगभग 11% कृषि भूमि को सिंचाई की सुविधा उपलब्ध है, अतः झारखण्ड में कृषि को आज भी मानसून के साथ जुए का खेल कहा जाता है, क्योंकि मानसून की प्रकृति काफी अनिश्चित है, कभी समय से पहले तो कभी समय के बाद मानसून का आगमन होता है यहां तक कि कभी-कभी मानसून असफल भी हो जाता है जैसा कि 2002 एवं 2009 में देखा गया। निष्कर्ष स्वरूप कहा जाता है :

“भारत में छोटे अकाल पांच वर्ष तथा बड़े अकाल 50 वर्षों के चक्र में आते हैं।”

2. झारखण्ड में वर्षा का असमान वितरण मिलता है, क्योंकि उत्तरी भाग जहां 120 सेमी से कम वर्षा प्राप्त करते हैं वहां पाट प्रदेश में 160 सेमी से अधिक।

3. कुल वर्षा का 3% शीतकाल में, 10% मानसून से पूर्व, 13% मानसून के बाद तथा 75% मानसून काल (झारखण्ड के सम्बन्ध में) में प्राप्त होता है।

4. बहुफसली व्यवस्था को झारखण्ड में प्रभावी बनाने के लिए भी सिंचाई आवश्यक है।

5. अधिकांश कृषि उत्पादन में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए भी सिंचाई का विकास आवश्यक है।

6. झारखण्ड में उत्पादित की जाने वाली कई फसलों जैसे चावल, गन्ना, घाज, लहसुन, आलू, मिर्च इत्यादि के लिए कुछ अन्तराल पर समय-समय में जलापूर्ति आवश्यक होती है।

7. अधिकांश क्षेत्र में लाल मिट्टी मिलती है, जिसके जल ग्रहण करने की क्षमता कम पाई जाती है।

8. झारखण्ड में मात्र 2.27% लाख हेक्टेअर भूमि में नकदी फसलें उपजाई जाती हैं और नकदी फसलें की सफलता समय से पर्याप्त जलापूर्ति पर निर्भर करती है।

9. भारत के कुल पशुधन का 4.21% झारखण्ड में मिलता है, अतः सिंचाई द्वारा चरागाहों का विकास करना आवश्यक है।

10. पलामू, गढ़वा, चतरा, लातेहार, हजारीबाग, गिरिडीह इत्यादि समय-समय पर सूखे से प्रभावित होते रहते हैं, अतः पर्याप्त सिंचाई व्यवस्था द्वारा ही सूखे से रक्षा सम्भव है।

राज्य में विभिन्न साधनों द्वारा सिंचित क्षेत्र

सिंचाई के साधन	सिंचित क्षेत्र (प्रतिशत में)
कुआं	29.35
तालाब	18.80
नहर	17.13
नलकूप	8.40

11. यदि सिंचाई के उद्देश्य से मौसमी नदियों में वांध बना दिए जाएं, तो वर्षा काल में व्यर्थ वह जाने वाले जल का प्रबन्धन एवं संरक्षण किया जा सकता है।

सिंचाई के विभिन्न ग्रोत

कुआं तथा नलकूप—झारखण्ड के कुल सिंचित भूमि के 29.5% भाग पर कुओं द्वारा सिंचाई की जाती है। भू-गर्भ जल को सिंचाई प्रयोजनों हेतु उपलब्ध कराने के उद्देश्य से सिंचाई कूपों का निर्माण कराया गया है। इन कूपों का व्यास 20 फीट एवं औसतन गहराई 30 फीट रखी गई है। वर्तमान में 143 कूपों का निर्माण कराया गया है, जिससे सिंचाई सुविधा प्रदान की जा रही है। कुआं से सबसे अधिक सिंचाई गुमला जनपद (87.2%) में की जाती है। इसके बाद गिरिडीह (77.9%), रांची (71.4%), धनबाद (56.2%), हजारीबाग (52.7%) तथा सिंहभूम (17.5%) का स्थान है, जहां कुआं तथा अन्य स्रोतों से सिंचाई की जाती है।

यद्यपि झारखण्ड के भूमि जल संसाधन की विशेषताएं नलकूप सिंचाई के लिए अधिक अनुकूल नहीं हैं, क्योंकि झारखण्ड के अधिकांश क्षेत्रों में अति प्राचीन आग्नेय चट्टानें मिलती हैं तथा भूमिगत जल स्तर नीचा पाया जाता है तथापि 1975 के बाद झारखण्ड के विभिन्न ज़िलों में नलकूप सिंचाई का विकास होने लगा था। झारखण्ड के कुल सिंचित भूमि के 8.4% पर नलकूप द्वारा सिंचाई की जाती है। लोहरदगा, पलामू, हजारीबाग, गिरिडीह, गोड्डा, देवघर, साहिवगंज पाकुड़ तथा पूर्वी सिंहभूम में नलकूप सिंचाई का कुछ विकास हो पाया है। नलकूप सिंचाई की सबसे अधिक मात्रा लोहरदगा में कुल सिंचित भूमि का 32.6% तथा सबसे कम देवघर में 3.8% मिलता है।

तालाब सिंचाई—झारखण्ड की धरातलाकृति एवं जल संसाधन की विशेषताएं तालाब सिंचाई के लिए अनुकूल हैं, अतः प्राचीन काल से ही तालाब सिंचाई का प्रचलन झारखण्ड में रहा है। कुल सिंचित भूमि के 18.8% में तालाब द्वारा सिंचाई की जाती है। तालाब सिंचाई के दृष्टिकोण से देवघर (49.3%), धनबाद (44%), साहिवगंज (28%), दुमका (27.7%) और गोड्डा (26.6%) अग्रणी जनपद हैं, जहां 25% से अधिक सिंचाई तालाबों से होती है। इसके अतिरिक्त गिरिडीह (14.4%), हजारीबाग (13.4%), सिंहभूम (13.9%), गुमला (3.4%), पलामू (3.6%), लोहरदगा (4.1%) और रांची (3.5) में भी तालाबों द्वारा पर्याप्त सिंचाई की जाती है। वैसे गुमला, लोहरदगा, पलामू तथा रांची में भी तालाब सिंचाई का कुछ अनुपात दिखाई पड़ता है। तालाब सिंचाई के दृष्टिकोण से देवघर प्रथम स्थान कुल सिंचित भूमि का 49.3% रखता है। तालाबों को बहुउद्देशीय बनाने के उद्देश्य से 50 फीट (या उससे अधिक) की चौड़ाई की सीढ़ी एवं एक शेड का निर्माण कराया गया है। जल-निकास के लिए आउटलेट तथा जल-प्रवेश के लिए इनलेट का निर्माण किया गया है। कुछ बड़े तालाबों पर माइक्रोलिफ्ट भी बनाए गए हैं।

नहर सिंचाई—इसके लिए किसी प्रदेश में दो विशेषताओं का होना आवश्यक है :

1. नदियों की सदावाही प्रकृति, 2. समतल धरातल।

झारखण्ड के अधिकांश क्षेत्रों में दोनों विशेषताएं नहीं मिलतीं, क्योंकि यहां की अधिकांश नदियां मौसमी हैं एवं धरातल काफी ऊबड़-खाबड़ एवं कटां-फटा है। अतः झारखण्ड का भौतिक वातावरण नहर सिंचाई के लिए अधिक उपयुक्त नहीं है तथापि साहिवगंज, पाकुड़, सिंहभूम, पलामू, पूर्वी रांची, आदि में वृहत् सिंचाई परियोजनाओं के माध्यम से नहर सिंचाई का कुछ विकास किया गया है। नहरों द्वारा सिंचाई करने वाले राज्य के प्रमुख जनपद हैं—दुमका (49%), गोड्डा (28%), साहिवगंज (22%), हजारीबाग (14%) एवं लोहरदगा (13%)। वर्तमान समय में झारखण्ड के कुल सिंचित भूमि के लगभग 17.13 भाग पर नहरों द्वारा सिंचाई होती है। संथाल परगना तथा सिंहभूम में 10,000 हेक्टेअर भूमि तथा पलामू में 9,000 हेक्टेअर भूमि नहरों द्वारा सींची जाती है।

झारखण्ड में उद्योग

(INDUSTRIES IN JHARKHAND)

झारखण्ड उद्योगों की दृष्टि से विशिष्ट स्थिति रखता है। यहां के वृहद् उद्योगों में लौह एवं इस्पात, सीमेण्ट, इन्जीनियरिंग, ऐलुमीनियम तथा परम्परागत उद्योगों में लाख तथा रेशम उद्योग उल्लेखनीय हैं। इन उद्योगों का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :

(I) लौह एवं इस्पात उद्योग

लौह एवं इस्पात उद्योग किसी भी क्षेत्र के आर्थिक विकास का महत्वपूर्ण सूचक है और इस दृष्टि से झारखण्ड की अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थिति है। स्वतन्त्रता से पूर्व ही जमशेदपुर लौह एवं इस्पात उद्योग में पूर्वी

दुनिया का सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया था, जबकि निजी क्षेत्र के सबसे बड़े संयन्त्र टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी (TISCO) की स्थापना की गई। इसके पश्चात् सन् 1964 में बोकारो स्टील प्लाण्ट का निर्माण कार्य प्रारम्भ किया गया। प्रारम्भ में इसकी उत्पादन क्षमता मात्र 10 लाख टन थी, जिसे बढ़ाकर 40 लाख टन किया गया और पुनः बढ़ाकर 100 लाख टन कर दिया गया।

यह उल्लेखनीय है कि झारखण्ड में अब भी लौह एवं इस्पात उद्योग के विकास की पर्याप्त सम्भावनाएं हैं। झारखण्ड में हैमेटाइट अयस्क का भण्डार 1,044 मि. टन है। लौह अयस्क का अधिकांश भाग पश्चिम सिंहभूम द्वारा उत्पादित किया जाता है। इसके अतिरिक्त रांची, हजारीबाग, बोकारो, गिरिंडीह आदि में भी चूना-पथर के भण्डार संचित हैं। झारखण्ड को अनेक राष्ट्रीय उच्च मार्ग के साथ प्रमुख रेल मार्गों की भी सुविधा उपलब्ध है। अतः इस क्षेत्र में भविष्य में भी लौह एवं इस्पात उद्योग के विकास की पर्याप्त सम्भावनाएं हैं।

(II) सीमेण्ट उद्योग

झारखण्ड में सीमेन्ट उत्पादन के चार वृहद् केन्द्र क्रियाशील हैं : द्विंकपानी (चाईबासा प. सिंहभूम), जमशेदपुर (पूर्वी सिंहभूम), सिन्दरी (धनबाद) और खेलारी (रांची)

ए. सी. सी. की स्थापना सन् 1934 में की गई थी, जिसे भारत में सीमेन्ट उद्योग का टर्निंग प्वाइंट कहा जाता है। इस कम्पनी के द्वारा खेलारी में 1.49 लाख टन क्षमता से युक्त सीमेन्ट संयन्त्र स्थापित किया गया था, यद्यपि आज इसकी स्थिति दयनीय है। सिन्दरी सीमेन्ट कारखाना उर्वरक उद्योग के अवशिष्ट पदार्थ का उपयोग सीमेन्ट बनाने में करता था। सिन्दरी के उर्वरक संयन्त्र के बन्द होने से इसे कच्चे माल की आपूर्ति कठिन हो गई है। द्विंकपानी का संयन्त्र स्थानीय चूना पथर तथा इस्पात संयन्त्र के अवशिष्ट का उपयोग सीमेण्ट उत्पादन में करता है, जबकि जमशेदपुर का लाफार्ज सीमेन्ट संयन्त्र लोहा-इस्पात उद्योग से प्राप्त होने वाले अवशिष्ट पर पूर्णतः आधारित है। कई छोटे सीमेन्ट संयन्त्र भी रामगढ़, बोकारो, धनबाद, खेलारी इत्यादि के आसपास क्रियाशील हैं। झारखण्ड में सीमेन्ट उद्योग के विकास की भरपूर सम्भावनाएं हैं, क्योंकि इसके दो प्रमुख कच्चे माल—चूना पथर तथा कोयला के पर्याप्त भण्डार संचित हैं, लेकिन सभी सुविधाओं के होते हुए भी यहां सीमेन्ट उद्योग अविकसित हैं। अतः भविष्य की मांग को ध्यान में रखते हुए पुराने संयन्त्रों के पुनरुद्धार के साथ-साथ नए क्षेत्रों में नए संयन्त्रों की स्थापना नितान्त आवश्यक है।

(III) ऐलुमिनियम उद्योग

भारत में प्रथम ऐलुमिनियम प्लाण्ट सन् 1937 में ऐलुमिनियम कॉरपोरेशन ऑफ इण्डिया द्वारा आसनसोल के जे. के. नगर में स्थापित किया गया। इसके पश्चात् इण्डियन ऐलुमिनियम कम्पनी लि. (इण्डाल) द्वारा 1938 में झारखण्ड में मुरी नामक स्थान पर ऐलुमिना उत्पादित करने का संयन्त्र स्थापित किया गया। ऐलुमिना तैयार करने के पश्चात् इसे इण्डाल के दो संयन्त्रों को भेजा जाता है—अल्चाये (केरल) तथा हीराकुड (ओडिशा)।

यद्यपि शोध एवं विकास के द्वारा झारखण्ड में मुरी के ऐलुमिनियम संयन्त्र की समस्याओं के समाधान के प्रयास चल रहे हैं, तथापि झारखण्ड के अन्य क्षेत्रों लोहरदगा, गुमला, पलामू (गढ़वा, लतेहार सहित) क्षेत्र में इस उद्योग के विकास की काफी सम्भावनाएं हैं, क्योंकि इस पट्टी में 56 मिलियन टन बॉक्साइट संचित है। साथ ही यह पट्टी दामोदर एवं पलामू के कोयला क्षेत्रों के काफी निकट है।

(IV) इन्जीनियरिंग उद्योग

जमशेदपुर में सन् 1907 में टिस्को की स्थापना के साथ ही इसके आस-पास इन्जीनियरिंग उद्योग की इकाइयां स्थापित होने लगीं, यद्यपि इससे पूर्व भी रानीगंज तथा झारिया में कोयला खनन के कारण इन्जीनियरिंग की कुछ इकाइयां धनबाद और कुमारधुवी के आस-पास स्थापित होने लगी थीं। 1958 को झारखण्ड के इन्जीनियरिंग उद्योग के इतिहास का महत्वपूर्ण वर्ष माना जा सकता है, जब रूस एवं चेकोस्लोवाकिया के सहयोग से रांची में भारी इन्जीनियरिंग कॉरपोरेशन (H. E. C.) की स्थापना हुई। इसके पश्चात् इसके निकटवर्ती क्षेत्रों में इन्जीनियरिंग उद्योग की अनेक इकाइयों का विकास हुआ। बाद के वर्षों में बोकारो इस्पात संयन्त्र तथा चितरन्जन लोकोमोटिव संयन्त्र की स्थापना से भी झारखण्ड में इन्जीनियरिंग उद्योग के विकास को गति मिली।

वितरण—झारखण्ड में इन्जीनियरिंग उद्योग का विकास निम्नलिखित चार केन्द्रों के सहारे सबसे अधिक हुआ है :

- (1) रांची, (2) जमशेदपुर, (3) धनबाद, (4) बोकारो।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के दौरान 1958 में रांची के समीप हटिया में एच. ई. सी. का निर्माण प्रारम्भ हुआ, जहां उत्पादन 1963 से चालू हुआ। एच. ई. सी. को यदि झारखण्ड के इन्जीनियरिंग उद्योग का मदर

यूनिट कहा जाए, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसने न सिर्फ झारखण्ड में बल्कि सम्पूर्ण भारत में इन्जीनियरिंग उद्योग के विकास को प्रोत्साहन दिया। एच. ई. सी. में तीन इकाइयां क्रियाशील हैं :

- (1) भारी मशीन औजार संयन्त्र (HMTP)
- (2) फाउण्ड्री फोर्ज संयन्त्र (FFP)
- (3) भारी मशीन औजार संयन्त्र (HMTP)

रांची तथा उसके आसपास इन्जीनियरिंग की अनेक इकाइयां जैसे श्रीराम वाल वियरिंग (रातु), व्लैक वायर रॉप फैक्ट्री (टाटीसिलवर्ड), भारत वेस्टफालिया लि. (नामकुम), गोड्रेन रिच शिप विल्डर्स (धुर्वा) इत्यादि क्रियाशील हैं।

जमशेदपुर में टिस्को की स्थापना ने पिछले 95 वर्षों में इन्जीनियरिंग उद्योग के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। परिणामतः जमशेदपुर के आसपास इन्जीनियरिंग उद्योग की अनेक इकाइयां क्रियाशील हैं; जैसे—टाटा इन्जीनियरिंग लोकोमोटिव कम्पनी (टेल्को), टिन एंड फैक्ट्री, इण्डियन स्टील वायर फैक्ट्री, ह्यूम पाइप फैक्ट्री, इण्डियन केविल कम्पनी के अतिरिक्त कागज के कारखानों की मशीन, कोयला खनन उद्योग की मशीनें तैयार करने की इकाइयां प्रमुख हैं।

टेल्को में सन् 1952 में स्टील लोकोमोटिव का उत्पादन प्रारम्भ हुआ, परन्तु जून 1970 में यह कार्य बन्द कर दिया गया तथा भारी एवं मध्यम व्यावसायिक वाहन जैसे ट्रक, वस इत्यादि उत्पादित किए जाने लगे एवं वर्तमान समय में टेल्को सम्पूर्ण भारत में व्यावसायिक वाहनों के उत्पादन में प्रथम स्थान रखता है।

रांची तथा जमशेदपुर के अतिरिक्त धनबाद (कुमारधुर्वी के आसपास) एवं बोकारो में भी इन्जीनियरिंग उद्योग की अनेक इकाइयां कार्यरत हैं।

(V) लाख उद्योग

झारखण्ड का अधिकांश भाग उष्ण कटिवन्धीय पट्टी में पड़ता है। साथ ही तापमान तथा वर्षा की अनुकूल दशाएं (लाख की कृषि के लिए) यहां उपलब्ध हैं। फलतः झारखण्ड लाख के उत्पादन में न सिर्फ भारत में बल्कि सम्पूर्ण विश्व में प्रसिद्ध है।

भारत के कुल लाख उत्पादन का लगभग 71% झारखण्ड द्वारा प्रदान किया जाता है, शेष उत्पादन छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश तथा ओडिशा से प्राप्त होता है।

झारखण्ड में लाख के उत्पादन में पलामू (गढ़वा, लातेहार सहित) प्रथम स्थान रखता है। दूसरा स्थान रांची को एवं तीसरा स्थान पश्चिमी सिंहभूम को प्राप्त है। इसके अतिरिक्त गुमला तथा पूर्वी सिंहभूम लाख के प्रमुख उत्पादक हैं। थोड़ी बहुत लाख की कृषि बोकारो, धनबाद तथा संथाल परगना के पाकुड़ क्षेत्र में भी की जाती है।

लाख उत्पादन के प्रमुख केन्द्र—झारखण्ड में कच्चा लाख का उत्पादन अधिकांशतः कुटीर उद्योग के माध्यम से सम्पन्न होता है, परन्तु लाख के उत्पादन के अपेक्षाकृत बड़े केन्द्र बुंदु, खूंटी, मूरहू, तपकारा, गढ़वा, लातेहार, डाल्टनगंज, चक्रधरपुर इत्यादि में क्रियाशील हैं, जहां दाना लाख एवं चपड़ा के उत्पादन के साथ-साथ लाख से तैयार होने वाली विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन भी होता है।

उपर्युक्त प्रमुख केन्द्रों के अतिरिक्त रंका, लेस्लीगंज, पांकी मानिका, बालूमाथ, तैमारा, जोन्हा, सिल्ली, झिंकपानी, जोड़ा पोखर, पलामू, हाटगम्भरिया, गालुड़ीह, गोला (हजारीबाग), चास, पाकुड़ इत्यादि में भी लाख उत्पादन के छोटे-छोटे केन्द्र क्रियाशील हैं।

उपयोग तथा उत्पादन—लाख का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह ऐल्कोहॉल को छोड़कर अन्य द्रव्यों में नहीं घुलता है। साथ ही विद्युत का कुचालक है। अतः इससे अनेक प्रकार के उत्पादन तैयार किए जाते हैं, जिनमें वार्निश, पेन्ट पॉलिश, ग्रामोफोन का रिकॉर्ड, चूड़ियां, खिलौने, चमड़ा को रंगने के पदार्थ, आतिशबाजी एवं युद्ध सामग्री, चिकनाई रोक कागज, मोम की रंगीन पेंसिल, ऐनकों के फ्रेम, बिजलीरोधक कपड़ा इत्यादि तैयार करने में होता है। जहां तक झारखण्ड का प्रश्न है लाख द्वारा उपर्युक्त उत्पादित पदार्थों में से अधिकांश का उत्पादन यहां नहीं होता, थोड़ा बहुत वार्निश तथा पेन्ट, चूड़ियों, खिलौनों, जेवरात उद्योग इत्यादि में उपयोग किया जाता है। वस्तुतः झारखण्ड द्वारा अधिकांशतः कच्चा लाख, दाना लाख एवं चपड़ा का उत्पादन मुख्य रूप से होता है एवं कुल उत्पादन का 90% से अधिक निर्यात कर दिया जाता है।

लाख तथा लाख से उत्पादित सामानों के निर्यात से भारत को विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। लाख के निर्यात से विदेशी मुद्रा की प्राप्ति में पलामू, रांची तथा पश्चिमी सिंहभूम जिले अग्रणी स्थान रखते हैं।

समस्याएं—1. वन विनाश से लाख का उत्पादन एवं निर्यात दोनों प्रभावित हो रहे हैं।

2. अनेक विकल्पों के कारण अन्य उत्पादों से प्रतिस्पर्द्धा।
3. लाख के विविध उपयोग एवं लाभों से उत्पादकों के साथ-साथ सामान्य जनता का अनभिज्ञ होना।
4. अधिकांश लाख का उत्पादन पारम्परिक तरीके से किया जाता है, जिससे निम्न उत्पादकता की स्थिति मिलती है।

5. कच्चा लाख, दाना लाख या चपड़ा तैयार करने की अधिकांश इकाइयां कुटीर उद्योग के रूप में क्रियाशील हैं, जिसमें आधुनिक तकनीकों का प्रयोग नगण्य रूप से होता है।

6. लाख की कृषि, लाख उत्पादन एवं लाख से बनने वाले विभिन्न उत्पाद प्राप्त करने से सम्बन्धित प्रशिक्षण की कमी।

ज्ञारखण्ड में लाख उद्योग की अपार सम्भावनाओं को देखते हुए 1925 में ही रांची के नामकुम केन्द्र में लाख अनुसंधान संस्थान की स्थापना की गई, जो लाख की कृषि के विकास, अनुसंधान एवं प्रशिक्षण के कार्यों से जुड़ा है। चूंकि लाख का निर्यात विदेशी मुद्रा प्राप्त करने का प्रमुख स्रोत है अतः इस ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योंकि इसकी सफलता के सारे साधन यहां उपलब्ध हैं।

(VI) रेशम उद्योग

मुंगा रेशम के उत्पादन में भारत विश्व का प्रथम राष्ट्र है, जबकि टसर रेशम के उत्पादन में चीन के बाद दूसरा स्थान रखता है। जहां तक ज्ञारखण्ड का प्रश्न है। यहां का अधिकांश रेशम टसर वर्ग का है एवं भारत द्वारा उत्पादित कुल टसर रेशम का 63% से अधिक ज्ञारखण्ड द्वारा प्रदान किया जाता है।

ज्ञारखण्ड में टसर रेशम का उत्पादन रांची, लोहरदगा, गुमला, पलामू, लातेहार, चतरा, हजारीबाग, आदि जिलों में किया जाता है।

वस्तुतः टसर रेशम के कीड़ों का जीवन मात्र दो महीने का होता है। अपने जीवन काल में टसर रेशम के कीड़े चार अवस्थाओं से होकर गुजरते हैं। छोटी जीवन अवधि के कारण ज्ञारखण्ड क्षेत्र में एक वर्ष में रेशम की तीन से अधिक फसलें प्राप्त की जा सकती हैं, परन्तु ज्ञारखण्ड के अधिकांश भागों में मात्र दो फसलें ही प्राप्त की जाती हैं।

ज्ञारखण्ड की लगभग 1.3 लाख जनजातीय जनसंख्या टसर रेशम कीट के पालन में लगी है। साथ ही लगभग इतना ही परिवार रेशम के धागों के उत्पादन में संलग्न है। कई परिवार कोसों से धागा नहीं निकालकर कोसों को ही विक्रय केन्द्रों में बेच देते हैं। **वस्तुतः** ज्ञारखण्ड में टसर रेशम का काफी उत्पादन होता है, परन्तु निम्नलिखित कारणों से यहां रेशमी वस्त्र उद्योग विकसित नहीं है :

1. इसके उत्पादन में कलात्मक दृष्टि की आवश्यकता।
2. रेशम के कपड़े तैयार करने में तथा उसमें कलात्मकता के समावेश के लिए अति दक्ष श्रमिकों की आवश्यकता।
3. रेशमी वस्त्रों की ज्ञारखण्ड में कम मांग।
4. रेशम के कीड़े पालने, बीज तैयार करने, रेशम निर्मित वस्तुओं के विक्रय इत्यादि में व्यावसायिक दृष्टिकोण एवं आधुनिक प्रबन्धन का अभाव।

यद्यपि ज्ञारखण्ड देश के टसर रेशम का 63% प्रदान करता है, परन्तु भारत के कुल रेशम उत्पादन में इसका हिस्सा 7.6% से भी कम है एवं उत्पादित कुल रेशों का अधिकांश कच्चे रूप में या धागों के रूप में निर्यात कर दिया जाता है।

ज्ञारखण्ड में टसर रेशम उद्योग के विकास की सम्भावना—ज्ञारखण्ड की 29.6% भूमि पर वनों पर विस्तार मिलता है तथा यहां के वनों से साल, आसन, अर्जुन इत्यादि के वृक्षों की प्रधानता है, जो टसर रेशम के कीटों के पालन के लिए आदर्श आधार तैयार करते हैं, परन्तु ज्ञारखण्ड में प्रति इकाई रेशम की उत्पादकता निम्न स्तर की है। ज्ञारखण्ड एक जनजातीय प्रदेश है। साथ ही यहां की जनसंख्या का बड़ा भाग गरीबी रेखा से नीचे जीवन व्यतीत करता है। अतः रेशम पालन एवं रेशम से विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के उद्योग को यदि इस क्षेत्र में उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था कर प्रभावी कर दिया जाए, तो यह पर्यावरण सन्तुलन को बनाए रखने में सहायता तो करेगा ही। इससे अन्य लाभ भी प्राप्त होंगे; जैसे

1. युवकों, महिलाओं, भूमिहीनों को रोजगार के अवसर,
2. कृषि फसल की तुलना में अधिक लाभ,

3. सूखाग्रस्त क्षेत्र में भी सफलतापूर्वक उत्पादन सम्भव,
4. न विशेष पूँजी, न ही भूमि पर अधिक खर्च की आवश्यकता,
5. वर्षभर नियमित आय।

इसके अतिरिक्त भी अनेक लाभ रेशम उद्योग के विकास से हैं, जो ग्रामीणों के जीवन स्तर सुधारने में निश्चित ही सहायता देंगे, अतः इस क्षेत्र में गहन प्रशिक्षण कार्यक्रम, ज्ञारखण्ड के रेशम उत्पादक क्षेत्र में चलाने की आवश्यकता है।

(VII) अन्य उद्योग

(1) ऊपर वर्णित प्रमुख उद्योगों के अतिरिक्त भी ज्ञारखण्ड में अनेक उद्योग विकसित हुए हैं, इसमें रासायनिक उद्योग प्रमुख हैं। जमशेदपुर, सिंदरी तथा रांची इसके प्रमुख केन्द्र हैं।

(2) रांची तथा जमशेदपुर में टी. वी. निर्माण के कारखाने लगाए गए हैं एवं इसे इलेक्ट्रॉनिक नगर के रूप में विकसित किया जा रहा है। वर्तमान समय में वहां पर खाद्य परिष्करण उद्योग का विकास हुआ है।

(3) घाटशिला में तांबा परिष्करण विभाग उद्योग महत्वपूर्ण है। अभ्रक उद्योग का विकास हजारीबाग जनपद में है।

(4) कांच उद्योग के अनेक कारखाने ज्ञारखण्ड में हैं। रामगढ़ इसके लिए प्रसिद्ध है।

(5) रिफैक्ट्री उद्योग का विकास दामोदर घाटी के क्षेत्र में हुआ है। इसके प्रमुख केन्द्र चिरकुण्डा, गुम्मा, धनबाद और झिरिया हैं।

ज्ञारखण्ड में महत्वपूर्ण औद्योगिक उपक्रम

ज्ञारखण्ड में महत्वपूर्ण औद्योगिक उपक्रम निम्न प्रकार हैं :

(I) केन्द्रीय सरकार के सार्वजनिक उपक्रम

- (1) बोकारो इस्पात संयन्त्र—1964 (सोवियत संघ की सहायता से)
- (2) हिन्दुस्तान कॉपर लिमिटेड, घाटशिला—1924
- (3) इण्डियन ऐलुमिनियम कम्पनी, मुरी—1938
- (4) हिन्दुस्तान जिंक लिमिटेड, धनबाद
- (5) इण्डियन एक्सप्लोसिव फैक्ट्री, गोमिया, 1955 (ग्रेट ब्रिटेन की सहायता से)
- (6) हार्टेन्शन इन्सुलेटर फैक्ट्री—1961 (चेकोस्लोवाकिया की सहायता से)
- (7) नेशनल प्रोजेक्ट्स कन्स्ट्रक्शन कॉर्पोरेशन लिमिटेड—1956
- (8) नेशनल मिनिरल डेवलपमेण्ट कॉर्पोरेशन लिमिटेड—1958
- (9) माइनिंग एण्ड एलाइड इन्जीनियरिंग कॉर्पोरेशन लिमिटेड, रांची—1965
- (10) हैवी इंजीनियरिंग कॉर्पोरेशन लिमिटेड, (HEC), रांची—1958 (पूर्व सोवियत संघ की सहायता से)
- (11) पाइराइट्स फॉस्फेट्स एण्ड कैमिकल्स लि., सिन्दरी—1951
- (12) फर्टिलाइजर कॉर्पोरेशन ऑफ इण्डिया लि., सिन्दरी—1961
- (13) इम्पीरियल कैमिकल्स फैक्ट्री (ग्रेट ब्रिटेन की सहायता से)—1943

(II) राज्य सरकार के औद्योगिक उपक्रम

- (1) सुपर फॉस्फेट लिमिटेड, धनबाद
- (2) इलेक्ट्रिक इविचपमेन्ट फैक्ट्री, रांची
- (3) बेकन फैक्ट्री, रांची—1966
- (4) माइक्रो सिण्डीकेट लिमिटेड, हजारीबाग
- (5) हिल एरिया लिफ्ट इरीगेशन कॉर्पोरेशन, रांची

(III) महत्वपूर्ण निजी उपक्रम

- (1) टाटा इन्जीनियरिंग एण्ड लोकोमोटिव कम्पनी लिमिटेड, जमशेदपुर—1921
- (2) टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी लिमिटेड, टाटानगर—1907
- (3) यूरेनियम प्रोसेसिंग प्लाण्ट, घाटशिला—1967

झारखण्ड की औद्योगिक नीति-2001

नवम्बर 2000 में झारखण्ड की स्थापना के साथ ही यहां के औद्योगिक विकास की सम्भावनाओं को देखते हुए इस क्षेत्र के लिए स्पष्ट औद्योगिक नीति बनाने के प्रयास चल रहे थे। फलतः औद्योगिक नीति का प्रारूप तैयार कर 11 अगस्त, 2001 को इसे विधानसभा से पारित कराया गया तथा 25 अगस्त, 2001 को झारखण्ड की औद्योगिक नीति घोषित की गई। यह औद्योगिक नीति 15 नवम्बर, 2001 से 31 मार्च, 2005 तक प्रभावी रही। झारखण्ड की औद्योगिक नीति के अन्तर्गत निम्नलिखित तथ्यों पर विशेष बल दिया गया :

- आधारभूत संरचनाओं से सम्बन्धित परियोजनाओं का प्रभावी एवं त्वरित कार्यान्वयन।
- प्राविधिकी एवं तकनीकी स्तर में सुधार।
- उत्पादन में वृद्धि
- लघु तथा कुटीर उद्योगों का विकास।
- रोजगार के अवसरों का सृजन।
- झारखण्ड के विभिन्न प्रदेशों में मिलने वाली विकास की असमानताओं को दूर कर राज्य के सन्तुलित विकास के प्रयास इत्यादि।

25 अगस्त, 2001 को घोषित औद्योगिक नीति में भारत की नई औद्योगिक नीति (1991) के तीन तत्वों—निजीकरण, उदारीकरण तथा वैश्वीकरण—की प्रक्रिया को जारी रखते हुए निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किए गए :

- (1) तीव्र औद्योगीकरण के लिए निजी क्षेत्र की भागीदारी को प्रोत्साहित करना।
- (2) झारखण्ड के औद्योगिक क्षेत्र में अधिकतम पूँजी निवेश हो सके। इसके लिए आर्थिक गतिविधियों को बढ़ावा देना तथा आधारभूत सुविधाओं का विकास।
- (3) झारखण्ड में उपलब्ध खनिज संसाधन एवं मानव संसाधन के आदर्श उपयोग के प्रयास।
- (4) ऐसे औद्योगिक उत्पादों को बढ़ावा देना, जिनमें झारखण्ड की स्थिति अन्य राज्यों की तुलना में बेहतर है।
- (5) औद्योगिक दृष्टिकोण से पिछड़े हुए क्षेत्रों की पहचान कर उसके विकास के लिए आवश्यक कदम उठाना।
- (6) उत्पादकता, उत्पादन तकनीक तथा प्राविधिक एवं औद्योगिक उत्पादों की गुणवत्ता को बेहतर बनाने के लिए अनुसन्धान एवं आधुनिकतम तकनीकों का प्रयोग।
- (7) अनुसूचित जनजाति, अनुसूचित जाति, महिलाओं, विकलांग तथा अन्य कमज़ोर वर्ग के लोगों के विकास के लिए रोजगार के बेहतर अवसरों का सुजन।
- (8) बीमार औद्योगिक इकाइयों को पुनर्जीवित करने के प्रयास इत्यादि।

यद्यपि झारखण्ड विभाजन के बाद विद्युत उत्पादन क्षमता तथा वास्तविक उत्पादन दोनों के दृष्टिकोण से बिहार की तुलना में लाभ की स्थिति में रहा तथापि औद्योगिक नीति के अन्तर्गत ऊर्जा उत्पादन के क्षेत्र में 2,590 मेगावाट विद्युत उत्पादन क्षमता प्राप्त करना, पारम्परिक ऊर्जा के स्रोतों के अतिरिक्त सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा, बायो गैस ऊर्जा जैसे गैर-परम्परागत ऊर्जा स्रोतों के विकास, लघु एवं वृहद् जल विद्युत् केन्द्रों की स्थापना, ताप, जल, भूतापीय, आण्विक एवं मीथेन गैस आधारित ऊर्जा के स्रोतों से 4,736 मेगावाट अतिरिक्त विद्युत उत्पादन क्षमता की स्थापना जैसे लक्ष्य भी निर्धारित किए गए।

झारखण्ड क्षेत्र में पूँजी निवेश को प्रोत्साहन देने के लिए अनेक नीतियां घोषित की गईं जैसे—पूँजी निवेश में ‘ए’ श्रेणी के उद्योगों को 15%, ‘बी’ श्रेणी के उद्योगों को 20% तथा ‘सी’ श्रेणी के उद्योगों को अधिकतम 25% वित्तीय सहायता का प्रावधान, ब्याज अनुदान में 25-60% की छूट, औद्योगिक श्रमिकों के लिए सामूहिक बीमा का कार्यान्वयन तथा 50 करोड़ से अधिक निवेश वाली कम्पनियों को विशेष पैकेज की नीतियां बनाई गईं। साफ्टवेयर टेक्नोलॉजी पार्क ऑफ इण्डिया, रांची केन्द्र से दिनांक 26 जनवरी, 2004 से कनेक्टीविटी सुविधाएं प्रारम्भ की गईं।

औद्योगीकरण को तीव्रता प्रदान करने एवं आधारभूत संरचनाओं के विकास के लिए तीन स्तरीय (मेगा, मिनी तथा माइक्रो) विकास केन्द्रों की स्थापना की नीति भी घोषित की गई, जिसके अन्तर्गत बरही (हजारीबाग) में मेगा विकास केन्द्र की स्थापना की क्रिया प्रारम्भ की गई। अनेक क्षेत्रों में मिनी विकास केन्द्र के विकास की नीति बनाई गई, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :

- (i) रांची तथा जमशेदपुर में सॉफ्टवेयर टेक्नोलॉजी पार्क।
- (ii) नामकुम तथा टाटीसिल्वर्व में इलेक्ट्रॉनिक पार्क।
- (iii) रांची तथा दुमका में कृषि आधारित फूड प्रोसेसिंग पार्क।
- (iv) चाईबासा तथा गोड्डा में टसर रेशम पार्क।
- (v) धनबाद में निर्यात प्रोत्साहन औद्योगिक पार्क।
- (vi) कोडरमा में प्लास्टिक पार्क, इत्यादि।

इसके अतिरिक्त जमशेदपुर एवं रांची के मध्य राष्ट्रीय उच्च मार्ग-33 के दोनों ओर विशिष्ट आर्थिक क्षेत्र के निर्माण की नीति भी निर्धारित की गई है। इस क्षेत्र में पूंजी निवेशकों को भूमि, ऊर्जा, जल तथा संचार प्रणाली की सुविधा उपलब्ध कराने, आधुनिक तकनीक पर आधारित आई टी पार्क, जैव तकनीक पार्क, होटल, इत्यादि के विकास भी इस क्षेत्र में करने के लक्ष्य बनाए गए हैं।

औद्योगिक नीति के अन्तर्गत उदारीकरण की प्रक्रिया को प्रभावी बनाने के लिए प्राथमिकता के आधार पर उद्योगों का चयन किया गया है, जिनके लिए लाइसेन्स एवं अन्य सुविधाओं की प्रक्रिया को सरलीकृत कर दिया गया है। साथ ही इन उद्योगों के क्षेत्र में पूंजी निवेश करने वाले निवेशकों को अनुदान तथा करों में रियायत की घोषणा की गई है। यदि उद्योग प्रदूषण कम करने वाले संयन्त्र लगाता है, तो उसमें भी छूट के प्रावधान बनाए गए हैं।

सरकार द्वारा प्राविधिक उन्नयन कोष की स्थापना की नीति बनाई गई है। इस कोष की स्थापना में आर. बी. आई., आई. डी. बी. आई., एस. आई. डी. बी. अन्य व्यावसायिक वैंकों तथा वित्तीय संस्थानों की सहायता की जाएगी, ताकि ऐसी औद्योगिक इकाइयां, जो उत्पादन की पुरानी तकनीक एवं प्राविधिक का प्रयोग कर रही हैं, उनका प्राविधिक स्तर ऊंचा हो सके।

झारखण्ड में पूंजी निवेश की प्रक्रिया में तेजी लाने के लिए औद्योगिक क्षेत्र, जिला स्तर एवं राज्य स्तर पर सिंगल विण्डो सिस्टम को प्रभावी बनाने का लक्ष्य बनाया गया है, ताकि निवेशकों को औद्योगिक इकाइयों की स्थापना की औपचारिकताएं पूरी करने में कठिनाइयों का सामना न करना पड़े।

झारखण्ड के अनेक क्षेत्र उग्रवाद से प्रभावित हैं। नक्सलवादी क्रियाकलापों के कारण अनेक क्षेत्रों में विधि व्यवस्था चरमरा चुकी है। अतः ऐसे क्षेत्रों में नक्सलवाद से मुक्ति, विधि व्यवस्था की स्थापना, निवेशकों की सुरक्षा, इत्यादि के प्रावधानों का कोई उल्लेख औद्योगिक नीति में नहीं किया गया है।

झारखण्ड में औद्योगिक विकास की सम्भावनाएं

झारखण्ड में औद्योगिक विकास की प्रक्रिया पिछले 100 वर्षों से जारी है, परन्तु औद्योगिक विकास की गति काफी धीमी रही है। विशेषकर 1970 के बाद औद्योगिक विकास की क्रियाएं निरन्तर कम होती चली गई हैं। यद्यपि झारखण्ड की भौतिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण किया जाए, तो स्पष्ट होता है कि औद्योगिक विकास के लिए अधिकांश प्राकृतिक कारक यहां मौजूद हैं जैसे :

1. दामोदर घाटी, उत्तरी कोयल घाटी तथा राजमहल की पहाड़ियों में उत्तम किस्म के कोयला के विशाल भण्डार की उपस्थिति और आज भी न सिर्फ झारखण्ड में बल्कि सम्पूर्ण भारत में विद्युत् उत्पादन का सबसे प्रमुख स्रोत कोयला है।

2. झारखण्ड के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक प्रकार के धात्तिक खनियों जैसे—लौह अयस्क, तांबा, बॉक्साइट, इत्यादि के अतिरिक्त अनेक प्रकार के अधात्तिक खनियों जैसे—अभ्रक, एस्बेस्टोस, चूना पथर, डोलोमाइट, इत्यादि की उपस्थिति।

3. 1948 में दामोदर घाटी निगम की स्थापना।

4. कोयला आधारित अनेक तापीय विद्युत् केन्द्रों का विकास जो पतरातु, बोकारो, चन्द्रपुरा, सिन्दरी, इत्यादि में कार्यरत हैं।

5. झारखण्ड के मानसून पतझड़ वनों में अनेक प्रकार की मजबूत एवं टिकाऊ लकड़ियों के भण्डार के साथ-साथ लाह, बांस, घास, केन्दुपत्ता, सखुआ पत्ता, औषधीय पौधे जैसे गौण वन उत्पाद की प्राप्ति।

6. स्वरिखा, दामोदर, शंख, उत्तरी कोयल, बराकर, दक्षिणी कोयल, कारो, खरकई जैसी अनेक नदियों की उपस्थिति, जिनसे औद्योगिक कार्यों के लिए पर्याप्त जलापूर्ति सम्भव है।

7. झारखण्ड में कोयला की उपस्थिति के कारण रेलमार्गों के विकास की प्रक्रिया 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही प्रारम्भ हो चुकी थी तथा आज इस क्षेत्र से पूर्वी एवं दक्षिण-पूर्वी रेलवे की अनेक शाखाएं गुजरती हैं, जिनके माध्यम से कच्चा तथा तैयार माल का परिवहन सम्भव हो गया है।

8. अनेक राष्ट्रीय उच्च मार्ग जैसे एन. एच. 2, 6, 23, 31, 32, 33, 78 तथा 80 भी इस क्षेत्र से होकर गुजरते हैं।

9. झारखण्ड का अधिकांश भाग अति प्राचीन आर्कियन ग्रेनाइट तथा नीस से निर्मित है अतः औद्योगिक इकाइयों तथा संरचनाओं के निर्माण के लिए भूकम्प रहित ठोस भूमि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है।

10. ऊबड़-खाबड़ पठारी सतह के कारण छोटी-बड़ी नदियों ने इस क्षेत्र में अनेक जलप्रपातों का निर्माण किया है, जिनके सहारे छोटे-छोटे जल विद्युत् केन्द्र विकसित किए जा सकते हैं।

11. कोलकाता जैसे प्रमुख बन्दरगाह की समीपता के कारण आयात-निर्यात की सुविधा। साथ ही बड़े बाजार की उपलब्धि।

स्पष्ट है कि झारखण्ड में औद्योगिक विकास की भरपूर सम्भावनाएं उपलब्ध हैं। आवश्यकता है इन अनुकूल दशाओं के आदर्श एवं सन्तुलित उपयोग की ताकि झारखण्ड भारत के औद्योगिक परिदृश्य में अपनी महत्ता को पुनर्स्थापित कर सके।

झारखण्ड के औद्योगिक विकास की सम्भावनाओं एवं औद्योगिक भूदृश्य के बेहतर उपयोग के लिए निम्नलिखित कदम उठाए जा सकते हैं :

1. झारखण्ड में उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों जैसे—खनिज तथा शक्ति संसाधन, जल संसाधन, वन संसाधन के अतिरिक्त मानव संसाधन के सन्दर्भ में गहन अनुसन्धान तथा सर्वेक्षण कर प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधन के मध्य आदर्श समन्वय की रूपरेखा तैयार करना।

2. झारखण्ड में क्रियाशील औद्योगिक इकाइयों का सर्वेक्षण, इनकी उत्पादन क्षमता का आकलन तथा कार्यरत औद्योगिक इकाइयों से सम्बन्धित सभी प्रकार के आवश्यक आंकड़ों का संकलन।

3. झारखण्ड की अनेक औद्योगिक इकाइयां या तो बीमार हैं अथवा बन्द पड़ी हैं। ऐसी इकाइयों की स्पष्ट पहचान के लिए गहन सर्वेक्षण हो ताकि इन्हें पुनर्जीवित करने के लिए आवश्यक कदम उठाए जा सकें जैसे—ऐसी बन्द एवं बीमार औद्योगिक इकाइयां, जिनको कच्चा माल, आवश्यक तकनीक तथा बाजार तीनों की सुविधा उपलब्ध हैं उनमें सुधार के प्रयास को प्राथमिकता देनी होगी।

4. झारखण्ड की छोटी-बड़ी सभी औद्योगिक इकाइयां आज पॉवर कट की समस्या से ग्रसित हैं, जिसके कारण मानवीय श्रम तथा कार्य दिवसों की अपार क्षति होती है।

अतः ऊर्जा संकट से बचने का सबसे बेहतर उपाय यह हो सकता है कि उत्पादन क्षमता के उपभोग के स्तर को राष्ट्रीय औसत के समकक्ष लाया जाए। इससे नई इकाइयों को स्थापित किए बिना 400 मेगावाट अतिरिक्त विद्युत् का उत्पादन किया जा सकता है, जो झारखण्ड की औद्योगिक इकाइयों को ऊर्जा संकट से उबरने में निश्चित ही सहायक होगी।

5. स्थापित विद्युत् क्षमता के आदर्श उपयोग के अतिरिक्त वितरण प्रणाली में सुधार कर वितरण के क्रम में बर्बाद होने वाले ऊर्जा के अनुपात को निम्नतम स्तर में लाने का प्रयास भी आवश्यक है। साथ ही आवश्यक कदम उठाकर विद्युत् की चोरी से बचाव की व्यवस्था विकसित करनी होगी।

पारम्परिक ऊर्जा के स्रोत (कोयला) में निर्भरता को कम करने के लिए अपारम्परिक ऊर्जा के स्रोतों जैसे—सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा, भू-तापीय ऊर्जा, बायो गैस, इत्यादि का विकास भी आवश्यक है, जिनके विकास की अपार सम्भावनाएं झारखण्ड क्षेत्र में उपलब्ध हैं। हाल में किए गए अनुसन्धानों से स्पष्ट होता है कि झारखण्ड के विभिन्न केन्द्रों के सहारे भू-तापीय ऊर्जा का आदर्श विकास सम्भव है। ऐसी प्रकार, सम्पूर्ण भारत में ऊर्जा के महत्वपूर्ण स्रोत ‘मीथेन गैस’ के 6 महत्वपूर्ण खण्ड हैं, जिनमें से तीन खण्ड झारखण्ड के कोयला खदानों में संचित हैं, जिनका उपयोग ऊर्जा के उत्पादन में किया जा सकता है।

यद्यपि ‘मीथेन गैस’ आधारित विद्युत् संयन्त्र की स्थापना के मार्ग में आवश्यक तकनीक तथा विशाल पूँजी, दो बड़ी बाधाएं हैं, परन्तु एक बार संयन्त्र स्थापित कर देने से इसकी उत्पादन लागत कोयला की तुलना में काफी कम पड़ेगी ऐसा विशेषज्ञों का मानना है।

6. झारखण्ड में अनेक उद्योगों के विकास की आदर्श दशाएं हैं, परन्तु उससे सम्बन्धित उद्योग स्थापित नहीं हैं, अतः ऐसे उद्योगों की सम्भावनाओं की पहचान कर इन्हें स्थापित करने की योजनाओं को प्राथमिकता सूची

में रखना होगा जैसे—झारखण्ड में उत्तम किस्म के ग्रेनाइट का विशाल भण्डार हजारीबाग, पलामू, कोडरमा, सिंहभूम, सन्थाल परगना, रांची, इत्यादि में संचित है, परन्तु यहां ग्रेनाइट उद्योग अधिकसित अवस्था में है।

बॉक्साइट के शोधन की मात्र एक इकाई मुरी में क्रियाशील है, जहां से सिर्फ ऐलुमिना पाउडर का उत्पादन होता है, जिसे हीराकुड (ओडिशा) तथा अलवाये को भेज दिया जाता है, जबकि लोहरदगा, गुमला तथा पलामू क्षेत्र में ऐलुमिनियम उद्योग के विकास की भरपूर सम्भावना उपलब्ध है। कागज तथा लुग्दी उद्योग के लिए आवश्यक कच्चा माल (बांस तथा विभिन्न प्रकार की घास) के विशाल भण्डार झारखण्ड के बनों में उपलब्ध हैं, परन्तु कागज तथा लुग्दी उद्योग की एक भी इकाई यहां स्थापित नहीं है।

इसी प्रकार, झारखण्ड के बनों में उपलब्ध लकड़ियों पर खेल के सामान तथा प्लाईवुड उद्योग की इकाइयां स्थापित की जा सकती हैं।

7. झारखण्ड लाख, तसर रेशम, केन्दु तथा सखुआ पत्ता, अनेक प्रकार के औषधीय पौधों का भण्डारगृह है, परन्तु इनसे सम्बन्धित उद्योग भी अधिकसित स्थिति में हैं, जबकि इनका विकास विदेशी मुद्रा के स्रोत का कार्य तो करेगा ही स्थानीय जनता को रोजगार उपलब्ध कराने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगा।

8. झारखण्ड में खनिज आधारित उद्योगों के विकास की अपार सम्भावनाओं को देखते हुए पलामू तथा राजमहल क्षेत्र के कोयला भण्डार, पश्चिमी सिंहभूम के मनोहरपुर क्षेत्र के लौह-अयस्क भण्डार तथा गिरिर्डीह के तांबा भण्डार का गहन सर्वेक्षण आवश्यक है। ग्रेफाइट, एस्बेस्टोस, चूना पत्थर, कायनाइट, इत्यादि खनिजों का वास्तविक मूल्यांकन भी अब तक सम्भव नहीं हो पाया है अतः इस दिशा में कदम उठाने होंगे।

9. लघु तथा कुटीर उद्योग के विकास को विशेष प्रश्न देना होगा।

10. झारखण्ड औद्योगिक क्षेत्र में पूंजी निवेश को आकर्षित करने तथा औद्योगिक विकास के लिए अनुकूल वातावरण तैयार करने के लिए दो तत्वों को प्राथमिकता सूची में लाना आवश्यक है :

(i) परिवहन, संचार, विद्युत् एवं जलापूर्ति जैसी ढांचागत सुविधाओं का विकास।

(ii) अनुकूल विधि व्यवस्था तथा शान्त वातावरण का निर्माण।

यदि इन दोनों तथ्यों को प्राथमिकता सूची में रखकर कार्य किया जाए, तो निवेशकों को बुलाने की आवश्यकता नहीं होगी, बल्कि वे आय रूपी झारखण्ड की ओर पूंजी निवेश के लिए आकर्षित होंगे।

11. झारखण्ड में औद्योगिक इकाइयों तथा अन्य परियोजनाओं के लिए आवश्यक भूमि का अधिग्रहण आज एक प्रमुख कठिनाई बन चुकी है, क्योंकि यहां छोटा नागपुर काश्तकारी अधिनियम (1908) तो प्रभावी है ही औद्योगिक विस्थापन के बाद विस्थापितों को रोजगार तथा पुनर्वास की व्यवस्था भी समुचित ढंग से नहीं हो पाई है, अतः विस्थापितों के अनुभव इस सन्दर्भ में काफी कड़वे रहे हैं।

इसके लिए भूमि बैंक की स्थापना के पूर्व भूमि अधिग्रहण के मार्ग में आने वाली सम्भावित कठिनाइयों का निराकरण तो आवश्यक है ही औद्योगिक विस्थापन के सन्दर्भ में रोजगार तथा पुनर्वास की स्पष्ट एवं कठोर नीति बनाने की आवश्यकता भी है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि झारखण्ड में औद्योगिक विकास की सारी प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधन उपलब्ध हैं। जरूरत है इन संसाधनों के मध्य आदर्श समन्वय विकसित करने की, क्योंकि किसी भी औद्योगिक राष्ट्र का इतिहास बताता है कि प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधनों के मध्य आदर्श समन्वय ने वहां औद्योगिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. झारखण्ड की जनांकिकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. झारखण्ड में कृषि की मुख्य विशेषताएं क्या हैं? इसकी समस्याएं बताइए तथा सुझाव दीजिए।
3. झारखण्ड में कृषि प्रदेशों की विवेचना कीजिए।
4. झारखण्ड में मुख्य उद्योगों की विवेचना कीजिए।
5. झारखण्ड की औद्योगिक नीति की मुख्य विशेषताएं बताइए।
6. झारखण्ड में औद्योगिक विकास की सम्भावनाएं बताइए तथा इस दृष्टि से आवश्यक सुझाव भी दीजिए।